दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

दृष्टिकोण प्रकाशन

WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली–110045

वर्ष : 10 अंक : 6 ❑ नवम्बर-दिसम्बर, 2018

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड
डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन
डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरबोरोग, ओन्टारियो
डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग
डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची
डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका
डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना
डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा
डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

संपादकीय सम्पर्कः
448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
फोन : 011-22753916
e-mail : editorialindia@yahoo.com; editorialindia@gmail.com; delhijournals@gmail.com
©Editorial India
Editorial India is a content development unit of Permanence Education Services (P) Ltd.

ISSN 0975-119X

नोटः पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

जब से मानव ने समूह में रहना शुरू किया, तब से ही उसने कृषि और पशुपालन प्रारंभ कर दिया। भारत के वांग्मय में खेती और पशुपालन का महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधियों के रूप में वर्णन आता है। वेदों में भी विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों, कृषि आदि का वर्णन है। खेती से जुड़ी हर गतिविधि को भारत में उत्सव के रूप में मनाने की परंपरा है। ऋतुओं के अनुसार खेती की वैज्ञानिक परंपरा भी है।

अन्न से कार्बोहाइड्रेट, दालों से प्रोटीन, फल-सब्जियों से विटामिन सभी भारत की भोजन की थाली में मिलता है। और यह सब मेहनतकश किसानों द्वारा देश को उपलब्ध करवाया जाता है। उत्तम खेती, मध्यम व्यापार और नीच चाकरी (यानी नौकरी) ऐसी कहावत देश में प्रचलित रही है। किसान खेती में नयी-नयी खोजें करते हुए उत्पादन बढ़ाता रहा है। साथ ही पशुपालन, डेयरी, मुर्गी पालन, मत्स्य पालन, बागवानी समेत कई गतिविधियां गांव में चलती हैं।

गांव के कारीगर अपने हुनर से गांव और शहरों के लिए कपड़ा, बर्तन, लोहे एवं अन्य धातुओं के सामान आदि की पूर्ति करते रहे हैं। अंग्रेजों के जमाने में उद्योगों के पतन, किसानों के शोषण और आर्थिक पतन के चलते खेती- किसानी का क्षरण इतिहास के पन्नों में दर्ज है। किसान की हालत कैसी भी रही हो, खेती को आज भी एक पवित्र व्यवसाय माना जाता है। लेकिन, आजकल औद्योगिक कृषि के पैरोकार उसी जीवनदायिनी खाद्य एवं पौष्टिकर्तापूरक परंपरागत कृषि पर ही प्रश्न उठा रहे हैं। वैश्विक कॉरपोरेट बिल गेट्स परंपरागत कृषि को पर्यावरण के लिए अत्यंत घातक बता रहे हैं। वे चाहते हैं कि कृषि के तौर-तरीकों में परिवर्तन किये जायें, ताकि पर्यावरण पर उसके दुष्प्रभाव को न्यूनतम किया जा सके। हाल ही में श्लांसेद्ध में प्रकाशित एक शोध के अनुसार पिछले 25 वर्षों में दुनिया के एक प्रतिशत धनी लोगों ने करीब 310 करोड़ लोगों की तुलना में दोगुने से ज्यादा प्रदूषण फैलाया है। बिल गेट्स यह नहीं बताते कि दुनिया में मात्र 11-15 प्रतिशत ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन कृषि से होता है। वनों के कटने से 15-18 प्रतिशत और खाद्य प्रसंस्करण, ट्रांसपोर्ट, पैकिंग और रिटेल से 15-20 प्रतिशत ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन बढ़ता है। शेष 45-56 प्रतिशत उत्सर्जन खाद्य के अतिरिक्त गतिविधियों से होता है। बिल गेट्स का सुझाव है कि ऐसे बीज, कीटनाशक, खरपतवार नाशक, इस्तेमाल किये जायें, जिससे छोटे किसान ज्यादा से ज्यादा उपज ले सकें और आमदनी बढ़ा सकें। वे ज्यादा उपज के लिए जीएम फसलों, राउंडअप सरीखे खतरनाक खरपतवार नाशक और कीटनाशकों की वकालत करते हुए दिखाई देते हैं। दुनिया में खाद्य पदार्थों के उत्पादन का लगभग 80 प्रतिशत छोटे किसानों से आता है। अमेरिका में बड़े भूभाग पर बड़े-बड़े खेतों पर खेती होती है। मीलों तक फैले इन खेतों में काफी कृषि उत्पादन होता है। लेकिन वह उत्पादन लोगों के खाने के लिए नहीं, बल्कि एथेनॉल या बायो ईंधन बनाने के लिए उपयोग किया जाता है।

यह औद्योगिक कृषि दुनिया के 75 प्रतिशत भूभाग पर की जाती है, लेकिन वह दुनिया की खाद्य आवश्यकताओं का 20 प्रतिशत ही उपलब्ध कराती है। ऐसे में छोटे किसानों के द्वारा दुनिया के 80 प्रतिशत खाद्य पदार्थों की आपूर्ति होती है, वह दुनिया में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन का चार प्रतिशत भी नहीं है। बिल गेट्स छोटे किसानों द्वारा पशुपालन और गोपालन को भी पर्यावरण का सबसे बड़ा दुश्मन मानते हैं।

वास्तव में पर्यावरण का तर्क गलत स्थान पर प्रयोग किया जा रहा है। छोटे किसानों द्वारा प्रकृति के साथ सामंजस्य से खेती होती है। उनके द्वारा पशुपालन से प्राकृतिक तरीके से लोगों की पौष्टिकता की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। उस व्यवस्था में खलल हमारी खाद्य शृंखला को बाधित कर सकती है, जो दुनिया में खाद्य संकट का कारण बन सकता है। जीएम बीजों और राउंडअप सरीखे खरपतवार नाशकों के कारण वास्तव में पर्यावरण और जैव विविधता और प्रकृति चक्र संकट में है।

जहां अमीर देशों में लोग ऑर्गेनिक खाद्य पदार्थों की तरफ बढ़ रहे हैं, वहीं गरीब मुल्कों में खतरनाक फसलों को पर्यावरण के नाम पर बढ़ावा देना कहां तक उचित है? धर्मात्मा और दानवीरता का चेहरा लेकर बिल गेट्स दुनिया में खास तौर पर गरीब मुल्कों की स्वास्थ्य नीति, टीकाकरण नीति, कृषि नीति समेत कई प्रकार की नीतियों में दखल दे रहे हैं। पर्यावरणीय संकट से पार पाने के लिए जो उनका सुझाव कि छोटे किसान परंपरागत खेती और पशुपालन त्याग कर उनके सुझाये गये उपायों, बीजों, कीटनाशकों और खरपतवार नाशकों को अपनायें, यह किसी भी हालत में कल्याणकारी नहीं है।

यह 80 प्रतिशत खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली खेती पर कुठाराघात करने वाला है। इससे किसानों की निर्भरता कंपनियों के बीजों और रसायनों पर बढ़ जायेगी। समझा जा रहा है कि बिल गेट्स कंपनियों की बिक्री बढ़ाने के लिए जीएम बीजों और खरपतवार नाशकों की वकालत कर रहे हैं। विभिन्न देशों के नीति-निर्माण में बिल गेट्स का दखल है।

लेकिन हमें समझना होगा कि दुनिया में पर्यावरण संकट अमीर मुल्कों द्वारा अत्यधिक ऊर्जा और वस्तुओं की खपत और उससे होनेवाले उत्सर्जन के कारण है। अमीर मुल्कों को बाध्य कर उनके द्वारा उत्सर्जन को न्यूनतम करवाते हुए पर्यावरणीय संकट का हल खोजना जरूरी है। छोटे किसानों को दोषी मानकर गलत दिशा में कृषि को मोडना दुनिया के लिए भारी संकट का कारण बन सकता है।

संपादक

इस अंक में

नवीन लोक प्रशासन : एक सामान्य अध्ययन–डॉ० अशोक कुमार 1
भारत में जनजातियों का वर्गीकरण विशेषत: झाखण्ड राज्य के पश्चिमी सिंहभूम जिला के सन्दर्भ में–डॉ० राघवेन्द्र प्रसाद सिन्हा 5
भारत में भूमि सुधार : एक सामान्य अवलोकन–डॉ० धर्मेन्द्र धारी सिंह 9
स्वतन्त्रता आन्दोलन में बिहार की कुछ राष्ट्रवादी महिलाओं की जीवन उपलब्धि : एक ऐतिहासिक अवलोकन–अनीता कुमारी 13
भारत में महिला सशक्तिकरण और कल्याणकारी कार्यक्रमों का विश्लेषणात्मक अध्ययन–दीपक कुमार दास 19
राष्ट्र भर में वयस्क शिक्षा का महत्व–डॉ० मीता कुमारी 23
भारत में कृषि का विकास : पंचवर्षीय योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में–डॉ० सुनील चन्द्र झा 30
मुक्त समाज व्यवस्था और सामाजिक न्याय: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन–डॉ० अभय कुमार 34
भारत और ब्रिक्स: आतंकवाद पर साझा दृष्टिकोण–डॉ० प्रमोद कुमार 39
लोकसभा चुनाव 2014 में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी–डॉ० विजया सिंह 43
भारत में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों का समीक्षात्मक अध्ययन–डॉ० निवेदिता 47
नेपाल में माओवादी आन्दोलन की भूमिका: एक समीक्षात्मक अध्ययन–सुनीता प्रसाद 51
बैंकिंग क्षेत्र में उभरते रुझान तथा आधुनिक बैंकिंग–डॉ० कुंदन कुमार सिंह 55
लालदास कृत रमेश्वरचरित मिथिला रामायणमे मिथिलाक वर्णन–कुमकुम कुमारी 59
भूमिका-अनुसन्धान-आलोचनाक प्रणेता: प्रो. रमानाथ झा–डॉ० गोपाल कुमार 62
आधुनिक मैथिली साहित्य: धूमकेतु–साधना कुमारी 65
माधवी में स्त्री अस्मिता का स्वरुप–सोनम सिंह 67
बुद्धिधर्मी का दायित्व और प्रेमचंद–शीतांशु 70
परमाराध्य : भगवान श्रीनाथजी का प्राकट्य वर्णन–डॉ० कांतिलाल यादव; शालिनी भट्ट 74
स्वामी विवेकानंद: सामाजिक विचारक के रूप में–डॉ० प्रतिमा गोंड 77
चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की बाल कहानियाँ–डॉ० मिथिलेश कुमारी 82
भारतीय दर्शन में मानवतावादी दृष्टिकोण एवं इसकी प्रासंगिकता–प्रवीण कुमार यादव 85
दलित मानवतावादी: डॉ. अम्बेडकर–डॉ० शैलेन्द्र कुमार 88
साहित्य और पत्रकारिता के परिवर्तित मूल्य–डॉ० नलिनी सिंह 90
महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में संचार माध्यमों की प्रभावशीलता का अध्ययन–डॉ० रीना चौरसिया 92
प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के निर्धारण में तिथि निर्धारण की समस्या–डॉ० सुम्बुला फिरदौस 96
स्नातक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन –नरेन्द्र कुमार; डॉ० अंजना 99
दिनकर की कविताओं में स्वाधीनता संघर्ष–डॉ० बृजेन्द्र पाण्डेय 105
डॉ० सिग्मंड फ्रायड के मूल प्रवृत्ति सिद्धांत का भारतीय परिप्रेक्ष्य में आलोचनात्मक अध्ययन–डॉ० सरिता शर्मा; रवीश कुमार 109
पूर्वाञ्चल क्षेत्र के बाल श्रमिकों की शिक्षा : समस्या एवं समाधान के संदर्भ में एक अध्ययन–आलोक कुमार श्रीवास्तव; डॉ० सुधांशु सिन्हा 114
तख्त श्री केसगढ़ साहिब: ऐतिहासिक प्रसंग–नवजोत सिंह 118
जिद्दू कृष्णमूर्ति - एक महान शैक्षिक विचारक–डॉ० राघवेन्द्र कुमार हुरमाडे; सुशील कुमार 122
आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त शासकीय सुविधाओं के प्रति जागरूकता का अध्ययन–डॉ० रिया तिवारी; दीपक कुमार धनगर 125

वैश्वीकरण और हिंदी का स्वरूप–डॉ० मौहम्मद अबीरउददीन 129
कबीर की सामाजिक चेतना में मानवाधिकार–डॉ० रविश कुमार सिंह 133
पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी के विकास की संभावित दिशाएँ–डॉ० रीतामणि वैश्य 136
बच्चों के साथ घर और नौकरी संभालती महिलाएं और उनकी परेशानियाँ–डॉ० कुमारी पूजा 138
भारतीय संस्कृति एवं स्त्री विमर्श–सरिता शर्मा; संदीप कुमार 140
महिला सशक्तिकरण: सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर होने वाले भेदभाव के कुपरिणाम–सुकन्या; डॉ० अंजु सिंह 146
विवाह संस्था और स्त्री प्रश्न (विशेष संदर्भ समकालीन हिन्दी उपन्यास)–रेणु चौधरी 149
साहित्य इतिहास-लेखन में भक्त स्त्रियाँ–डॉ० कविता राजन 152
नारी-संवेदना (झांसी की रानी के आधार पर)–डॉ० विजय शंकर मिश्र 155
स्वातंत्रोत्तर हिंदी नाटक : बदलते नैतिक मूल्य–ज्ञानेश पाण्डेय 158
रमेशचन्द्र शाह के ललित निबंधों का आलोचनात्मक चिंतन–कृपा शंकर 162
'गुरू ग्रंथ साहिब' में कुदरत की अवधारणा–जसप्रीत कौर; डॉ० अजयपाल सिंह 165
आदिवासियों में अंधविश्वास की समस्या और उसका औपन्यासिक प्रतिफलन–डॉ० उमेश कुमार पाण्डेय 170
रसनिष्पत्ति प्रक्रिया की वैज्ञानिकता–डॉ० राजेश कुमार सिंह 173
असहयोग आन्दोलन में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका: बिहार के विशेष संदर्भ में–डॉ० मुकुल कुमार शर्मा 178
नूर मोहम्मद के काव्य दर्शन का विश्लेषण–डॉ० प्रदीप कुमार सिंह 181
समकालीन हिंदी ग़ज़ल–रेशमा मोहन काम्बले 188
गोरखा शासन काल में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का ऐतिहासिक अध्ययन (1804-1815 ई०) : गढ़वाल के विशेष सन्दर्भ में–सत्येन्द्र धर्म्वाण; देवेश सिंह गर्ब्याल 193
ईस्ट इंडियन रेलवे कंपनी और बिहार में रेलवे का आगमन (1845-1871)–नवीन कुमार 197
गुरू नानक एवं मनमोहन सहगल की दार्शनिक चेतना में समानता–ब्रह्मलता 201
मृदुला सिन्हा के निबंध साहित्य में सामाजिक व पारिवारिक संबंध–अंजुलता सारस्वत 204
बिहार में मानवीय विकास की संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ : एक दार्शनिक अवलोकन–डॉ० पुनम कुमारी 207
वैदिकवाङ्मये औषधिचिन्तनम्–डॉ० राजीव कुमार 210

नवीन लोक प्रशासन : एक सामान्य अध्ययन

डॉ० अशोक कुमार

एम.ए., पीएच.डी., (राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन), पटना विश्वविद्यालय, पटना

शोध आलेख का सार

लोक प्रशासन एक सामाजिक, नवीन, पर्यावरणीय, गतिशील, विकासोन्मुख अनुशासन है। राजनीति विज्ञान से पृथक होकर वर्ष 1887 में अमरीका में लोक प्रशासन एक अनुशासन के रूप में स्थापित हुआ। इस विषय की स्थापना में वुडरो विल्सन का योगदान केन्द्रीय रहा है। 1887 ई. के बाद भी इसकी प्रकृति एवं क्षेत्र में लगातार परिवर्तन हुआ तथा यह कई रूपों में दृष्टिगोचर भी हुआ। लोक प्रशासन अपने विकास के उतार-चढ़ाव के दौर में चौथा विकासात्मक चरण (वर्ष 1948-1970) में अनेकानेक समस्याओं से घिर गया। इसी समय कई प्रयास हुए ताकि लोक प्रशासन को प्रासंगिकता की ओर मोड़ा जाये। वर्ष 1971 में लोक प्रशासन अपनी पूर्व की प्रवृत्तियों को छोड़कर नवीन प्रवृत्तियों के साथ पुनर्स्थापित हुआ तो उसे नवीन लोक प्रशासन की की संज्ञा दी जाती है। नवीन लोक प्रशासन नाम से ही नहीं, मूल विशेषताओं, लक्ष्यों, मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों में भी नवीन है। इसे उत्तर व्यवहारवाद तथा तुलनात्मक लोक प्रशासन का सहभागी अवधारणा कहा जा सकता है।

मूल शब्द: व्यवहारवाद, मिन्नोब्रुक सम्मेलन, सामाजिक न्याय, सामाजिक परिवर्तन, निजीकरण, उदारीकरण, विकास प्रशासन, अन्तर्विषयक अवधारणा।

प्रस्तावना

लोक प्रशासन के क्षेत्र में 1968 ई. के बाद नवीन विचारों का सूत्रपात हुआ, जिसे नवीन लोक प्रशासन की संज्ञा दी जाती है। 1971 ई. में फ्रेंक मेरिनी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'Toward a New Public Administration : Minnowbrook Perspective' के प्रकाशन के साथ ही नवीन लोक प्रशासन को 1971 ई. में मान्यता मिली है, परन्तु उसके विकास की पृष्ठभूमि पहले से तैयार हो रही थी। इसके विकास में हनी प्रतिवेदन, 1967 ई.; फिलाडेल्फिया सम्मेलन, 1967 ई. तथा मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968 ई. मील का पत्थर साबित हुआ। नवीन लोक प्रशासन के विकास में द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1988 ई. की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि 'उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण' के सन्दर्भ में द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन आयोजित किया गया था तथा उसी सन्दर्भ में तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 2008 ई. का भी आयोजन हुआ।[1] नवीन लोक प्रशासन के विकास के उत्तरदायी कारणों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता हैं :

अमरीकी लोक प्रशासन का अध्ययन पहले भी किया जा रहा था, लेकिन वह व्यापक एवं व्यावहारिक प्रमाणित नहीं हो रहा था। अमरीकी लोक प्रशासन प्रशासनिक समस्याओं के निराकरण सही रूप में सम्पन्न नहीं कर रहा था, इसलिए उसका नवीन रूप में अध्ययन आवश्यक हुआ। यह कारक नवीन लोक प्रशासन के विकास में सहायक बना।

वर्ष 1966 ई. में प्रो. हनी के नेतृत्व में अमरीका में लोक प्रशासन के समक्ष उपस्थित समस्याओं के अध्ययन तथा उनके निदान हेतु एक समिति को गठित किया गया, जिसने अध्ययन के बाद अपने प्रतिवेदन को 1967 ई. प्रस्तुत किया।[2] हनी समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन को ही 'हनी प्रतिवेदन' कहा जाता है। वस्तुत: हनी प्रतिवेदन सार्वजनिक सेवाओं से सम्बन्धित उच्च शिक्षा पर केन्द्रित था। हनी प्रतिवेदन में लोक प्रशासन के क्षेत्र को व्यापक बनाने पर बल दिया गया तथा कई सुझाव प्रस्तुत किये गये[3] : (i) हनी प्रतिवेदन में लोक सेवा शिक्षा सम्बन्धी राष्ट्रीय आयोग की स्थापना पर बल दिया गया, जिसका दायित्व शासन के लिए शिक्षित मानवीय संसाधन को उपलब्ध कराना था। (ii) प्रतिवेदन में वैसे छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने का सुझाव दिया गया, जो लोक प्रशासन में स्नातकोत्तर उत्तीर्ण हों। (iii) संघीय, राज्य एवं स्थानीय स्तर पर प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों को आयोजित किया जाए, जिनमें लोक सेवा के प्रत्याशी को शामिल किया जा सके। (iv) लोक प्रशासन के क्षेत्र में काम करने वाले शिक्षकों के लिए भी विशेष छात्रवृत्ति योजना को प्रारम्भ किया जाए। (v) शिक्षकों को प्रशासनिक व्यवस्था का व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाय ताकि वे अपने अनुभव को लोक प्रशासन के छात्रों को बीच बांट सकें। (vi) सार्वजनिक मामलों सम्बन्धी शिक्षण एवं शोध पाठ्यक्रम तथा कार्यक्रम के लिए विश्वविद्यालयों द्वारा अनुदान दिया जाना चाहिए। (vii) शासकीय एवं सार्वजनिक मामलों सम्बन्धी शोध कार्य में लगे हुए व्यक्तियों को आर्थिक एवं अन्य प्रकार की सहायता दी जानी चाहिए। (viii) संघीय, राज्य स्तरीय एवं स्थानीय शासनों तथा वैयक्तिक संस्थाओं द्वारा लोक प्रशासन एवं सार्वजनिक मामलों के विद्यालय को उदारतापूर्वक सहायता दी जानी चाहिए। (ix) नवीन लोक प्रशासन कार्यक्रम के लिए नवीन परामर्शदात्री सेवा शुरू करनी चाहिए। (x) लोक सेवा सम्बन्धी प्रशिक्षण एवं शिक्षा की दृष्टि से विश्वविद्यालयों की समीक्षा होनी चाहिए, जिससे उनके कार्यों और कमियों के बारे में जानकारी मिल सके। 1967 ई. में जब हनी प्रतिवेदन प्रस्तुत हुआ तो उस पर व्यापक रूप में मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। एक तरफ कुछ लोगों ने हनी प्रतिवेदन को लोक प्रशासन के क्षेत्र में अनावश्यक सुझाव माना, तो दूसरी तरफ इसके सम्बन्ध में कहा गया कि इससे लोक प्रशासन का विकास होगा, जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि नवीन लोक प्रशासन की स्थापना में हनी प्रतिवेदन के महत्त्व तथा भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

नवीन लोक प्रशासन के विकास में फिलाडेल्फिया सम्मेलन, जो लोक प्रशासन के सिद्धान्त और व्यवहार पर आयोजित सम्मेलन था, को महत्वपूर्ण माना जाता है। 1967 ई. में आयोजित इस सम्मेलन के अन्तर्गत लोक प्रशासन के विकास की आवश्यकता पर बहुत अधिक बल दिया गया तथा इस सम्मेलन का विषय भी था- "लोक प्रशासन का सिद्धान्त एवं व्यवहार : उसका क्षेत्र, उद्देश्य एवं अध्ययन पद्धति।" इस सम्मेलन की **अध्यक्षता जेम्स सी. चार्ल्सवर्थ**[4] नाम के विद्वान ने किया तथा अपने अध्यक्षीय भाषण में इस सम्मेलन के मूल बातों को समाहित करते हुए कहा कि "इस सभा में भाग लेने वालों द्वारा इस भावना की अभिव्यक्ति हुई है कि लोक प्रशासन के सम्बन्ध में संक्षिप्त उपागम को अपनाना चाहिए तथा लोक प्रशासन के महत्त्व पर बल देना चाहिए।" इस सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया कि नीति-निर्माण एवं लोक प्रशासन का विभाजन नहीं करना चाहिए तथा एक विषय के रूप में अमरीकी लोक प्रशासन का सम्बन्ध केवल अमरीकी लोक नीति से होना चाहिए। इसी सम्मेलन में पदसोपान के सिद्धान्तों को कम महत्वपूर्ण माना गया तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण पर बल दिया गया। प्रशिक्षण के सम्बन्ध में यह भी कहा गया कि लोक प्रशासन और व्यावसायिक प्रशिक्षण का स्वरूप बिल्कुल एक ऐसा नहीं हो सकता। लोक प्रशासन को प्रभावी बनाने के लिए इसे राजनीति विज्ञान से सम्बद्ध करने पर बल दिया गया तथा नौकरशाही के 'संरचनात्मक-कार्यात्मक अध्ययन' को महत्वपूर्ण माना गया। इस सम्मेलन में इस बात को स्वीकार किया गया कि अब तक लोक प्रशासन समाज में उत्पन्न आपात समस्याओं का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सका, इसलिए ऐसी व्यवस्था की जाय कि भविष्य में लोक प्रशासन इस सम्बन्ध में संतोष जनक उत्तर दे सके।

वर्ष 1967 ई. में लोक प्रशासन के सिद्धान्त और व्यवहार पर फिलाडेल्फिया सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसके प्रभाव में 1968 ई. में मिन्नोब्रुक सम्मेलन को आयोजित किया गया। ड्वाइट वाल्डो के द्वारा सम्पादित पुस्तक Public Administration in a Time of Turbulence, 1971 ई. में इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बातों को प्रस्तुत किया गया तथा महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण किया गया। वस्तुत: मिन्नोब्रुक सम्मेलन ने ही नवीन लोक प्रशासन को जन्म दिया, क्योंकि उसी सम्मेलन में लोक प्रशासन के संकटपूर्ण स्थिति पर प्रकाश डाला गया तथा उसे सामाजिक मूल्यों के प्रति सम्बद्ध बनाने की बात कही गयी। मिन्नोब्रुक सम्मेलन में नवीन लोक प्रशासन के प्रमुख तत्त्वों के अन्तर्गत प्रासंगिकता, नैतिकता, नीति-शास्त्र, मौलिकता, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक न्याय, ग्राहक केन्द्रित आदि को शामिल किया गया। मिन्नोब्रुक सम्मेलन में भाग लेने वाले युवा राजनीतिक वैज्ञानिक थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस सम्मेलन में क्रांतिकारी परिवर्तन की बात कही गयी। इस सम्मेलन में व्यवहारवादी उपागम के समर्थक विद्वानों के प्रवेश को निषेध किया गया था। इसी का परिणाम यह हुआ कि इस सम्मेलन में मूल्य-सापेक्षता पर बल दिया गया। मिन्नोब्रुक सम्मेलन को भले ही फिलाडेल्फिया सम्मेलन के प्रभाव में आयोजित सम्मेलन कहा जाता है, परन्तु यह नवीन लोक प्रशासन के विकास के लिए मील का पत्थर साबित हुआ।

प्रथम मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968 ई. में आयोजित हुआ था,[5] उसके 20 वर्ष बाद द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1988 ई. में आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में कानूनी और संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में नेतृत्व, प्रौद्योगिकी, नीति तथा आर्थिक परिवेश पर बल दिया गया। नवीन लोक प्रशासन को सामाजिक और व्यावहारिक बनाने के लिए इस सम्मेलन में अन्तर्विषयक उपागम के व्यापक प्रयोग पर बल दिया गया। अन्तर्विषयक उपागम के प्रभाव में लोक प्रशासन का अध्ययन आवश्यकता के सन्दर्भ में अन्य विषयों के साथ जोड़कर किया जाता है। द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन में सामाजिक तथा व्यावहारिक विज्ञानों के योगदान को प्रोत्साहित करने पर बल दिया गया। यह उल्लेखनीय है कि विषय-वस्तु, सहभागिता के स्वरूप तथा चिन्तन के पक्ष के सन्दर्भ में प्रथम और द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन में अन्तर किया जा सकता है। इस सम्मेलन में भी पूर्व के सम्मेलनों की भाँति सामाजिक परिवर्तन एवं समानता, मानवीय व्यवहार एवं सम्बन्ध, लोकतांत्रिक व्यवस्था एवं मूल्य तथा प्रशासनिक नेतृत्व जैसे विषय परिचर्चा में महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय रहे हैं। द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन का आयोजन ऐसे समय में हो रहा था, जब वैश्विक आर्थिक व्यवस्था काफी परिवर्तित हो रही थी, तो दूसरी ओर 'लोक कल्याणकारी राज्य' ने अपने कार्य को समेटना शुरू कर दिया था।[6] इस सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया कि आखिर इस परिवर्तित परिस्थिति में लोक प्रशासन के औचित्य को किस रूप में प्रमाणित किया जाय?

21वीं शताब्दी में लोक प्रशासन की सार्थकता को स्थापित करने के लिए 2 से 5 सितम्बर, 2008 ई. को तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन को आयोजित किया गया। उक्त सम्मेलन में लोक प्रशासन को अधिक-से-अधिक कार्यकुशल बनाने पर बल दिया गया तथा निजी प्रशासन सदृश वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली तथा लोक हित की मूल मान्यताओं के साथ चलने की वकालत की गई।[7] इन्हीं मान्यताओं के कारण 'नव कौशल परिप्रेक्ष्य' की अवधारणा प्रतिपादित हुई है।

अमरीकी राजनीतिज्ञ, अन्तर्राष्ट्रीयवादी एवं प्रसिद्ध लेखक वुडरो विल्सन के प्रयास से लोक प्रशासन वर्ष 1887 ई. में एक अनुशासन यानी स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित हुआ। स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित होने से पूर्व भी लोक प्रशासन का अध्ययन राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता था। 1887 ई. के बाद लोक प्रशासन अपनी मूल्य सम्बद्धता, नवीनता, पर्यावरण सम्बद्धता, सामाजिक तथा विकासोन्मुख प्रकृति एवं विशेषताओं के कारण परिवर्तनशील रहा है। चूँकि लोक प्रशासन एक सामाजिक और परिवर्तनशील विषय है, इसलिए समय व परिस्थिति के अनुसार इसकी प्रकृति व क्षेत्र में परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ है। वर्ष 1970 के दशक में लोक प्रशासन की प्रकृति और क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन आया है, जो वर्ष 1970 के पूर्व की लोक प्रशासन के प्रकृति और क्षेत्र से विपरीत मालूम पड़ता है। वर्ष 1970 के बाद प्रकृति और क्षेत्र के सन्दर्भ में व्यापक रूप में परिवर्तित लोक प्रशासन को ही नवीन लोक प्रशासन कहा जाता है। स्पष्टत: नवीन लोक प्रशासन को लोक प्रशासन का ही अंग माना जा सकता है, जो वर्ष 1970 के दशक में परिवर्तित रूप में सामने आया है तथा स्पष्ट रूप में वर्ष 1971 में इसे मान्यता भी प्राप्त हुई है।[8] अन्त में, यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है कि नवीन लोक प्रशासन के वास्तविक जनक ड्वाइट वाल्डो हैं।

नवीन लोक प्रशासन की विशेषताओं, तत्त्वों अथवा मान्यताओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता हैं :

नवीन लोक प्रशासन, राजनीति तथा प्रशासन के बीच विभाजक रेखा नहीं खींचना चाहता है। यह तो राजनीति और प्रशासन के बीच समन्वय करता है, ताकि लोक प्रशासन को व्यावहारिक तथा उपयोगी बनाया जा सके। वुडरो विल्सन, एफ. जे. गुंडनाव तथा प्रो. एल. डी. व्हाइट जैसे- विद्वानों ने राजनीति और

प्रशासन को विभाजित कर द्विविभाजन के सिद्धान्त का समर्थन किया, उस मान्यता को फ्रैंक मेरिनी, वाल्डो तथा मोशेर जैसे नवीन लोक प्रशासन के समर्थक विद्वान स्वीकार नहीं करते हैं। स्पष्टत: नवीन लोक प्रशासन की यह मान्यता एवं विशेषता है कि उसे राजनीति तथा प्रशासन विभाजन अर्थात् द्विविभाजन के सिद्धान्त में विश्वास नहीं है।

नवीन लोक प्रशासन का मानना है कि लोक प्रशासन का विकास तभी हो सकता है, जब मूल्यों एवं तथ्यों के बीच में समन्वय हो। दूसरे शब्दों में, लोक प्रशासन को उपयोगी एवं प्रासंगिक बनाने के लिए मूल्यों एवं तथ्यों के बीच का समन्वय अनिवार्य है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वर्ष 1970 के पूर्व लोक प्रशासन के क्षेत्र में मूल्यों एवं तथ्यों के बीच समन्वय पर बल नहीं दिया गया था। व्यवहारवादी उपागम के प्रभाव में तो लोक प्रशासन के अन्तर्गत मूल्य-निरपेक्षता की अवधारणा पर बल दिया गया।[9] हर्बर्ट. ए. साइमन ने तो व्यापक रूप में लोक प्रशासन के अन्तर्गत मूल्य-निरपेक्षता का समर्थन किया है। नवीन लोक प्रशासन के समर्थक इस व्यवहारवादी मान्यता को स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि मूल्यों एवं तथ्यों के बीच समन्वय सम्बन्धी मान्यता को स्वीकार करते हैं।

नवीन लोक प्रशासन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन पर बल दिया जाता है। वर्ष 1970 के पूर्व का लोक प्रशासन जिसे परम्परागत लोक प्रशासन कहा जा सकता है, के द्वारा नियमों के कठोर अनुपालन पर जोर दिया जाता था, जबकि नवीन लोक प्रशासन नियमों के कठोर अनुपालन पर जोर नहीं देता है, क्योंकि इसका लक्ष्य सामाजिक परिवर्तन को प्राप्त करना है।[10]

नवीन लोक प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक न्याय की अवधारणा को प्राप्त करना है। नवीन लोक प्रशासन सामाजिक न्याय के आधार पर ही सामाजिक परिवर्तन को कायम करना चाहता है तथा इसी के लिए कानून के प्रयोग में शिथिलता और लचीलापन का समर्थक है।[11]

नवीन लोक प्रशासन की प्रकृति ग्राहक केन्द्रित है, जो परम्परागत लोक प्रशासन की अवधारणा से भिन्न है।[12] नवीन लोक प्रशासन के द्वारा जिन नियमों को निर्धारित एवं क्रियान्वित किया जाता है, उनके केन्द्र में जन हित होता है। इस प्रकार के प्रशासन द्वारा इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि प्रशासन के कार्यों से जनता यानी ग्राहक में क्या प्रतिक्रिया है। यदि जनता प्रशासन के कार्यों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण को कायम रखती है तो प्रशासन अपनी कार्यों में सक्रियता दिखाता है, ठीक इसके विपरीत यदि जनता की रूख नकारात्मक है तो प्रशासन अपने कार्यों में संशोधन एवं सुधार करती है। स्पष्टत: नवीन लोक प्रशासन की प्रकृति व विशेषता इसका ग्राहकोन्मुख होना है।

नवीन लोक प्रशासन की प्रकृति बाजार-उन्मुख है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नवीन लोक प्रशासन, निजी प्रशासन के सन्दर्भ में लोक प्रशासन के सिद्धान्तों को निर्धारित व क्रियान्वित करना चाहता है। दूसरे शब्दों में, नवीन लोक प्रशासन बाजार के सन्दर्भ में जन हित से सम्बन्धित नीतियों को निर्धारित एवं क्रियान्वित करता है। इसलिए इसे बाजार-उन्मुख कहा जाता है।[13]

नवीन लोक प्रशासन को मानवीय मूल्यों से व्यापक रूप में प्रभावित कहा जा सकता है, अर्थात् नवीन लोक प्रशासन का दृष्टिकोण मानवीय है।[14] यह वैज्ञानिक प्रबन्ध के इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता है कि मानव केवल आर्थिक मानव होता है, बल्कि यह मानव सम्बन्धवादी विचारकों के इस मान्यता को स्वीकार करता है कि प्रबन्ध अथवा प्रशासन में मानवीय तत्त्वों की प्रधानता होनी चाहिए। स्पष्टत: नवीन लोक प्रशासन मनुष्य को समाज का अंग मानता है, न कि उत्पादन का यंत्र।

नवीन लोक प्रशासन विन्सेन्ट ऑस्ट्रोम द्वारा प्रतिपादित लोक चयन उपागम की मान्यताओं को स्वीकार करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नवीन लोक प्रशासन इस बात से सहमत है कि प्रशासन राज्य से अलग होकर भी अर्थात् गैर-सरकारी माध्यमों से भी लोक हित को पूरा कर सकता है। नवीन लोक प्रशासन, लोक चयन उपागम के समान गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका को स्वीकार करता है।

परम्परागत लोक प्रशासन के द्वारा मितव्ययता पर अत्यधिक जोर दिया जाता था, जबकि नवीन लोक प्रशासन जन हित के कार्यों को व्यापक रूप में पूरा करने के लिए तथा जनता में अधिक-से-अधिक अपने प्रभाव को कायम करने के लिए मितव्ययता से आगे बढ़कर 'घाटे की बजट' की अवधारणा को स्वीकार करता है। स्पष्टत: नवीन लोक प्रशासन प्रभाव-उत्पादकता के लिए अधिक-से-अधिक खर्च करने का हिमायती है।

नवीन लोक प्रशासन को एक प्रगतिशील विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है।[15] इसे प्रगतिशील कहने का कारण यह है कि यह परम्परागत लोक प्रशासन से अलग हट कर प्रगतिशील मान्यताओं को स्वीकार करता है; यह मूल्यों और तथ्यों के बीच समन्वय करता है; यह राजनीति तथा प्रशासन के बीच परिस्थिति के अनुरूप समन्वय का समर्थक है; यह सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन जैसे प्रगतिशील मूल्यों का समर्थन करता है। नवीन लोक प्रशासन को प्रगतिशील कहने का कारण यह भी है कि इसके द्वारा ग्राहक-केन्द्रित, बाजार-उन्मुख, प्रभाव-उन्मुख तथा प्रासंगिक प्रशासन पर बल दिया जाता है।

परिकल्पना

नवीन लोक प्रशासन की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित परिकल्पनाएँ अपेक्षित है:

1. लोक प्रशासन की गतिशीलता 21वीं शताब्दी में निजीकरण, उदारीकरण व वैश्वीकरण से अधिक सम्बद्ध करने वाली है।
2. नवीन लोक प्रशासन की मान्यताओं को प्रतिस्थापित करने में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन का योगदान रहा है। यदि वर्ष 2028 में चतुर्थ मिन्नोब्रुक सम्मेलन का आयोजन होता है जो नव कौशल परिप्रेक्ष्य अत्यधिक नवीनता की ओर अग्रसर होंगी।
3. नवीन लोक प्रशासन उत्तर व्यवहारवाद का परिणाम भी रहा है तथा यह विभिन्न अध्ययन पद्धतियों से प्रभावित भी होगा।

शोध आलेख का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य नवीन लोक प्रशासन की उत्पत्ति व विकास को स्पष्ट करते हुए इसकी मूल तत्त्वों, मान्यताओं, लक्षणों एवं विशेषताओं को भी स्पष्ट करना है।

साहित्य सर्वेक्षण

नवीन लोक प्रशासन के विशद् अध्ययन में कई महत्वपूर्ण साहित्य सर्वेक्षण किया गया है:

1. डॉ. एम. पी. शर्मा, लोक प्रशासन- सिद्धान्त एवं व्यवहार, किताब महल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. डॉ. रूमकी बसु, लोक प्रशासन- नवीन अवधारणाएँ।
3. डॉ. होशियार सिंह, लोक प्रशासन के सिद्धान्त, किताब महल प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. जे. एस. फिफनर एण्ड प्रेस्थस, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, न्यूयार्क, द रोनाल्ड प्रेस कम्पनी।

शोध आलेख की पद्धति

प्रस्तुत शोध अध्ययन में ऐतिहासिक, सैद्धन्तिक विश्लेषणत्मक, तुलनात्मक एवं नवीन पद्धतियों को अपनाते हुए शोध लेख को मौलिकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। इस शोध कार्य में द्वितीयक श्रोतों का सहारा लिया गया है, जिसमें महत्वपूर्ण प्रशासनिक चिन्तको की पुस्तकें, राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय पुस्तकालयों, इन्टरनेट एवं शोध संस्थानों आदि में उपलब्ध प्रासंगिक सामग्रियों से प्राप्त किया गया है।

निष्कर्ष

विवेचनोपरान्त स्पष्ट है कि नवीन लोक प्रशासन की उत्पत्ति एवं विकास में कई कारकों के अतिरिक्त अन्य परिस्थितिजन्य कारक भी उत्तरदायी रहे हैं। हनी प्रतिवेदन, 1967 ई.; फिलाडेल्फिया सम्मेलन, 1967 ई. तथा प्रथम मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968 ई. को नवीन लोक प्रशासन के उत्पत्ति एवं विकास में 'मील का पत्थर' माना जाता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1988 ई. के परिप्रेक्ष्य में नवीन लोक प्रशासन प्रबन्ध की ओर अधिक उन्मुख हुआ है तथा तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 2008 से नव कौशल परिप्रेक्ष्य का विकास हो रहा है। नवीन लोक प्रशासन एक प्रगतिशील विज्ञान है; यह परम्परागत लोक प्रशासन से अलग है; यह लोक प्रशासन को व्यावहारिक एवं प्रासंगिक बनाना चाहता है; यह वर्ष 1970 के दशक में अस्तित्व व प्रभाव में आया है तथा निजी प्रशासन की चुनौतियों का सामना करते हुए प्रशासन के प्रभावपूर्ण औचित्य को प्रमाणित करना चाहता है; इसकी प्रकृति उपयोगिता के सन्दर्भ में लचीली है तथा यह बाजार-सह-जनोन्मुख भी है।

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. अशोक कुमार, लोक प्रशासन, प्रतियोगिता सन्दर्भ प्रकाशन, नई दिल्ली तथा पटना, पृष्ठ-28
2. डॉ. सुरेन्द्र कटारिया, लोक प्रशासन-सिद्धान्त एवं व्यवहार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ-45
3. तथैव
4. तथैव, पृष्ठ-46
5. तथैव, पृष्ठ-47
6. डॉ. अशोक कुमार, तथैव, पृष्ठ-31
7. तथैव
8. तथैव, पृष्ठ-31
9. आर. के. अरोड़ा, एडमिनिस्ट्रेटीव थियरी, IIPA, नई दिल्ली, 1948, पृष्ठ-XII
10. डॉ. अशोक कुमार, तथैव, पृष्ठ-33
11. तथैव
12. तथैव
13. तथैव, पृष्ठ-34
14. आर. के. अरोड़ा, तथैव, पृष्ठ-XII
15. रॉबर्ट गोलमब्यूस्की, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन- ऐंज ए डेवलपिंग डिसपलिन, पृष्ठ-123

भारत में जनजातियों का वर्गीकरण विशेषतः झारखण्ड राज्य के पश्चिमी सिंहभूम जिला के सन्दर्भ में

डॉ० राघवेन्द्र प्रसाद सिन्हा

एम०ए०, पी-एच०डी० (भूगोल), मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार

शोध आलेख का सार तत्व

भारतीय समाज की विविधता है कि यहाँ लोगों की भाषा, धर्म और संस्कृति अलग-अलग प्रकार की है। यदि राज्यों की बात करें तो उनकी अपनी भौगोलिक, सामाजिक एवं भारत में विशिष्ट पहचान की याद बात की जाती है तो जनजातीय समाज का नाम सबसे पहले आ जाता है। झारखण्ड में कई जनजातियों का निवास है तथा पश्चिमी सिंहभूम जिला में भी जनजातीय बहुलता दृष्टिगोचर होती है। खनिज किसी क्षेत्र में पायी जाने वाली चट्टानों से निर्धारित होते हैं। दोनों में गहरा सम्बन्ध होता है। कहा भी गया है: चट्टान खनिजों के समुच्चय होते हैं। झारखण्ड में मुख्य रूप से पठारी भूमि में प्राचीन रवेदार आग्नेय चट्टान ग्रेनाइट एवं नीस की प्रधानता हैं जो इस भूमि की आधारशिला है। परन्तु इन्हीं चट्टानों के भीतर एवं ऊपर खनिज धारक चट्टानों का भी विकास हुआ है। आर्कइयन एवं धारवाड़ की प्राचीन चट्टानें धात्विक खनिजों- लोहा, तांबा, सोना आदि के भण्डार हैं। वहीं पश्चिमोत्तर स्थित विन्ध्यन की चट्टानें चूना-पत्थर एवं दामोदर घाटी गोंडवाना चट्टाने कोयला परत के लिए विश्व प्रसिद्ध है। दूसरी तरफ झारखण्ड के उत्तरी छोर पर ज्वालामुखी अन्तर्वेधन से पेग्माटाइट ने अभ्रक खनिजों की प्रधानता दी है। सिंहभूम क्षेत्र में भौगार्भिक उथल-पुथल के चलते वहाँ की प्रधानता दी है।

मूल शब्दः भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विविधता, जनजाति, भूमि उर्वरता, आदिवासी, प्रतवादी, विलीन मानवता।

प्रस्तावना

भारत में जनजातियों का वर्गीकरण अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय है तथा झारखण्ड में कई जनजातियों का वर्गीकरण अग्रलिखित आधार पर किया जाता है: 1. निवास क्षेत्र के आधार पर, 2. भाषा के आधार पर, 3. संस्कृति के आधार पर तथा 4. अर्थव्यवस्था के आधार पर।

1. निवास क्षेत्र के आधार पर : डॉ० बी० एस० गुहा[1] ने भारत की सम्पूर्ण जनजातियों को भौगोलिक निवास के आधार पर अग्रलिखित तीन भागों में विभक्त किया है: **(i) उत्तरी तथा उत्तरी-पूर्वी मेखला :** इस क्षेत्र का विस्तार कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उतरांचल और असम के पहाड़ी भाग तक है। लेह, शिमला और लुशाई पर्वत का क्षेत्र भी इसके अन्तर्गत आते हैं। यह सम्पूर्ण क्षेत्र सीमावर्ती होने के कारण राजनीतिक दृष्टि से अतिमहत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियों में **ओटिया, थारू, लेपचा, नागा, नारी, खासी, डफला, कूकी, अबोर, मिकिर, लुशाई, गुज्जर, चकमा, गुरूंग** आदि है। **(ii) मध्यवर्ती क्षेत्र :** इस क्षेत्र का विस्तार उत्तर में गंगा के मैदार से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक है। इसमें विन्ध्याचल एवं सतपुड़ा के पर्वतों की पट्टी भी सम्मिलित है। इसमें बंगाल, बिहार, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और महाराष्ट्र के उत्तरी भाग में निवास करने वाली जनजातियाँ आती है। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ **संथाल, मुंडा, उराँव, खरिया, बिरहोर, गोंड, बैगा, भील, कोली, मीणा** आदि हैं। यह क्षेत्र जनसंख्या एवं क्षेत्रफल की दृष्टि से अन्य क्षेत्रों से बड़ा है। संथाल, भाली और गोंड इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण जनजातियों में से हैं। इस क्षेत्र की जनजातियों पर औद्योगीकरण एवं नगरीकरण का प्रभाव पड़ा है और वे नवीन शहरी संस्कृति के सम्पर्क में आ रही है। यहाँ की अधिकांश जनजातियाँ कृषि कार्य में संलग्न है। बिहार, झारखण्ड एवं उड़ीसा की अनेक जनजातियाँ उद्योगों, खानों एवं कारखानों में काम करती है। **(iii) दक्षिणी मेखला :** यह क्षेत्र कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित है। इसमें मैसूर, ट्रावनकोर, केरल, हैदराबाद, आन्ध्र और तमिलनाडु आदि क्षेत्र आते हैं। इस क्षेत्र की जनजातियों में नीलगिरि के **टोडा, कोया, पनियान, कड़ार;** हैदराबाद के **चेंचू, कुरुम्बा, उराली** आदि प्रमुख है। इस क्षेत्र में अण्डमान और नीकोबार द्वीप समूहों की जनजातियों जैसे **जारवा, निकोबारी, सैण्टीली, ओंग, शोपन** आदि को भी सम्मिलित किया गया है।

2. भाषा के आधार पर वर्गीकरण : भाषायी आधार पर भारत की जनजातियों का विभाजन प्रमुखतः अग्रलिखित भागों में किया जा सकता है: **(a) द्राविड़ भाषा परिवार :** यह भाषा दक्षिण की जनजातियों द्वारा बोली जाती है। द्रविड़ भाषा परिवार में **तेलुगू, कन्नड़, तमिल** और **मलयालम** भाषाएँ आती है। मध्य भारत की गोंड जनजाति भी द्राविड़ भाषा का प्रयोग करती है। उड़ीसा के **कुन्थ,** बिहार एवं उड़ीसा के **कुई** तथा **उराँव** और राजमहल की पहाड़ियों में रहने वाले जनजातीय लोग **माल्टो** बोलियाँ बोलते हैं जो इसी परिवार का अंग है। द्राविड़ भाषा बोलने वाली प्रमुख जनजातियों में **टोडा, मलेर, पोलिया, सवर, कोया, पनियान, चेंचू, इरूला, कड़ार** आदि है। **(b) ऑस्ट्रिक भाषा परिवार :** इसमें **कोल, मुण्डा** भाषाएँ जो कि मध्य-पूर्वी भारत की जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं तथा जिसमें असम की खासी एवं निकोबार द्वीप की निकोबारी बोलियाँ भी सम्मिलित है। ऑस्ट्रिक भाषा में **संथाली, मुण्डारी, खरिया, भूमिज, गारो,** आदि भाषाएँ है जो बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और असम में बोली जाती है। मध्य क्षेत्र एवं छतीसगढ़ की **कोरकू साथरा** एवं

गड़बा भाषाएँ इसी के अन्तर्गत आती है। मध्य क्षेत्र की जनजातियों द्वारा ऑस्ट्रिक भाषा परिवार की बोलियाँ ही बोली जाती है, किन्तु यहाँ रहने वाली **उराँव, कोलाम, गोंड** आदि जनजातियाँ द्राविड़ परिवार की भाषाएँ बोलती है। **(c) चीनी-तिब्बती भाषा परिवार :** इस परिवार की भाषाएँ, दार्जिलिंग, त्रिपुरा, मणिपुर, पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, भूटान, उत्तर-पूर्वी असम तथा सिक्किम आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। उत्तर-पूर्वी असम तथा सिक्किम आदि क्षेत्रों में बोली जाती हैं। उत्तर-पूरब के कुछ क्षेत्रों में **मोनखामेर** भाषा बोली जाती है जो ऑस्ट्रिक भाषा परिवार की है। असम के नागाओं में लगभग 16 भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। भाषा के माध्यम से संस्कृति का प्रसार एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में होता है। यदि दो क्षेत्रों में समान भाषा तथा समान भाषा सम्बन्ध ी प्रतीत एवं मूल्य प्रचलित है तो इसका अर्थ है कि इस सांस्कृतिक प्रसार में भाषा ने महत्वपूर्ण योग दिया है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी राजस्थान के भील बागड़ी भाषा का प्रयोग करते हैं जिनमें गुजराती शब्द भी अधिक है। यह इस बात का संकेत है कि राजस्थान के भीलों में भी गुजरात की संस्कृति के तत्व है किन्तु कई बार दो जनजातियाँ निकट रहते हुए भी भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करती है। इसका अर्थ है कि भाषा के फैलाव में किसी जनजाति की सामाजिक व आर्थिक स्थिति का भी प्रभाव होता है। यही कारण है कि मुण्डा और उराँव जनजातियों के साथ-साथ रहने पर भी एक के द्वारा ऑस्ट्रिक भाषा तो दूसरी के द्वारा द्राविड़ भाषा बोली जाती है।

3. संस्कृति के आधार पर वर्गीकरण : डॉ0 वैरियर एलबिन ने 1943 में भारत की जनजातियों का सांस्कृतिक वर्गीकरण किया और इस आधार पर उन्होंने जनजातियों को चार प्रमुख भागों में विभक्त किया था।[2] **(i) प्रथम श्रेणी** में वे आदिवासी लोग सम्मिलित है जो अत्यधिक आदिम है, संयुक्त सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा दुर्गम एवं घने जंगलों में निवास करते हैं। ये लोग **'झूम'** कृषि करते हैं। इनको सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन बहुत सरल है। कई बार तो सभ्य समाजों के लोगों को देखकर डरकर भाग जाते हैं अथवा पेड़ पर चढ़ जाते हैं। इनमें मध्य भारत के बस्तर क्षेत्र की पहाड़ी मीटिया, उड़ीसा के **जुआंग, गडबा और बोदों** आदि जनजातियाँ प्रमुख हैं। **(ii) दूसरी श्रेणी** में वे जनजातियाँ आती है, जो प्रथम क्षेत्रों की भाँति ही एकाकी एवं परम्परावादी है, किन्तु इनके जीवन में कुछ परिवर्तन आ रहे हैं। ये लोग अपने सामूहिक जीवन को त्यागकर व्यक्तिवादी हो रहे हैं और इनमें गरीब एवं अमीर में भेद पाया जाता है। ये खेती के लिए कुल्हाड़ी का प्रयोग कम करते हैं। अब ये 'झूम' खेती त्याग रहे हैं और सभ्य लोगों को देखकर डरते नहीं हैं। **(iii) तीसरी श्रेणी** में वे जनजातियाँ आती है। जो आधुनिक हैं, सभ्यता एवं बाह्य सस्कृति के अत्यधिक सम्पर्क में आने के कारण अपनी मूल संस्कृति खो चुकी है या मिटने की ओर है। इनका आदिवासी धर्म, परम्परा, प्रथा, कला, विश्वास, सामाजिक संगठन आदि नष्ट हो गये हैं। अत: ये कष्ट में है और सांस्कृतिक सम्पर्क की अनेक समस्याओं से ग्रसित है। **(iv) चौथी श्रेणी में** वे जनजातियाँ आती हैं जो प्राचीन कुलीन वर्ग की है। इनमें भील, नागा, गोंड लोग हैं। इन लोगों ने बाहरी संस्कृतियों के प्रभाव के उपरान्त भी अपनी मौलिकता को बनाए रखा है। ये अपना सम्बन्ध ऊँची जनजातियों से जोड़ते हैं।

डॉ० मजूमदार ने सांस्कृति आधार पर जनजातियों को तीन भागों में बाँटा है[3] :

(i) वे जनजातियाँ जिन्होंने हिन्दू समुदाय के रीति-रिवाजों और व्यवहार को अपना लिया है लेकिन जिन्हें अभी तक हिन्दू समाज ने अपने समूह में सम्मिलित नहीं किया गया है वरन् ये अभी तक बाह्य जातियों के रूप में मान्य है।

(ii) वे जनजातियाँ जो पूरी तरह हिन्दु समुदाय में मिल गयी है किन्तु अभी भी संस्कृति उनकी वैसी ही है।

4. अर्थव्यवस्था के आधार पर वर्गीकरण : आर्थिक आधार पर भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण प्रमुख रूप से अग्रलिखित चार भागों में किया गया है: **(i) शिकार करने एवं संकलनशील अर्थव्यवस्था वाली जनजातियाँ :** भारत की अधिकांश जनजनातियाँ वनों में निवास करती हैं और ये अपना जीवनयापन शिकार करके अथवा कन्दमूल-फल एकत्रित करके करती है। कोच्चि के कड़ार, ट्रावनकोर के मालापात्रम्, कुर्ग के पनियान, वायनाड के पनियान आदि लोग जंगलों से फल-फूल एवं शहर एकत्रित करके जीवनयापन करते हैं। ये लोग कृषि नहीं करते या बहुत ही कम कृषि कार्य करते हैं और वह भी स्थानान्तरिक प्रकार की। सरकार की वन-नीति ने इनके जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। **(ii) पशुपालक जनजातियाँ :** अनेक जनजातियाँ पशुपालन करके अपना जीवन-यापन करती है। इनमें हिमाचल के गुज्जर तथा नीलगिरि के टोडा प्रमुख है। टोडा जनजाति भैंस-पालन करती है और इनकी संस्कृति को 'भैंस-संस्कृति' के नाम से जाना जाता है। पशुपालक जनजातियों का आर्थिक जीवन दूध से बनी वस्तुओं पर निर्भर है। **(iii) कृषि करने वाली जनजातियाँ :** अनेक जनजातियों के आर्थिक जीवन का आधार कृषि की भी अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। कुछ जनजातियाँ कुल्हाड़ी की सहायता से कृषि करती है तो कुछ स्थानान्तरित प्रकार से जबकि कई जनजातियाँ आधुनिक कृषि यन्त्रों का भी प्रयोग कर रही है। इस प्रकार की जनजातियाँ उत्तरी-पूर्वी भारत एवं मध्य भारत में अधिक है। **(iv) उद्योगों में लगी हुई जनजातियाँ :** भारत में औद्योगिक विकास के कारण यह चौथा वर्ग पनपा है। भारत के कुछ भागों में जनजातियाँ विभिन्न प्रकार के उद्योगों में लगी हुई है। बंगाल, बिहार, झारखंड एवं असम की जनजातियाँ चाय-बगानों, खानों एवं कारखानों में काम करती है। उद्योगों में श्रम की माँग के कारण तथा कृषि में उपज की कमी के कारण जनजातियाँ जनवीन उद्योगों में कार्य करती हैं।

जनजातियों की जनसंख्या में कुछ ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति पायी जाती रही है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि आदिवासी जनजातियों की जनसंख्या सामान्य तौर पर अधिक बढ़ने वाली है फि‍र भी अधिकांशत: वे ऐसे क्षेत्रों में रहती है जहाँ मलेरिया का गहरा प्रकोप पाया जाता है।

दूसरे, असम में मैदानी क्षेत्रों में और उत्तरी कछार पहाड़ियों में जनजातियाँ सचमुच हिन्दू धर्म में घुल-मिल गयी है। **तीसरे,** लुसाई, खासी और जयन्तिया के पहाड़ी क्षेत्रों, छतीसगढ़ और केरल में ईसाई धर्म के प्रचार ने भी इनकी जनसंख्या घटाने में पर्याप्त योग दिया है। **चौथे,** दूसरे लोगों के सम्पर्क में आने से और उनके रहन-सहन के ढंग अपनाने से अनेक जनजातियाँ बहुत बदल गयी है। जब कोई जनजाति सभ्यता के निकट सम्पर्क में आती है, तब वह अपने पड़ोसियों की कुछ विशेषताएँ ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार उसकी स्वयं की कुछ मौलिक विशेषताएँ लुप्त हो जाती हैं। और जनजातीय भाषा का स्थान अन्य भाषाएँ ले लेती हैं। मैदारी क्षेत्रों से प्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण जनजातियों के अन्धविश्वास मिटते जा रहे हैं।

जिन कारणों से जनजातियों का अपने पड़ोसियों से सम्पर्क स्थापित कर लेना आसान हो गया है, वे अग्रलिखित है : (1) बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल के विभिन्न भागों में स्थित जनजातीय क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के खनिज मिलने तथा असम और पश्चिम बंगाल से बागानों और खेतों में काम करने

और बिहार, उड़ीसा के कारखानों में काम करने के लिए अपना निवास स्थान छोड़कर जाते हैं और वहाँ बस गये हैं। इससे उनका सम्बन्ध अपनी भूमि से टूट जाता है। (2) यातायात और संचार सांधनों के प्रसार के कारण जनजातीय क्षेत्रों से सम्पर्क स्थापित होना भी एक मुख्य कारण है। रेलों और सड़क यातायात ने जनजातीय लोगों की लज्जा को बड़ी तेजी से कम कर दिया है और बहुत से भूमिहीन परिवार सड़कों के अगल-बगल बस गये हैं। अन्य लोग बाहर आकर बीच में बस गये लोगों की सेवा-टहल करते हैं। इस तरह उनका सम्पर्क बढ़ रहा है। औद्योगिक और नगरीय संस्कृति के सम्कर्प में आने से ये लोग नवीन वातावरण से पूरी तरह सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाये। इनकी अशिक्षा और अज्ञान का लाभ ईसाई मिशनरियों ने उठाया जिससे इन्हें पाश्चात्य संस्कृति को अपनाकर ऐसे दोष अपना लिये जैसे मादक वस्तुओं का सेवन, अंग्रेजी वेशभूषा आदि जो इसके अनुरूप नहीं है। (3) सुदूर स्थित स्थानों और उन क्षेत्रों में जहाँ पहुँचना कठिन है, ईसाई मिशनरियाँ स्थापित की गयी है। इससे सांस्कृतिक सम्पर्क काफी बढ़ा है। इन मिशनरियों ने जनजातीय लोगों के दु:ख और बीमरी में तथा जमींदारों और बनियों से लड़ाई होने पर उनकी हर प्रकार से सहायता की। तभी से अनेक लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया। (4) प्रशासन के अधिकारियों, सार्वजनिक चिकित्सा सेवा के कर्मचारियों, वन विभाग के अधिकारियों और उनके गुर्गों, ठेकेदारों, व्यापारियों, बनियों, मुकदमेबाजों, वकीलों, पटवारियों, माल महकमे के गुर्गों तथा दूसरे लोगों के सम्पर्क में आने से भी जनजातियों की पुरानी मौलिक विशेषताएँ समाप्त हुई हैं और उनके निजी संस्कार परिष्कृत हुए हैं।

किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले आदिम मानव समूह को जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं और एक समान संस्कृति की असुरण करते हैं। जनजाति कहे जाते हैं। आदिवासी भी इन्हें कहा जाता है, क्योंकि किसी क्षेत्र विशेष में इनका वास पहले से रहता है। वे दुर्गम इलाके में रहते हैं। ये सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध हो पर शैक्षिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े रहते हैं। परन्तु अब इनमें भी विकास होने लगा है।

झारखण्ड प्रदेश की पहचान एवं संस्कृति जनजातीय जीवन से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है। 2011 जनगणना के अनुसार झारखण्ड में इनकी संख्या 86,45,042 थी जो कुल जनसंख्या का 26.2 प्रतिशत है। इनमें 76,68,150 जनजातीय जनसंख्या गाँवों में रहती है तथा 7,76,892 शहरी क्षेत्रों में रहती है। यानि ग्रामीण जनसंख्या में इनका योगदान 31.4 प्रतिशत है, जबकि शहरी आबादी में में 9.8 प्रतिशत बैठता है। गौरतलब है कि 2001 की जनगणना में कुल जनजातीय भागीदारी 26.3 प्रतिशत जबकि 2011 में 0.1 प्रतिशत घटकर 26.2 प्रतिशत हो गई है। भारत में जनजातीय जनसंख्या का सकेन्द्रण दुर्गम इलाके पहाड़ी, पठारी, रेगिस्तानी एवं जंगली क्षेत्रों में मिलता है। विद्वानों का मानना है कि इनका प्रजातिगत लक्षण प्रोटो ऑस्ट्रेलॉयड है और ये भारत के मैदानी इलाकों में सभ्यता का विकास किये। परन्तु आर्यों के आगमन के साथ इनसे युद्ध हुआ जिसके बाद ये दक्षिण में दुर्गम पठारी भाग, पर्वतीय हिमालय पश्चिमी रेगिस्तानी एवं पूर्वांचल भाग में केन्द्रित है। भारत लगभग 450 जनजातियाँ निवास करती है। झारखण्ड में इनकी संख्या 32 है। संथाल, मुण्डा तथा उराँव यहाद्द मुख्य जनजातियाँ है। हो, लोहरा, खरवार, खरिया, भूमिज, महली, माल पहाड़िया, बेदिया, गोंड, कोरवा, विनिजिया, असुर, गोडैत, बिरहोर, बिरिजिया, बैंगा, सवार, बथुड़ी, खोंड एवं बंजारा आदि है।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य अधिवास के स्वरूप का महत्वपूर्ण होने के कारण समझना आवश्यक है। पश्चिमी सिंहभूम का अधिवास प्रतिमान नगरीय और औद्योगिक है। इसलिए इस आलेख में ग्रामीण अधिवास की सामान्य जानकारी के बाद नगरीय अधिवास के प्रतिमान को विस्तृत रूप में स्पष्ट किया गया है। इस आलेख में नगरीय अधिवास के साथ-साथ झारखंड राज्य के पश्चिमी सिंहभूम जिला में अधिवास के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख का शीर्षक “भारत में जनजातियों का वर्गीकरण विशेषत: झाखण्ड राज्य के पश्चिमी सिंहभूम जिला के सन्दर्भ में” है। शीर्षक के अनुरूप शोध आलेख में परिकल्पना को निर्धारित किया जा सकता है। भौतिक आवश्यकताओं तथा शैक्षणिक आवश्यकताओं को लेकर नगरीकरण को बढ़ावा मिल रहा है। वर्तमान समय में विज्ञान एवं तकनीक का अत्यधिक विकास हुआ है, इसलिए राज्यों में सांस्कृतिक विविधता में उत्तरोतर रूप में कमी आ रही है। झारखंड राज्य के पश्चिमी सिंहभूम जिला एक जनजाति, जनसंख्या बहुल जिला है, जिसमें विशेष सांस्कृतिक पहचान दिखती है। इसके बाद भी भविष्य में जनजातीय संस्कृति का उत्तरोतर रूप में क्षय हो रहा है तथा इस प्रकार की आशा की जा सकती है कि झारखंड के इस जिले की नगरीय तथा ग्रामीण अधिवास की मौलिक अन्तर समाप्त होंगी। चाइबासा की संस्कृति, ग्रामीण संस्कृति तथा जनजातीय संस्कृति से प्रभावित है, परन्तु भविष्य में इस पर वैश्वीकरण, उदारीकरण, उत्तर आधुनिकतावाद, सदृश्य अवधारणाओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होगा।

साहित्य सर्वेक्षण

प्रस्तुत आलेख की तैयारी में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का अवलोकन व सर्वेक्षण किया गया है। यहाँ साहित्य सर्वेक्षण में निम्नलिखित ग्रंथ का नाम दिया जा सकता है:

1. डब्ल्यू.ई. हंटर : ए स्टैटिकल एकाउन्ट ऑफ बंगाल, वॉल्यूम-ब्स्ट, नम्बर एंड कम्पनी, लंदन, 1877
2. ए.जे.एम. हूसन : द डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ पोपुलेशन एज द एसेन्सियल ज्योग्रफीकल एक्सप्रेशन, कानाडियन ज्योग्रफर-17, वर्ष 1960
3. जे.बी. गार्नियर : ज्योग्रफी ऑफ पोपुलेशन, लौंगमैन, लन्दन, 45(2), वर्ष 1978
4. डॉ. चतुर्भुज मामोरिया एण्ड एच.एस. गर्ग, भूगोल, राजीव बंशल, साहित्य भवन, पी. एण्ड डी., आगरा।
5. जी.एस. गोल : इन्टरनल माइग्रेशन इन इंडिया- एक रीजनल एनालिसीस, इण्डियन ज्योग्रफीकल जर्नल, 36, वर्ष 1961

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख के लेखन में ऐतिहासिक, वस्तु-विश्लेषणात्मक तथा भौगोलिक विश्लेषण की पद्धति को अपनाया गया है। शोध प्रविधि के रूप में तुलनात्मक पद्धति की भी चर्चा आंशिक रूप में की गई है।

निष्कर्ष

अबतक के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अधिवास मानव के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है, जो सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक कारकों से निर्धारित होता है। अधिवास के पीछे ऐतिहासिक कारक भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, विशेषकर भारत के राज्यों में। भारत के राज्यों में झारखंड, छतीसगढ़ तथा उड़ीसा जैसे राज्य जनजाति समाज की जनसंख्या और उनकी संस्कृति के लिए महत्वपूर्ण है। झारखंड राज्य का पश्चिमी सिंहभूम जिला एक जनजाति बहुल जिला है, जहाँ नगरीय अधिवास तथा ग्रामीण अधिवास के बीच समन्वय दिखता है। सिंहभूम जिला का नगरीय अधिवास खनन उद्योग नगर तथा औद्योगिक नगर के रूप में महत्वपूर्ण है, जिससे व्यापारिक नगर भी कहा जा सकता है। स्पष्टत: पश्चिमी सिंहभूम का नगरीय अधिवास कार्य पर आधारित है तथा इसे व्यापारिक और परिवहन नगर के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। सीमेन्ट उद्योग को लेकर यह जिला विशेष महत्व रखता है, हालांकि ग्रामीण अधिवास के पीछे कृषि और पशुपालन जैसे कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है। इस जिला में नगरीय अधिवास तथा ग्रामीण अधिवास के बीच का अन्तर उत्तरोतर रूप में कम हो रहा है तथा सांस्कृतिक परिवर्तन का दौड़ भी चल रहा है। विज्ञान एवं तकनीक के प्रभाव में इस सांस्कृतिक तथा औद्योगिक जिला का स्वरूप व्यापक रूप में परिवर्तित कर दिया है।

सन्दर्भ सूची

1. बी०एस० गुहा, दि आदिवासी, 1960, पृष्ठ-28-35
2. वेरियर एल्विन : दि एबोरिजीनल्स, 1943, पृष्ठ 7-11
3. पश्चिमी सिंहभूम जिला के आधिकारिक बेवसाइट।
4. डॉ० मदोदर : मानव भूगोल, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-41
5. तथैव, पृष्ठ-46
6. डॉ० एस०डी० कौशिक : मानव भूगोल, पृष्ठ-162
7. बी०एम० स्वैनसन : रूरल सेटेलमेन्ट इन एन०डब्ल्यू०, डेरोन इन इकोनॉकिम ज्योग्रफी, वोल्यूम-II, नम्बर-1st 1935, पृष्ठ-77
8. ब्लाश : हूमैन सेटेलमेन्ट, पृष्ठ-21
9. डॉ० चतुर्भज मामोरिया एवं एच०एस० गर्ग, भूगोल, एस.बी.पी.डी पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ठ-163
10. तथैव, पृष्ठ-163-165
11. तथैव, पृष्ठ-166
12. तथैव, पृष्ठ-167
13. तथैव।
14. तथैव।
15. पश्चिमी सिंहभूम से संबद्ध विकासपीडिया।

भारत में भूमि सुधार : एक सामान्य अवलोकन

डॉ० धर्मेन्द्र धारी सिंह

एम०ए०, पी-एच०डी० (इतिहास), मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार

शोध आलेख का सार तत्व

भारत में भूमि सुधार हमेशा से ही आवश्यक, परन्तु विवाद का विषय रहा है। इतिहास के लगभग हर कालखण्ड में इस दिशा में कार्य-प्रयास किये जाते रहे हैं। आधुनिक भारत के इतिहास में कार्लवालिस की भूमि सुधार की योजना तो काफी चर्चा में रही है। स्वतंत्र भारत में भूमि सुधार की माँग की जाती रही है, परन्तु इस दिशा में अभी भी सार्थक निर्णयन नहीं हो पाया है। भारत के बिहार और झारखण्ड राज्य में भूमि विवाद के कारण प्रशासन के सामने कानून-व्यवस्था की समस्या खड़ी होती रही है। बिहार सरकार के द्वारा भी कानून-व्यवस्था के मार्ग में सबसे बड़ी समस्या भूमि विवाद को माना जाता रहा है। आये दिन समाज में भूमि विभाजन को लेकर दो घनिष्ठ परिवारों के बीच मारपीट होती रहती है तथा प्रशासन उसी में उलझा रहता है। इसलिए राज्य और सम्पूर्ण देश के विकास के लिए आवश्यक है कि सरकार के द्वारा भूमि सुधार की दिशा में ईमानदार प्रयास किया जाये। इसके लिए दृढ़ राजनीतिक-प्रशासनिक इच्छा शक्ति की आवश्यकता है, जिसकी कमी देखी जा रही है। दूसरी बात यह है कि कृषि को लाभकारी स्थिति में लाने के लिए चकबन्दी जैसे कई पद्धतियों को लागू करना होगा। कृषि पर लोगों की निर्भरता अधिक है, लेकिन बिहार में वैज्ञानिक एवं आधुनिक रूप में खेती नहीं हो रही है। इसलिए कृषि आधारित उद्योग-धन्धे भी पिछड़ रहे हैं। इसके लिए भी भूमि सुधार की आवश्यकता है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र को आत्म-निर्भर बनाने तथा नये रूप में हरित क्रांति लाने के लिए भी भूमि सुधार की अनिवार्यता सर्वविदित है।

मूल शब्दः भूमि सुधार, कृषि क्रांति, हरित क्रांति, जमींदारी, माओवाद, समग्र विकास, बेरोजगारी, गरीबी, आर्थिक नियोजन, सामाजिक सशक्तिकरण।

प्रस्तावना

भूमि सुधार का प्रमख उद्देश्य उत्पादन के सामाजिक संबंधों को ऐसा स्वरूप देना है, जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादकता अधिकतम हो सके। कृषि संरचना में परिवर्तन दो तरीकों से हो सकते हैं- सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं के चलन से स्वतः समय के साथ और कृषि संरचना में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा। कृषि संरचना में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से होने वाले परिवर्तन को भूमि सुधार कहा जाता है। भारत में भूमि सुधारों के माध्यम से प्रत्यक्ष हस्तक्षेप की आवश्यकता इसलिए हुई, क्योंकि स्वतंत्रता से पहले देश में पायी जाने वाली भूधारणा प्रजातियाँ शोषण करने वाली थी। भारतीय कृषि से संबंधित संस्थागत परिवर्तन जमींदारी उन्मूलन, कृषकों को भू-स्वामी अधिकार देना, भूमि लगान का सही निर्धारण करना और भूमि का समानतापूर्वक वितरण सरकारी नीति के मूलभूत उपादान थे। संस्थागत परिवर्तन के इन सभी उपादानों को भूमि सुधार के नाम से जाना जाता है।

योजना आयोग के अनुसार भूमि सुधार के तीन मुख्य उद्देश्य है। पहला उद्देश्य यह है कि ब्रिटिश काल से जो कृषि संगठन विरासत में मिला है, उसके फलस्वरूप कृषि उत्पादकता की वृद्धि से संबंधित बाधाओं को दूर किया जाए। इसके कारण कुशलता तथा उत्पादकता ऊँचे स्तर वाली कृषि व्यवस्थ का तेजी से जन्म होगा। दूसरा उद्देश्य यह है कि कृषि संगठन में सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना और सामाजिक न्याय प्रदान करना जिसके फलस्वरूप काश्तकारी स्थिति में समानता प्रदान की जाए और ग्रामीण जनता के सभी वर्गों को समान अवसर प्रदान किए जाए। तीसरा उद्देश्य यह है कि कृषि से संस्थागत परिवर्तन होने के फलस्वरूप कृषि के समृद्ध होने से देश की आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तीव्र करना।[1]

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भूमि सुधार की आवश्यकता अग्रलिखित कारणों से हुईः **सर्वप्रथम,** स्वतंत्रता से पूर्व ब्रिटिशकालीन भारत में राज्य और वास्तव में खेती करने वाले किसान के बीच बड़ी संस्था में मध्यस्थों की उपस्थिति कृषि की एक विशेषता थी। ये मध्यस्थ जिन्हें जमीदार कहा जाता था, ब्रिटिश सरकार द्वारा कृषकों से राजस्व प्राप्त करने का काम करते थे। मध्यस्थों को एक निश्चित राशि भू-राजस्व के रूप में सरकार को प्रतिवर्ष देनी पड़ती थी, जिसके बदले में सरकार ने इन्हें छूट दे रखी है लेकिन राजस्व एकत्र करने वाले इन मध्यस्थों को धीरे-धीरे भूमि का मालिक स्वीकार किया जाने लगा और इसी के साथ अनुपस्थित भू-स्वामी की प्रथा शुरू हो गई। **द्वितीय,** राजस्व वसूल करने वाले मध्यस्थों का स्वामित्व अधिकार समय के साथ-साथ इतना व्यापक हो गया कि वास्तव में जो भूमि का मालिक था तथा खुद खेती करता था, वह भूमिहीन श्रमिकों ने बदला गया। इसके साथ ही ये मध्यस्थ अनुपस्थित भू-स्वामी बन गए और इनका उद्देश्य काश्तकारों का शोषण करके उनसे अधिक लगान वसूल करना था। इसके फलस्वरूप इनके द्वारा कृषि का पोषण होने के बादले उनका शोषण होने लगा। भू-स्वामी खुद खेती न करे उसके काश्तकारों से खेती करवाता और अधिक से अधिक लगान वसूल करता। **तृतीय,** लगान में वृद्धि करने के लिए काश्तकारों को प्रायः भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। अत्यधिक शोषण के कारण छोड़ देते हैं, जिसके फलस्वरूप भूमि का एक बड़ा हिस्सा बिना खेती किए बेकार रह जाता था। **अन्त में,** काश्तकारों की बेदखली के कारण जोतों का उपविभाजन और विखंडन व्यापक पैमाने पर होने लगा, जिसके फलस्वरूप जोतों का आकार इतना छोटा हो गया कि कृषि कार्य के लिए यह उपयुक्त नहीं रहा। विखंडन के कारण भूमि बेकार को गई तथा

फसल के प्रबंध भी लागत बढ़ने लगी। चूँकि जमींदारी व्यवस्था शोषण पर आधारित व्यवस्था थी। इस व्यवस्था ने एक परजीवी वर्ग उत्पन्न कर दिया जो दूसरों की मेहनत पर पलता था। साथ ही अपने आर्थिक तथा सामाजिक प्रभुत्व के कारण यह परजीवी वर्ग वास्तविक काश्तकारों से उत्पाद का एक बड़ा हिस्सा हड़प लेता था। रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था में भी इसी प्रकार के अवगुण उत्पन्न हो गए थे। इन तीनों प्रणालियों में खेती काश्तकारों द्वारा भी जाती थी, जिनका अनेक प्रकार से शोषण होता था। ऐच्छिक काश्तकारों तथा उपकाश्तकारों की स्थिति विशेष रूप से काफी दयनीय थी।

स्वतंत्रता के बाद सरकार द्वारा शुरू किए गए भूमि सुधारों का मुख्य उद्देश्य वास्तविक काश्तकारों के शोषण को रोकना उन्हें भूमि पर मालिकाना हक दिलाना था। भारत सरकार ने भूमि सुधार हेत निम्नलिखित उद्देश्य निश्चय किए :

(i) पुराने भूमि संबंधों को समाप्त करना जिनके कारण कृषि उत्पादन को बढ़ाने में बाधाएँ उत्पन्न हो रही है और एक ऐसी नई व्यवस्था स्थापित करना जिसमें भूमि पर खती करने वाले ही उनके वास्तविक मालिक हो, और

(ii) भूमि व्यवस्था के अंतर्गत होने वाले सभी प्रकार के शोषण तथा सामाजिक अन्याय को समाप्त करना, काश्तकारों की स्थिति मजबूत बनाना और ग्रामीण जनसंख्या के सभी वर्गो को समान अधिकार तथा समान अवसर प्रदान करना। भारत सरकार ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भूमि सुधार के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण उपाय किए हैं।

स्वतंत्रता के समय देश का 57% क्षेत्र जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत था। जमींदारी प्रथा में पाये जाने वाले दोषों के कारण जनता का विरोध उनके प्रति बहुत पहले से पनप रहा था। 1928 ई० में ही झाँसी काँग्रेस अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने जमींदारी प्रथा के समापन का प्रस्ताव किया।[3] 1935 में पुन: माँग की गई लेकिन अँग्रेजों ने इस व्यवस्था को बनाए रखा। स्वतंत्रता के बाद 1948 में कृषि सुधार समिति ने यह सिफारिश की कि भूमि पर स्वामित्व किसान का होना चाहिए तथा जिन व्यक्तियों ने 6 वर्ष तक किसी भूखंड पर खेती की है उन्हें उस भूमि का मालिक मान लिया जाना चाहिए। इस प्रकार राज्यों में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिए कानून 1951 से पूर्व ही बना लिए गए, लेकिन उन पर पालन तथा उनसे संबंधित कार्य प्रथम पंचवर्षीय योजना में ही किया गया। इस संबंध में पहला कानून बिहार राज्य के पास किया फिर एक-एक करके दूसरे राज्यों ने भी ऐसे कानून पास किए।[4] जमींदारों को उनके स्वामित्व अधिकारों से वंचित कर दिया गया और उन्हें बदले में मुआवजा दिया गया। जमींदार जिस भूमि पर स्वयं खेती करते थे, वह उनके पास ही छोड़ दी गई। मुआवजा चुकाने के बाद खेती योग्य और खेती अयोग्य बेकार भूमि सरकार के हाथ में आ गई जिसे सीमांत कृषक और भूमिहीन कृषि श्रमिकों में बाँट दिया गया। इस प्रकार मध्यस्थों के उन्मूलन के फलस्वरूप लगभग दो करोड़ किसानों का सरकार से सीधा संपर्क स्थापित हो गया। इन किसानों को निर्धारित दरों तथा भुगतान की शर्त्तो के अनुसार भू-राजस्व का भुगतान सीधे सरकार को करना होता था। एक अनुमान के अनुसार मध्यस्थों से 17.30 करोड़ एकड़ भूमि ली गई, जिसके बदले लगभग 670 करोड़ रु० मुआवजा देना निश्चित हुआ। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से संबंधित अधिनियमों को बनाने में बहुत अधिक समय लगा और जब उन्हें लागू करने का समय आया तब जमींदारों ने तरह-तरह की अड़चने उत्पन्न की। उन्होंने न्यायालय का सहारा लिया। हालाँकि अंतत: वे हार गए और कानून बने भी हैं, उनमें बहुत खामियाँ है। सर्वप्रमुख खामियाँ खुद-काश्त की परिभाषा थी। खुद काश्त की परिभाषा में जमींदारों द्वारा और उनके परिवार के सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत पर्यवेक्षण को भी शामिल कर लिया गया अर्थात् अगर जमींदारी या उसके परिवार का कोई सदस्य सिर्फ देख-रेख करता है तब इसे भी खुद काश्त मान लिया गया। हालाँकि कानूनी रूप से जमींदारी का पूर्णतया उन्मूलन किया जा चुका है, लेकिन सच्चाई ऐसी नहीं है, क्योंकि अब भी वे बड़े किसान है तथा वे शक्तिशाली और प्रभुत्वशाली ग्रामीण पूँजीपति है। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि स्वतंत्रता के बाद का कायस्थ एवं भूमि पर खेती करने वाले वास्तविक लोगों का शोषण कम हुआ है तथा सामंत कृषि संरचना चरमरा कर टूट गया है।[5]

काश्तकारी व्यवस्था से तात्पर्य कृषि संबंधों की उस प्रणाली से होता है, जिसमें भूमि का मालिक स्वयं खेती नहीं करता तथा जमीन को काश्तकारों को पट्टे पर दता है। भारत में जमींदारी और तथा रैयतबाड़ी क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर पट्टेदारी व्यवस्था थी। देश में भूमि सुधार कार्यक्रम लागू करने से पूर्व मुख्य रूप से तीन प्रकार की काश्तकारी होती थी- (i) दखलकारी काश्तकारी, (ii) ऐच्छिक काश्तकारी, (iii) उपकाश्तकारी। इन तीनों में दखलकारी काश्ताकारों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी, क्योंकि उन्हें अपनी जोत पर स्थायी अधिकार प्राप्त थे। इसलिए जमींदार उन्हें कानूनी रूप से बेदखल कर सकते थे। इसलिए इन लोगों के संरक्षण हेतु विशिष्ट कानूनों को बनाना तथा उन्हें लागू करना आवश्यक हो गया। नेशनल सेंपल सर्वे (आठवाँ दौरे) के 1953-54 में ऐच्छिक तथा उपकाश्तकारी संबंधी अनुमान प्रस्तुत किए जिनके अनुसार हरित क्रांति से पूर्व भारत में भूमि का लगभग 50% भाग किसी न किसी रूप में काश्तकारी के अंतर्गत था।[6]

ब्रिटिश शासनकाल में काश्तकारों पर लगान का भारत अत्यधिक था। हर्षदेव मालवीय के अनुसार लगान की दर कुल उत्पादन की 34 से 75% तक थी। ब्रिज नारायण के अनुसार बंबई प्रांत में लगान की दर शुद्ध उत्पादन की 40 से 60% तथा पंजाब में 80% तक होती थी। इस अधिक लगान ने काश्तकारों के जीवन में परेशानी उत्पन्न कर दिया। इसीलिए लगान को नियमित करने और काश्तकारों पर उनका भार कम करने के लिए उपाय सुझाए गए। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिफारिश की गई कि अधिकतम लगान उत्पादन को 1/5 या 1/4 होना चाहिए। पंजाब, हरियाना, जम्मू-कश्मीर, तमिलनाडु और आंध्रप्रदेश के कुछ क्षेत्रों में छोड़कर सभी राज्यों में इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया गया है। लेकिन लगान नियमन संबंधी कानूनों को कठोरता से लागू नहीं किया गया, क्योंकि भू-स्वामियों का ग्रामीण व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण है तथा वे अपनी मजबूत आर्थिक व सामाजिक स्थिति की बदौलत काश्तकारों से अधिक लगान वसूल कर सकने की स्थिति में है। जैसे-बिहार में अधिकतम लगान की सीमा 25% निर्धारित की गई है, लेकिन वास्तव में लगान 50% तक है। काश्तकारों की स्थिति बदतर होने का एक कारण यह भी है कि अधिकांश काश्तकारी मौखिक है। इसकी पंचवर्षीय योजना के एक अनुमान के अनुसार बिहार में 34% भूमि मौखिक है। दसवीं पंचवर्षीय योजना के एक अनुमान के अनुसार बिहार में 34% भूमि मौखिक काश्तकारी के अंतर्गत थी।[7]

काश्तकारों की भूमि से बेदखली रोकने के लिए अधिकांश राज्यों में कानून बनाए गए हैं। इन कानूनों के तीन प्रमुख उद्देश्य है- (a) बेदखली न हो और अगर हो तब सिर्फ कानून की धाराओं के अंततर्गत हो। (b) अगर भू-स्वामी को भूमि लौटाई जाती है तब सिर्फ खुद काश्त के लिए ही लौटाई जाए और (c) भूमि स्वामी को लौटाने की स्थिति में भी काश्तकार के पास कुछ भूमि छोड़ दी जाए।

भारत के सभी काश्त संबंधी कानूनों में उन लोगों को काश्तकार माना गया है जो लगान के बदले किसी दूसरे व्यक्ति की भूमि पर खेती करते हैं, लेकिन कुछ राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश व पश्चिम बंगाल में बँटाईदारों को काश्तकार नहीं माना गया है। सभी राज्यों में (उत्तर प्रदेश व पश्चिम बंगाल को छोड़कर) भू-स्वामियों को खुद काश्त के लिए भूमि कुछ सीमा तक खाली कराने के अधिकार दिए गए हैं। कुछ राज्यों में भू-स्वामियों को यह अधिकार दिया गया है कि वे ठीक उच्चतम सीमा तक भूमि खुद काश्त के लिए वापस ले सकते है। भू-स्वामियों को खुद काश्त के लिए भूमि वापस लेने का अधिकार देने से और खुदकाश्त की दोषपूर्ण परिभाषा अपनाने से काश्तकारों की स्थिति बहुत खराब हो गयी है। इसके अतिरिक्त एक समस्या स्वैच्छिक समर्पण की है। कानूनों से बचने के लिए कई भू-स्वामियों ने काश्तकारों पर अपनी इच्छा से भूमि त्यागने का दबाव दिया। इससे स्पष्ट है कि अगर कोई काश्तकार अपनी इच्छा से भूमि त्यागता है तब कानून उसकी कोई सहायता नहीं कर सकता। इस समस्या के समाधान हेतु 1988-89 में भूमि रिकॉर्ड के कम्प्यूटर विवरण बनाने की योजना शुरू की गई। देश के 582 जिलों में इस योजना के अंतर्गत काम चल रहा है। बिहार, असम, कर्नाटक, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों में भूमि रिकार्ड के वार्षिक संशोधन की व्यवस्था नहीं है, जबकि कुछ राज्यों में यह व्यवस्था है।

काश्तकारों को मालिकाना हक दिलाने पर बल दिया गया है। इसके लिए कुछ राज्यों में संबंधित कानून बनाए गए है, जबकि कुछ राज्यों ने इस दिशा में कोई काम नहीं किया है, जबकि कुछ राज्यों में बनाए गए कानून पर्याप्त नहीं है। दूसरे राज्यों की तुलना में पश्चिम बंगाल, कर्नाटक तथा केरल को अधिक सफलता मिली है, लेकिन कुल मिलाकर प्रगति असंतोषजनक है। एक अनुमान के अनुसार काश्तकारों को भू-स्वामित्व अधिकार देने से विभिन्न राज्यों में 124.20 लाख काश्तकारों को लगभग 63.20 लाख हेक्टेयर भूमि मिली है।[8]

कृषि के पुनर्गठन के में अग्रलिखित उपाय शामिल होते हैं: (i) बारहवीं पंचवर्षीय योजना के अनुसार अब तक सिर्फ 30 लाख हेक्टेयर भूमि को अतिरिक्त घोषित किया गया है जो भारत के शुद्ध बोए गए क्षेत्र का सिर्फ 2% है। इस भूमि का भी लगभग 30% वितरित नहीं किया गया है, क्योंकि यह कानूनी विवादों में फँसा हुआ है। योजना में यह भी स्वीकार किया गया है कि ग्रामीण भारत में भूमिहीन एवं गरीब लोगों के खिलाफ शक्तियों का पलड़ा इतना भारी है कि सीमाबंदी कानूनों को लागू करना मुश्किल है। इस मुश्किल को प्रशासन भी मजबूत इच्छा शक्ति से ठीक किया जा सकता है।[9] (ii) चकबंदी द्वारा भूमि के अपखंडन की समस्या का निदान किया जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसानों के गाँव के विभिन्न भागों में बिखरे हुए खेतों के बराबर भूमि उन्हें एक ही जगह पर दी जाती है। भारत में में सर्वप्रथम 1920 में बड़ौदा में चकबंदी अधिनियम पास किया गया था। देश में चकबंदी के क्षेत्र में प्रगति काफी असंतोषजनक है। इसे लागू करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ है तथा इसका लाभ बड़े किसानों को ही मिल पाता है, जबकि छोटे किसानों को काफी अधिक परेशानी होती है।[10] (iii) विनोवा भावे ने इस आंदोलन को 1951 में शुरू करते हुए प्रत्येक भू-स्वामी से स्वच्छा द्वारा 1/6 भूमि दान में माँगी थी। इसके अंतर्गत संपूर्ण देश में लगभग 5 करोड़ है। एकड़ भूमि एकत्रित करने का लक्ष्य रखा गया, लेकिन सिर्फ 54.7 लाख एकड़ भूमि प्राप्त हुई, जिसमें सिर्फ 37.54 लाख एकड़ भूमि भूमिहीनों में बाँटी गई। (iv) भूमि के उपविभाजन से उत्पन्न समस्याओं का निदान सिर्फ सहकारी खेती द्वारा ही किया जा सकता है। इसके अंतर्गत वे छोटे तथा सीमांत किसान जिनके पास बहुत छोटी कृषि जोते हैं। अपनी भूमि मिलाकर उस पर एक साथ खेती करते हैं। भारत में 85% जोतों का आकार 2 हेक्टेयर से कम है तथा उनके पास परिचालन क्षेत्र का सिर्फ 44.6% है। (भारत सरकार के कृषि मंत्रालय के 2014 के अनुमान के अनुसार 2010-11 में)। इन छोटे-छोटे खेतों पर खेती करना लाभदायक नहीं हो सकता।[11] वास्तविकता यह है कि भारत में सहकारिता का प्रयोग असफल रहा, क्योंकि सहाकरी समितियाँ सही दिशा में कार्य न कर सका। हालाँकि सरकार ऐच्छिक आधार पर सहकारी खेती की देख-रेख के लिए पर्याप्त वित्तीय सहायता दी तथा लगान व आयकर इत्यादि में भी रियायतें दी है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी खेती पर विशेष बल दिया गया है।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता, महत्व एवं इस दिशा में किये गये महत्वपूर्ण प्रयासों का विवेचन करना है। इस आलेख में कृषि एवं चकबन्दी जैसी व्यवस्था के सम्बन्ध में भी आंशिक जानकारी प्रदान करने की योजना अपेक्षित है।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख में निम्नलिखित परिकल्पनाएँ अभिनिर्धारित की जा सकती है:

1. भूमि सुधार से कानून-व्यवस्था की स्थिति अच्छी होंगी।
2. भूमि सुधार कृषि के विकास तथा बेरोजगारी की समस्या के समाधान में भी सहायक बन सकती है।
3. भूमि सुधार सामाजिक सौहार्द के सन्दर्भ में भी सार्थक प्रतीत होता है।
4. भूमि सुधार से राजनीतिक-प्रशासनिक इच्छा शक्ति को बल मिलेगा तथा राजनीतिक आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में भी इसे अच्छा बताया जा सकता है।

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत शोध आलेख की पद्धति ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा वस्तु-विश्लेषणात्मक है।

साहित्य समीक्षा

प्रस्तुत शोध आलेख के अवलोकन के परिप्रेक्ष्य में कई साहित्य सर्वेक्षण किया गया है, जिनमें कुछ का नाम लिया जा सकता है:

1. डक्यूमेन्ट्स एवं रिपोर्ट, भारत सरकार।
2. जवाहरलाल नेहरू : फोर्टनाइटली लेटर्स टू द चीफ मिनिस्टर्स, 1946-63
3. ए०एन० अग्रवाल : इंडियन इकॉनोमी, नई दिल्ली, विकास प्रकाशन, 1982
4. अशोक कुमार सिंह : बिहार : लैनलॉड लॉ एण्ड ऑडर
5. डॉ० सी० मामोरिया, भारत का आर्थिक विकास एवं नियोजन साहित्य भवन पी० एण्ड डी० (राजीव), आगरा

निष्कर्ष

भारत में अबतक जो भूमि सुधार लागू किए गए हैं वे सही दिशा में उचित कदम है, किन्तु इस दिशा में अधिक प्रगति नहीं हो सकी है। भूमि सुधारों की धीमी प्रगति के लिए अग्रलिखित तत्वों को जिम्मेदार ठहराया जा सता है: (i) भूमि सुधार संबंधी कानूनों में निम्नलिखित कमियाँ देखी जा सकती है: विभिन्न राज्यों के कानूनों में खुद-काश्त की परिभाषा दोषपूर्ण रही है। अधिकांश राज्यों मे खुद देख-रेख को खुद काश्त का हिस्सा माना गया तथा इसमें भू-स्वामी द्वारा स्वयं देखरेख करने का प्रावधान नहीं थ। इसमें भू-स्वामी के परिवार के किसी भी सदस्य द्वारा देख-रेख को खुद काश्त की परिभाषा में शामिल कर लिया गया। कानून में खुद काश्त के लिए मध्यस्थों को बहुत बड़ी जमीन अने पास रखने की अनुमति दी गई, जो सही नहीं है। जातों की सीमाबंदी के कानूनों से बचने के लिए जमींदारों ने बहुत बड़ी भूमि अपने परिवार के सदस्यों के नाम पर हस्तांतरित कर दिया जो सही नहीं माना जा सकता है। विभिन्न राज्यों और एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में भूमि भी उच्चतम सीमा में बहुत अंतर रहे हैं। उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल जैसे कुछ राज्यों में बँटाई के आधार पर खेती करने वालों को काश्तकार का दर्जा नहीं दिया गया, जबकि ये बड़ी भूमि पर खेती करते थे। किसी भी कानून की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सरकार में उसे लागू करने की राजनैतिक इच्छा शक्ति हो। भारत में भूमि सुधारों के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से देखा जाता है कि राज्य सरकारें भूमि सुधार कानूनों को लागू करने में बहुत उत्सुक नहीं थी। उसका उद्देश्य सिर्फ राजनीतिक लाभ प्राप्त करना था। वास्तविकता यह है कि सरकार बड़े किसानों व भू-स्वामियों के दबाव एवं नियंत्रण में काम करती रही। गरीबों के साथ सहानुभूति तथा बड़े किसानों से साठ-गाँठ करके राजनैतिक लाभ प्रापत करना ही सरकार की भूमि सुधार नीति का प्रमुख उद्देश्य रहा। प्रशासनिक तंत्र के उदासीन रवैया के कारण ही कहा जा सकता है कि उचित भूमि रिकार्ड का अभाव है।

सन्दर्भ सूची

1. भारत सरकार, योजना आयोग, तृतीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ-220
2. बी०के० पुरी एवं एस०के० मिश्र, भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालया पब्लिशिंग हाऊस, मुम्बई, पृष्ठ-235
3. तथैव
4. तथैव, पृष्ठ-236
5. तथैव
6. तथैव
7. तथैव
8. दसवीं पंचवर्षीय योजना के विश्लेषण के आधार पर प्रस्तत
9. भारत सरकार, योजना आयोग, 12वीं पंचवर्षीय योजना, 2012 से 2017, टवसण.९, पृष्ठ-191
10. तथैव, पृष्ठ-192
11. बी०के० पुरी एवं एस०के० मिश्र, भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालया पब्लिशिंग हाऊस, मुम्बई, पृष्ठ-239

स्वतन्त्रता आन्दोलन में बिहार की कुछ राष्ट्रवादी महिलाओं की जीवन उपलब्धि : एक ऐतिहासिक अवलोकन

अनीता कुमारी

शोध प्रज्ञा, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

शोध आलेख का सार तत्व

आधुनिक भारत के इतिहास में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना वर्ष 1885 में हुई, जो स्वयं में इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना के बाद भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन ने वैधानिक एवं औपचारिक रूप धारण किया। वर्ष 1885 से लेकर 15 अगस्त, 1947 तक के काल को स्वतन्त्रता आन्दोलन का काल कहा जाता है, जिसे अग्रलिखित तीन चरणों में विभक्त करके अध्ययन किया जाता है- (क) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का उदारवादी चरण (वर्ष 1985 से 1905 ई० तक), (ख) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का उग्रवादी चरण (वर्ष 1906 से 1918 तक तथा (ग) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का गाँधीवादी चरण (वर्ष 1919 से 1947 तक अर्थात् स्वतंत्रता प्राप्ति तक)। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का तीनों चरण महत्वपूर्ण है, परन्तु गाँधीवादी चरण महत्वपूर्ण है, परन्तु गाँधीवादी सन्दर्भो में महत्वपूर्ण हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का गाँधीवादी चरण न केवल निर्णायक होने के कारण महत्वपूर्ण है, बल्कि राजनीतिक- सामाजिक आन्दोलन को समन्वित रूप में सम्पन्न करने को लेकर भी महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का तृतीय एवं अंतिम चरण 'गाँधीवादी चरण' सामाजिक सरोकार के साथ-साथ महिला सुरक्षा, कल्याण एवं सशक्तिकरण को लेकर भी महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में यदि महिलाओं की भागीदारी की बात की जाये तो बिहार की कुछ राष्ट्रवादी महिलाओं का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। बिहार की राष्ट्रवादी महिलाओं ने महिलाओं के हित की केवल बात नहीं किया, बल्कि सर्वप्रथम 'राष्ट्र' की बात किया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। बिहार की राष्ट्रवादी महिलाओं की जीवन-उपलब्धि की चर्चा महिला सशक्तिकरण, सामाजिक सशक्तिकरण, राजनीतिक आधुनिकीकरण तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के बिहारी परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। यहाँ बिहार की कुछ राष्ट्रवादी महिलाओं की जीवन उपलब्धि में भगवती देवी, राजवंशी देवी, लीला सिंह, चन्द्रावती देवी तथा रामदुलारी सिन्हा की चर्चा अपेक्षित है।

मूल शब्दः सामाजिक सशक्तिकरण, लोकतंत्र, न्याय, महिला सशक्तिकरण, आधुनिकीकरण, पश्चात्य शिक्षा, पुनर्जागरण, सामाजिक सुधार, राजनीतिक आधुनिकीकरण, नारीवाद, राजनीतिक सहभागिता तथा राजनीतिक संस्कृति।

प्रस्तावना

स्वतन्त्रता आन्दोलन में बिहार की कुछ राष्ट्रवादी महिलाओं की जीवन उपलब्धि के ऐतिहासिक विवेचन में सर्वप्रथम **श्रीमती भगवती देवी** की जीवन उपलब्धि की चर्चा अपेक्षित है। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की बड़ी बहन का नाम भगवती देवी था। इनका जन्म 1869 ई० में हुआ था। ये राजेन्द्र प्रसाद से पन्द्रह वर्ष बड़ी थी। लोग इन्हें प्यार से "फूआ जी" कहते थे। इनका ब्याह राजेन्द्र प्रसाद के जन्म से पहले ही एक बड़े कायस्थ परिवार में बाबू गुलजार सहाय से हुआ था। शादी के कुछ ही दिनों बाद 'जीरादेई' गाँव में ही बाबू गुलजार सहाय का आकस्मिक निधन हो गया। अब भगवती देवी का बाल विधवा होने से सारा परिवार शोक सन्तप्त हो उठा, तभी से ये मायके में ही रहने लगी।

अब भगवती देवी का जीवन का लक्ष्य सिर्फ पूजा-पाठ, व्रतोपवास तथा तीर्थाटन करना ही रह गया। ईश्वर भक्ति और सार्वजनिक सेवा में ही इनका सारा समय लगने लगा। लोक-सेवा में तत्पर रहते हुए भी ये पूजा पाठ और व्रत-पालन में सदा नियमित रूप से दृढ़ रही। गृह परिवार और गृहस्थी के कामों में भी उनका सहज अनुराग बना रहा। अपने परिवार और कुटुम्बियों में ये 'प्रधान' और 'सरदार' मानी जाती थी। प्रायः समाज में विधवाएँ सर्वत्र शुभ कर्म से अलग रखी जाती है, पर इनके सम्मान में कभी किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। घर के सभी कल्याणकारी अनुष्ठानों में इनका सहयोग बड़े आद के साथ लिया जाता था। फूआ जी ने भारत के लगभग सभी तीर्थ स्थलों की यात्रा की। वे जहाँ कहीं भी गयी, बिहार की छाप छोड़ आयी। बिहार की प्रमुख बोली भोजपुरी से तीर्थवासियों को परिचित कराने में इनका विशेष हाथ रहा। जहाँ दूसरों के पूजा-पाठ और रीति-रिवाज का अंश लेती थी, वहाँ अपनी ओर से भी बाँट देती थी।[1]

राजेन्द्र बाबू का परिवार रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिस्म, विचार और परिपाटी में शुद्ध सनातनी रही है तथा घर की स्त्रियों में पर्दा प्रथा की प्रबलता रही है। अपने धर्मनिष्ठ परिवार की पौराणिक विशेषताओं को सुरक्षित रखने में फूआ जी का मन निरन्तर सावधान रहता था। किन्तु महात्मा गाँधी ने जब बिहार

में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम का श्रीगणेश किया तब इन्होंने पर्दा-प्रथा को तोड़कर बिहारी महिलाओं के नेतृत्व का झण्डा उठाया। इस तरह राजनीतिक क्षेत्र में उतरकर इन्होंने सबसे आगे बढ़ पर्दा-प्रथा को करारी चुनौती दी। प्रथा के खिलाफ ठोस कदम उठाकर इन्होंने बिहारी महिलाओं को प्रोत्साहन देते हुए बतला दिया कि वे किस प्रकार सिर पर आंचल रखकर भी गाँधीजी के आन्दोलन में जुट सकती है। वे घर-घर घूमकर नर-नारियों से शुद्ध खादी पहनने का अनुरोध करने लगी।

श्रीमती भगवती देवी विधानसभा की सदस्यता भी रह चुकी थी। उससे जो पैसे मिले, उसे जमा रखकर अपने गाँव जीरादेई में श्रीलक्षीनारायणजी का एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया।[2] उनका जीवन सादगी से भरा था। जीवन भर कभी भी मांस-मछली और प्याज लहसुन नहीं खायी। किसी मादक वस्तु का कभी स्पर्ष तक नहीं किया। बिना स्नान-ध्यान और पूजा-पाठ किये कभी अन्न जल ग्रहण नहीं किया।[3] असहयोग आन्दोलन के समय-समय जो खद्दर धारण करने का व्रत लिया, उसे अन्त तक बड़ी निष्ठा से निभाया। हर काम में स्वच्छता एवं पवित्रता पर उनका विशेष ध्यान रहता था। महात्मा गाँधी के सम्पर्क में जाने के बाद अस्पृश्यता के भाव को पाप तो मानने लगी, पर सब तरह की सफाई पर उनका आग्रह बराबर बना रहा। गाँधीजी समझते थे कि इनका सबसे बड़ा त्योग है अपने भाई को देश सेवा के लिए खुशी-खुशी भेंट कर देना और उनकी लोक सेवा में स्वयं भी यथाशक्ति सहायता करते रहना जिसकी आखिरी सांस तक ये करती रही।

इन्होंने बिहार के नारी समाज में राष्ट्रीय चेतना जगाने के साथ-साथ राजेन्द्र बाबू के जीवन और शरीर की रक्षा में भी निरन्तर तत्पर रही। हरदम वे उनकी तन्दुरूस्तरी की निगरानी करती रहती थी और उनके स्वास्थ्य और जीवन को ये राष्ट्र की पूँजी मानती रही। राजेन्द्र बाबू ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश पाने के साथ ही अपने पर्दापंथी परिवार को देश सेवा के उन्मुक्त क्षेत्र में सबसे आगे ला खड़ा किया और अपनी बहन, पत्नी, पुत्रबधु आदि को गाँधीजी के साबरमती आश्रम में भेज दिया। फूआजी का अन्तिम समय दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में गुजरा। ये 26 जनवरी, 1950 ई० की दुपहरी में दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में आयी थी और ठीक दस वर्ष बाद उसी तारीख की दुपहरी के बाद वहाँ से उनका मृत शरीर बाहर निकला। इनके पुण्य-प्रताप से इनकी मृत्यु बड़े शानदार ढंग से हुई।

श्रीमती राजवंशी देवी का जन्म 1883 ई० में दलन-छपरा (बलिया जिला, उत्तर प्रदेश) में हुआ था। इनके पिता का नाम हरिनन्दन सहाय था। उनकी शादी जीरादेई (सारण, बिहार) के डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से हुई थी। ये संपूर्ण रूपेण भारतीय आदर्श और संस्कृति की उपासिका थी।[4]

महात्मा गाँधी से सम्पर्क होने पर राजेन्द्र प्रसाद जब से चरखा आन्दोलन में जुड़े तब से ही श्रीमती राजवंशी देवी अपने पति की लीक पर चलने लगीं और कटाई-बुनाई को अपने जीवन का एक अंग ही बना लिया।[5] 1926 ई० में राजवंशी देवी अपने परिवार के सदस्यों के साथ गाँधी के सावरमती आश्रम पहुँची जहाँ 1928-29 तक गाँधी के साथ रचनात्मक कार्य में जुटी रही।

8 जुलाई, 1928 को पटना के राधिका सिन्हा इन्स्टीच्यूट में महिलाओं की एक पर्दा विरोधी सभा का आयोजन हुआ था।[6] जिसमें कमिटी के सदस्यों में अन्य महिलाओं के अतिरिक्त श्रीमती राजवंशी देवी भी थी।[7]

1930 ई० के नवम्बर महीने में सेठ जमनालाल बजाज की पत्नी जानकी देवी तथा उनकी दो पुत्रियाँ बिहार के दौरे पर आयीं। वे जहाँ-जहाँ गयी, उनके साथ राजवंशी देवी भी गयीं।[8] इन्होंने नमक सत्याग्रह आन्दोलन तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन में खुलकर भाग लिया था।

जनवरी, 1933 में स्वतंत्रता दिवस मनाने के अपराध में पटने में कुल 14 लोगों को गिरफ्तार किया गया जिनमें श्रीमती राजवंशी देवी भी एक थी। ये महिलायें शिक्षा को बढ़ावा देने तथा हरिजनों को ऊँचा उठाने में हमेशा प्रयत्नशील रहती थीं।[9]

श्रीमती राजवंशी देवी ने अपने तपोमय जीवन से भारतीय महिलाओं के समक्ष जो उज्जवल आदर्श उपस्थित किया वह पवित्र और महान है। एक भारतीय महिला की जो कुछ चाहत होती है और जो कुछ चाहत होती है और जो कुछ चाह सकती है वे सब पूर्ण रूपेण इन्होंने प्राप्त किया। ऐसी महान तपस्विनी का देहान्त 9 सितम्बर, 1962 को हो गया। पटना के गंगा घाट पर इनका दाह संस्कार किया गया। इनके जैसे सदा-सुहागिन महिला का दिव्य जीवन सदियों तक नारी समाज को पुण्याचरण का प्रकाश देता रहेगा।[10]

श्रीमती लीला सिंह का जन्म 1879 ई० में लन्दन में हुआ था। लीला जी जानेमाने वकील तथा मानवतावादी तारक नाथ पालित की पुत्री थी जिन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के निर्माण के लिए 30 लाख रुपये दान दिये थे। ये अपने पति महान स्वतंत्रता सेनानी दीपनारायण सिंह के राजनीतिक आदर्शों तथा प्रेरणाओं के अनुकूल उनके संग कदम में कदम मिलाकर कार्य करती थी। ये बहुत ही तेजस्वी महिला थी। अंग्रेजी के साथ-साथ इन्हें फ्रेंच भाषा तथा फ्रेंच पाकशास्त्र का भी अद्भूत ज्ञान था। जिन दिनों दीप नारायण सिंह हजारीबाग जेल में चार महीने की सजा काट रहे थे वे हजारीबाग में जेल के बगल में ही रहकर अपने पति का ख्याल रखती थी।[11]

27-28 दिसम्बर, 1921 को अहमदाबाद में काँग्रेस अधिवेशन में बिहार से गयी लगभग 558 प्रतिनिधियों में लीला सिंह भी थी जिन्हें निर्वाचन समिति की सदस्या बनाया गया था।[12] 15 जनवरी, 1922 को मुजफ्फरपुर से सफी मंजिल में नारी जागरण हेतु आयोजित महिलाओं की सभा की अध्यक्षता श्रीमती लीला सिंह ने स्वयं ही की थी।[13] अपने अध्यक्षीय पद से बोलते हुए इन्होंने परदा प्रथा उन्मूलन तथा महिलाओं को आगे आकर स्वयंसेविकाओं के रूप में कार्य करने का आह्वान किया। इसके साथ-साथ खद्दर तथा चरखा को भी अपनाने की अपील की थी।[14]

1930 में लीला सिंह के नेतृत्व में भागलपुर में एक नई जागृति आयी थी। भारतीय राष्ट्रीय कार्यक्रम में सम्मिलित होने के लिए भागलपुर की भी अनेक महिलाओं ने घर से बाहर कदम रखना आरम्भ कर दिया था।[15] श्रीमती लीला सिंह तथा उनके परिवार के अन्य महिलाओं ने उस जत्था को तिलक लगाकर विदा किया था।[16] 1946 में इन्होंने दीपनारायण स्मारक भवन के निर्माण में अहम भूमिका निभाई। उस समिति के अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद थे।[17] ऐसी महान समाज सेविका एवं स्वतंत्रता सेनानी का निधन स्वतंत्रता प्राप्ति के साल 1947 ई. में ही हो गया।[18]

चन्द्रावती देवी का जन्म 25 मार्च, 1908 को चम्पारण जिले में हुआ था। इनके पिताी का नाम स्व० शीतल प्रसाद सिन्हा तथा पति का नाम श्री जगदीश नारायण था। श्रीमती चन्द्रावती देवी बिहार के उन इनी-गिनी महिला सेनानियों में एक हैं, जिन्होंने भारत माता की गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने में अपने प्राणों की बाजी लगा दी।[19] इनका विवाह बिना तिलक दहेज के हुआ था। इनके पति श्री जगदीश नारायण भी आजादी के पक्के सेनानी थे। श्री नारायण ने चन्द्रावती को आजादी की लड़ाई में सहभागी होने के लिए पत्नी बनाया था।

चन्द्रावती देवी में राष्ट्रीय चेतना का जागरण 1928 ई० में हुआ। उस समय वे कन्या महाविद्यालय, जालंधर की छात्रा थी। गाँधीजी ने जब गरीब किसान मजदूरों के लिए गोरे निलहे से अहिंसक लड़ाई चम्पारण आकर शुरू की तब चन्द्रावती भी उनके साथ चम्पारण गयी। तब से चन्द्रावती बिहार आकर शुरू की तब चन्द्रावती भी उनके साथ चम्पारण गयी। तब से चन्द्रावती आकर शुरू की तब चन्द्रावती भी उनके साथ चम्पारण गयी। तब से चन्द्रावती बिहार आकर ही स्वतंत्रता संग्राम में रस-बस गयी।

श्रीमती चन्द्रावती देवी बेतिया आकर जानकी कुँवर कन्या विद्यलय में अस्थायी पद पर शिक्षिका का काम करने लगी। उस समय गाँधीजी का काँग्रेस संगठन को मजबूत बनाने का कार्यक्रम चल रहा था। इसमें ये भी सम्मिलित हो गयी। स्थानीय मजबूत बनाने का कार्यक्रम चल रहा था। इसमें ये भी सम्मिलित हो गयी। स्थानीय काँग्रेस कमिटी का चुनाव होने पर वे उपसभापति चुनी गयी।[20]

उन्हीं दिनों बिहार में पर्दा-प्रथा के विरुद्ध एक जबर्दस्त आन्दोलन शुरू हुआ तो इसी क्रम में दरभंगा के मझौलिया गाँव में 'मगन आश्रम' की स्थापना की गई। चन्द्रावती ने इस आश्रम में रहकर अकेली कुलीन उच्च घरानों से 19 महिलाओं को पर्दा प्रथा से उबार लायी, उन महिलाओं में सीता देवी भी एक थी।[21] इन्होंने पर्दा विरोधी प्रान्तीय कमिटी की प्रमुख सदस्या के रूप में अहम भूमिका निभाई।[22]

1930 ई० में नमक सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। गाँधीजी ने घोषणा की कि नमक कानून को तोड़ो और नमक खुद बनाओ। समुंद्री नमक बनाकर अपने घर ले जाओ। बिगुल बजते ही लोग हर जगह नमक बनाने लगे। इस क्रम में नमक की पुड़िया चन्द्रावती ने बनाई और पहली बार उन्होंने पटना सिटी के निवासी स्व० डोमा सरदार के हाथ डेढ़ रूपये में उसे बेचा। इस प्रकार काफी रुपये एकत्रित कर उसे संगठन के कार्य में लगाया।[23] इसी क्रम में इन्हें पूर्णियाँ जिले का भार सौंपा गया, जिसे ये बखूबी से निभाई।

1931 ई० के अक्टूबर महीने में गाँधी सप्ताह के अवसर पर इन्होंने राजेन्द्र प्रसाद के साथ कई सभाओं को सम्बोधित किया।[24] चन्द्रावती देवी की पहली जेल यात्रा 9 जनवरी, 1932 ई० को हुई। जेल जीवन के छः महीने बाँकीपुर तथा हजारीबाग जेलों में ही कटी। फिर जनवरी, 1933 ई० को स्वतंत्रता दिवस मनाने के अपराध में 15 महीने की सजा हुई।[25] 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के क्रम में भी कई बार जेल की सजा भुगती। श्रीमती चन्द्रावती देवी 1934 में बिहार प्रदेश काँग्रेस कमिटी की सदस्या बनी।[26] इसी वर्ष बिहार में विनाशकारी भूकम्प हुआ। इस भूकम्प के कारण बहुत से कैदियों को छोड़ दिया गया था, जिसमें चन्द्रावती देवी भी थी। उसी समय गाँधीजी बिहार आये थे और चन्द्रावती देवी गाँधीजी के जत्थे के साथ मुजफ्फरपुर में बाढ़ पीड़ितों की सेवा के लिए चली गई।[27]

रामदुलारी सिन्हा का जन्म बिहार प्रान्त के गोपालगंज जिला के मणिकपुर गाँव में 8 दिसम्बर, 1922 ई० को हुआ था। इनके पिता का नाम महेन्द्र सिंह था और माता रामझड़ी देवी। पिता महान गाँधीवादी थे। 1920 ई० में असहयोग में उन्होंने शिक्षक के पद को त्याग दिया ओर आन्दोलन में कूद पड़े। लोगों को विशेषकर दलितों को साफ-सूथरा एवं शिक्षित बनने पर जोर देने लगे।[28]

रामदुलारी ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता के सान्निध्य में प्राप्त की। जिस समय वह सात-आठ वर्ष की थी, उन्हीं दिनों मजहरूल हक माणिकपुर आये। रामदुलारी सिन्हा अपने पिता द्वारा स्थापित विद्यालय में पढ़ती थी और खेलते-कूदते मजहरूलहक के सामने आ गई। रामदुलारी ने 1वीं कक्षा में पढ़ाई जाने वाली किताब को बोलकर सुना दिया। मजहरूल हक ने इन्हें 1 रुपया ईनाम में दिया।[29]

रामदुलारी जी का जन्म तथा पालन-पोषण स्वतंत्रता आन्दोलन के वातावरण में हुआ था। इनका सम्पूर्ण परिवार देश भक्ति से ओत प्रोत रहा है। माता-पिता आजादी के अग्रदूत थे, भाई बहन भी आजादी के दीवाने थे, भला ऐसा माहौल में रामदुलारी जी में देशभक्ति की भावना कैसे नहीं पनपती। बिहार में शायद ही कोई ऐसा परिवार था जिसकी तीन-तीन पीढ़ियाँ एक साथ जेल में हो।[30]

रामदुलारी सिन्हा का विवाह डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की शुभ प्रेरणा से सीतामढ़ी जिलान्तर्गत मेजरगंज थाना के डुमरीखुर्द गाँव के स्वतंत्रता आन्दोलन के वीर सेनानी ठाकुर युग किशोर सिंह के साथ हुआ।[31] किशोर सिंह ने यह शादी तिलक दहेज के बिना की थी। रामदुलारी जी के लिए यह एक संयोग ही था कि इनकी बचपन में आजादी की लड़ाई का जो प्रकाश अपने मायके में मिला था, वह ससुराल में उत्तरोतर प्रकाशित होता गया।[32]

श्रीमती रामदुलारी सिन्हा पति-पत्नी दोनों पर्दा प्रथा के खिलाफ थे। जब ये विवाहोपरान्त अपने ससुराल गयी तो बिना घूँघट के ही।[33] इनका सम्पूर्ण परिवार विदेशी सत्ता मिटाने, पर्दा प्रथा को तोड़ने, स्त्री शिक्षा के प्रसार, जमीन्दारी उन्मूलन, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, हरिजनों एवं पिछड़ों के प्रति सहानुभूति ही नहीं बल्कि उनकी सच्ची सेवा, उनकी शिक्षा और सफाई के कार्यक्रमों में संलग्न रहा।[34] ये अपने पति के साथ किसान आन्दोलन में भी जुटी रहीं। 1935 ई० में जमीन्दारी उन्मूलन के लिए सीतामढ़ी जिले में स्वामी सहजानंद को भरपूर सहयोग दिया तथा हाजीपुर में आयोजन किसान सम्मेलन में अपना भाषण दिया था।[35]

पटना में 2 सितम्बर, 1944 को अनुग्रह बाबू की अध्यक्षता में छात्रों एवं शिक्षकों की एक विशाल सभा हुई थी, जिसमें प्रो० गोरखनाथ सिंह, प्रिंसिपल मोइनुलहक, प्रो० श्यामनंदन मिश्र आदि विद्वानों ने भाग लिया था। इसमें रामदुलारी जी ने कड़े शब्दों में बन्दी छात्रों तथा डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की रिहाई की माँग की थी।[36] दिसम्बर, 1944 में ही छात्राओं की एक रैली हुई थी, जिसमें पूर्णिमा बनर्जी ने महिलाओं से नेताओं को पूर्ण समर्थन देते रहने की अपील

की थी। उक्त सभा में रामदुलारी जी ने अपने जोरदार भाषण में श्रीमती अरूणा आसफ अली की रिहाई की माँग की थी।[37] सन् 1944-45 ई० में बिहार कस्तूरबा छात्र समिति की उपाध्यक्षता रहकर इन्होंने कार्य किये थे।[38] कई वर्षों तक रामदुलारी देवी ने गाँधी राष्ट्रीय स्मारक निधि, बिहार शाखा की मंत्री रहीं।[39]

1945 ई० में रीगा (सीतामढ़ी) में एक जिला स्तरीय किसान सम्मेलन का आयोजन किया गया था, जिसका उद्घाटन बिहार-केसरी डॉ० श्री कृष्ण सिंह ने किया था। इस सम्मेलन में रामदुलारी जी अत्यधिक सक्रिय रहीं।[40] उक्त किसान सम्मेलन में यह महसूस किया गया कि बहुत से समर्पित काँग्रेसी विश्व की राजनीति से अनभिज्ञ हैं। अत: ठाकुर युगल किशोर सिंह के अथक प्रयास से दो महीने का राजनीतिक शिविर लगाया गया, जिसके संचालन में रामदुलारी जी दिन और रात का अन्तर भूल गई थी। उक्त शिविर में काकोरी शड्यंत्र केस के अभियुक्त श्री मन्मथनाथ गुप्त, श्रीमती माया गुप्त, आजाद हिन्द फौज की कैप्टन लक्ष्मी बाई, जेनरल शाहनबाज, नेताजी के भतीजे श्री अरविन्द बोस आदि प्रमुख नेताओं का शुभागमन हुआ था।[41] 1946 में जब काँग्रेस के डेलिगेट का चुनाव हुआ, इसमें पति-पत्नी दोनों विजयी हुए। रामदुलारी जी अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की सदस्या भी बनीं।[42] इनके भाषण से प्रभावित होकर गाँधीजी ने कहा था, "क्या ऐसी क्रांतिकारी विचारधारा की लड़की बिहार में भी है।[43] अंग्रेजों के खिलाफ रामदुलारी के भाषण से प्रभावित होकर हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (कलकत्ता) ने लिखा था "काँग्रेस के आकाश में एक नई तारिका का उदय हुआ है, जो धारा प्रवार बोली जिसमें काफी समझ की बातें थी, ये काफी आगे बढ़ेंगी।[44] 1946 से 1947 तक ये बिहार महिला संगठन की सचिव रहीं। 1946 के बाद कई वर्षों तक ये अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी की सदस्या रहीं।[45] 1947-48 में बिहार युवक काँग्रेस की जेनरल सेक्रेटरी के रूप में इन्होंने कई जिलों का दौरा किया।[46] 1947 में अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी की मीटिंग हुई थी, जिसमें श्रीमती सिन्हा ने जोरदार शब्दों में कहा था "पाकिस्तान के बँटवारा के सवाल पर पूर्ण संगठन की राय ली जानी चाहिए। पकिस्तान का बँटवारा एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।[47] देश के स्वाधीन होने पर श्रीमती रामदुलारी सिन्हा कई बार लोकसभा की सदस्या चुनी गई। वे केन्द्र सरकार तथा बिहार सरकार के विभिन्न विभागों में मंत्री रहीं तथा अन्त में केरल के राज्यपाल भी रहीं।[48]

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य बिहार की राष्ट्रीय महिला के रूप में ऐसे राष्ट्रवादी की जीवन उपलब्धियों को विवेचित करना है। प्रभावती देवी ने गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर तुरन्त परित्याग कर दिया तथा गाँधीजी की सेवा तथा राष्ट्र की सेवा में अपने आपको समर्पित कर दिया।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख की परिकल्पना के संबंध में निम्नलिखित बातें सामने आती है:

1. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान सामाजिक, वैधानिक आन्दोलन भी किया जाता रहा है। स्पष्टत: भविष्य में हमारी राजनीतिक व्यवस्था के संचालन में सामाजिक-वैधानिक आन्दोलन को बल मिलेगा।
2. राष्ट्रवादी महिला सशक्तिकरण एक व्यापक परिप्रेक्ष्य है तथा भारत में प्राचीन समय से ही इस दिशा में कार्य व प्रयास होते रहे हैं। भविष्य में भी महिला सशक्तिकरण राजनीति और समाज का महत्वपूर्ण विषय बना रहेगा।
3. महिला सशक्तिकरण हेतु न केवल सामाजिक सुधार एवं आन्दोलन की आवश्यकता है, बल्कि सामाजिक-वैधानिक आन्दोलन की भी आवश्यकता है। इस बात की सहज परिकल्पना की जा सकती है।

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत शोध आलेख की पद्धति ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा वस्तु-विश्लेषणात्मक है।

साहित्य समीक्षा

प्रस्तुत शोध आलेख का शीर्षक "स्वतन्त्रता आन्दोलन में बिहार की कुछ राष्ट्रवादी महिलाओं की जीवन उपलब्धि : एक ऐतिहासिक अवलोकन है। आधुनिक विचारधारा एवं दृष्टिकोण से 19वीं सदी के समाज सुधारकों को प्रगतिशील सामाजिक तत्त्वों के प्रचार-प्रसार एवं विकास के लिए पूरा सहयोग प्राप्त हुआ, समाज सुधार के क्रम में सुधारकों का ध्यान तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों 0की ओर गया। इसी क्रम में महिलाओं की दशा में सुधार कैसे करना है? यह यक्ष प्रश्न चुनौती के रूप में सामने आया है। प्रस्तुत आलेख के सन्दर्भ में निम्नलिखित साहित्य सर्वेक्षण किया गया है:

1. वीरेन्द्र वर्मा, भारतीय संस्कृति के विविध आयाम, उपकार प्रकाशन, आगरा, 1985
2. नीरा देसाई, वीमेन इन मॉर्डन इंडिया, भाषा विभाग
3. राजकुमार और विजयेन्द्र कुमार, महात्मा गाँधी लॉ इण्ड थॉट्‌र्स, प्रकाशन ग्रन्थ, दिल्ली, 1985
4. नीरा देसाई, पूर्वोद्धृत
5. कुमारी शीला सिंह, गाँधीजी के रचनात्मक कार्यों में बिहारी महिलाओं का योगदान, जानकी प्रकाशन, पटना, 1990

निष्कर्ष

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में बिहार की महिलाओं ने अपनी अप्रत्याशित मेधा, सूझबूझ, सामाजिक, संस्कृति, शैक्षणिक कार्यों से एक मिशाल कायम की। इन राष्ट्रवादी महिलाओं का सम्पूर्ण परिवार देश भक्ति से ओत प्रोत रहा है। माता-पिता आजादी के अग्रदूत थे, भाई बहन भी आजादी के दीवाने थे, भला

ऐसा माहौल में देशभक्ति की भावना कैसे नहीं पनपती। बिहार में शायद ही कोई ऐसा परिवार था, जिसकी तीन-तीन पीढ़ियाँ एक साथ जेल में न हो। इन महिलाओं के लिए यह एक संयोग ही था कि इनकी बचपन में आजादी की लड़ाई का जो प्रकाश अपने मायके में मिला था, वह ससुराल में उत्तरोतर प्रकाशित होता गया। इनमें श्रीमती रामदुलारी सिन्हा पति-पत्नी दोनों पर्दा प्रथा के खिलाफ थे। जब ये विवाहोपरान्त अपने ससुराल गयी तो बिना घूँघट के ही। इनका सम्पूर्ण परिवार विदेशी सत्ता मिटाने, पर्दा प्रथा को तोड़ने, स्त्री शिक्षा के प्रसार, जमीन्दारी उन्मूलन, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, हरिजनों एवं पिछड़ों के प्रति सहानुभूति ही नहीं बल्कि उनकी सच्ची सेवा, उनकी शिक्षा और सफाई के कार्यक्रमों में संलग्न रहा। ये अपने पति के साथ किसान आन्दोलन में भी जुटी रहीं। स्पष्टत: बिहार की मिट्टी से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में राष्ट्रवादी महिलाओं का धरोहर भी कहा जा सकता है।

सन्दर्भ सूची

1. भारत सरकार, योजना आयोग, तृतीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ-220
2. वी.के. पुरी एवं एस. के. मिश्र, भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई, पृष्ठ-235
3. तथैव।
4. तथैव।
5. तथैव।
6. तथैव।
7. तथैव।
8. दसवीं पंचवर्षीय योजना के विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत
9. भारत सरकार, योजना आयोग, 12वीं पंचवर्षीय योजना 2012 से 2017 Vol.-I, पृष्ठ-191
10. तथैव, पृष्ठ-192
11. वी.के. पुरी एवं एस. के. मिश्र, भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई, पृष्ठ-239
12. अनुराधा जैसवाल, महात्मा गाँधी समकालीन बिहार के स्वतंत्रता सेनानी, जानकी प्रकाशन, पटना 2003, पृष्ठ-132
13. तथैव
14. कुमारी शीला सिंह, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-208
15. कुमारी नागेन्द्र, इंडियन नेशनल मूवमेंट, भाषा विभाग, पंजाब, 1991, पृष्ठ-160
16. प्रभास्मृति, पृष्ठ-239
17. महिला चर्खा समिति पत्रिका, रजत ज्यंती अंक, 1965, पृष्ठ-13
18. सर्चलाइट, 22 जनवरी, 1922, पृष्ठ-05
19. तथैव, 23 जनवरी, 1922, पृष्ठ-03
20. कुमारी शीला सिंह, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-177
21. तथैव, पृष्ठ-213
22. तथैव, पृष्ठ-213
23. सर्चलाइट, 22 जनवरी, 1922, पृष्ठ-05
24. तथैव, 25 जनवरी, 1922
25. कुमारी शीला सिंह, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-214
26. तथैव, पृष्ठ-177
27. सर्चलाइट, 2 अप्रैल, 1930, पृष्ठ-02
28. के० के० दत्ता, पूर्वोद्धृत, खण्ड-2, पृष्ठ-502
29. शिवपूजन सहाय, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-108
30. तथैव, पृष्ठ-343
31. तथैव, पृष्ठ-344
32. तथैव,
33. के० के० दत्ता, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-130
34. कुमारी शीला सिंह, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-238
35. कुमार अमरेन्द्र, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-116
36. डॉ० राजेन्द्र प्रसाद आत्मकथा, 1947, पृष्ठ-333
37. द सर्चलाइट, 18 नवम्बर, 1931, पृष्ठ-05

38. शिवपूजन सहाय, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-346
39. महिला चरखा समिति पत्रिका बा-बापू स्मृति अंक, पृष्ठ-36
40. तथैव, रजत ज्यंती अंक, पृष्ठ-14
41. कुमारी शीला सिंह, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-235
42. महिला चरखा समिति पत्रिका बा-बापू स्मृति अंक, पृष्ठ-36
43. कुमारी शीला सिंह, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-236
44. कुमार अमरेन्द्र, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-103
45. तथैव, पृष्ठ-242
46. द सर्चलाइट, 23 मार्च, 1930, पृष्ठ-06
47. तथैव, 8 जुलाई, 1934, पृष्ठ-7
48. तथैव, 12 सितम्बर, 1934, पृष्ठ-05

भारत में महिला सशक्तिकरण और कल्याणकारी कार्यक्रमों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

दीपक कुमार दास

शोध प्रज्ञ, एम.ए. (राजनीति विज्ञान), यू.जी.सी. नेट (राजनीति विज्ञान), सि.का. मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका, झारखण्ड

महिला कल्याणकारी योजनाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से महिला सशक्तिकरण से जुड़ा है। महिला कल्याण योजनाओं की अवधारणा व्यापक है और उसे एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है जिसमें हम महिला के जन्म से लेकर उसके भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य, विवाह और आवास सम्बन्धी विभिन्न सुविधाओं और गतिविधियों को शामिल करते हुए देख सकते हैं। साथ ही यहाँ पर हम महिलाओं के समक्ष मौजूदा चुनौतियों और उनके समाधान की दिशा में उठाए गए कदमों का भी उल्लेख कर सकते हैं। यहाँ इस बात पर भी गंभीरता से गौर करना होगा कि आज देश की आधी से ज्यादा महिलाएँ "बालिका वधू" हैं। ताजा आंकड़े बताते हैं कि हमारे देश 64.7 प्रतिशत लड़कियों को 18 साल से पहले दुल्हन बनना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, 100 में से करीब 65 लड़कियों का 18 वर्ष की आयु से पहले विवाह कर दिया जाता है। यही नहीं, 100 में से 9.1 प्रतिशत लड़कियों की शादी 12 वर्ष की उम्र तक कर दी जाती है। नेशनल फेमिली हेल्थ सर्वेक्षण 2007-08 के अनुसार भारत बालिका वधुओं के साथ बालिका माताओं का भी देश है। बालिग होने से पहले 100 में से 40 प्रतिशत लड़कियों माँ बन जाती हैं। 0.6 लड़कियाँ तो 13 साल से पहले ही बच्चे जनना प्रारंभ कर देती हैं। नि:संदेह यह स्थिति गंभीर है।[1]

भारत में महिलाओं की दुर्बल परिस्थिति को सबल परिस्थिति में परिवर्तन करने हेतु व्यापक कल्याणकारी कार्यक्रमों को निर्धारित एवं संचालित करने की आवश्यकता है, इस दिशा में अब तक अनेक प्रयास किये गये है। भारत में महिलाओं के कल्याण में अब तक अनेक कल्याणकारी कार्यक्रमों को निर्धारित एवं क्रियान्वित किया गया है, हालाँकि सफलता का प्रतिशत सभी कल्याणकारी योजनाओं का एक समान नहीं है। चूँकि भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य है, इसलिए इसका परम दायित्व जनता का कल्याण करना है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की महिलाओं की कुल संख्या 49,65,14,346 है, जो कि सम्पूर्ण जनसंख्या, का करीब 49 प्रतिशत हैं।[2] स्पष्टत: महिला देश की लगभग आधी आबादी है, जिसके विकास को अनदेखा करके भारत का विकास नहीं हो सकता है। लोक कल्याणकारी राज्य के रूप में भारत सरकार महिलाओं के विकास के मार्ग को प्रशस्त करने के दिशा में प्रयासरत हैं। भारत में महिला एवं बाल विकास विभाग, कल्याण विभाग, केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, श्रम मंत्रालय और ग्रामीण विकास मंत्रालय आदि महिलाओं के लिए समय-समय पर अनेक कार्यक्रम एवं योजनाएँ संचालित करते हैं। इसी तारतम्य में शासन ने महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक स्थिति में सुधार लाने के लिए और भारतीय महिलाओं को राष्ट्र विकास की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए अनेक कल्याणकारी योजनाओं एवं विकासात्मक कार्यक्रमों का निर्माण किया है।

महिलाओं के उत्थान एवं विकास से सम्बन्धित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सरकारी स्तर पर जिन नीतियों एवं नियमों का निर्माण किया गया है उन्हें निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है :

1. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड : 1953 में स्थापित यह बोर्ड देश में सामाजिक विकास के माहौल के सृजन हेतु सरकारी तथा स्वैच्छिक क्षेत्र के मध्य पारस्परिक सम्पर्क को बढ़ावा देता है। पिछले वर्षों में बोर्ड ने विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं तथा बच्चों के कल्याण तथा विकास हेतु विभिन्न कार्यक्रम प्रारंभ किए हैं। इनमें महिला तथा बालिकाओं हेतु सघन पाठ्यक्रम जागरूकता सृजन कार्यक्रम, व्यावसायिक प्रशिक्षण, परिवार परामर्शदात्री सेवा केन्द्र, महिला मंडल तथा अल्प आवास गृहों की स्थापना करना शामिल है। इन योजनाओं को राज्य समाज कल्याण परामर्शदात्री बोर्ड के सहयोग से स्वैच्छिक संगठनों द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा है।[3]

2. महिला खेल प्रोत्साहन योजना : महिलाओं के लिए राष्ट्रीय खेल महोत्सव 1975 में शुरू किये गये थे जोकि अब तक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय खेल गतिविधि बन गए हैं। राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिता से पहले राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों, जिला और ब्लाक स्तरों पर प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं। राज्यों को एक हजार रूपये प्रति विकास खंड, 3000 रुपये प्रति जिला और 10,000 रुपये प्रति राज्यस्तरीय प्रतियोगिता के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है। राज्यस्तरीय खेलों के लिए कुछ राज्यों को 10,000 रुपये तथा केंद्रशासित प्रदेशों सहित अन्य राज्यों को 5,000 रुपये की सहायता दी जाती है।[4]

3. 'नोराड' कार्यक्रम : वर्ष 1982-83 में गरीब महिलाओं को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से 'नोराड' कार्यक्रम आरंभ किया गया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य समाज के कमजोर वर्गों की महिलाओं को प्रशिक्षण देना तथा स्थायी आधार पर उन्हें रोजगार प्रदान करना है। इस कार्यक्रम के आरंभ से अब तक 699 परियोजनाओं में 64200 महिलाओं को लाभ पहुँचाया गया है। वर्ष 1996-97 में 'नोराड' कार्यक्रम में 31 दिसंबर 1996 तक 335.91 लाख रुपये के व्यय द्वारा 6065 महिलाओं को विभिन्न 88 परियोजनाओं में लाभ पहुँचाया गया।[5]

4. ट्रायसेम योजना 1975 : 18-35 आयु वर्ग की गरीब महिलाओं हेतु 40 प्रतिशत स्थान सुरक्षित, निजी काम धंधों हेतू प्रशिक्षण की व्यवस्था।

5. ड्वाकरा योजना 1982 : ग्रामीण महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के साथ ही उनके स्वास्थ्य, शिक्षा, पोषाहार, स्वच्छता और शिशुओं की देखभाल करने जैसी मूलभूत सेवाएँ प्रदान करना। वर्ष 1999-2000 से इसे स्वर्ण-जयंती स्वरोजगार योजना में मिला दिया गया।

6. न्यू मॉडल चर्खा योजना 1987 : ग्रामीण क्षेत्र की महिलाओं को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के लिए आर्थिक सहायता, प्रशिक्षण तथा अनुदान प्रदान कर उन्हें स्वावलम्बी बनाना।

7. नॉवाड प्रशिक्षण योजना 1989 : महिलाओं के विभिन्न व्यवसायों जैसे– चिकन वर्क, दरी, खिलौना, ब्लाक प्रिटिंग आदि से सम्बन्धित प्रशिक्षण सत्रों का आयोजन कर उन्हें आर्थिक गतिविधियों में संलग्न करना।

8. महिला समाख्या योजना 1989 : ग्रामीण क्षेत्र की महिलाओं को समानता और जागरूकता के लिए शिक्षा देना।

9. मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रम : माताओं और शिशुओं को पोषाहार उपलब्ध करवा कर सुरक्षित मातृत्व और टीकाकरण आदि के द्वारा शिशु तथा मातृ मृत्युदर न्यूनतम करना।

10. किशोर बालिका योजना 1992 : किशोरियों की देखभाल, संतुलित आहार, स्वास्थ्य एवं आर्थिक गतिविधियों के प्रशिक्षणों के लिए आंगनबाड़ी केन्द्र पर प्रति माह चौथे मंगलवार को किशोरी बालिका दिवस मनाया जाता है। सभी किशोरियों को इसका लाभ दिया जाता है।

प्राथमिक पाठशाला में अध्ययनरत अनुसूचित जाति की बालिकाओं को गणवेश– अनुसूचित जाति की बालिकाएँ, जो कि कक्षा एक से पाँच रही हैं, उन्हें नि:शुल्क गणवेश प्रदान किए जाते हैं।

11. पंचधारा, 1991:

(i) **वात्सल्य योजना :** प्रसव के समय महिलाओं को अनिवार्य स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराना।

(ii) **आयुष्मति योजना :** गरीब महिला की बीमारी पर इलाज व पौष्टिक आहार उपलब्ध करवाना।

(iii) **निराश्रित विधवाओं की पेंशन योजना :** निराश्रित विधवाओं को सामाजिक सुरक्षा देने के उद्देश्य से पेंशन देना।

(iv) **ग्राम्या योजना :** ग्रामीण महिलाओं को लघु व्यवसाय प्रारम्भ करने हेतु पूंजी देना।

(v) **कल्पवृक्ष योजना :** अनुसूचित जनजाति की महिलाओं को सीधे रोजगार उपलब्ध करवाना।[6]

12. महिला समृद्धि योजना 1993 : 2 अक्टुबर, 1993 को भारत सरकार के द्वारा महिला एवं बाल विकास विभाग द्वारा तैयार इस योजना को लागू की गयी, जिसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं की आर्थिक सुरक्षा करने तथा उनमें बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने हेतु स्थानीय डाकघरों में उन्हें बचत खाता खोलने के लिए प्रोत्साहित करना है तथा उन्हें विभिन्न स्त्रोंतों से खाता खोलने की सुविधा प्रदान करना है।[7]

13. सहारा : वृद्ध एवं विधवा महिलाओं के लिए भी इस योजना के तहत सामूहिक लघु-उद्योग तथा पशुपालन के लिए मदद की जाती है।

14. समेकित बाल विकास योजना : गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाली महिलाओं तथा बच्चों के स्वास्थ्य हेतु विकास।

15. शहरी पोषण कार्यक्रम योजना : बच्चों एवं गर्भवती महिलाओं के पोषण आहार के लिए कार्यक्रम।

16. दत्तक पुत्री शिक्षा योजना : गरीब बालिकाओं को शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करना।

17. पोषण शिक्षा योजना : भारत सरकार ने महिला तथा बाल विकास मंत्रालय के तत्वावधान में 1993 में एक राष्ट्रीय पोषण नीति को अपनाया था और इसे पोषण नोडल मंत्रालय माना गया है।

खाद्य तथा पोषण बोर्ड मूलत: पोषण शिक्षा और प्रतिरक्षण गतिविधियों को करता है।

केंद्र सरकार के अलावा, राज्यों की तरफ से भी महिलाओं के कल्याण से सम्बन्धित विभिन्न योजनाएँ चलाई जाती रही हैं जिनमें पंचधारा (मध्यप्रदेश), लाडली (दिल्ली) और वात्सल्य, आयुष्मति जैसी कई योजनाएँ है।

18. राष्ट्रीय महिला कोष : 31 करोड़ रुपये की मूल राशि से 1993 में स्थापित यह कोष एक राष्ट्रीय स्तर का सूक्ष्म ऋण संस्थान है जो देश की गरीब महिलाओं को अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार हेतु आय सृजन गतिविधियों को बढ़ावा देता है और गैर-सरकारी संगठनों तथा अन्य एजेसियों के मार्फत अर्द्ध-औपचारिक तरीके से गैर- सब्सिडीयुक्त ऋण सुविधाएँ प्रदान करता है। वर्तमान में इसकी मूलराशि को बढ़ाकर 100 करोड़ रुपये कर दिया गया है।[8]

19. दाई डिलेवरी किट योजना : प्रसव कराने दाई को कीटाणुरहित वस्तुओं की किट देना।

20. वेश्या पुत्री योजना : वेश्याओं की पुत्री हेतु नि:शुल्क भरण-पोषण व शिक्षा व्यवस्था करना।

21. प्रतिष्ठा कार्यक्रम : मैला सफाई कामगारों को सम्मानजनक जीवन कायम करने में मदद देना।

22. मनीषा कार्यक्रम : ग्रामीण लड़कियों हेतु शिक्षा की व्यवस्था करना।

23. राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना, 1994 : गरीबी की रेखा से नीचे के परिवारों की महिलाओं को प्रसूति हेतु आर्थिक सहायता प्रदान करना।

24. महाजन मनी ऋण योजना, 1995 : महिलाओं को स्व-रोजगार शुरू करने हेतु बैकों से ऋण तथा महाजन मनी उपलब्ध करवा कर उन्हें आर्थिक विकास का अवसर प्रदान करना।

25. इंदिरा महिला योजना, 1995 : 20 अगस्त 1995 को प्रारंभ इस योजना का मुख्य उद्देश्य महिलाओं में जागरूकता उत्पन्न करना तथा उन्हें आय के साधन उपलब्ध कराना है। प्रथम चरण में इसे देश के 200 विकास खंडों में आरंभ की गयी। इस योजना के अंतर्गत बाड़ी स्तर पर स्थापित इन्दिरा केन्द्र

के सहयोग से कार्य करेंगे। इस योजना में सड़क निर्माण, ग्रामीण विद्युतीकरण, गैर-परम्परागत ऊर्जा स्त्रोत विस्तार, सामाजिक वानिकीकरण तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य कार्यक्रमों को भी सम्मिलित किया गया है। योजना के आरंभ से अबतक 200 विकास खण्डों में 114 से अधिक इन्दिरा महिला ब्लाक समिति पंजीकृत की जा चुकी है और इन्दिरा महिला केंद्रों में 7000 से अधिक महिला समूह बनाए जा चुके हैं।[9]

26. ग्रामीण महिला विकास योजना, 1996 : ग्रामीण महिलाओं का भागीदारी में वृद्धि करना, उन्हें जागरूक बनाना तथा भेदभाव को समाप्त करना।

27. राज राजेश्वरी बीमा योजना, 1997 : गरीब बालिकाओं और महिलाओं को बिना किसी प्रीमियम के भुगतान पर विकलांगता की स्थिति में आत्मसम्मान के साथ जीवन निर्वाह करने हेतु एक मुश्त आर्थिक सहायता राशि प्रदान करना।

28. बालिका समृद्धि योजना, 1997 : गरीबी की रेखा के नीचे के परिवारों में जन्म लेने वाली बालिका की माता को पौष्टिक आहार, बालिका की कक्षा 10वीं तक पढ़ाई के लिए नगद शैक्षिक अनुदान देकर सहायता प्रदान करना।

29. स्वास्थ्य सखी योजना, 1997 : अनुसूचित जाति तथा जनजाति की महिलाओं के प्रजनन एवं स्वास्थ्य के विषय में आवश्यक प्रशिक्षण देकर उन्हें आर्थिक लाभ प्रदान करना।

30. ड्बाकुआ योजना, 1997 : शहरी क्षेत्रों में गरीब महिलाओं को आर्थिक एवं सामाजिक विकास का अवसर प्रदान करना।

31. महिला स्वशक्ति योजना, 1998 : स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से महिलाओं को आर्थिक एवं सामाजिक रूप से सशक्त बनाने का प्रयास।

32. स्त्री शक्ति पुरस्कार योजना, 2000 : महिलाओं के अधिकारों हेतु संघर्ष करने वाली महिलाओं को राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित कर उन्हें प्रोत्साहित करना।

33. किशोरी शक्ति योजना, 2000 : किशोर बालिकाओं के स्वास्थ्य एवं पोषण की समुचित व्यवस्था कर उन्हें विकास के पर्याप्त अवसर प्रदान करना।

34. स्वास्थ्य घर योजना : वर्ष 2002 से प्रारंभ इस योजना के तहत शहरी मलिन बस्तियों में प्रत्येक एक हजार आबादी पर एक स्वास्थ्य घर खोलना प्रस्तावित है जिसमें स्थानीय निवासियों को बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाएँ प्रतिष्ठित और जिम्मेदार स्वैच्छिक संगठनों द्वारा उपलब्ध कराए जाने की व्यवस्था है।

35. राष्ट्रीय पोषण मिशन : देश में व्यापक कुपोषण की समस्या से निजात पाने हेतु वर्ष 2003 में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में इस मिशन का गठन किया गया था। एक अनुमान के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष 1 लाख महिलाएँ प्रसव दौरान मृत्यु का शिकार होती हैं। इनमें अधिकांश वे महिलाएँ शामिल हैं जिनका 18 वर्ष की आयु पूर्ण होने से पहले ही विवाह कर दिया जाता है।

36. जननी सुरक्षा योजना, 2003-2004 : अस्पताल में सुरक्षित प्रसव को बढ़ावा देने के लिये यह योजना चलाई जा रही है। गरीबी रेखा के नीचे के परिवार की गर्भवती महिला यदि अस्पताल में प्रसव कराती है तो ग्रामीण क्षेत्र में 700 रुपये एवं शहरी क्षेत्र में 600 रुपये नगद दिये जाते हैं। गर्भवती को अस्पताल लाने वाले प्रेरक को ग्रामीण क्षेत्र में 600 रुपये और शहरी क्षेत्र में 200 रुपये दिये जाते हैं।

37. आशा योजना, 2004-2005 : सभी गाँवों में एक्रिडेटिड सोशल हैल्थ वर्कर (आशा) की तैनाती के माध्यम से घर-घर जाकर महिलाओं और बच्चों को स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी सेवाएँ उपलब्ध कराना।

38. आंगनवाड़ी विशेष बीमा योजना, 2004-2005 : देश के सभी ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं को सरकारी सहायता के माध्यम से बीमा कवच उपलब्ध कराना।

39. विशेष आवासीय विद्यालय योजना, 2005-2006 : दलित व पिछड़े वर्गों की बालिकाओं को नि:शुल्क व उच्च कोटि की शिक्षा उपलब्ध कराना।

40. बालिका शिक्षा प्रोत्साहन योजना, 2005-2006 : 8वीं कक्षा उत्तीर्ण करने वाली चयनित बालिकाओं को नौवीं कक्षा में प्रवेश पर एक मुश्त 3000 रू. की राशि बालिका के नाम बैंक में जमा कर उन्हें शिक्षा हेतु प्रोत्साहित करना।

41. इकलौती कन्या छात्रवृत्ति योजना, 2006-2007 : 10वीं पास करने वाली परिवार की इकलौती कन्या को अग्रिम शिक्षा प्राप्त करने हेतु 500. ....।

इन सभी सरकारी योजनाओं के माध्यम से महिलाओं को सशक्त करने का भरसक प्रयास किया गया हैं और वर्तमान में भी भारत सरकार ने महिलाओं के कल्याण हेतु कई नए कार्यक्रमों को लाया है, जिनसे उम्मीद की जा सकती है कि भविष्य में महिलाएँ इससे और लाभान्वित होंगी।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध कार्य हेतु प्रस्तुत परिकल्पना निम्नलिखित है:-

1. महिलाओं के लिए चलाए जा रहे विभिन्न सरकारी योजनाओं से महिलाएँ लाभान्वित हुई है और भविष्य में इन्हें और लाभ प्राप्त होने की संभावना दृष्टिगोचर हो रही है।
2. महिलाएँ के लिए चलाये जा रहे योजनाओं से उनका सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक विकास होगा जिससे उसे प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त होगा।

शोध आलेख का उद्देश्य

1. इस शोध का उद्देश्य महिलाओं के कल्याण हेतु संचालित विभिन्न योजनाओं का अध्ययन कर यह पता लगाना कि इससे महिलाएँ कितनी लाभान्वित हुई है।

2. प्रस्तुत शोध का उद्देश्य महिला के उत्थान हेतु संचालित योजनाओं के मार्ग में आने वाले बाधाओं को स्पष्ट करना और इसे दूर करने वाले उपायों को रेखांकित करना।

शोध आलेख की पद्धति

प्रस्तुत शोध की अध्ययन पद्धति में ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक विश्लेषणत्मक, तुलनात्मक एवं नवीन पद्धतियों को अपनाते हुए शोध लेख को मौलिकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। इस शोध कार्य में उपयोगी सामग्री भारत सरकार के विभिन्न विभागों महिला विकास एवं अधिकारिता मंत्रालय, महिला विकास निगमों के अभिलेखों, राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय पुस्तकालयों, इन्टरनेट एवं शोध संस्थानों आदि में उपलब्ध, सामाचार पत्र-पत्रिकाएं अन्य प्रासंगिक सामग्रियों से प्राप्त किया गया है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि महिलाओं के लिए शासन द्वारा तमाम कल्याणकारी नीतियाँ बनायी गयी हैं। इसके बाद भी महिलाओं की परिस्थिति में आशानुकूल बदलाव नहीं आया है, क्योंकि सामाजिक सोच एवं धारणाओं में बदलाव नहीं आया हैं। 21वीं शताब्दी की चुनौतियों का सामना करने के लिए तथा विश्व के समक्ष अपना सिर गौरव से ऊँचा कर जीने के लिए सामाजिक विचारधारा एवं परम्पराओं में सकारात्मक परिवर्त्तन करना ही होगा। महिलाओं के विकास हेतु संचालित किये जा रहे सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक कार्यक्रमों के प्रति प्रतिबद्धता एवं सजगता बरतना ही होगा तभी भारत भविष्य में विकसित राष्ट्र बनने के लक्ष्य प्राप्ति में सफल हो सकता है।

सन्दर्भ

1. भारतीय अर्थव्यवस्था, अतिरिक्तांक, सीरीज-1, प्रतियोगिता दर्पण, उपकार प्रकाशन, पृष्ठ-70।
2. कुरूक्षेत्र, मार्च 2005, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, पृष्ठ-8।
3. इम्पैक्ट ऑफ थर्ड वर्ल्ड, जनरल, प्रकाशन-2009।
4. भारत 2009, प्रकाशन विभाग, पृष्ठ-1063।
5. जोशी, डॉ. गोपा, भारत में स्त्री असमानता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृष्ठ-131।
6. अवस्थी और अवस्थी, भारतीय प्रशासन, लक्ष्मी नारायण प्रकाशन, आगरा, पृष्ठ-49।
7. चन्द्र, बिपिन, आजादी के बाद का भारत (1947-2000), हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृष्ठ-652।
8. शर्मा, झा एवं विनायक, महिला सशक्तिकरण एवं समग्र विकास, भारत बुक सेन्टर लखनऊ, पृष्ठ-312-313।
9. डॉ. गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, पृष्ठ-128-129।

राष्ट्र भर में वयस्क शिक्षा का महत्व

डॉ० मीता कुमारी

गृह विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

प्रौढ़ शिक्षा एक व्यायाम है जिसमें वयस्क पद्धतिबद्ध और तैयार खेलों में भाग लेते हैं, जिसके माध्यम से वे अपनी जानकारी और सीखने की सुविधा प्रदान कर सकते हैं। लोगों के जीवन के दौरान, उन्हें अपने ज्ञान, कौशल और योग्यता में सुधार करने की आवश्यकता होती है। इसलिए, बड़ी संख्या में शिक्षा का एक लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि लोग कई अवधारणाओं के वाक्यांशों में अपनी जानकारी बढ़ाने में सक्षम हैं। वयस्क सीखने में प्रेरणा और शौक बढ़ाते हैं, इसके बाद वे अपनी इच्छाओं को पूरा करना चाहते हैं या पसंदीदा लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं। इस पत्र का प्राथमिक लक्ष्य विकसित शिक्षा के साधनों और महत्व का परिचय देना है। जिन प्राथमिक घटकों पर ध्यान दिया गया है, वे हैं, भारत में विकसित शिक्षा के रिकॉर्ड, ब्रिटिश काल के कुछ बिंदु पर विकसित शिक्षा, स्वतंत्रता के बाद बढ़ी हुई शिक्षा, शिक्षा के प्रकार, जिसका अर्थ है और बड़े पैमाने पर शिक्षा का उद्देश्य, विकसित शिक्षा के लक्ष्य, भारत में विकसित शिक्षा, विकसित शिक्षा के मूल विचार, विकसित शिक्षा के लक्षण और विकसित शिक्षा नीति।

मूल शब्द: वयस्क शिक्षा, जागरूकता, शैणिक्षक कार्यक्रम, व्यक्ति, सामाजिक परिवर्तन

प्रस्तावना

शिक्षा एक आजीवन प्रक्रिया है। यह प्रचलित और भविष्य के लिए विशिष्ट निधि है। इससे लोगों के जीवन में पूर्णता और समृद्धि का संचार होता है। यह एक मुख्य उपकरण है जिसके परिणामस्वरूप देश की सामाजिक-मौद्रिक वृद्धि होती है। यह सामाजिक परिवर्तन के लिए एक प्रभावी उपकरण है। यह पता है कि कैसे और क्षमताओं को प्राप्त करने के लिए एक ऑटोमोबाइल है। यह सही और गलत के निर्णय की क्षमता रखता है और लोगों को सशक्त बनाता है। शिक्षा की खरीद के माध्यम से, लोग गरीबी, अज्ञानता, दुख, असमानता, शोषण, ह्रास, बेरोजगारी और विभिन्न सामाजिक परेशानियों के निवारण के लिए क्षमताओं और प्रवृत्तियों का विस्तार करते हैं। लोगों को अपने जीवन के दौरान शिक्षा का विश्लेषण और संचय करने का अधिकार है। शिक्षा प्राप्त करने की कोई विशिष्ट आयु नहीं है। प्रौढ़ शिक्षा का विचार समायोजन से होकर गुजरा है। वयस्क शिक्षा को उस क्षेत्र के रूप में समझा गया है जो वयस्कों को निर्देशात्मक केंद्रों का प्रावधान करता है, जो अपने कॉलेज के वर्षों के दौरान औपचारिक शिक्षा के सामान्य मार्ग से नहीं गुजर सकते थे। प्रौढ़ शिक्षा में अनुदेशात्मक प्रक्रियाओं का पूरा ढांचा होता है। सामग्री, तकनीक या रेंज या वे शिक्षुता के अलावा, स्कूलों, स्कूलों या विश्वविद्यालयों में प्रारंभिक शिक्षा को लंबा या अद्यतन करते हैं या नहीं। 18 वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद लोग वयस्क के रूप में दिखाई देते हैं। वे प्रतिभा का विस्तार करते हैं और अपनी जानकारी में सुधार करते हैं, तकनीकी और विशेषज्ञ योग्यता को बढ़ाते हैं या एक नए पाठ्यक्रम में खुद को प्रवाहित करते हैं और परिणामस्वरूप अपने दृष्टिकोण और व्यवहार के समायोजन में गैर-सार्वजनिक सुधार और संतुलित और निष्पक्ष सामाजिक, मौद्रिक और सांस्कृतिक सुधार में भागीदारी होती है। वयस्क शिक्षा में उन सभी खेलों का समावेश होता है, जिन्हें असेंबली अकादमिक सपनों और उद्देश्यों के उद्देश्य से संचालित किया जाता है। विकसित शिक्षा के माध्यम से, धोखेबाज अपने अध्ययन को बढ़ाने और क्षमताओं और क्षमताओं का विस्तार करने में सक्षम हैं। लोगों को पता है कि क्षमताओं और क्षमताओं में सुधार के अलावा, अपने अधिकारों और कर्तव्यों में वाक्यांशों में मान्यता उत्पन्न करने में सक्षम हैं, जो देश के सफल निवासियों को दिखाने के लिए आवश्यक हो सकता है।

ब्रिटिश काल में प्रौढ़ शिक्षा

1836-37, भारत में साक्षरता शुल्क लगभग छह प्रतिशत हो गया। वयस्कों पर प्रशिक्षण का प्रावधान बनाने के वाक्यांशों में ब्रिटिश शासकों की स्थिति बहुत कम थी। इंग्लैंड में रात के समय के संकायों के उदय ने व्यापारिक क्रांति के मद्देनजर भारत में प्रभाव डाला। प्रत्येक ब्रिटिश भारतीय प्रांत में, कुछ मौद्रिक प्रावधान रात के समय के संकायों को प्रस्तुत करने के लिए किए गए थे। भारतीय शिक्षा आयोग (1882-1883) ने निदान किया कि वयस्क अपने या अपने मौद्रिक सुधार के लिए प्रशिक्षण चाहते थे। इसके अलावा, सभी प्रांतों में इस आवेदन के विस्तार की जोरदार वकालत की गई है, जैसे कि, संकायों को सफलता प्राप्त करने की संभावनाएँ थी। 1918-1936 की सहकारिता गति, जो बढ़ती ताकत में बदल गई, ने बड़े पैमाने पर साक्षरता कक्षाएँ शुरू करने के लिए एक उपयोगी आधार प्रदान किया। प्रथम विश्व युद्ध से वापस आए लोगों की व्यापक विविधता ने आत्मज्ञान और चेतना को जोड़ा। इन तत्वों ने उत्प्रेरक एजेंटों के रूप में काम किया, जो जनता के बीच चेतना पैदा करते हैं। नतीजतन, वहाँ बड़े पैमाने पर प्रशिक्षण के खेल के साथ विकास हुआ है। वयस्क प्रशिक्षण खेलों के आगमन के साथ, लोगों को विभिन्न अवसरों में भाग लेने और नेटवर्क और राष्ट्र के कल्याण को बेचने के लिए एक स्थिति है। केंद्रीय शिक्षा बोर्ड (CABE) ने दिसंबर 1938 में अपनी चौथी विधानसभा में बिहार के शिक्षा मंत्री डॉ० सैयद महमूद की अध्यक्षता में एक वयस्क शिक्षा समिति की नियुक्ति

की। समिति ने बड़े पैमाने पर साक्षरता के महत्व पर जोर दिया, साक्षरता शिक्षकों की शिक्षा, वयस्कों की प्रेरणा, कोचिंग में ऑडियो-दृश्य मीडिया का उपयोग और साक्षरता के प्रतिधारण के प्रयासों और प्रशिक्षण के साथ दृढ़ रहने के लिए जोर दिया। अशिक्षा दिखाई देती है, क्योंकि लोगों, नेटवर्क और पूर्ण राष्ट्र के विकास के मार्ग में आवश्यक बाधा। इसलिए आप शक्तिशाली उछाल और लोगों, नेटवर्क और राष्ट्र के सुधार का कारण बन सकते हैं, यह प्रशिक्षण के गैजेट को बढ़ाने के लिए मील की दूरी पर है। इसके अलावा, सभी वर्गों और पृष्ठभूमि से संबंधित लोगों को प्रशिक्षण के महत्व को समझना चाहिए। सकारात्मक आवेदन में, मोहनदास करमचंद गाँधी के उपयोग की सहायता से शुरू किया गया है, प्रशिक्षण के प्रकार, मौलिक प्रशिक्षण और बड़े पैमाने पर प्रशिक्षण शुरू किया गया है। बुनियादी प्रशिक्षण वह प्रशिक्षण है जो प्रत्येक फ्रेम और दिमाग को विकसित करता है। मौलिक प्रशिक्षण के माध्यम से, लोग उन तरीकों के वाक्यांशों में चेतना उत्पन्न करने में सक्षम हैं जो विविध जिम्मेदारियों और खेलों में उन्नयन करने में उनकी सहायता कर सकते हैं। भारत में वयस्क प्रशिक्षण का उपसंस्कृति भी उतना ही पुराना है, जितना कि सभ्यता। कथकारों, रामलीलाओं, भगत तुंगियों, कीर्तन, थिएटरों, गांवों के बाजारों और इसी तरह के सामाजिक और आध्यात्मिक प्रतिष्ठानों के माध्यम से। राष्ट्र में विकसित प्रशिक्षण के ऐतिहासिक अतीत ने अपने पारंपरिक मूल्यों और ज्ञान को बनाए रखा है। उन प्रतिष्ठानों के हेरफेर और अधिकार अब राष्ट्र संरक्षण के नीचे मौजूद नहीं थे। यह ब्रिटिश काल के कुछ बिंदुओं में बदल गया है कि बड़े पैमाने पर प्रशिक्षण राष्ट्र नीति बन गया है। भारतीय जीवन शैली में वयस्क प्रशिक्षण मुख्य रूप से राष्ट्र जीवन शैली के मौखिक प्रसारण पर आधारित है। 1860 तक राष्ट्र में विकसित जनसंख्या ने विभिन्न प्रकार के मुद्दों का सामना करने और विभिन्न जिम्मेदारियों के कार्यान्वयन के साथ स्थितियों की माँग करने के लिए मनाया। आवश्यक मकसद अशिक्षा में बदल गया। भारतीय शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया कि मुंबई में 3 8 1 8 की सहायता के साथ 134 रात के समय के संकाय हैं। राष्ट्रपति पद के दक्षिणी विभाग में, 223 रात के समय के संकाय रहे हैं, जिसमें 4,962 लोगों का उपयोग करने में सहायता मिली। बंगाल में एक हजार रात के समय के संकाय और मद्रास में 291 अतिरिक्त रहे हैं। आयोग ने सभी प्रांतों में इस आवेदन के विस्तार की पुरजोर वकालत की। रात के समय के संकायों के पैकेजों में कई तरह की बाधाएँ थी और यह योजना अब एक समान नहीं रह गई है (ऐतिहासिक विकास संबंधी ऐतिहासिक विकास)।

स्वतंत्रता के बाद वयस्क शिक्षा

स्वतंत्रता के बाद कई पैकेजों और खेलों के उद्भव के लिए वयस्क शिक्षा ने रूप लिया। 1947 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी स्वतंत्रता के बाद, ऐसी योजनाओं की व्यवस्था की है जिनका उद्देश्य शिक्षा के महत्व को कुछ लोगों के सामने प्रकट करना है। देशव्यापी सरकार ने वयस्कों को पढ़ाने के लिए पता लगाया। शिक्षा आपको उनके अधिकारों और जिम्मेदारियों को स्वीकार करने की अनुमति दे सकती है, आपके लिए नेटवर्क और राष्ट्र के सुधार में एक महान योगदान प्रदान करना है। शिक्षा में किए गए धन को टन महत्व दिया जाता है। प्राथमिक पंचवर्षीय योजना के कुछ बिंदु पर शिक्षा के लिए मूल्य सीमा आवंटन रु० 153 करोड़ है। यह लगातार बढ़कर कई गुना हो गया। 19600 आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं के साथ। शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ती हुई धनराशि ने संयुक्त राज्य अमरिका के साथ साक्षरता के अनुपात में एक अति सुंदर बहिष्कार को जोड़ा। साक्षरता की कीमत 1951 में सबसे कम 16. सिक्सटी पांच प्रतिशत हो जाती है। 2001 में यह साठ 65.36 प्रतिशत हो गई। महिलाओं की साक्षरता 1951 में 8 प्रतिशत हो गई और 2001 में यह पचपन प्रतिशत हो गई। इसलिए, यह कहा जा सकता है। उपायों और पैकेजों की उस प्रणाली के कारण लोगों में साक्षरता मूल्य में वृद्धि हुई। जब साक्षरता मूल्य के विकास के लिए प्रयास किए गए थे, तो व्यक्ति शिक्षा पर अद्वितीय जोर दिया गया। भारत सरकार के पास यह दृष्टिकोण था कि अब निरक्षरता के झंझट को दूर करना संभव नहीं है, औपचारिक शिक्षा को स्वयं के उपयोग की सहायता से पूरा करें। भारत में, विशाल आबादी समाज के वंचित, हाशिए और सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों से संबंधित थी। ये लोग गैर-औपचारिक व्यक्ति शिक्षा के माध्यम से शिक्षा इकट्ठा करने में सक्षम हो सकते हैं। भारत सरकार ने यूएसए के साथ व्यक्ति शिक्षा के लिए मूल्य सीमा आवंटित की। शिक्षा में समग्र वित्त पोषण के लिए व्यक्ति शिक्षा के लिए मूल्य सीमा आवंटन का प्रतिशत कई गुना बढ़ गया है, हालांकि योजना की अवधि के साथ संस्करण भी थे। 8वीं योजना अवधि के दौरान, व्यक्ति शिक्षा के लिए आवंटन शिक्षा के लिए आवंटन का 10 प्रतिशत गोल हो जाता है।

शिक्षा के प्रकार

शिक्षा की तकनीक को 3 महत्वपूर्ण वर्गों में लेबल किया गया है। ये औपचारिक, आकस्मिक और गैर-औपचारिक शिक्षा हैं।

औपचारिक शिक्षा

औपचारिक शिक्षा सचेत रूप से और जानबूझकर देखने के अनूठे परिणाम के साथ व्यवहार के परिवर्तन के माध्यम से होती है। यह बेहतर शिक्षण संस्थानों के अलावा कॉलेजों में शुरू किया गया है। शिक्षकों को औपचारिक शिक्षा प्रदान करने में तकनीकों और शैक्षणिक तकनीकों के उपयुक्त कोचिंग-ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं। शिक्षा के इस गैजेट की अनिवार्य सीमाएँ हैं, यह अद्वितीय समय सीमा के दौरान कहीं अधिक वैध है, पाठ्यक्रम पारंपरिक, अवैज्ञानिक, सैद्धांतिक, अनुदेशात्मक और अब वस्तुनिष्ठ-मुख्यत: पूरी तरह से आधारित, नैतिक और धार्मिक मूल्यों को कुछ हद तक माना जाता है। यह बहुत पतला है और एक तरफा है, यह महत्व तकनीकी और व्यावसायिक विषयों को दिया जाता है जो लोगों की इच्छाओं और शौक के अनुसार नहीं है, तनाव को विभिन्न प्रकार के घटकों में दर्शाया गया है, जैसे, प्रवेश की उम्र, पाठयक्रम, पाठयक्रम, पाठ्य-पुस्तकें, समय-सारणी, कोचिंग तकनीक, शिक्षकों की अनुदेशात्मक योग्यता, परीक्षा, प्रमाण-पत्र और इसके बाद, यह बहुत दूर तक आधारित और कालानुक्रमिक रूप से संगठित और संस्थागत है। पाउलो फ्रेरे औपचारिक शिक्षा का संबंध है, क्योंकि बैंकिंग गैजेट, जिसमें प्रशिक्षक जमाकर्ता है और कॉलेज के छात्र डिपॉजिटरी हैं।

अनौपचारिक शिक्षा

अनौपचारिक शिक्षा एक घटना है, जो आकस्मिक या अनियंत्रित अनुदेशात्मक प्रभावों के मिश्रण के लिए खड़ी है, जो लोगों की विशेषज्ञता और दृष्टिकोण को जानबूझकर या अनजाने में प्रभावित करते हैं। प्रत्येक आनंद और घटना से लोग अनुसंधान करते हैं। जब लोग शौक और जिज्ञासा के मालिक होते हैं, तो वे तेज तरीके से विशेषज्ञता इकट्ठा कर सकते हैं। समायोजन लोगों के व्यवहार और दृष्टिकोण के साथ लगभग सामान्य रूप से वितरित किए जाते हैं। लोगों की ओर से आकस्मिक शिक्षा का अधिग्रहण पालने से कब्र तक रहता है। अलग-अलग शब्दों में, यह लोगों के जीवन के माध्यम से सभी को रखता है। महत्वपूर्ण घटक जो लोगों को आकस्मिक शिक्षा का प्रावधान करने में एक बड़ा योगदान प्रदान करते हैं, उनमें शामिल हैं, रिश्तेदारों, दोस्तों, नेटवर्क व्यक्तियों, कार्यस्थल, बाजार, सार्वजनिक स्थानों, युग और मीडिया के अपने सर्कल।

गैर-औपचारिक शिक्षा संभावनाओं का ज्ञान प्राप्त करने का तैयार प्रावधान है, जो औपचारिक कॉलेज गैजेट आउटडोर है जो लोगों के जीवन को कवर करता है। यह शिक्षा आम तौर पर एक विशिष्ट आवश्यकता को पूरा करने के लिए केंद्रित होती है। यह लचीला, समस्या-उन्मुख, पर्यावरण-केंद्रित, जीवन-प्रधान रूप से पूरी तरह से और शिक्षाप्रद-उन्मुख है। यह सामग्री और तकनीकों में विभिन्न है और गैर-सत्तावादी है। गैर-औपचारिक शिक्षा नेटवर्क की परेशानियों के जवाब देने पर केंद्रित है। यह नेटवर्क व्यक्तियों की भलाई को बेचने की महत्वाकांक्षा रखता है। यह विभिन्न वर्गों और पृष्ठभूमि से संबंधित लोगों के लिए संभावनाओं का ज्ञान प्राप्त करने में सुधार पर जोर देता है। इसमें व्यावसायिक, पारिवारिक कौशल, सौंदर्य की प्रशंसा में सुधार, सोच का विश्लेषणात्मक कोड, और मूल्यों, मानदंडों, सिद्धांतों, मानकों, नैतिकता और ज्ञान की खरीद शामिल हैं। यह घर के अंदर रिश्तेदारों व्यक्तियों के अपने सर्कल के बीच क्षेत्र, मित्रों या नेटवर्क के व्यक्तियों के बीच संवाद, बाजार, गैर-धर्मनिरपेक्ष स्थान और इसके बाद के क्षेत्र में ले जा सकता है। वयस्क शिक्षा, शिक्षा के साथ दृढ़ता और अतिरिक्त भित्ति चित्रों को विभिन्न प्रकार की गैर-औपचारिक शिक्षा के रूप में माना जाता है।

वयस्क शिक्षा का अर्थ और उद्देश्य

प्रौढ़ शिक्षा एक प्रक्रिया है, जिसमें वयस्क अब कॉलेज में नहीं हैं, या अब साधारण या पूर्णकालिक आधार पर कॉलेज में भाग नहीं लेते हैं, या कॉलेज ड्रॉप-आउट अनुक्रमिक और तैयार शैक्षणिक गतिविधियों को अपनाते हैं। विकसित शिक्षा में जिन कई विषयों को शामिल किया जा सकता है, उनमें स्वास्थ्य, बच्चा सुधार, खाद्य आहार और पोषण, पर्यावरण का रख-रखाव, रिश्तेदार कल्याण, कृषि, पशुपालन और इसके बाद का अपना वृत्त शामिल हैं। इसका अर्थ किसी व्यक्ति की समस्याओं के उत्तर देने के लिए सूचना, दृष्टिकोण, कौशल और दक्षताओं के साथ लगभग संशोधन लाने के लिए है। जब लोग विशिष्ट क्षेत्रों के वाक्यांशों में अपनी विशेषज्ञता को बढ़ाने की इच्छा रखते हैं या एक बार उन्हें लगता है कि वे बेहतर बेचने के लिए सुनिश्चित क्षेत्रों के वाक्यांशों में संज्ञान उत्पन्न करना चाहते हैं, तो वे इन क्षेत्रों के वाक्यांशों में जानकारी जमा करते हैं। प्रौढ़ शिक्षा में लोगों और महिलाओं के माध्यम से काम की जाने वाली शिक्षाप्रद रिपोर्टों की सभी शैलियाँ होती हैं, जो उनके विभिन्न शौक और आवश्यकताओं के अनुसार उनके विभिन्न चरणों और समझ और भूमिकाओं और दायित्वों को एक के जीवन के दौरान परिवर्तित करने में होती हैं। प्रौढ़ शिक्षा राष्ट्र के वित्तीय सुधार के अलावा अकादमिक में एक महत्वपूर्ण कार्य करती है। शिक्षा और अभाव साक्षरता के अभाव के परिणामस्वरूप शिक्षा के गैजेट के संवर्धन और सामाजिक-वित्तीय उछाल और राष्ट्र के सुधार के मार्ग में सीमाएँ हो सकती हैं। लोग अलग-अलग दृष्टिकोण, व्यवहार, व्यवहार लक्षण, व्यक्तित्व, व्यवसाय, सामाजिक-वित्तीय पृष्ठभूमि और उसके बाद से हर व्यक्ति से विशिष्ट हैं। इसलिए, वे अपने शौक और दक्षताओं के आधार पर शिक्षा को संचित करते हैं। विकसित शिक्षा में, लोग उन क्षेत्रों का चुनाव करते हैं जो मुख्य सीमा तक उनके लिए लाभकारी होते हैं। गैर-नवागंतुकों की गैर-विद्यालय कक्ष शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। यह विशेष रूप से बढ़ते समाज, साक्षरता और कॉफी सुधार के निम्न चरणों वाले समाज के मामले में है। ऐसे समाजों में, जबकि वयस्क अनजान हैं और गरीबी और पिछड़ेपन की स्थितियों के साथ रह रहे हैं, गैर-विद्यालय के कमरे की तैयारी शिक्षा को सुविधाजनक बनाने और उनमें से ज्ञान प्राप्त करने में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है।

प्रौढ़ शिक्षा के उद्देश्य

विविध प्रकारों की साक्षरता साक्षरता: व्यक्ति शिक्षा का मूल सपना लोगों के सर्वोत्तम जीवन को अपग्रेड करने के परिणामस्वरूप है और उन्हें आत्म-प्राप्ति के लिए अपनी क्षमता को पहचानने की अनुमति देना, परिवारों, समुदायों, समाजों और राष्ट्र के साथ निवास के एक ही पुराने में सुधार करना, बहु-सांस्कृतिक अंतर्राष्ट्रीय गाँव को शांति और सांप्रदायिक संगोष्ठी बेचते हैं और इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के अंतर्राष्ट्रीय स्थानों और दुनिया भर में नेटवर्क के सुधार और कल्याण के गति को बढ़ाने में मदद मिलती है। उन सपनों को पूरा करने के लिए, यह व्यक्ति के लिए पढ़ने, लिखने और अंकगणित की मौलिक साक्षरता क्षमताओं के मालिक होने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। 3 रुपये की मौलिक साक्षरता दक्षताओं के अलावा, वे कई क्षेत्रों के वाक्यांशों में समझ एकत्र करते हैं। ये मौलिक साक्षरता, नैदानिक साक्षरता, वित्तीय साक्षरता, तकनीकी साक्षरत्ता, पीसी साक्षरता और इसके आगे। सही मायनों में एक की निवास स्थितियों को संरक्षित करने और एक की आजीविका के अवसरों को बढ़ाने के लिए, लोगों के लिए कई प्रकार की साक्षरता इकट्ठा करना बहुत महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण घटकों में से एक है, जबकि एक साक्षरता इकट्ठा करता है, यह उनके लिए इसका शक्तिशाली उपयोग करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

विभिन्न विषयों पर जागरूकता उत्पन्न करना: एक व्यक्ति के कर्त्तव्यों और गतिविधियों को पूरा करने के अलावा, यह लोगों के लिए विभिन्न पहलुओं के वाक्यांशों में संज्ञान उत्पन्न करने के लिए महत्वपूर्ण है। इनमें स्व, परिवार, नेटवर्क और राष्ट्र शामिल हैं। लोग सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और विभिन्न कारकों के वाक्यांशों में अपनी विशेषज्ञता और विशेषज्ञता को सुदृढ़ करना चाहते हैं। जब लोग उन कारकों के वाक्यांशों में स्वयं

संज्ञान लेते हैं, तो वे असफलताओं और विसंगतियों को उठा सकते हैं और परिणाम में सुधार कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, उपहार के अस्तित्व को रोकना, यह लोगों के लिए महत्वपूर्ण है, विभिन्न वर्गों से संबंधित है और प्राथमिक पीसी साक्षरता दक्षताओं और तकनीकी दक्षताओं की पृष्ठभूमि है। तकनीकी दक्षता लोगों को विविध कर्त्तव्यों और गतिविधियों को करने की अनुमति दे सकती है, जिससे विविध कर्त्तव्यों और गतिविधियों के कार्यान्वयन में आसानी हो सकती है। इसके अलावा, लोग तकनीकों के वाक्यांशों में संज्ञान उत्पन्न करना चाहते हैं जो पर्यावरण की सुरक्षा, सच्ची फिटनेस के रख-रखाव और भलाई और इसके आगे के लिए चाहते हैं।

कार्यशीलता को बढ़ावा देना: कार्यक्षमता को बढ़ावा देने में, जिन प्राथमिक तत्वों को शामिल किया जा सकता है, लोग उन क्षेत्रों के वाक्यांशों में ठीक विशेषज्ञता और तथ्यों का मालिकाना चाहते हैं जिनमें वे लगे हुए हैं। अलग-अलग शब्दों में, यह लोगों के लिए कौशल और उनके संबंधित क्षेत्रों के ज्ञान को जमा करने के लिए आवश्यक है। एक व्यक्ति के गतिविधि दायित्वों के समग्र प्रदर्शन के मार्ग के भीतर और एक के बाद एक विभिन्न दायित्वों और खेलों में लगे हुए हैं, लोग मुसीबतों और चुनौतियों पर ठोकर खाते हैं। लेकिन यह लोगों के लिए रणनीति और तकनीकों के वाक्यांशों में चेतना उत्पन्न करने के लिए मील की दूरी पर है जो मुसीबतों और चुनौतियों का जवाब देने के लिए हैं। इसलिए, नेटवर्क की मुसीबतों को ठीक करने के लिए, विविध खेलों में सार्वजनिक भागीदारी को बेचने के लिए और सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक भागीदारी को पूरा करने के लिए, लोगों, समूहों और पूरे राज्य के लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए, यह कार्यक्षमता को बेचने के लिए मील की दूरी पर है।

भारत में प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता: वयस्क शिक्षा आम जनता के लिए एक नई इच्छा लाती है, जिन्हें अब संकाय वर्षों के किसी बिंदु पर अपनी निर्देशात्मक प्रतिभाओं को संवारने की संभावनाएँ नहीं मिली हैं। अलग-अलग शब्दों में, व्यक्ति शिक्षा के माध्यम से, लोग अपनी अनुदेशनात्मक प्रतिभा के उन्नयन में परिणाम के लिए सक्षम होते हैं, एक बार वे अब उच्च विद्यालय से पहले या एक बार समय से पहले संकाय से बाहर हो गए हैं। व्यक्ति शिक्षा के सुव्यवस्थित अनुशासन के माध्यम से, अनपढ़ वयस्क विभिन्न दायित्वों और गतिविधियों में भाग लेना चाहते हैं। राष्ट्रीय वयस्क शिक्षा कार्यक्रम 2 अक्टूबर, 1978 को जारी राष्ट्रीय वयस्क शिक्षा कार्यक्रम के माध्यम से निरक्षरता के उन्मूलन का प्राथमिक राष्ट्रीय प्रयास है। यह एक बड़े सॉफ्टवेयर में परिवर्तित हो गया, जिसने शिक्षा को एक सौ मिलियन गैर-साक्षर वयस्कों के लिए पेश किया। 5 वर्ष के समय-निकाय के अंदर 15 से 35 वर्ष की आयु संगठन।

राष्ट्र के साथ-साथ व्यक्ति शिक्षा के प्रमुख पक्ष को सोचा गया है क्योंकि यह साक्षरता प्रतिभाओं को लोगों के सामने प्रस्तुत करने में एक अनिवार्य योगदान देता है। यह इस बात का समर्थन करता है कि देश का प्रत्येक व्यक्ति पढ़ने, लिखने और अंकगणित की मौलिक साक्षरता प्रतिभा को विकसित करने में सक्षम है। जब तक लोग परिवार की जिम्मेदारियों के कार्यान्वयन की चुनौती का प्रदर्शन करते हैं, और तब उनके लिए मौलिक साक्षरता प्रतिभाओं का मालिक होना बहुत महत्वपूर्ण होता है। इसके अलावा, वयस्कों को सुखद और संतुष्ट अनुभव करने के लिए वयस्कों को अनुमति देने के लिए व्यक्ति शिक्षा की आवश्यकता की पहचान की जाती है, वयस्क मनोरंजन और अवकाश गतिविधियों में संलग्न हो सकते हैं, वयस्क उन बाधाओं पर विजय प्राप्त करने की स्थिति का सामना कर रहे हैं जो उच्च के निर्वाह के मार्ग के साथ उठ सकती हैं। आजीविका की संभावनाएँ और वयस्क, विशेष रूप से समाज के वंचित, हाशिए पर और सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों से संबंधित हैं, यह पहचानने में सक्षम हैं कि शिक्षा अब संकाय या कॉलेज के शानदार गौरव को नहीं छोड़ती है, हालांकि यह एक आजीवन प्रक्रिया है। एक चरित्र अपने जीवन के माध्यम से सभी की जाँच करता है।

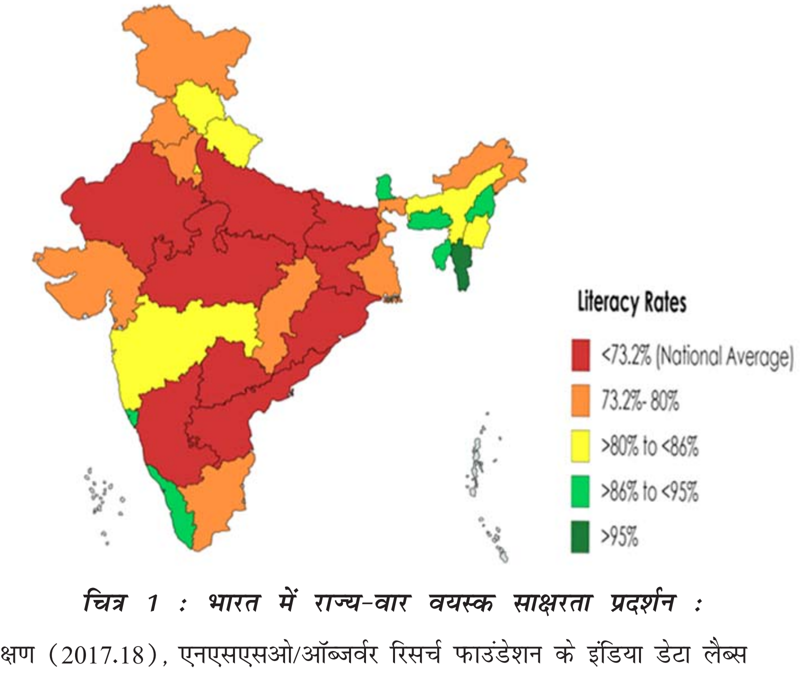

चित्र 1 : भारत में राज्य-वार वयस्क साक्षरता प्रदर्शन :

स्रोत : आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (2017.18), एनएसएसओ/ऑब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन के इंडिया डेटा लैब्स

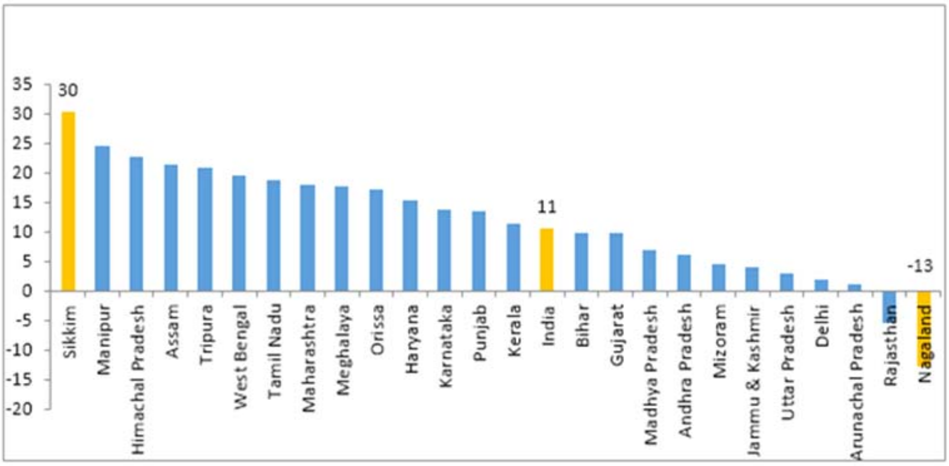

चित्र 2: आयु समूह 25.64 वर्ष (1987.88 से 2017.18) में 30 वर्षों में साक्षरता लिंग में कमी

स्त्रोत : नेशनल सैंपल सर्वे/ऑब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन के इंडिया डेटा लैब्स

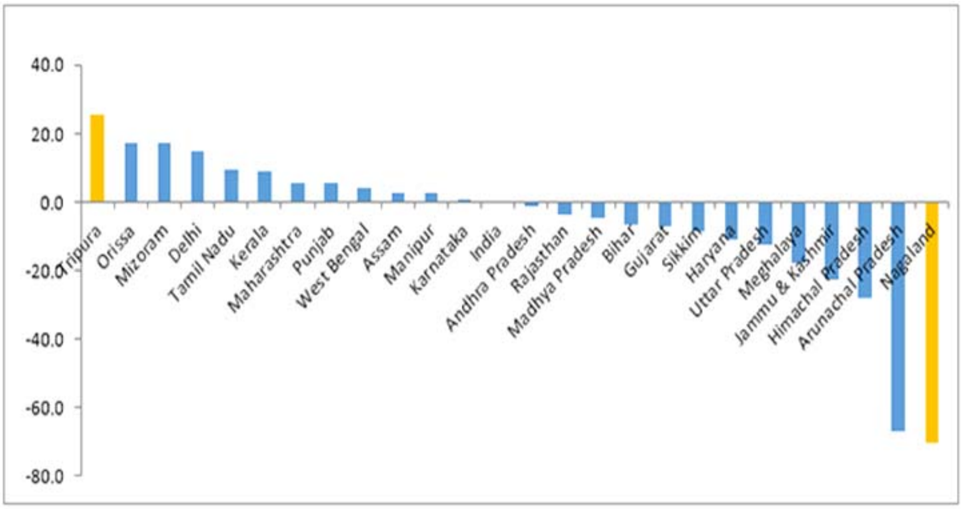

चित्र 3: आयु समूह 65 वर्ष (1987.88 से 2017.18) में साक्षरता लिंग अंतराल में 30 वर्ष से अधिक की कमी

स्त्रोत : नेशनल सैंपल सर्वे/ऑब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन के इंडिया डेटा लैब्स

प्रौढ़ शिक्षा के मूल सिद्धांत

व्यक्ति प्रशिक्षण कवरेज और दृष्टिकोण और मौके की पहचान और सपने और दायित्वों की पहचान मुख्य रूप से इस विचार पर आधारित है कि व्यक्ति प्रशिक्षण आजीवन महारत की अभिव्यक्ति है और पूरे प्रशिक्षण प्रणाली का एक हिस्सा शामिल है; यह मौद्रिक सुधार, उत्पादकता और मौद्रिक प्रतिस्पर्धा को बढ़ाने और रोजगार की संभावनाओं और रोजगार में वृद्धि का एक महत्वपूर्ण पहलू है; साधारण प्रशिक्षण प्रणाली में सुधार, समझ और दक्षताओं को बेहतर बनाने में संभावनाओं का प्रावधान करता है; एक क्रांतिकारी प्रशिक्षण और माहिर तंत्र, आर्थिक प्रणाली और श्रम बाजार की इच्छाओं और आवश्यकताओं की प्रतिक्रिया के साथ स्थान, तकनीकी नवाचार, नवीनतम प्रोफाइल, कार्यक्रमों, दक्षताओं और दक्षताओं के आगमन और आगमन की कोशिश करना, जो ब्रांड के नए प्रकारों के लिए द्विधा और खुले हैं। पेंटिंग और मास्टरिंग की और अंत में, महत्वपूर्ण दृष्टिकोण जिन्हें आत्म-सुधार को बेचने के लिए माना जा सकता है, रोजगार की संभावनाओं को इकट्ठा करने, उच्च आय प्राप्त करने, स्वतंत्रता एकत्र करने, जीवंत और उचित स्वास्थ्य जारी रखने के लिए, रिश्तेदारों के स्वयं के चक्र को बढ़ावा देने के लिए और रिश्तेदारों के सदस्यों (देशपोटोविक, और पजाटोविक, 2005) के अपने सर्कल के बीच स्वतंत्रता को प्रेरित करते हैं।

वयस्क प्रशिक्षण आजीवन माहिर के लिए एक सैद्धांतिक ढांचा प्रदान कर रहा है। मास्टरिंग के पारंपरिक सिद्धांत, प्रत्येक व्यवहारवादी और संज्ञानात्मक, आजीवन मास्टरिंग की कोचिंग और सुविधा के वाक्यांशों में स्पष्टीकरण प्रदान करते हैं। आजीवन प्रशिक्षण एक नए सिद्धांत के लिए कहता है जो लोगों के जीवन के कुछ बिंदु पर शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक, सामाजिक और व्यावसायिक सुधार को ध्यान में रखता है। वयस्क संकेत के वाक्यांशों में संज्ञान उत्पन्न करने में सक्षम हैं जो नई भूमिकाओं की अपेक्षा करने के लिए आवश्यक हो सकते हैं। वयस्कों, जो उपयोगी संसाधन व्यक्ति, सुविधा या डेटा प्रबंधक हैं, को वयस्कों के बीच समझ और डेटा प्रदान करना आवश्यक है। शिक्षण और कोचिंग उनका नंबर एक कार्य है।।दकतंहवहपबंस सिद्धांत के

केंद्र सिद्धांत हैं कि वयस्कों को मानसिक रूप से आत्म-निर्देशन करना है। महारत हासिल करने का नंबर एक मुद्दा उनकी बहुत ही रहस्योद्घाटन में मूल्यांकन है। वे लोग जो अध्ययन करना चाहते हैं, को समाप्त कर देते हैं क्योंकि वे समकालीन-दिन और क्रांतिकारी तरीकों के वाक्यांशों में डेटा एकत्र करना सीखना चाहते हैं। अधिकांश वयस्क अंशकालिक शिक्षार्थी हैं। सीखने की संभावनाएं उन्हें उदाहरणों और स्थानों पर होनी चाहिए जो उनके लिए उपयोगी हो सकती हैं। (नोल्स, 1975)। वयस्कों को दायित्वों और खेल प्रबंधनों के कार्यान्वयन की समझ है। इसके अलावा, जब वे महारत हासिल कर रहे होते हैं, तो उन्हें सकारात्मक दृष्टिकोण और अर्थ को आकार देना पड़ता है कि महारत हासिल करना और प्रशिक्षण उनके लिए उपयोगी साबित होता है।

प्रौढ़ शिक्षा के लक्षण

जब संशोधन उन परिस्थितियों में आसपास के क्षेत्र में ले जाते हैं, जिनमें वयस्कों के जीवन पर एक शक्ति होती है, तो व्यक्ति शिक्षा अतिरिक्त रूप से संशोधनों से गुजरती है। वयस्क शिक्षा प्रकृति का उपयोग करने की सहायता से गतिशील है। व्यक्ति शिक्षा के लक्षणों को निम्नानुसार कहा गया है:

1. वयस्क शिक्षा नेटवर्क-मुख्य रूप से पूरी तरह से आधारित है और इसे विशेष रूप से व्यापक रूपरेखाओं के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। वे चाहते हैं कि अब तुलनीय चौखटे में अलग-अलग समूहों में एक समान आधार पर लागू न हों।
2. व्यक्ति शिक्षा की प्रकृति, इच्छाओं और लक्ष्यों में लोगों और समूहों की संस्कृतियों, मानदंडों, विचारों और आवश्यकताओं के अनुसार उतार-चढ़ाव होता है।
3. व्यक्ति शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण इच्छाओं और मुद्दों को ध्यान में रखा जाता है। इसके अलावा, शक्तिशाली जवाब तैयार किए जाते हैं जिन्हें मुद्दों और कठिनाइयों को दूर करना पड़ता है।
4. उन लोगों को सभी खेलों में भाग लेने की वकालत की जाती है, जिन्हें अपना सर्वश्रेष्ठ जीवन बढ़ाना होता है।
5. सभी क्षेत्रें में लोगों, समूहों और राज्य के लगभग सुधार लाने पर वयस्क शिक्षा के लक्ष्य। इनमें सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, मौद्रिक और राजनीतिक शामिल हैं।
6. लोग तर्कसंगत और तार्किक विकल्प बेचने में सक्षम हैं जिन्हें लोगों, नेटवर्क और राज्य की भलाई और सद्भावना को बेचना है।
7. प्रौढ़ शिक्षा एक व्यवस्थित रूप से आयोजित प्रक्रिया है, जिसमें सीखने-सिखाने वाले निर्देशात्मक खेलों को बढ़ावा देने के लिए व्यवहार्यता के एक अंतर्निहित पहलू के साथ कोचिंग की विभिन्न रणनीतियों और अध्ययनों का उपयोग किया जाता है।
8. वयस्क अपने वार्तालाप कौशल को बढ़ाने में सक्षम हैं। वे एकांत को दूर करते हैं और मुख्यधारा के समाज के साथ गठबंधन करने में सक्षम हैं।
9. वयस्क शिक्षा वयस्कों को परिश्रम, संसाधनशीलता और कर्तव्यनिष्ठता के रुझानों को बढ़ाने की अनुमति देती है, जिन्हें एक सहायक जीवन रहना है।
10. वयस्क शिक्षा एक ऑपरेटिव डिवाइस के रूप में दिखाई देती है जो वयस्कों के सशक्तिकरण के लिए आवश्यक है।

प्रौढ़ शिक्षा नीति

बड़े पैमाने पर शिक्षा कवरेज का महत्वपूर्ण उद्देश्य वयस्कों के लिए शिक्षा और शिक्षा संरचनाओं के गठन के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का सुधार है। जिन प्राथमिक पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है, वे हैं, सहायता, सुधार प्रतिष्ठान और तंत्र। बड़े पैमाने पर शिक्षा कवरेज के प्राथमिक लक्षण हैं, प्रासंगिकता, लचीलापन, प्रदर्शन और प्रभावशीलता, पहुंच और स्थिरता। ये निम्नानुसार कहा गया था (डेस्पोटोविक, और पेजाटोविक, 2005)।

प्रासंगिकता: विकसित शिक्षा उपकरण प्रासंगिक है, यदि यह सीखने वालों, श्रम बाजारों या समुदाय की इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार विशेषज्ञता और दक्षताओं का प्रावधान करता है। प्रासंगिकता शिक्षा उपकरण के साथ लोगों की भागीदारी के साथ उछाल के माध्यम से सुरक्षित है। लोगों की भागीदारी को मुख्य रूप से नीतियों, पैकेजों, वित्त, सत्यापन और इसके बाद में दर्शाया गया है। श्रम बाजार की इच्छाओं की ट्रैकिंग और पहचान और उन जरूरतों और आवश्यकताओं की संस्थागत अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप प्रासंगिकता का विस्तार होता है।

लचीलापन : लचीलेपन को कैपेसिटिव और उत्तरकुशलता की जरूरतों के जवाब में संतोषजनक रूप से जवाब देने की क्षमता का हवाला दिया जाता है। यह मॉडर्नाइजेशन और पैकेजों के माध्यम से सुरक्षित किया जाता है, जो मुख्य रूप से श्रम बाजारों, प्रक्रियाओं की आवश्यकताओं और उद्यमों, विशेष व्यवसायों और लोगों के अतीत की इच्छाओं पर आधारित हो सकता है। संशोधन और मॉडयूल श्रम और सामाजिक परिवेश के क्षेत्र के आधुनिकीकरण और वित्तीय प्रणाली और नागरिक क्षेत्र की इच्छाओं के साथ शिक्षा के समन्वय की आवश्यकता के लिए अधिकतम उपयुक्त प्रतिक्रियाएँ हैं।

प्रभावशीलता : दक्षता और प्रभावशीलता मुख्य रूप से बड़े पैमाने पर शिक्षा क्षमताओं के उपयोग के साथ जुड़े हुए हैं। लोग असाधारण कक्षाओं के माध्यम से बड़े पैमाने पर शिक्षा के साधन और नियंत्रण के उपयोग के वाक्यांशों पर ध्यान केंद्रित करना चाहते हैं। ये समुदाय के कल्याण को बेचने के लिए टूटोरियल प्रतिष्ठानों और बड़े हो रहे शिक्षा केंद्रों के उपयोग पर जोर देते हैं। लोगों और समुदायों के कल्याण को बेचने के लिए, लोग सही तरीके से उपायों और आवश्यकताओं को तैयार करना चाहते हैं।

अभिगम्यता : मुख्यत: पूरी तरह से इच्छाओं और जरूरतों पर आधारित एक उपकरण को स्थापित करने की प्रवृत्ति कई वर्गों और पृष्ठभूमि से संबंधित लोगों की होती है। लोग, जो गरीबी से त्रस्त हैं, शरणार्थी, अनोखी इच्छाओं वाले लोग, एक विकृत समय के लिए बेरोजगार लोग, अनुदेशात्मक योग्यता के बिना किशोर, महिलाएँ, वृद्ध लोग, जो अपनी नौकरी छोड़ने की चिंता के माध्यम से पीटे जाते हैं, मुख्य रूप से उनके प्राचीन के कारण उम्र, अल्पसंख्यक व्यवसाय, अच्छी तरह से जानकार लोग, जो नौकरी छोड़ रहे हैं, जैसे कि सैन्यकर्मी और उसके बाद। इसलिए, कई वर्गों और पृष्ठभूमि से संबंधित लोगों के लिए, विकसित शिक्षा उपयुक्त है।

स्थिरता : प्रासंगिकता, लचीलेपन, प्रदर्शन और प्रभावशीलता और पहुंच के ऊपर के तत्व उक्त शिक्षा उपकरण की स्थिरता की दिशा में मार्ग हैं। बड़े पैमाने पर शिक्षा उपकरण की स्थिरता मुख्य रूप से पारंपरिक वित्त पर आधारित है जो शिक्षा और शिक्षा प्रतिष्ठानों के वित्तपोषण को उन्मुख करता है, हालांकि देशव्यापी और पड़ोस के स्तर पर मौद्रिक नियंत्रण के सटीक संस्करण के सुधार पर। उपचारात्मक शिक्षा प्रतिष्ठानों को निर्देशात्मक बाजार के अनुसार कार्य करने का अवसर मिलता है। इसके अलावा, उन्हें उद्यमों, सार्वजनिक सेवाओं, विशेषज्ञता और दक्षताओं की जरूरतों के अनुसार उत्तर देना चाहिए और निर्देशकीय पैकेजों, जैसे ऑफर और आगे के लिए मौद्रिक सहायता की नई किस्मों को बढ़ाना चाहिए।

निष्कर्ष

प्रौढ़ शिक्षा का क्षेत्र प्राचीन काल से राष्ट्र राज्य के भीतर प्रमुख रहा है। इससे पहले कि देश अपनी आजादी हासिल करे और देश अपनी आजादी हासिल करने के बाद, ऐसे कार्यक्रमों का निर्माण करे, जिनका प्रौढ़ शिक्षा को बढ़ाने का प्रमुख उद्देश्य है। सरल शब्दों में वयस्क शिक्षा को वयस्कों को शिक्षा प्रदान करने के लिए संदर्भित किया जाता है। यह एक बहुआयामी जटिल समस्या है जिसमें कई विषय और रुचि क्षेत्र शामिल हैं। वयस्क एक या एक से अधिक क्षेत्रों का चयन करते हैं, जो उनके लिए रुचि रखते हैं और जो उन्हें काफी हद तक लाभान्वित करते हैं। वयस्क, जिन्हें पहले स्कूल में दाखिला नहीं मिला है या जो समय से पहले बाहर हो गए हैं, वे हैं, जिनके लिए वयस्क शिक्षा लाभप्रद साबित हुई है। व्यक्तिगत और व्यावसायिक विकास के लिए निरंतर शिक्षा के प्रयास किए जाते हैं और वयस्क, जो अच्छी तरह से शिक्षित होते हैं, उनके लिए अवसर, उनके कौशल और क्षमताओं का चित्रण करने के लिए उपलब्ध होते हैं।

शिक्षा की तीन श्रेणियाँ हैं: औपचारिक, अनौपचारिक और गैर-औपचारिक। वयस्क शिक्षा के उद्देश्य विविध प्रकार की साक्षरता प्रदान करना, विभिन्न विषयों पर जागरूकता पैदा करना और कार्यक्षमता को बढ़ावा देना हैं। प्रौढ़ शिक्षा नीति की मूल विशिष्टता महत्व, शालीनता, कार्यकुशलता और प्रभावशीलता, दृष्टिकोण और स्थिरता है। भारत में, वयस्क शिक्षा की धारणा ने महत्वपूर्ण पदार्थ प्राप्त कर लिया है, क्योंकि यह वयस्कों के बीच जानकारी पैदा करने में एक महत्वपूर्ण योगदान देता है, विशेष रूप से समाज के वंचित, हाशिए और आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों से संबंधित है। वयस्क शिक्षा के माध्यम से, व्यक्ति अवधारणाओं की एक कुशल समझ हासिल करने और प्रभावी तरीके से अपना जीवन जीने में सक्षम हैं। जब प्रशिक्षक वयस्कों को ज्ञान और जानकारी प्रदान कर रहे हैं, तो वे आधुनिक और नवीन शिक्षण-शिक्षण विधियों और अनुदेशात्मक रणनीतियों का उपयोग करते हैं। साक्षरता की कमी व्यक्तियों को समस्याओं और चुनौतियों की संख्या का अनुभव करने में सक्षम बनाती है। लेकिन वयस्क शिक्षा के माध्यम से, व्यक्ति जागरूकता उत्पन्न करते हैं और ऐसी जानकारी प्राप्त करते हैं जो समस्याओं और चुनौतियों को दूर करने के लिए आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची

1. भारत में वयस्क और सतत शिक्षा : एक अवलाकन, 26 अगस्त, 2019 को http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/108536/9/09_chapter201.pdf से प्राप्त।
2. डेस्पोटोविक, एम० और पेजाटोविक, ए (2005)। सर्बिया गणराज्य में वयस्क शिक्षा विकास की नीति और रणनीति। 27 अगस्त, 2019 से पुनः प्राप्त। http://http://www.vetserbia.edu.rs/Zbirka:20doc/Finaldoc/Adult-20Policy.pdf
3. प्रौढ़ शिक्षा का ऐतिहासिक विकास। 26 अगस्त, 2019 को http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/57682/9/09_chapter-203.pdf से प्राप्त
4. नोल्स, एम०एम० (1975) : वयस्क शिक्षा नई आयाम, 27 अगस्त, 2019 को http://www.ascd.org/ASCD/pdf/journals/ed_lead/el_197511_knowles.pdf से लिया गया है।
5. मॉड्यूल-1 सत्र। मैं वयस्क शिक्षा : एक परिचय। Http://content.inflibnet. ac.in/dataserver/eacharyadocuments/53e0c6cbe413016f23443703_INFIEP_32/1/1/ET/V1-S1__module_sessioni.pdf से पुनर्प्राप्त 26 अगस्त, 2019 तक।

भारत में कृषि का विकास : पंचवर्षीय योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० सुनील चन्द्र झा

एम०ए०, पी-एच०डी० (अर्थशास्त्र), बी०बी०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

शोध आलेख का सार तत्व

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भारतीय कृषि काफी निराशा जनक स्थिति में थी। कृषकों पर साहूकारों के ऋणों का बहुत अधिक बोझ था। उनके पास छोटी तथा बिखरी जोते थी। कृषि में उन्नत उपकरणों, उन्नत बीजों तथा उर्वरकों का प्रयोग करने के लिए न तो पर्याप्त साधन थे और न ही कोई ज्ञान था। सिंचाई के लिए कृषि पूर्णरूप से मानसून पर आश्रित थी। भूमि तथा श्रम की उत्पादकता कम होती जा रही थी। जनसंख्या की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूति हेतु देश खाद्यान्नों के भारी आयात पर निर्भर या जबकि देश की 70% जनसंख्या कृषि कार्य में लगी थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की ओर अधिक क्षति उठानी पड़ी। भारत को जहाँ विभाजन के परिणामस्वरूप 82% जनसंख्या प्राप्त हुई वहीं चावल उगाने वाला मात्र 69% क्षेत्र तथा गेहूँ उगाने वाला सिर्फ 65% क्षेत्र ही मिला। विभाजन के बाद भारत में सिंचित क्षेत्र का अनुपात 24% से कम होकर 19% रह गया था। अतएव देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बहुत कम होता था तथा भारतीय किसानों की आय भी काफी कम थी।

मूल शब्द : साहूकार, वार्षिक योजना, पंचवर्षीय योजना, खाद्यान्न, सिंचाई, अर्थव्यवस्था, कृषि ऋण, खाद्यान्न

प्रस्तावना

01 अप्रैल, 1951 को जन भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना शरू करने के साथ आर्थिक नियोजन का कार्यक्रम शुरू किया गया तब उस कृषि विकास के विषय में कोई विशेष रणनीति नहीं अपनाई गई थी। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक अर्थव्यवस्था की तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए परम्परागत तकनीक के उपयोग पर जोर दिया गया था। कृषि विकास की उत्पादक क्षमता में वृद्धि करने के लिए सिंचाई के विस्तार, कृषि प्रसार की उत्पादक क्षमता में वृद्धि करन के लिए सिंचाई के विस्तार, कृषि प्रसार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को लागू किया गया था किन्तु ये उपाय कृषि उत्पादन को बढ़ाने में असफल रहे।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) : इस योजना में वास्तविक व्यय 1960 करोड़ रुपये हुआ, जबकि कृषि सामुदायिक विकास, सिंचाई तथा बाढ़ नियंत्रण पर कुल व्यय 600 करोड़ रु० हुआ, जो कुल वास्तविक व्यय का 21% था। अतएव प्रथम योजना में कुल व्यय का लगभग एक तिहाई हिस्सा कृषि पर व्यय किया गया। इस योजना के दौरान कृषि उत्पादन में 18% की वृद्धि हुई। खाद्यान्नों का उत्पादन 52 मिलियन टन से बढ़कर 64 मिलियन टन हो गया। व्यावसायिक फसलों में तलिहन का उत्पादन 52 लाख टन था जो इस योजना के अंत में बढ़कर 56 लाख टन हो गया। इसी प्रकार गन्ने का उत्पादन 57 लाख टन से बढ़कर 600 लाख टन हो गया। कपास की 40 लाख गाठें तथा जूट भी 42 लाख गाँठों का उत्पादन हुआ। इस योजना के दौरान रासायनिक उर्वरक की खपत में भी वृद्धि हुई। 1950-51 में अमोनियम सल्फेट की खपत 2.75 लाख टन और फास्फेटिक उर्वरक की खपत 43 हजार टन थी जो योजना के अंत में बटकर क्रमशः 6 लाख टन तथा 78 हजार टन हो गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61) : इस योजना में कुल व्यय 4672 करोड़ रु० हुआ जबकि कुल कृषि व्यय 9.50 करोड़ रु० हुआ जो कुल योजना व्यय का 20% हुई यानी देश में कृषि उत्पादन 4.4% की दर से प्रतिवर्ष बढ़ा। प्रथम योजना में उत्पादन वृद्धि की वार्षिक दर 6.2% थी इस प्रकार दूसरी योजना में वार्षिक वृद्धि दर 18% कम रही। गन्ने को छोड़कर शेष वस्तुओं में लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती। खाद्यान्न उत्पादन निर्धारित लक्ष्य 810 लाख टन के विपरीत 800 लाख टन हुआ। तिलहन का उत्पादन भी निर्धारित लक्ष्य 76 लाख टन के बजाय 65 लाख टन रहा। कपास तथा जूट का उत्पादन क्रमशः 54 और 40 लाख गाठों का हुआ जो कि निर्धारित लक्ष्य से 17 लाख 15 लाख गाँठे कम था। इस प्रकार खाद्यान्नों के उत्पादन में इस योजना में 18.8% कपास के उत्पादन में 32.5% तथा तिलहन के उत्पादन में 20% की वृद्धि हुई। सिंचाई के क्षेत्र में 8.8% की बढ़ोत्तरी हुई। अतएव द्वितीय योजना में कृषि क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति नहीं हो सकी, क्योंकि उत्पादन लक्ष्य से कम रहा। फलतः खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1951-66) : इस याजना मं कुल व्यय 85.80 करोड़ रू० किया गया, जबकि कुल कृषि व्यय का प्रावधान 2110 करोड़ रु० रखा गया था लेकिन वास्तविक व्यय 1754 करोड़ रु० हुआ जो कुल व्यय का 21% थी। लघु सिंचाई तथा बड़े सिंचाई योजनाओं और सामुदायिक विकास

कार्यक्रमों पर 1098 करोड़ रु० खर्च किए गए। इस योजना में भूमि के क्षेत्र में तथा सिंचाई के साधनों में वृद्धि हुई। रासायनिक उर्वरक के प्रयोग इत्यादि पर विशेष ध्यान दिया गया। साथ ही वैज्ञानिक तरीके से खेती पर भी विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना में खाद्यान्न का लक्ष्य 10 करोड़ टन किया गया। लेकिन 1965-66 में खाद्यान्नों का उत्पादन 7.2 करोड़ टन हुआ। तृतीय योजना का अंतिम वर्ष 1965-66 असामान्य वर्ष था। लगभग समस्त उत्तरी भारत विशेष रूप से बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल सूखा से पीड़ित था। अतएव, 1965-77 में कृषि उत्पादन काफी कम हुआ।

तीन वार्षिक योजनाओं में कृषि विकास : वार्षिक योजनाओं में कृषि के विकास को प्राथमिकता दी गई। इन वार्षिक योजनाओं में कुल व्यय 6625 करोड़ रु० किए गए जिनमें कृषि कार्यक्रम पर 1578 करोड़ रु० व्यय किए गए जो कुल योजना व्यय का 23.8% रहा। कृषि और सामुदायिक विकास पर 1107 करोड़ रु० एवं सिंचाई पर 471 करोड़ रु० खर्च किए गए। इन वार्षिक योजनाओं में लघु सिंचाई को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई। रासायनिक उर्वरक और उन्नत बीजों का प्रयोग भी सबसे अधिक किया गया। मानसून बेहतर रहने एवं उत्पादन में नई तकनीक शुरू होने के फलस्वरूप 1968-69 में खाद्यान्नों का उत्पादन 9.4 करोड़ टन हो गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) : इस योजना में कुल व्यय 1550 करोड़ रु० किया गया जिसमें से कृषि तथा संबंधित क्षेत्रों में विकास पर 367 करोड़ रुपये व्यय किया गया जो कुल योजना व्यय का 24% था। इस योजना में कृषि विकास को तीसरा स्थान दिया गया। इस योजना में कृषि लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सघन कृषि कार्यक्रम पर जोर दिया गया, कृषि उत्पादकता बढ़ाने के लिए अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों तथा बहुफसली कार्यक्रम को अपनाया गया। व्यावसायिक फसलों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए एक मुश्त का क्रय तय किए गए। इसके अलावा कई कृषि कार्यक्रम शुरू किए फिर भी चौथी योजना में कृषि के लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सका। इस योजना में खाद्यान्न का उत्पादन लक्ष्य 1290 लाख टन रखा गया, लेकिन वास्तविक उत्पादन 1040 लाख टन ही रहा।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) : पाँचवीं योजना में कुल वास्तविक व्यय 39430 करोड़ रु० हुआ जिसमें कृषि कार्यक्रम पर 8740 करोड़ रुपये व्यय हुआ जो कुल योजना व्यय का 22% था। चौथी योजना की असफलताओं को देखते हुए पाँचवीं योजना में कृषि को प्राथमिकता दी गई। चौथी योजना के लक्ष्यों को पाँचवीं योजना में प्राप्त कर खाद्यान्नों के क्षेत्र में देश को पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर बनाने पर बल दिया गया। योजना में कृषि क्षेत्र के दीर्घकालीन नियोजन हेतु अपनाई गई व्यूह रचना में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया : (i) कृषि प्रसार तथा प्रशासन को सुदृढ़ बनाना, (ii) समस्या उन्मुख अनुसंधान का गहन करना, (iii) रासायनिक उर्वरकों के उपयोग में वृद्धि एवं उर्वरक उपयोग की दक्षता में सुधार करना, (iv) कृषि मूल्य नीति का प्रभावपूर्ण संचालन करना, (v) भूमि सुधार उपाायों का क्रियान्वयन, (vi) प्रमाणीकरण बीजों की मात्रा में वृद्धि तथा वितरण, (vii) जल प्रबंधान तथा संस्थागत साख का विस्तार और, (viii) फसलों के विपणन में सहकारिता के कार्यभाग का विस्तार करना। 1974-75, 1975-76 तथा 1976-77 में कृषि व संबद्ध कार्यक्रम पर क्रमशः 1024 करोड़, 1160 करोड़ तथा 1583 करोड़ रुपये खर्च किए गए। योजना के अंतिम वर्ष 1977-78 में कृषि तथा सहायक सेवाओं, बड़ी, मध्यम तथा लघु सिंचाई योजनाओं तथा ग्रामीण विद्युतीकरण के लिए कुल 3024 करोड़ रुपये का व्यय का प्रावधान किया गया, जो केन्द्र, राज्य तथा संघ शासित प्रदेशों की योजनाओं के सम्पूर्ण व्यय का 30.4% था। इस योजना काल में खाद्यान्नों का उत्पादन 1973-74 में 1047 लाख टन से बढ़कर 1977-78 में 1256 लाख टन हो गया। इस दौरान गन्ने का उत्पादन 1650 लाख टन (लक्ष्य के ठीक बराबर) तथा कपास का उत्पादन 80 लाख गाँठ से घटकर 71 लाख गाँठ हो गया, जबकि जूट का उत्पादन 77 लाख गाँठ से घटकर 71.2 लाख गाँठ हो गया तथा तिलहनों का उत्पादन 120 लाख टन से घटकर 89.3 लाख टन हो गया।

1950-51 से लेकर 1978-79 तक की अवधि में कृषि क्षेत्र का औसतम वार्षिक वृद्धि दर 2.7% रहा जबकि पाँचवीं योजना में कृषि की कुल वृद्धि दर 4.3% रही। 1979-80 देख में सूखा का वर्ष रहा जिससे कृषि उत्पादन में कमी आर्ठ तथा कीमतों में तेजी से वृद्धि हुई।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) : इस योजना में कुल वास्तविक व्यय 109300 करोड़ रुपये हुआ जिससे कृषि पर कुल व्यय 26100 करोड़ रु० किया गया जो कुल योजना व्यय का 23.7% था। इस योजना का मुख्य उद्देश्य देश में उपलब्ध कृषि साधनों का उपयोग करना, भूमि सुधार कार्यक्रम लागू करना, लघु किसानों की स्थिति में सुधार करना और कृषि क्षेत्र का योगदान देश की अर्थव्यवस्था में काफी बेहतर रहा। कुछ फसलों की स्थिति में उत्पादन निर्धारित लक्ष्य से अधिक हुआ। ऐसा प्रथम योजना के बाद पहली बार हुआ। इस योजना में खाद्यान्न उत्पादन 1460 लाख टन हुआ। योजना के अंतिम वर्ष 1984-85 में 560 लाख हेक्टेयर हो गया। इस योजना में कृषि क्षेत्र की संवृद्धि दर 23.7% रही। इस योजना में सिंचाई क्षमता में 110 लाख हेक्टेयर की वृद्धि की गई।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) : इस योजना में कुल वास्तविक व्यय 218730 करोड़ रुपये हुआ जिसमें कृषि पर कुल व्यय 47100 करोड़ रुपये हुआ जो कुल योजना व्यय का 22% रहा। इस योजना में खाद्यान्नों का उत्पादन लक्ष्य 1800 लाख टन था जबकि वास्तविक उत्पादन 1710 लाख टन हुआ। योजना के प्रथम चार वर्षों में 86.3 लाख हेक्टेयर की अतिरिक्त सिंचाई क्षमता निर्मित की गई, जबकि लक्ष्य 1097 लाख हेक्टेयर था। 1985-86 से 1988-89 तक बड़ी ए वं मध्यम सिंचाई योजनाओं के अंतर्गत 23.4 लाख हेक्टेयर अतिरिक्त सिंचाई क्षमता स्थापित की गई जबकि लक्ष्य 299 लाख हेक्टेयर था। छोटी सिंचाई योजनाओं के अंतर्गत 649 लाख हेक्टेयर की अतिरिक्त सिंचाई क्षमता स्थापित की गई जबकि लक्ष्य 79.8 लाख हेक्टेयर था। तिलहन-180 लाख टन (लक्ष्य 170 लाख टन); गन्ना- 2100 लाख टन (लक्ष्य 2170 लाख टन); कपास- 95 लाख गाँठ के विपरीत 105 लाख गाँठ वास्तविक उत्पादन हुआ जबकि पटसन-79 लाख गाँठ (लक्ष्य 95 लाख गाँठ)।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) : इस योजना में कुल वास्तविक व्यय 475480 करोड़ रु० था, जिसमें कृषि पर कुल व्यय 101599 करोड़ रुपये व्यय हुआ जो कुल योजना व्यय का 20.9% था। इस योजना काल में कृषि उत्पादन में 3.5% औसत वार्षिक वृद्धि हुई, जो निर्धारित लक्ष्य 4% से कम

है। खाद्यान्न उत्पादन 1994-95 में 1914.95 लाख टन हुआ जो 1995-96 में घटकर 1804.15 लाख टन हो गया, लेकिन 1996-97 में फिर बढ़कर 1990 लाख टन हो गया, जबकि इस योजना में 2100 लाख खाद्यान्न करने का लक्ष्य था। खाद्यान्न उत्पादन में मंद वृद्धि का एक प्रभाव यह हुआ कि इस वसूली कीमतों में 13-14% की वार्षिक वृद्धि हुई। इस वृद्धि का लाभ बड़े किसानों को हुआ तथा छोटे किसानों पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) :इस योजना में कुल वास्तविक व्यय 817000 करोड़ रुपये हुआ जिसमें कृषि पर कुल व्यय 61880 करोड़ हुआ जो कुल योजना व्यय का 20% था। इस योजना में कृषि उत्पादों का प्रतिवर्ष वृद्धि का लक्ष्य 4.5% रखा गया, लेकिन योजना के अंत में औसत संवृद्धि दर सिर्फ 2.9% रही। 2002 में खाद्यान्न उत्पादन बढ़कर 2110 लाख टन हो गया, जबकि 1997 में यह 1990 लाख टन था।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) : इस योजना में कुल व्यय 15,25,640 करोड़ रुपये था जिसमें कृषि पर कुल व्यय 305055 करोड़ रूपया हुआ जो कुल योजना व्यय का 20.1% था। इस योजना में कृषि वृद्धि दर का लक्ष्य 4% थ। यद्यपि वास्तव में यह वृद्धि दर 2.5% वार्षिक रही। 2002 में खाद्यान्न उत्पादन 2,110 लाख टन था जो दसवीं योजना के अंत में 2007 में बढ़कर 2160 लाख टन हो गया जबकि दसवीं योजना में खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य 2,340 लाख टन रखा गया।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) : इस योजना में कुल व्यय 36,76,930 करोड़ रुपये हुआ जिसमें कृषि पर कुल व्यय 7,23,465 करोड़ रु० किया गया जो कुल योजना व्यय का 19.7% रहा। इस योजना में कृषि वृद्धि का लक्ष्य 4% रखा गया, जबकि प्राप्ति इससे अधिक 4.1% रही। जबकि योजना में खाद्यान्न उत्पादन 2,574 लाख टन रहा।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय अर्थव्यवस्था के नियोजन की अवधारणा पंचवर्षीय योजना के माधयम से किया गया था, जिसमें कृषि तथा खाद्यान्न एवं लक्ष्य की पूर्ति करना प्रमुख केन्द्र बिन्दु था। भारतीय कृषि का विकास हरित क्रांति से जाना जाता रहा है। यह सुव्यवस्थित एवं दूरदर्शी सोच का प्रतिफल था। विगत वर्षो में वैज्ञानिकों की ओर से किए गए कृषि के क्षेत्र में शोध व हासिल तकनीक ने उस विकास को न सिर्फ निरंतर आगे बढ़ाने का कार्य किया, बल्कि कई मील के पत्थर भी स्थापित किए हैं। शोध एवं तकनीक के बूते हासिल की गई उपलब्धियों के कारण ही किसान साल दर साल पैदावार बढ़ाने में सक्षम हो पा रहे हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद अपने सभी संस्थानों के माध्यम से विभिन्न फसलों के लिए पंचवर्षीय योजना तैयार करता है। यह योजना संबंधित फसल के क्षेत्र में पांच वर्षो की स्थिति के विश्लेषण पर आधारित होती है। इसके आधार पर आगामी पाँच वर्ष के लिए संभावित बातों को ध्यान में रखते हुए योजना तैयार की जाती है। इसके तहत आने वाले वर्षो में किसानों के हित से जुड़े सभी बातों को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिक शोध करने में जुटते हैं। इन बातों के फलस्वरूप ही छह दशकों में भारत ने अनाज के आयातक से निर्यातक देश के बीच के सफर को तय करने में सफलता पाई है। पिछले वर्ष भारत ने 20 लाख टन अनाज का निर्यात किया। आने वाले समय में दलहन व तिलहन के क्षेत्र में देश को आत्मनिर्भर बनाने की योजना तैयार की जा रही है। इस बात के मद्देनजर नए-नए किस्मों के विकास में वैज्ञानिक जुटे हैं। इन किस्मों में समय व सिंचाई दोनों की बचत का ध्यान रखा जा रहा है। प्रयोगशाला और खेत के बीच की दूरी को कम करने या समाप्त करने के उपायों पर भी काम किया जा रहा है। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान का कृषि प्रसार संभाग देश के महत्वपूर्ण कृषि विश्वविद्यालयों, कृषि विज्ञान केंद्रों व अन्य संस्थाओं के साथ मिलकर नई तकनीकों को किसानों के बीच पहुंचाने के कार्य में जुटा है। कई जगह पायलट परियोजनाएँ भी चलाई जा रही हैं। इन सभी बातों का असर भी हो रहा है। किसान अब पहले से अधिक जागरूक हो चुके हैं।

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध आलेख में निम्नलिखित परिकल्पनाएँ अभिनिर्धारित की जा सकती है:

1. इस समयावधि को भारत में कृषि के पतन काल के रूप में चिन्हित किया गया। भू-राजस्व प्रणाली के नए तरीकों ने वृहद पैमाने पर कृषि संकट और निर्धनता की समस्याओं को उत्पन्न किया।
2. कृषि सुधार से आर्थिक-व्यवस्था की स्थिति अच्छी होंगी।
3. भूमि सुधार कृषि के विकास तथा बेरोजगारी की समस्या के समाधान में भी सहायक बन सकती है।
4. भूमि सुधार सामाजिक सौहार्द के सन्दर्भ में भी सार्थक प्रतीत होता है।
5. भूमि सुधार से राजनीतिक-प्रशासनिक इच्छा शक्ति को बल मिलेगा तथा राजनीतिक आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में भी इसे अच्छा बताया जा सकता है।

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत शोध आलेख की पद्धति ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा वस्तु-विश्लेषणात्मक है।

साहित्य समीक्षा

प्रस्तुत शोध आलेख का विषय "भारत में कृषि का विकास : पंचवर्षीय योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में" है। शोध आलेख में स्पष्ट किया गया है कि भारत की जमीन का एक तिहाई हिस्सा, अर्थात 9.7 करोड़ से 10 करोड़ हेक्टेयर के बीच जमीन डिग्रेडेड है। जमीन के डिग्रेड होने से जमीन की जैविक एवं आर्थिक

उत्पादकता कम होने लगती है। दूसरा, पैदावार की लाभप्रदता एवं किसान की आय पर भी असर होता है। तीसरा, छोटे एवं सीमांत किसान जिनके पास बहुत ही कम जमीन है उनकी तो रोजी रोटी पर ही संकट आ जाता है। रोजगार के अवसर कम होते जाते हैं एवं लोग गावों से शहरों की ओर पलायन करने लगते है। पूरी पर्यावरण प्रणाली ही बदलने लगती है। जमीन के डीग्रेडे़शन की वजह से देश को 4600 करोड़ अमेरिकी डॉलर का नुकसान प्रतिवर्ष हो रहा है। यदि समय रहते इस गम्भीर समस्या के समाधान की ओर नहीं सोचा गया तो वह दिन दूर नहीं जब विश्व में जमीन का एक बढ़ा हिस्सा मरुस्थल में परिवर्तित हो जाएगा।

निष्कर्ष

इस प्रकार 1950-51 से अबतक खाद्यान्न के उत्पादन में 3 गुना वृद्धि हुई, तिलहन के उत्पादन में 8 गुना वृद्धि हुई जबकि गेहूँ के उत्पादन में चमत्कारिक वृद्धि 135 गुना हुई। कृषि उत्पादकता बढ़ाने के लिए अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों तथा बहु फसली कार्यक्रम को अपनाया गया। व्यावसायिक फसलों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए एक मुश्त का क्रय तय किए गए। इसके अलावा कई कृषि कार्यक्रम शुरू किए गये हैं। पंचवर्षीय योजना ने भारत में कृषि विकास में वैज्ञानिक तरीके से उत्पादन के लक्ष्य को आसान बनाने में अहम भूमिका निभाया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् कृषि को देश की आत्मा के रूप में स्वीकारते हुए एवं खेती को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करते हुए देश के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरु ने स्पष्ट किया था कि 'सब कुछ इन्तजार कर सकता है मगर खेती नहीं। 'इसी तथ्य का अनुसरण करते हुए भारत सरकार कृषि क्षेत्र को विकसित करने एवं कृषकों की आर्थिक स्थिति में सुधार करने हेतु अनेक कार्यक्रमों, नीतियों व योजनाओं का संचालन कर रही है। सरकार ने वर्ष 1960-61 में भूमि सुधार कार्यक्रम का सूत्रपात किया जिससे किसानों को भूमि का मालिकाना हक प्राप्त हुआ।

सन्दर्भ सूची

1. सांख्यिकी एंव आर्थिक संचालनालय सांख्यिकी पुस्तिका म.प्र. भोपाल
2. आर्थिक, जगत भारत सरकार, नई दिल्ली
3. योजना, योजना भवन, संसद मार्ग, नई दिल्ली
4. म. प्र. संदेश, मध्यप्रदेश शासन, भोपाल
5. बिजनेस स्टैण्डर्ड, नई दिल्ली
6. इकोनॉमिक्स टाइम्स, नई दिल्ली

मुक्त समाज व्यवस्था और सामाजिक न्याय: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ० अभय कुमार

(एम.ए., पीएच-डी, यूजीसी-नेट- राजनीति विज्ञान), पटना विश्वविद्यालय, पटना

शोध आलेख का सार

प्रस्तुत शोध 'मुक्त समाज व्यवस्था में सामाजिक न्याय की अवधारणा' का विश्लेषणात्मक अध्ययन से संबंधित है। समसामयिक समाज में सामाजिक न्याय की अवधारणा को मानव जीवन के सभी आयामों में अत्यधिक महत्व प्रदान किया जा रहा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए समानता व स्वतंत्रता के साथ सामाजिक न्याय भी एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। सताजिक न्याय की अवधारणा लोक कल्याणकारी राज्य का समर्थन करता है। दूसरी तरफ मुक्त समाज पूँजीवादी व्यवस्था का सर्मथन करता है, जिसके हिमायती देश ब्रिटेन तथा अमेरिका है। मुक्त बाजार व्यवस्था नवउदारवादी नीति का देन है। जहाँ तक मुक्त बाजार व्यवस्था का व्यावहारिक धरातल पर उदय एवं विकास का प्रश्न है तो मुख्य तौर पर फ्रेडरिक वॉन हॉयेक, रार्बट नोजिक और मिल्टन फ्रीडमैन के नवउदारवादी विचारों से प्रभावित होकर ब्रिटिश प्रधानमंत्री मार्ग्रेट थैचर एवं अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन द्वारा क्रमश: ब्रिटेन एवं अमेरिका में कल्याणकारी नीतियों के विरोध के रूप धरातल पर उतारा गया। मुक्त समाज व्यवस्था ने सामाजिक न्याय की अवधारण को कमजोर किया है।

मूल शब्द: मुक्त समाज, न्याय, लोकतंत्र, गांधीवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, नवउदारवद तथा लोककल्याण।

प्रस्तावना

'सामाजिक न्याय' न्याय व्यवस्था का एक पहलू है। 'न्याय' उस व्यवस्था का नाम है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार न्याय की अवधारणा यह मत व्यक्त करता है कि एक समाज में सभी व्यक्ति, अध्यापक, विद्यार्थी, श्रमिक, किसान, सामान्य नागरिक आदि अपने अधिकारों का उपभोग करते हुए अपने कर्तव्यों का भी पालन करें तथा समाज के साथ परस्पर सम्बद्ध रहे। सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति का अपना न्यायोचित स्थान है, उस स्थान को प्राप्त करना ही 'न्याय' है। न्याय परिस्थिति, समय, मान्यता तथा विचार से सम्बद्ध व प्रभावित है। प्लेटो और अरस्तू के समय असमानता की अवधारणा में भी न्याय अन्तर्निहित था, तभी तो दास प्रथा को अरस्तू ने न्याय से जोड़ते हुए औचित्यपूर्ण बनाया।[1] वस्तुत: लोकतंत्र के आगमन व विकास तथा मार्क्सवादी प्रभाव में न्याय को समानता से जोड़ा जाने लगा। भारत में प्राकृतिक न्याय से अलग विशिष्ट रूप में जाति विशेष की उन्नति के लिए सामाजिक न्याय की अवधारणा को संवैधानिक, व्यावहारिक व राजनीतिक रूप में महत्व प्रदान किया जा रहा है। स्पष्टत: न्याय की अवधारणा समय व परिस्थिति से प्रभावित है। इसलिए इसे एक गतिशील अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

न्याय के मुख्य रूप से चार पक्ष या आयाम है-कानूनी, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक। न्याय के इन सभी आयामों में परस्पर सम्बन्ध है, इसलिए उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। न्याय का एक पक्ष सामाजिक है, जिसके आधार पर न्याय को सामाजिक न्याय कहा जाता है। सामाजिक न्याय का अभिप्राय सामान्यत: समतावादी समाज या संस्था की स्थापना करने से है जो समानता, एकता तथा भाईचारा के सिद्धान्तों पर अधारित हो; मानवधिकारों के मूल्यों को आत्मसात करता हो तथा प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा को पहचानने में सक्षम हो। सामाजिक न्याय व इसकी वर्तमान अवधारणा सर्वप्रथम 1840 में जेसुइट लुइगी टपरेली ने थामस एक्वैनस की शिक्षण विधियों के आधार पर दी थी। पुन: सामाजिक न्याय को 1848 में एन्टोनियो रोसमिनी-सरवाती ने भी इसी रूप में परिभाषित किया। आधुनिक काल में जॉन रॉल्स और अमर्त्य सेन जैसे विचारकों ने 'सामाजिक न्याय' को एक प्रमुख अवधारणा बना दिया है, साथ ही वर्तमान लोक-कल्याणकारी राज्य का मूल लक्ष्य भी 'सामाजिक न्याय' की स्थापना करना ही है। सामाजिक न्याय से आशय एक ऐसे न्यायपूर्ण समाज की स्थापना से है जिसमें सामाजिक-आर्थिक विषमताएँ न्यूनतम हों, समाज 'समावेशी' हो और संसाधनों का वितरण सर्वमान्य स्वीकृति के अधार पर हो।

सामाजिक न्याय की अवधारणा को विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साधारणत: सामाजिक न्याय के अन्तर्गत वे सभी चीजें शामिल हैं, जो समाज के सदस्यों के सामान्य कल्याण के विकास में आवश्यक है। लॉस्की ने कहा भी है कि सामाजिक न्याय का अर्थ समान सामाजिक अधिकारों से है।[2] इस प्रकार समाज में किसी वर्ग विशेष को न तो कोई विशेष सुविधाएँ मिलनी चाहिए और न धर्म, जाति, वंश आदि के आधार पर किसी को इनसे वंचित करना चाहिए। सामाजिक न्याय, कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य बन चुका है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में राजनीतिक एवं आर्थिक न्याय के साथ सामाजिक न्याय की स्थापना पर बल दिया गया है।

सामाजिक न्याय का अर्थ है उन सभी व्यक्तियों को न्याय उपलब्ध करवाना, जिन्हें किसी भी प्रकार के वर्चस्व के कारण अन्याय का सामना करना पड़ रहा है। यह अन्याय चाहे वर्ण अथवा नस्ल आधारित हो, पेशा आधारित, लिंग आधारित, धन आधारित, भौगोलिक क्षेत्र पर आधारित, धर्म आधरित, संस्कृति

आधारित, परंपरा आधारित, भाषा आधारित, अथवा शारीरिक संरचना पर ही आधारित क्यों न हो। सामाजिक न्याय अपने मूल रूप में विशेषाधिकार आधारित योग्यतावाद के विरूद्ध एक निरंतर युद्ध है। मानवतावाद और करूणा इस युद्ध के स्थायी भाव हैं तथा जीवन के हर क्षेत्र में सभी को समान अवसर की उपलब्धता के लिए संघर्ष व सामाजिक विविधता का सिद्धांत, इस युद्ध के शस्त्र और अस्त्र है।

सामाजिक न्याय एक ऐसा विषय है जो समाज में सभी को आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक रूप से समान सिद्ध करता है। आज के परिवेश में समाज में व्याप्त अनेकों अनियमितताओं एवं बुराईयों के कारण जहाँ अधिकतर व्यक्ति किसी न किसी प्रकार से सामाजिक न्याय की भावना मात्र से भी परे है वहीं इस विषय का लाभ कुछ विशेष व्यक्तियों तक ही सीमित होकर रह गया है। जनसंख्या की वृद्धि तथा भौतिक सुखों की प्राप्ति की कामना ऐसे तत्व है जो अनायास ही समाज को सामाजिक न्याय से वंचित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहे है। जिसके पास सामर्थ्य है वो सभी क्षेत्रों में आगे है तथा वंचितों का शोषण भी करता है।

भारत में सामाजिक न्याय को पूर्ण स्तर तक प्राप्त करने के लिये सरकार के सम्मुख एक बड़ी चुनौत्ति है। किसी न किसी रूप में भारत के सभी नागरिक सामाजिक न्याय के लाभ विषयों से जुड़े हुये से प्रतीत होते है। यदि हम सामाजिक न्याय के लाभ विषय को स्पष्ट रूप से समझने की कोशिश करें तो आधुनिक भारत में सामाजिक न्याय के कई विषय दिखायी पडते है, जिसकी एक लम्बी सूची है, जैसे-[3] लिंग आधारित भेदभाव, असंगठित श्रमिकों की समस्यायें, शिक्षा का अधिकार, भारत में कुष्ठ रोग समस्या, भारत में औरतों की दुर्दशा, भ्रूण हत्या, शिशु मृत्यु दर, गरीबी एवं भूखमरी, जन स्वास्थ्य तन्त्र, राज्यों में गरीबी का निम्न स्तर, लिंगानुपात, बाल दुर्व्यवहार, काम करने वाली महिलाओं की समस्यायें, महिलाओं हेतु शिक्षा से जुड़ी समस्यायें, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, बाल अपराध, अस्पृश्यता, पेयजल समस्या, बाल कुपोषण, वृद्धावस्था की समस्यायें, भारत में क्षयरोग, भारत में पोलियों, भारत में एड्स, भिक्षावृत्ति, बाढ़ नियंन्त्रण, महिलाओं के प्रति बढ़ते अपराध, ग्रामीण परिवेश में स्वास्थ्य की स्थिति, ग्रामीण सन्दर्भ में स्वच्छता की महत्ता, मातृ-मृत्यु दर एवं स्वास्थ्य स्थिति, महिला - सशक्तिकरण, दहेज व्यवस्था, बाल श्रम, ग्रामीण परिवेश में लड़कियों की शिक्षा स्थिति, बेरोजगारी, मानव-तस्करी, घरेलू दिशा, दलितों की स्थिति तथा प्रवसन इत्यादि। इन विषयों में से अधिकांश बिन्दुओं पर सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तर पर कार्य हो रहें हैं, परन्तु अभी भी सरकार इन समस्याओं को मिटाने में सफल नहीं रही है। परन्तु पिछले एक दशक से अगर हम देखें तो केन्द्र सरकार की तमाम योजनाएँ और कार्यक्रम इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर बनाये गये और बनाये जा रहे हैं। पिछले छः साल में जो योजनाएँ बनीं और कार्यान्वित हुई उनका लाभ अब तक नीचे तक पहुँचने लगा है और साफ तौर पर दिखने भी लगा है।

इक्कीसवीं सदी न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के निर्माता की सदी है। इस सदी में सामाजिक न्याय एक लुभावना सम्प्रत्यय बना हुआ है कोई इसे समानता की दृष्टि से देखता है तो कोई स्वतंत्रता को आधार बनाकर सामाजिक न्याय को परिभाषित करता है। कुछ राजनीतिक विद्वान स्वतंत्र व समानता में सामंजस्य स्थापित करते हुए सामाजिक न्याय की व्याख्या करते हैं। एक महत्वपूर्ण सम्प्रत्यय होने के बावजूद भी सामाजिक न्याय की प्रतिस्थापना को लेकर विभिन्न राजनीतिक अवधारणाओं में पर्याप्त मतभेद है।

समाजिक न्याय के सन्दर्भ में वैज्ञानिक समाजवाद का सिद्धान्त कार्ल मार्क्स तथा एंजिल्स द्वारा प्रतिपादित किया गया, किन्तु लेनिन, कॉटस्की, स्टालिन, माओ जैसे साम्यवादियों नें इस विचार को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। वैज्ञानिक समाजवाद समतामूलक एवं शोषणविहीन समाज की स्थापना के लक्ष्य से सम्बन्धित विचार है। मार्क्सवादी विचारक आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में समानता की स्थापना को सामाजिक न्याय के बुनियादी तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।[4] वे कहते है कि सामाजिक न्याय का लक्ष्य पूँजीवाद के उन्मूलन में निहित है। इनके अनुसार एक वर्गहीन व राज्य विहीन समाज में ही शोषण, अत्याचार व दमन को रोका जा सकता है। यह विकसित समाजवाद की अवस्था होगी, जिसमें उत्पादन के सामाजिकरण में अभिवृद्धि होगी जो सामाजिक न्याय की पूर्व शर्त है।

गाँधीवादी दृष्टिकोण से सामाजिक न्याय का आधार 'सर्वोदय सिद्धान्त' है। सर्वोदय का अर्थ सबका उदय। इनके शब्दों में जाति, धर्म, रूप, रंग, लिंग आदि से ऊपर उठकर पूरे मानव समाज का सामूहिक रूप से उत्थान और विकास करना ही सर्वोदय है। गाँधीवादी इसे ही सामाजिक न्याय कहते है।[5] यहाँ गरीब के उत्थान से तात्पर्य है, उनका भौतिक कल्याण जबकि अमीर के उत्थान का तात्पर्य इनके नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान से है। सर्वोदय के इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए दादा धर्माधिकारी कहते हैं कि सर्वोदय ऐसे वर्ग विहीन, जाति विहीन, शोषण विहीन समाज का स्थापना करना चाहता है जिसमें प्रत्येक समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन एवं अवसर उपलब्ध होंगे। सर्वोदय की अवधारणा गुणात्मक, मात्रात्मक एवं भावनात्मक रूप से अन्य समकालीन अवधारणाओं से श्रेष्ठ है।

सामाजिक न्याय का उदारवादी दृष्टिकोण मनुष्य को विवेकशील प्राणी मानता है और उसकी प्रतिभा एवं सर्जनात्मकता क्षमता में पूर्ण आस्था व्यक्त करता है। उदारवादी मनुष्य की स्वतंत्रता पर बल देता है। उनका दृढ़ विश्वास है कि स्वतंत्र मनुष्य समाज में अपने को समुन्नत बनाने हेतु आवश्यक संसाधन स्वतः जुटा लेते है। इस प्रकार उदारवादी विचारक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था, प्रतिस्पर्धा, लाभ एवं विकास पर बल देते है। स्वतंत्र बाजार व्यवस्था के प्रबल समर्थक उदारवादी विचारक एक खुले समाज का निर्माण करना चाहते है जिसमें सभी व्यक्ति कम से कम बंधन महसुस करे। उदारवादियों की मान्यता है कि खुले समाज में ही सभी मनुष्य अपनी तर्क बुद्धि इच्छाओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु अपने अनुरूप विश्व को एकाग्र करेंगे। सामाजिक न्याय की प्रतिस्थापना में स्वतंत्रता पर बल देले वाले विचारकों में एडम स्मिथ, हर्बर्ट स्पेन्सर, फ्रेडरिक वॉन हॉयेक, रार्बट नोजिक एवं मिल्टन फ्रीडमैन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये प्रगतिशील विचारक जाति, धर्म, रंग, लिंग, क्षेत्र, भाषा व संस्कृति के आधार पर व्यक्तियों के बीच किसी भी प्रकार के विभेद के विरूद्ध हैं। ये प्रगतिशील विचारक यह मानकर चलते है कि सबके लिए समान नियम बना देने पर एक ऐसी समाज व्यवस्था का निर्माण होगा जिसमें सामाजिक न्याय की समस्या नहीं होगी। यह एक स्वचालित व्यवस्था होगी, जिसमें सभी मनुष्य अपनी योग्यता, क्षमता व सर्जनात्मकता के आधार पर स्वतः ही आवश्यक संसाधनों को प्राप्त कर लेंगे। विधि के समक्ष समान व इच्छानुरूप कार्य करने को स्वतंत्रत सभी मनुष्य शोषण, दमन व अत्याचार जैसी समस्याओं से स्वतः ही दूर हो जाएंगे।

अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड के राजनीतिक अर्थशास्त्रियों में एडम स्मिथ सबसे चर्चित थे जिन्होंने अपनी किताब 'द वेल्थ ऑफ नेशन्स' में बाजार की अर्थव्यवस्था को समझाने का प्रयास किया जो उस वक्त अपने शुरुआती दौर में थी। स्मिथ का तर्क था कि[6] बाजारी अर्थव्यवस्था व्यक्तियों में आदान-प्रदान या सौदों का एक लंबा क्रम है, जो अपनी क्रमबद्धता की वजह से खुद-ब-खुद एक कार्यशील और स्थिर व्यवस्था की स्थापना करती है। यह तब भी होता है जब करोड़ों के लेन-देन में शामिल व्यक्तियों में से कोई भी व्यक्ति इसकी स्थापना का इरादा नहीं रखता। प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ को बढ़ाने की सोचता है और ऐसा करते हुए वो जो भी करता है वो स्वत: ही समाज के या सभी के हित में होता है। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि कोई एक अदृश्य बल यहाँ काम करता है जो इन व्यक्तियों के लाभ की प्रवृत्ति को समाज के लाभ में बदल देता है। इस बल को स्मिथ ने 'अदृश्य हाथ' का नाम दिया। अत: उन्होंने तर्क दिया कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, स्वयं लाभ से स्वचालित है और यह तब सबसे अच्छे से कार्य करती है जब हर व्यक्ति खरीददार और विक्रेता तर्कसंगत निर्णय लेते हैं जो उनके हित में होते हैं। स्मिथ ने 'अदृश्य हाथ' के विचार को इस तर्क के रूप में प्रयोग किया कि जब बाजार में व्यक्ति स्वयं लाभ के अनुसार काम करता है तो समाज को हर तरह से फ़ायदा होता है, क्योंकि यह अर्थव्यवस्था को बढ़ाता है और अधिक समृद्धि उत्पन्न करता है। यही कारण है कि स्मिथ ने 'खुले व्यापार' का समर्थन किया, एक ऐसा बाजार जो किसी भी प्रकार की राष्ट्रीय या अन्य रोकथाम से मुक्त हो। इस आर्थिक दार्शनिकता को फ्रांसीसी भाषा में 'लेस-ए-फेयर' भी कहा गया, जिसका अर्थ है, बाजार को 'अकेला छोड़ दिया जाए' या 'हस्तक्षेप न किया जाए'।[7] फ्रेडरिक वॉन हॉयेक ने कहा है कि सरकार को समाज कल्याण को दृष्टिगत कर बाजार अर्थव्यवस्था पर किसी भी प्रकार का अंकुश का विचार त्याग देना चाहिए, तभी उद्यमी मनुष्य अपने कल्याण के संसाधन स्वत: जुटा लेंगे।[8] इसी प्रकार का विचार व्यक्त करते हुए मिल्टन फ्रीडमैन ने कहा है कि सरकार को मात्र ऐसे कार्यो से सरोकार रखना चाहिए जिसे बाजार अर्थव्यवस्था नहीं संभाल पाती।[9] रार्बट नोजिक का तर्क है कि मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था में सफल उद्यमी व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक संसाधन अर्जित कर लेते है, जो उनकी योग्यता, क्षमता व सर्जनात्मकता का प्रतिफल होती है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप एक न्यायपूर्ण विषमता पैदा होती है, जिसमें वितरण के स्तर पर सरकार द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन निश्चित रूप से अन्यायपूर्ण होगा, चाहे उसके पीछे समाज कल्याण की भावना का मनतव्य ही क्यो न दिया हो।[10] इस प्रकार हम देखते है कि इन विचारकों की दृष्टि में मुक्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सामाजिक न्याय की समस्या नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य बंधन रहित है। अपने विकास हेतु आवश्यक संसाधनों को एकत्रित करने में उसे अन्य अन्य व्यक्ति की अपेक्षा नहीं होती है। इसलिए इस व्यवस्था में शोषण, अत्याचार व दमन भी नहीं है। अत: सामाजिक न्याय के लक्ष्यों की पूर्ति स्वत: हो जाती है।

किसी राज्य या समाज को मुक्त इसीलिए कहा जाता है क्योंकि वहां हर नागरिक एक आजाद व्यक्ति है। आजाद समाज में लोग आर्थिक क्षेत्र में भी व्यावहारिकता के सिद्धांत के तहत नाकामी की बजाय कामयाबी की राह पर चलते हैं और वहां नाकामी या कामयाबी का फैसला उनके अपने व्यक्तिपरक मापदंडों से किया जाता है। अगर क्रियाशीलता के लिहाज से देखा जाए तो एक मुक्त समाज को एक व्यावहारिक समाज के तौर पर भी परिभाषित किया जा सकता है। क्योंकि इसमें एक व्यक्ति की गतिविधियों का अंतिम उद्देश्य अपनी खपत की जरुरतों को पूरा करना होता है और वह अन्य मामलों की तरह इसमें भी आजाद होता है। एक मुक्त समाज को उपभोक्ता के वर्चस्व वाले समाज के तौर पर भी परिभाषित किया जाता है, जिसके केन्द्र में बाजार तंत्र विद्यमान होता है।

विकासशील देशों में लोगों की धारणा अभी भी यही है कि बाजार धनी लोगों को और अधिक धनी तथा गरीबों को और अधिक गरीब बनाता है; यह भ्रष्टाचार एवं क्रोनी कैपिटलिज्म को बढ़ावा देता है तथा सामाजिक न्याय का विरोधी है। वास्तव में यह एक गलत धारणा है। भारत के सन्दर्भ में देखा जाये तो वास्तविकता यही है कि पिछले दो दशकों में यहाँ व्यापक तौर पर समृद्धि बढ़ी है और तकरीबन 25 करोड़ लोग गरीबी रेखा से बाहर निकले हैं। बावजूद इसके लोग अभी भी बाजार पर अविश्वास करते हैं। आंशिक तौर पर इसके लिए आर्थिक सुधारकों को दोष दिया जा सकता है, जो प्रतिस्पर्धी बाजार की विशेषताओं अथवा धारणा को ब्रिटेन की मार्गरेट थैचर की तरह आम लोगों को नहीं बता सके।

1955 से 1991 के बीच समाजवादी अर्थव्यवस्था वाले अंधकारपूर्ण वर्षों, जिसे हम लाइसेंस राज के रूप में याद करते हैं, के समय हमारा जीवन नियंत्रित कीमतों द्वारा प्रभावित होता था। राजनीतिक तौर पर निर्धारित की गईं कीमतें उत्पादकों को उनकी लागत निकालने की अनुमति नहीं देती थीं, जिससे अभाव की स्थिति बनी रहती थी और कालाबाजारी को बढ़ावा मिलता था। इस राजनीतिक मूल्य व्यवस्था के कारण 1989 में शक्तिशाली सोवियत संघ भी ढह गया।[11] कम्युनिस्ट सरकार का सभी फैक्ट्रियों और उत्पादन के अन्य साधनों पर स्वामित्व था। क्या उत्पादन करना है? कितना उत्पादन होना है? और कीमतें क्या होंगी, यह सभी कुछ सोवियत संघ के नौकरशाह तय करते थे, न कि बाजार। इसने लोगों को बर्बाद करने का काम किया। रूस की दुर्गति को देखते हुए दुनिया ने यही सीखा कि सरकार का काम बिजनेस नहीं है और उसे वृहद आर्थिक नीतियों के मामले में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए।

सब्सिडी, मूल्य नियंत्रण और सरकारी एकाधिकार से विकृति पैदा हो रही है और इससे जरूरतमंद आम लोगों को नुकसान उठाना पड़ रहा है। बाजार प्रतिस्पर्धा से कीमतें नियंत्रित होंगी, उत्पादों की गुणवत्ता बेहतर होगी और आम आदमी की आजादी बढ़ेगी। दुनिया भर में उपलब्ध साक्ष्य बताते हैं कि बिजनेस करने की स्वतंत्रता का उल्टा संबंध भ्रष्टाचार सूचकांक से है। इसका आशय यही है कि सर्वाधिक भ्रष्ट देश वह हैं जहां सरकारें बिजनेस पर नियंत्रण रखती हैं अथवा बाजार पर उनका बहुत अधिक हस्तक्षेप है। 2011 में दुनिया के 10 में से 7 सबसे कम भ्रष्ट देश बिजनेस फ्रीडम वाले देशों की सूची में शीर्ष 10 में शामिल थे। इनमें न्यूजीलैंड, सिंगापुर, डेनमार्क, कनाडा, स्वीडन और फिनलैंड शामिल हैं। 10 सर्वाधिक भ्रष्ट देश इस सूची में सबसे निचले पायदान पर हैं। भारत को इसमें बहुत ही खराब 167वां स्थान मिला और भ्रष्टाचार सूचकांक में भी भारत 95वें स्थान पर है। स्कैंडिनेवियाई देशों जहां से भारत ने लोकपाल की धरणा ली है, में सर्वाधिक बिजनेस स्वतंत्रता है और वे सबसे कम भ्रष्ट हैं।[12] बावजूद इसके भारतीय सोचते हैं कि वे अपने गौरवपूर्ण लोकतंत्र के कारण आजाद हैं। बाजार व्यवस्था पूर्ण नहीं है, लेकिन किसी भी अन्य विकल्प से बेहतर है।

शोध परिकल्पना

1. प्रस्तावित शोध आलेख इस परिकल्पना से शुरू की गयी है कि नवउदारवादी नीतियों को लागू होने से सामाजिक न्याय के कार्यक्रमों पर क्या प्रभाव पड़ रहा हैं।
2. मुक्त बाजार व्यवस्था ने राज्य के सामाजिक न्याय के लक्ष्य को धूमिल कर दिया है। शासन की प्रतिबद्धता लोक कल्याणकारी कार्यक्रमों और सामाजिक न्याय के प्रति अब पहले जैसी नहीं हैं, जो दरिद्रता, गरीबी, बेरोजगारी, भूखमरी, बीमारी, कुपोषण जैसे समस्याओं से लोगों को बचाने के लिए प्रयासरत् था।
3. उदारीकरण की प्रक्रिया और लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की जिम्मेदारियों के बीच अन्तर्विरोध की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, जिसकी व्यापक पड़ताल समीचीन होगा।
4. उदारीकरण राज्य के अहस्तक्षेप की माँग करता हैं, जबकि सामाजिक न्याय का विचार राज्य की व्यापक और विस्तृत कल्याणकारी भूमिका की अपेक्षा करता हैं। ऐसे में दोनों विपरीत विचारों के तालमेल से शासन के द्वारा सामाजिक न्याय के लक्ष्य को पाना संभव है या नहीं।

शोध आलेख का उद्देश्य

1. प्रस्तावित शोध का उद्देश्य मुक्त बाजार व्यवस्था से सम्बंधित नीतियाँ भारतीय संविधान द्वारा घोषित सामाजवादी गाँधीवादी आदर्शों के अनुरूप सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए शासन द्वारा चलाए जा रहे लोककल्याणकारी कार्यक्रमों एवं बनाए जा रहे नीतियों को किस तरह प्रभावित कर रही हैं।
2. उदारीकरण की नीति और प्रक्रियाओं ने क्या भारत जैसे विकासशील देश जहाँ व्यापक पैमाने पर दरिद्रता, भूखमरी, बेरोजगारी, रोग, आश्रयहीनता जैसी विकराल समस्याएं हैं में सामाजिक न्याय के लक्ष्य और कल्याणकारी योजनाओं के प्रति शासन की प्रतिबद्धता को कम कर दिया है?
3. शोध का एक उद्देश्य यह भी पता लगाना है कि नवउदारवाद की बुनियादी मान्यताएं सामाजिक न्याय की अवधारणा के साथ तालमेल नहीं बैठा पा रही है।
4. सामाजिक न्याय पर आधारित समाज व्यवस्था की स्थापना के मार्ग में मुक्त बाजार व्यवस्था की नीतियाँ कैसे बाधक बन रही हैं? इन्हीं प्रश्नों की पड़ताल करना इस शोध का मुख्य उद्देश्य है।

शोध आलेख की पद्धति

प्रस्तुत शोध का अध्ययन द्वितीयक स्त्रोंतों के माध्यम से किया गया है है। इस अध्ययन में ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक विश्लेषणत्मक, तुलनात्मक एवं नवीन पद्धतियों को अपनाते हुए शोध लेख को मौलिकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। इस शोध कार्य में उपयोगी सामग्री विभिन्न सरकारी विभागों के योजनाओं के अभिलेखों, राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय पुस्तकालयों, इन्टरनेट एवं शोध संस्थानों आदि में उपलब्ध, सामाचार पत्र-पत्रिकाएँ एवं अन्य प्रासंगिक सामग्रियों से प्राप्त किया गया है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान विश्व व्यवस्था में सामाजिक न्याय व स्वतंत्र बाजार व्यवस्था एक दूसरे का धुर विरोधी तत्व है। जहाँ एक तरफ मार्क्सवादी आर्थिक समानता के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय की वकालत करता है, वहीं दूसरी तरफ उदारवादी विचारक स्वतंत्र बाजार के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय व्यवस्था का समर्थन करता है। वैश्वीकरण के दौर में सामाजिक न्याय व स्वतंत्र बाजार व्यवस्था को साथ लेकर चलना विकासशील देशों के लिए चुनौतीपूर्ण कार्य है। विकासशील देशों के लोगों का जीवन स्तर बहुत ही दयनीय है, इसलिए लोक कल्याण इनका परम दायित्व है। वहीं देश के विकास हेतु विश्व प्रतिस्पर्धा भी सामने खड़ी है जिसे भी अनदेखा नहीं किया जा सकता है। भारत में तो सामाजिक न्याय का दिनों दिन राजनीतिकरण हो रहा है, जिसे राष्ट्र-निर्माण, समाज-निर्माण एवं सरकार-निर्माण के मार्ग में घातक माना जाएगा। समजिक न्याय की अवधारणा लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से जुड़ी हुई है। इसमें विभिन्न उपाश्रित वर्गों के कल्याण का दर्शन निहित है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक न्याय व मुक्त बाजार व्यवस्था एक-दूसरे का धूर विरोधी होते हुए भी विकासशील देशों के लिए दोनों को आत्मसात करना जरूरी है।

सन्दर्भ

1. भगत, आर०एम०, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, न्यू एकेडमिक पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर, पृष्ठ-369।
2. मालवीय, चिन्तामणि, 'सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन डॉ. अम्बेडकर के विशेष सन्दर्भ में', अम्बेडकर विमर्श और परिवर्तन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, 1998, पृ. स. 92।
3. हार्नर, ओ.पी., 'सोशल जस्टिस', उद्धरत ओ.पी. गाबा पुस्तक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 1983, पृ. 3।
4. सिंह, रामगोपाल, 'सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष', राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2010, पृ. स. 27।
5. जाटव डी.आर., 'सामाजिक न्याय का सिद्धान्त', साहित्य सदन, जयपुर, 1993, पृ. 50।
6. जौहरी, जे. सी., 'समकालीन राजनीतिक सिद्धांत', स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा. लि. नई दिल्ली, 2002 पृ. स. 438।

7. गाबा, ओ.पी., 'डायमेंशन ऑफ सोशल जस्टिस', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1983, पृ. 3।
8. विम किमलिका, मल्टीकल्चरल सिटीजनशिप: ए लिवरल थियरी ऑफ माइनॉरिटी राइट्स, क्लैरैंडन प्रेस, ऑक्सफोड, 1996।
9. जोशी, अनुराग, "सम रिफ्लेक्शन्स ऑन द चेंजिंग कॉम्पलेक्शन ऑफ द स्टेट," 2003, प्रिन्ट्स हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली पृ. 47।
10. थॉमस पैंथम और केनेथ एल० डयुश्च (सम्पा.), पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1986, पृ. स. 78।
11. डीयरलव एंड सांडर्स इन डेविड रिचर्ड्स एंड मारटीन जे० स्मिथ, गवर्नेन्स एंड पब्लिक पॉलिसी इन द यूनाइटेड किंगडम, ओ०यू०पी०, न्यू यॉर्क, 2002।
12. भ्रष्टाचार सूचकांक, इमनेस्टी इन्टरनेशनल रिपोर्ट, 2011।

भारत और ब्रिक्सः आतंकवाद पर साझा दृष्टिकोण

डॉ० प्रमोद कुमार

(सहायक प्राचार्य) राजनीति विज्ञान विभाग, एल.एन.एम.एस. कॉलेज, वीरपुर, बी.एन. मण्डल विश्वविद्यालय, मधेपुरा

शोध आलेख का सार

ब्रिक्स पाँच देशों ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका का एक समूह है। ये पाँचों देश विश्व की उभरती हुई अर्थव्यवस्था हैं। यह उल्लेखनीय है कि ब्रिक्स समूहों के पाँचों देश विश्व के प्रगतिशील देशों के एक अन्य संगठन G-20 समूह के भी सदस्य है। यद्यपि ब्रिक्स देश मूलतः विश्व के अर्थव्यवस्थाओं का आर्थिक सहयोग संगठन है, लेकिन यह राजनीतिक मुद्दों पर भी ठोस पहल करने की क्षमता रखता है। यदि ब्रिक्स देश आतंकवाद जैसे मुद्दें पर अपनी साझेदारी व सहयोग करे तो इसे बहुत हद तक कमजोर किया जा सकता है।

मूल शब्दः आतंकवाद, विदेश नीति, शिखर सम्मेलन, ब्रिक्स, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, राष्ट्रमंडल आदि।

प्रस्तावना

ब्रिक्स 21 वीं सदी का अनोखा सहयोगी तंत्र है। पिछले दशक में ब्रिक्स ने बहुस्तरीय सहयोगी ढाँचा विकसित किया है। दक्षिण अफ्रीका के वर्ष 2011 में सम्मिलित होने से ब्रिक्स की ताकत बढ़ी है।[1] विभिन्न महाद्वीपों के देशों के सम्मिलित होने से ब्रिक्स के प्रतिनिधित्व और प्रभाव के विस्तार में वृद्धि हुई है। वर्तमान में पाँच ब्रिक्स देशों में विश्व का 30 प्रतिशत भूभाग तथा 43 प्रतिशत आबादी सम्मिलित है। विश्व का 18 प्रतिशत सकल घरेलु उत्पाद और कुल व्यापार का 15 प्रतिशत हिस्सा इन्हीं देशों में होता है। 2001 से 2011 के बीच इन पाँचों देशों के बीच व्यापार 28 प्रतिशत के तीव्र गति से बढ़ा है। इन देशों के बीच अब 230 अरब डॉलर का व्यापार होता है।[2]

ब्रिक्स देश अपनी अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन, स्वस्थ व टिकाऊ संवृद्धि और समावेशी, न्यायसंगत व स्वच्छ विकास के सन्दर्भ में समान चुनौतियों और समस्याओं का सामना कर रहें है। ब्रिक्स ने पाँचों देशों को विकास संबंधी अनुभवों को साझा करने का महत्वपूर्ण मंच प्रदान किया है। ब्रिक्स के पाँचों देशों ने ऐसे कई मुद्दों पर अपने विचारों को संरेखित किया है, जिनका सामना अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा किया जा रहा है। वे व्यापार, जलवायु परिवर्तन, खाद्य, उर्जा सुरक्षा और आतंकवाद जैसे क्षेत्रों में व्यापक सहयोग की तलाश में है।[3]

इस शोध पत्र में आतंकवाद के प्रति भारत और ब्रिक्स के साझे दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया गया है। भारतीय विदेश नीति की प्रमुख विशेषता है कि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की समाप्ति के लिए सभी देशों के साथ अधिक से अधिक सहयोग किया जाए। आतंकवाद के विरूद्ध युद्ध को किसी एक देश के राष्ट्रीय हितों के अनुसार संचालित नहीं किया जाए। सभी प्रकार के आतंकवाद की समाप्ति के लिए प्रयास किया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की बुराई के विरूद्ध विश्व समुदाय को एकजुट करना तथा विश्व स्तर पर इस बुराई के विरूद्ध एक आन्दोलन आरंभ किए जाने का प्रयास करना। अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की समाप्ति के लिए सभी देशों से सभी स्तरों -द्विपक्षीय, क्षेत्रीय, बहुपक्षीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय रूतर पर सहयोग करना।[4]

महत्वपूर्ण बिन्दुओं की चर्चा को तो 11 सितम्बर 2001 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरूद्ध जो दृढ़ विश्व जनमत तथा वातावरण बना उसमें भारत ने दृढ़ तथा सहयोगी भूमिका निभाने का प्रयास किया। फिर 13 दिसम्बर 2001 में भारतीय संसद पर आतंकवादी हमले के बाद भारत ने और भी दृढ़ता तथा तेजी से आतंकवाद के विरूद्ध कार्य करने की नीति अपनाई। विश्व जनमत को अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरूद्ध पूर्णतः एकजुट करने तथा आतंकवाद समर्थक देशों विशेषकर पाकिस्तान के विरूद्ध आर्थिक, सामाजिक तथा सैनिक दबाव बनाकर विश्व से आतंकवाद को समाप्त करना भारतीय विदेश नीति की एक सर्वोच्च प्रथमिकता बनी।[5] भारत ने सभी मंचों - संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्रमण्डल, सार्क, ब्रिक्स तथा अन्य सभी संगठनों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरूद्ध आवाज उठाने तथा संगठित हाने की नीति अपनाई। भारत ने यह नीति अपनायी कि-

1. विश्व समुदाय के सभी देशों को अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का सामना करने के लिए आगे आना चाहिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरूद्ध सभी लोकतंत्रीय देशों एकजुट होना चाहिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरूद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था की रचना के पक्ष में विश्व जनमत तैयार करना तथा
4. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवादियों के साथ-साथ इस बुराई की संम्पूर्ण संरचना की समाप्ति के लिए कार्य किया जाना चाहिए।

आतंकवाद के खिलाफ ब्रिक्स ने एक महत्वपूर्ण मंच प्रदान किया है, जिसमें विशेषकर भारत के द्वारा विभिन्न सम्मेलनों में आतंकवाद के सभी प्रकारों की निन्दा की गई है। वर्ष 2009 में येकातेरिनबर्ग (रूस) में आयोजित पहले शिखर सम्मेलन की घोषणा में कहा गया है, "हम सभी रूपों और अभिव्यक्तियों में आतंकवाद की कड़ी निन्दा करते है और दोहराते है कि किसी भी कार्य के लिए या किसी कारण से आतंकवाद का कोई औचित्य नहीं हो सकता है।[6]"

2009 के बाद से हुई सभी घोषणाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए बहुपक्षीय दृष्टिकोण के समन्वय में संयुक्त राष्ट्र और इसके चार्टर की केन्द्रीय भूमिका पर जोर दिया गया है। इसके तहत, उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद पर व्यापक समझौते (सीसीआईटी) के लिए अपना समर्थन बनाए रखा है और अन्य देशों से बार-बार समझौते के निर्णय को अपनाने का आग्रह किया है। समझौते में कहा गया है, "आतंकवाद के कृत्यों को रोकने के लिए प्रभावी उपाय करने और यह सुनिश्चित करने का संकल्प लिया गया कि आतंकवादी कृत्यों के अपराधी अपने प्रत्यर्पन या अभियोजन प्रदान करके अभियोजन और सजा से बच नहीं सकते हैं। समझौते में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति जो निश्चित कृत्य करता है, उसे आतंकवादी माना जाएगा और राज्यों को उन्हें उचित दण्ड देना होगा। आतंकवाद के सभी प्रकारों की निन्दा करनी चाहिए और आतंकवाद के खिलाफ सभी राष्ट्रों को एकजुट होना चाहिए। ब्रिक्स राष्ट्रों ने 2014 से समझौते के कार्यान्वयन का आह्वान किया है क्योंकि सदस्य देशों को बार-बार आतंकवादी खतरों का सामना करना पड़ रहा है।[7]

ब्रिक्स देशों ने आतंकवाद के वित्तपोषण की संभावना को रोकने के उपायों को स्थापित करने के लिए अपना समर्थन व्यक्त किया है। यह उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के खिलाफ व्यापक समझौते का दृष्टिकोण (सीसीआईटी) को अपनाने का आग्रह करने के सन्दर्भ में हैं। 2012 में ळ.20 की फाइनेंशियल एक्शन टास्क फोर्स ने धन-शोधन और आतंकवादी वित्तपोषण के साथ ही सामूहिक विनाश के हथियारों के प्रसार के वित्तपोषण से निपटने के लिए एक व्यापक ढ़ाँचे के निर्माण के लिए कुछ सिफारिशें की। हथियारों, सेवाओं आदि की खरीद के लिए वित्तपोषण समूहों को समाप्त करने दिशा में काम करने के इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास को ध्यान में रखते हुए ब्रिक्स ने 2015 में धन-शोधन का विरोध और आतंकवाद के वित्तपोषण का मुकाबला करने के लिए ब्रिक्स परिषद् स्थापित की।[8]

वर्ष 2012 में सीरियाई संकट में वृद्धि और देश में आईएसआईएस के बढ़ते प्रभाव के साथ, ब्रिक्स देशों ने सभी देशों से हिंसा को समाप्त करने का आह्वान किया। पाँचवें ब्रिक्स सम्मेलन में थेकविनी घोषणा के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रीय विषयों पर भी विचारों का आदान-प्रदान किया गया जैसे-सीरिया में गंभीर होता मानवीय संकट, मध्यपूर्व में शांति प्रक्रिया, अफगानिस्तान में स्थायित्व व लोकतंत्र तथा अफ्रीकी देश कांगो में राजनीतिक स्थिरता। सदस्य देशों ने सीरिया के मानवीय संकट के समाधान के साथ-साथ वहाँ की समस्या के लिए राजनीतिक समाधान का समर्थन किया। सदस्य देशों ने आतंकवाद से मुक्त एक स्थायी और शांतिप्रिय अफगानिस्तान की मांग को दोहराया तथा ईरान की आणविक समस्या के समाधान के लिए कुटनीतिक प्रयासों का समर्थन किया। ब्रिक्स ने शांतिपूर्ण अफगानिस्तान के निमार्ण के लिए अपना समर्थन दिया है। अफगानिस्तान पांच ब्रिक्स राष्ट्रों में से तीन के सीमा से लगा है और वह इस क्षेत्र के समग्र स्थिरता में योगदान देने वाला एक सुरक्षित राष्ट्र होगा। एक स्थिर अफगानिस्तान के होने से आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई में भी भारत के लिए फायदा है।

सातवां शिखर सम्मेलन वर्ष 2015 में उफा (रूस) में आयोजित की गई। इसमें ब्रिक्स ने आतंकवाद, नशीली दवाओं का व्यापार, संगठित अपराधों, समुद्री डकैती आदि की चुनौतियों पर गंभीर चिंता व्यक्त की।[9] सदस्यों ने समुद्री संचार मार्गो की सुरक्षा के साथ-साथ आतंकवाद के प्रत्येक रूप को समाप्त करने के लिए अपनी वचनवद्धता दुहराई। साथ ही साथ वाह्य अंतरिक्ष के शांतिपूर्ण उपयोग को सुनिश्ति करने का संकल्प लिया गया। सदस्य देशों ने सीरिया के गृह युद्ध तथा वहां इस्लामिक स्टेट की विवेकहीन हिंसा पर निन्दा व्यक्त की। इसी तरह माली, कांगो तथा सोमालिया के घरेलु संकटों पर चिंता व्यक्त की तथा उसके राजनीतिक समाधान की मांग को दोहराया।

आतंकवादी समूह अपने लक्ष्यों की पूर्ति करने के लिए नये सदस्यों की भर्ती के साथ-साथ अपने समर्थकों से संवाद करने के लिए इंटरनेट का उपयोग करते है, इसके लिए ब्रिक्स ने सूचना सुरक्षा पर सहयोग बढ़ाने पर ध्यान देने की कोशिश की है। सरकारी कामकाज को वाधित करने में हैकिंग और मालवेयर के उपयोग का खतरा बना रहता है, जिसके रोक-थाम के लिए साईबर सुरक्षा पर मजबूत सहयोग की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया है। आईएसआईएल जैसे आतंकी समूहों की घटनाओं के बढ़ने के साथ, जो सोशल मीडिया का उपयोग करके युवाओं को समूह में शामिल होने का प्रलोभन देते है, जो लोग अपने बल पर आतंकी हमलों में शामिल होने के साथ-साथ दूसरों को लुभाने के लिए प्रचार सामाग्री वितरित करने में समर्थ है, उनके लिए ब्रिक्स ने आतंकवाद के प्रसार का मुकावला करने के लिए सूचना प्रद्योगिकी का प्रभावी ढ़ंग से उपयोग करने की आवश्यकता को शामिल किया है।

आठवां शिखर सम्मेलन 15-16 अक्टूबर, 2016 को गोवा (भारत) में आयोजित किया गया जिसकी अध्यक्षता भारत ने की थी। भारत ने सितम्बर, 2016 में दिल्ली में ब्रिक्स आतंकवाद विरोधी संयुक्त कार्य समूह की पहली बैठक की मेजवानी भी की। दशकों से आतंकवाद की मार झेल रहे भारत को इस सम्मेलन के दौरान आतंकवाद के मसले पर एक राय बनाने में कामयाबी मिली है। यह सम्मेलन पूरी में हुए आतंकवादी हमले के महिने भर के भीतर हुआ। भारत ने इस हमले के लिए पाकिस्तान स्थित आतंकवादी संगठन 'जैश-ए-मोहम्मद' को जिम्मेदार ठहराया और इसको लेकर पाकिस्तान को कुटनीतिक तौर पर अलग-थलग करने के लिए अभियान चलाया। आतंकवाद को पूरी दुनिया के लिए खतरा बताते हुए इससे कराई से निपटने पर जोर दिया। ब्रिक्स के मंच से पाकिस्तान पर निशाना साधाते हुए उसे आतंकवाद की जन्मभूमि करार दिया। ब्रिक्स घोषणापत्र में आतंकवाद की निन्दा की गई और कहा गया की यह उन देशों की सरकारों की जिम्मेदारी है कि अपनी जमीन से किसी तरह की आतंकवादी गतिविधियों को रोकें।[10] इस सम्मेलन के दौरान भारत ने सार्क के बजाय बिम्सटेक देशों के राष्ट्राध्यक्षों को न्योता देकर एक बार फिर पाकिस्तान को अलग-थलग करने की कोशिश की। भारत ने इस्लामाबाद में हो रहे सार्क सम्मेलन का बहिष्कार किया तो अन्य देशों ने भी इसमें हिस्सा नहीं लिया। पाकिस्तान इससे अलग-थलग नजर आया और फिर ऐसा माना जाने लगा कि भारत बिम्सटेक को ज्यादा बढ़ावा देगा क्योंकि इसमें पाकिस्तान शामिल नहीं है। यह भारत के कुटनीतिक प्रयासों की जीत है।

4 सितम्बर, 2017 को जारी जियामेन घोषणा में भी आतंकवादी हमला चाहे वह ब्रिक्स देशों में हुआ हो या पूरे विश्व में इसकी निन्दा की गई। सदस्य देशों ने संयुक्त राष्ट्र के ढाँचे के अन्तर्गत अन्तराष्ट्रीय कानून के अनुसार आतंकवाद से मुकाबला करने के लिए ठोस प्रयास किये जाने का आग्रह किया है। सभी सदस्यों के द्वारा द्वितीय आतंकवाद विरोधी कार्य समूह के बैठक में आतंकवाद के खिलाफ आपसी सहयोग को और मजबूत बनाने का निर्णय लिया गया।

11 वें ब्रिक्स शिखर सम्मेलन ब्रासीलिया ब्राजील में आयोजित किया गया। संयुक्त घोषणापत्र में आतंकवाद के सभी रूपों व अभिव्यक्तियों की निन्दा की गई और इस बात पर प्रकाश डाला गया कि इसे किसी भी धर्म, राष्ट्रीयता या सभ्यता के साथ नहीं जोरा जाना चाहिए। इसमें आतंकी घटनाओं को उनके प्रेरक कारणों पर ध्यान दिये बिना आपराधिक और अन्यायपूर्ण कृत्य के रूप में चिन्हित किया गया।[11] आतंकवादी गतिविधियों के लिए सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) के दुरूपयोग और आतंकवादी नेटवर्क तथा आतंकी कारवाईयों के अवैध वित्तपोषण से निपटने की आवश्यकता पर बल दिया गया। इसमें आतंकी वित्तपोषण पर नियंत्रण के लिए वित्तीय कारबाई बल के महत्व वित्तपोषण पर भी बल दिया। ब्रिक्स आतंकवाद विरोधी संयुक्त कार्य समूह की चौथी बैठक में सदस्य देशों ने निम्नलिखित पांच विषयों पर उप-कार्य समूहों के गठन का भी निर्णय लिया गया है- आतंकवादी वित्तपोषण, आतंकवादी उद्देश्यों के लिए इंटरनेट का उपयोग, कट्टरपंथ के प्रसार का प्रतिकार, विदेशी आतंकवादी लड़ाकों का मुद्दा और क्षमता निर्माण। ब्रासीलिया घोषणापत्र धन-शोधन पर रोक/आतंकी वित्तपोषण से मुकाबले जैसे प्रमुख मुद्दों पर ब्रिक्स देशों को संवाद के लिए प्रोत्साहित करता है और इसने एएमएल/सीएफटी पर ब्रिक्स परिषद् की स्थापना का प्रस्ताव किया है। भारत ने इस तथ्य को को उजागर किया है कि आतंकवाद के कारण विश्व अर्थव्यवस्था को एक ट्रिलीयन डॉलर का आर्थिक नुकसान हुआ है। ब्रिक्स देश इस हानि के सर्वाधिक शिकार हुये हैं क्योंकि इसने विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि को 1.5 प्रतिशत तक धीमा कर दिया है। इस प्रकार आतंकवाद के कारण हो रही आर्थिक छति से निपटने के लिए ब्रसीलिया घोषणापत्र अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अध्ययन का उद्देश्य

- प्रस्तावि शोध का उद्देष्य ब्रिक्स के लक्ष्यों को व्यावहारिक धारातल पर उतारना।

ख प्रस्तुत शोध का उद्देष्य लम्बे समय से लंबित भविश्यलक्षित योजनाओं को गति देना।

- ब्रिक्स के मंचों से आतंकवाद जैसे मुद्दें को उठाना।
- संयुक्त कार्य समूह जिसका गठन आतंवाद से लड़ने हेतु किया गया है, के कार्य प्रणाली का मूल्यांकन करना।

शोध पद्धति

प्रस्तुत शोध अध्ययन द्वितीयक स्त्रोंतों के माध्यम से ऐंतिहासिक, सैन्तिक विष्लेशणत्मक, तुलनात्मक एवं नवीन पद्धतियों को अपनाते हुए शोध लेख को मौलिकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। इस शोध कार्य हेतु आवष्यक सामग्री विदेष मंत्रालय, भारत सरकार, (दिल्ली) के अभिलेखों, राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय पुस्तकालयों, इन्टरनेट एवं शोध संस्थानों आदि में उपलब्ध, सामाचार पत्र-पत्रिकाएँ एवं अन्य प्रासंगिक सामग्रियों का अध्ययन किया गया है ताकि शोध के निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके।

परिकल्पना

शोध कार्य को सही दिषा देने तथा उचित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए परिकल्पना का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस शोध कार्य में निम्नलिखित परिकल्पना प्रस्तावित है:-

- ब्रिक्स राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से मजबूत देषों का संगठन है, जो आतंकवाद जैसे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल हेतु सषक्त हथियार बन सकता है।
- ब्रिक्स देषों में भारत-चीन के बिगड़ते संबंधों से आतंकवाद के पोषक देशों को सह मिल रहा है जो इस संगठन की सफलता को भविष्य में बाधित करेगा।
- संयुक्त कार्य समूह जिसका गठन आतंवाद से लड़ने हेतु किया गया है, के कार्य प्रणाली का मूल्यांकन करना जिससे आतंकवाद हतोत्साहित होगा।

निष्कर्ष

ब्रिक्स राष्ट्रों में आतंकवाद की समस्या से सबसे अधिक भारत जूझ रहा है। 14 फरवरी, 2019 को पूलवामा में हुआ आत्मघाती हमला इसका ज्वलंत उदाहरण है, जिसकी जिम्मेदारी पाकिस्तान स्थित इस्लामिक आतंकवादी समूह जैश-ए-मोहम्मद ने ली। भारतीय वायुसेना के द्वारा इसके जवाब में बालाकोट में जैश-ए-मोहम्मद संचालित आतंकवादी शिविर पर हमला किया गया तथा आतंकवादी समूहों को कड़ा संदेश दिया कि भारत हर प्रकार की आतंकवादी गतिविधियों की निन्दा करता है, साथ ही साथ उससे मुकाबला करने के लिए भी तैयार ब्रिक्स देशों को आतंकी वित्तपोषण नेटवर्क पर अंकुश लगाने और कट्टरपंथ के प्रसार के लिए आईसीटी के उपयोग पर नियंत्रण हेतु एक साझा कार्य योजना का निर्माण करना चाहिए। ब्रिक्स देशों को समानांतर वित्तीय अवसंरचना के निर्माण पर भी ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जिसमें अवैध वित्तपोषण पर रोक के लिए आतंक विरोधी अधिदेश शामिल हो। ब्रिक्स आतंकवाद के खतरें के विरूद्ध समाज के अत्यंत वृहत खण्ड को संवेदनशील बनाने के लिए एक मंच प्रदान करता है। यह एक मजबूत संगठन के रूप में कार्य कर रहा है जो पांच देशों को अपने संबंधों को मजबूत करने और वैश्विक प्रभाव बनाने में मदद करता है। ब्रिक्स देशों को आतंकवाद और कट्टरपंथी विचारधारा का मुकाबला करने के लिए उठाए गये कदमों के रेखांकित करने जरूरत है।

सन्दर्भ

1. विल्सन, डोमिनिम एण्ड पुरूशोतमन, रूपा : ड्रिमिंग विद ब्रिक्सः द पैथ टू 2050, गोल्डमैन सैच।
2. सिंह, रहिस, वैश्विक संबंध, पियर्सन, पृष्ठ–323।
3. मलिक, अशोक : ब्रिक्स अलायन्स लुकिंग फॉर सिमेन्ट।
4. घई, यू.आर., भारतीय विदेश नीति, पृष्ठ–61।
5. वहीं, पृष्ठ–62।
6. फस्ट सम्मिट फोर इमर्जिंग जेन्ट्स, बी.बी.सी. न्यूज, 16 जून, 2009।
7. प्रोग्रामः VI ब्रिक्स सम्मिट, ब्राजीलियन मिनिस्टरी ऑफ इक्सटर्नल रिलेशन्स, 2014।
8. उफा घोषणापत्र, 2015।
9. वहीं, 2015।
10. स्टेटमेंट ऑन टेरर इन ब्रिक्स डिक्लिरेशन, 17 अक्टूबर, 2016।
11. ब्राजीलिया घोषणापत्र, 2019।

लोकसभा चुनाव 2014 में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी

डॉ० विजया सिंह

(एम.ए., पीएच-डी- राजनीति विज्ञान), पटना विश्वविद्यालय, पटना

शोध आलेख का सार

चुनाव की प्रक्रिया ऐतिहासिक रूप से लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का सर्वाधिक सरल एवं महत्वपूर्ण सूचक है। यह राजनीतिक समाजीकरण एवं राजनीतिक सहभागिता को सुनिश्चित करने वाला जटिल घटनाक्रम है जो न सिर्फ सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रभावित करता है, बल्कि उससे स्वयं भी प्रभावित होता है। लोकसभा का चुनाव भारतीय लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का आधार स्तम्भ है। इस चुनाव के माध्यम से ही देश के सर्वोच्च पद पर आसिन प्रधानमंत्री का चुनाव होता है। इसलिए देश में इस चुनाव का महत्व सबसे ज्यादा है। देश में सम्पन्न 14वीं लोकसभा चुनाव कई मायने में अलग है। इस चुनाव में महिलाओं की राजनीतिक प्रतिनिधित्व में वृद्धि हुई है। साथ ही महिलाओं ने इस चुनाव में बढ़-चढ़कर अपनी भागीदारी सुनिश्चित की है। समकालीन राजनीतिक व्यवस्थाओं की संरचना, संचालन प्रक्रिया एवं विस्थापन को समझने हेतु चुनाव का व्यवस्थित अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

मूल शब्दः चुनाव, संसदीय व्यवस्था, संघीय व्यवस्था, लोकसभा, राजनीतिक भागीदारी, महिला सशक्तिकरण, लोकतंत्र।

प्रस्तावना

भारत संसदीय एवं संघीय व्यवस्था पर आधारित एक संवैधानिक लोकतंत्रात्मक गणराज्य है, जिस के हृदय में नियमित, स्वतंत्र एवं न्यायसंगत चुनाव के प्रति गहरी निष्ठा है। भारतीय जनता ने राष्ट्रीय स्तर पर 16 एवं राज्य स्तर पर करीब अढ़ाई सौ से भी अधिक चुनावों के सफल संपादन के द्वारा लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में अपने दृढ़ विश्वास का प्रमाण दिया है। भारतीय संविधान के भाग-15 में उल्लेखित अनुच्छेद 324-329 तक में चुनाव की प्रक्रिया से सम्बन्धित संवैधानिक प्रावधान किये गये हैं।[1] चुनाव की प्रक्रिया को व्यवहारिक रूप देने वाले घटकों में निर्वाचन आयोग, राजनीतिक दलों एवं मतदाताओं की अहम् भूमिका होती है।

भारत में अबतक 17 लोकसभा चुनाव सम्पन्न हो चुके है। 16वीं लोकसभा के लिए आम चुनाव 7 अप्रैल से 12 मई 2014 तक कुल 9 चरणों में संपन्न हुए तथा मतगणना 16 मई को हुई।[2] इस के लिए भारत के स भी (543) संसदीय क्षेत्रों में वोट डाले गए। ऐसा चुनाव अब तक के इतिहास में सबसे लंबा कार्यक्रम वाला चुनाव था। यह पहली बार हुआ जब देश में 9 चरणों में लोकसभा चुनाव सम्पन्न हुए। 5 मार्च, 2014 को मुख्य निर्वाचन आयुक्त वी0ए स0 संपथ ने चुनाव कार्यक्रमों की तारीकों और तैयारियों का ऐलान किया। 7 अप्रैल को पहले, 9 अप्रैल को दूसरे, 10 अप्रैल को तीसरे, 12 अप्रैल को चौथे, 17 अप्रैल को पाँचवें, 24 अप्रैल को छठे, 30 अप्रैल को सातवें, 7 मई को आठवें तथा 12 मई को नवें चरण का मतदान संपन्न हुआ। वर्ष 2019 में 17वीं लोकसभा चुनाव सम्पन्न हुआ है।

पहले चरण के मतदान में असम और त्रिपुरा की एक-एक सीट पर मतदान हुए इसमें क्रमशः मतदान का प्रतिशत 72.5 और 84 फीसदी रहा। द्वितीय चरण में नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय तथा मणिपुर राज्यों में 72% लोगों ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया। छात्र संगठनों के बंद के कारण मिजोरम में चुनाव 11 अप्रैल को संपन्न हुआ। यहां पर 60% लोगों ने अप ने मताधिकार का प्रयोग किया। तीसरे चरण का मतदान 10 अप्रैल को 91 सीटों पर हुआ। इस चरण में केरल, दिल्ली, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, झारखण्ड, तथा जम्मू में 65% मतदान हुआ। चौथे चरण में गोवा, असम, त्रिपुरा तथा सिक्किम में 77% मतदान हुआ। पाँचवे चरण में कुल 121 सीटों पर मतदान हुआ। इस चरण में उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, जम्मू और कश्मीर, मध्य प्रदेश तथा झारखण्ड राज्यों में 66% मतदान हुआ, छठे चरण में 12 राज्यों के कुल 117 सीटों पर मतदान हुआ, जिनमें राजस्थान, तमिलनाडु, बिहार तथा मध्य प्रदेश में 62.23% मतदान हुआ। सातवें चरण में कुल 89 सीटों पर मतदान हुआ। चुनाव आयोग के अनुसार इस चरण में गुजरात की सभी 26 सीट पर 62% मतदान हुए। नवगठित राज्य तेलंगाना के कुल 17 सीटों पर 70% वोट पड़े तथा पंजाब की कुल 13 सीटों के लिए कुल 73% मतदान हुए। आठवें चरण में कुल 64 सीटों पर मतदान हुआ। चुनाव आयोग के अनुसार इस चरण में कुल सात राज्यों में चुनाव हुए। आठवें चरण के साथ ही 16वीं लोकसभा की 543 में से 502 सीटों के लिए यानी 92 प्रतिशत मतदान सम्पन्न हो गया। नवमें एवं अंतिम चरण में कुल 41 सीटों पर मतदान हुआ। इस बार चुनाव के सभी नौ चरणों में कुल मिलाकर 66.38% मतदान हुआ, जो लोकसभा चुनाव में अबतक का सर्वाधिक मतदान है।[3]

भारत के चुनाव आयोग के मुताबिक 16वीं लोकसभा चुनाव में 81.45 करोड़ लोग मतदान के पात्र थे। इस चुनाव में कुल 66.38% मतदाताओं ने अपने मत का प्रयोग किया, जिसमें 67.17% पुरूष मतदाता और 65.71% महिला मतदाता थी। कुल मिलाकर 93 लाख मतदान केन्द्रों में 1.4 मिलियन आई.वी.एम.

थीं। वोटर वेरीफाएबल पेपर ऑडिट ट्रेल (वीवीपैट) प्रणाली जो ईवीएम स्लिप के निर्माण से प्रत्येक वोट डालने के लिए सक्षम बनाता है, को लखनऊ, गांधीनगर, बंगलोर दक्षिण, चेन्नई सेंट्रल, जादवपुर, रायपुर, पटना साहिब और मिजोरम के आठ निर्वाचन क्षेत्रों में पेश किया गया था। इस के अलावे, मतदान केन्दों पर नेत्रहिनों के लिए ब्रेल मतपत्र की व्यवस्था की गई थी। इस चुनाव में 11 लाख सिविल सेवकों और 5.5 मिलियन नागरिक कर्मचारियों को चुनाव कार्य में लगाया गया था। यह पहला चुनाव था जिसमें "ऊपर से कोई भी विकल्प" नहीं था और अनिवासी भारतीयों को वोट देने की अनुमति थी; हालाँकि केवल भारत में ही था।[4]

चुनाव के परिणामस्वरुप 16 मई 2014 को हुई मतगणना में भाजपा को कुल 282 सीटें प्राप्त हुई। यह संख्या 545 सदस्यी लोकसभा में आधी संख्या यानि 272 से अधिक थी। लोकसभा के 543 सदस्यों का निर्वाचन होता है, जबकि दो सदस्य राष्ट्रपति द्वारा आँग्ल भारतीय समुदाय से नामित होते है। भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में राजग 336 सीटों पर जीत हासिल की। भाजपा ने पिछले 30 वर्षों के दौरान लोकसभा चुनाव में अपने दम पर बहुमत हासिल करने वाली पहली पार्टी बनकर उभरी। इससे पूर्व 1984 के चुनाव में इंदिरा गांधी के हत्या के बाद राजीव गांधी के नेतृत्व में काँग्रेस ने 417 सीटें जीती थी।[5] परंतु 16वीं लोकसभा चुनाव में काँग्रेस को मात्र 44 सीटें प्राप्त हुई और यूपीए को मात्र 60 सीटें। इस चुनाव में पश्चिम बंगाल से सबसे ज्यादा 13 महिला सांसद जीतकर सदन पहुँची, जबकि उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य से मात्र 11 महिला सांसद जीत दर्ज की। इस बार यानी 16वीं लोकसभा चुनाव में 1300 से अधिक महिला उम्मीदवार मैदान में थीं, लेकिन 61 चुनाव जीत पाई। पीआरएस लेजिसलेटिव रिसर्च के अनुसार 61 महिलाएं इस बार चुनाव में जीत दर्ज करने में सफल रहीं।

2014 के लोकसभा चुनाव में जीत दर्ज करने वाली प्रमुख महिला उम्मीदवारों में सोनिया गांधी, सुषमा स्वराज, उमा भारती, सुमित्रा महाजन, मीनाक्षी लेखी, हेमा मालिनी, रंजीता रंजन, डिम्पल यादव, पुनम महाजन, वीणा देवी, रमा देवी, अनुप्रिया पटेल, हरसिमरत कौर बादल, सुप्रिया सुले शामिल है। 2009 के चुनाव में काँग्रेस से 26 महिलाएं चुनकर लोकसभा पहुंची थी, जबकि इस बार इस दल से केवल चार महिलाएं सांसद निचले सदन में पहुंची हैं। पिछले चुनाव में भाजपा से 13 महिला सांसद थी, जबकि इस बार इनकी संख्या बढ़कर 25 हो गई है। काँग्रेस ने इस बार 60 महिलाओं को चुनावी मैदान में उतारा था, जबकि भाजपा ने 38 महिला प्रत्याशियों को ही पार्टी का टिकट दिया था। आम आदमी पार्टी भी इस मामले में ज्यादा अलग नजर नहीं आई और देशभर में खड़े उस के करीब 426 उम्मीदवारों में 38 ही महिलाएं थीं।[6]

भारत के बीते 63 वर्षों के संसदीय इतिहास में हमारी संसद में महिला सांसदों की संख्या 1952 के प्रथम लोकसभा चुनाव में 22 के मुकाबले 39 बढ़कर 2014 के लोकसभा चुनाव में 61 हो गई है। दूसरे लोकसभा चुनाव में खड़ी होनेवाली महिला उम्मीदवारों में 48.89% ने जीत दर्ज की थी। इस चुनाव में 45 उम्मीदवारों में से 22 चुनाव जीतने में सफल रही। तीसरे लोकसभा चुनाव में 46.97%, चौथे चुनाव में 43.28% और पाँचवें चुनाव में 24.49% महिलाओं ने चुनाव में जीत दर्ज की थी। छठे चुनाव में 27.14% महिला उम्मीदवारों ने जीत दर्ज की थी। सातवें चुनाव में 19.58%, आठवें चुनाव में 25.15%, नौवें चुनाव में 14.64%, दसवें चुनाव में 11.51%, 11वें चुनाव में 6.68%, 12वें चुनाव में 15.69%, 13वें चुनाव में 17.25%, 14वें चुनाव में 12.68% और 15वें लोकसभा चुनाव में खड़े होने वाली महिला प्रत्याशियों में 10.61% ने जीत दर्ज की। वर्ष 2009 के चुनाव में 556 महिला चुनावी समर में उतरी थी और इनमें से 59 जीत दर्ज करने में सफल रही। यदि वृद्धि की रफ्तार यही रही तो 179 के आंकड़े को छूने में करीब ढाई सौ साल लग जाएंगे और तब तक हम इन मामलों में अन्य देशों से बहुत पीछे खिसक जाएंगे।[7]

2014 के लोकसभा चुनाव में आधी आबादी यानि महिला मतदाताओं को लुभाने में कोई भी पार्टी पीछे नहीं रहीं। कई राजनीतिक दलों ने महिला सशक्तिकरण, लैंगिक समानता कायम करने, बेहतर सुरक्षा और रोजगार मुहैया करने जैसे वादे जरूर किये लेकिन महिलाओं की सुरक्षा का मुद्दा चुनाव प्रचार के दौरान उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा। हालांकि भाजपा के प्रधानमंत्री उम्मीदवार नरेन्द्र मोदी और काँग्रेस का नेतृत्व कर रहे राहुल गांधी ने अपने भाषण में महिला की सुरक्षा और सशक्तिकरण की बातें की लेकिन इस के लिए कोई ठोस योजना नहीं दी। चुनावों में महिलाओं को उम्मीदवार बनाने में सब कंजूसी कर गये। पिछले चुनावों की तरह इस चुनाव में भी महिला उम्मीदवारों की संख्या काफी कम रही। भाजपा और काँग्रेस जैसे प्रमुख दलों ने भी उम्मीदवारी में महिलाओं को 10% से अधिक प्रतिनिधित्व नहीं दिया। उनमें भी जिन महिलाओं को टिकट दिए गए थे, उनमें या तो वह है जो सालों सांसद रही है और लंबे समय से राजनीति में सक्रिय है या किसी नेता की पत्नी, बेटी या रिश्तेदार है, जिनका राजनीतिक परिवारों से किसी किस्म का ताल्लुक है या फिर वे मशहूर फिल्मी हस्ती है।

16वीं लोकसभा चुनाव में महिला उम्मीदवारों की इतनी निराशाजनक तस्वीर और संसद में मात्र सांकेतिक उपस्थिति के पीछे सबसे पहले तो सामाजिक व्यवस्था जिम्मेदार है, जहां महिलाओं को दूसरे दर्जे का समझा जाता है और उन्हें घर के कामकाज तथा बच्चे के पालन पोषण तक ही सीमित रखा जाता है। दूसरी ओर यह धारणा जिम्मेदार है कि राजनीति सिर्फ पुरुषों का क्षेत्र है। आमतौर पर यह तर्क दिया जाता है कि महिलाएं राजनीति नहीं समझती है, वे मतदाता को प्रभावित नहीं कर सकती, चुनाव अभियान के लिए धन या अन्य संसाधन नहीं जुटा सकती और चुनाव नहीं जीत सकतीं। इतना ही नहीं मतदाता भी कई पूर्वाग्रह के शिकार हो जाते हैं। बहुतों को यह लगता है कि राजनीति में महिलाएं बड़े फैसले लेने में या नीतियाँ बनाने में सक्षम नहीं होंगी। विडंबना यह है कि ये बाते पुरुष उम्मीदवार को चुनने वक्त नहीं देखी जाती।

महिलाओं के प्रति इस मानसिकता को बदलने के लिए शिक्षा व राजनीतिक जागरूकता तो जरूरी है ही, लेकिन सबसे अहम महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ाना जरूरी है। जिस तरह का रवैया पिछले वर्षों में केन्द्र व राज्यों में सक्रिय पार्टियों ने दिखाया है, उसमें यह संसद और विधानसभाओं में महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण करके ही संभव हो पाएगा।

ग्रामीण क्षेत्र में इस का एक सफल उदाहरण दिखता है। संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के अंतर्गत पंचायती और शहरी निकायों में सभी स्तरों पर एक तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित किया गया। कई राज्यों में तो गांवों की पंचायतों में महिलाओं के लिए आरक्षित सीटों की संख्या बढ़ाकर 50% कर दी गई है। यह कदम काफी असरदार साबित हुआ है। इस के चलते महिलाओं का स्थानीय स्वशासन और पंचायतों के कामकाज में योगदान काफी बढ़ा है।

काँग्रेस, भाजपा और वामपंथी पार्टियों ने संसद और विधानसभा में महिलाओं के लिए 33 आरक्षण की हिमायत की है। अपने घोषणापत्र में भी उन्होंने इस मुद्दें को प्रमुखता दी है। लेकिन फिलहाल ऐसा नहीं लगता कि ये पार्टियां वाकई महिलाओं की राजनीति में भागीदारी बढ़ाने के लिए संजीदा है अगर देश की बड़ी पार्टियां इस मुद्दें को गंभीरता से लेती तो इस चुनाव में किसी कानूनी बाध्यता का इंतजार किए बिना ज्यादा महिलाओं को टिकट दे सकती थीं और मिशाल कायम कर सकती थीं।

सत्ता और विपक्ष में बैठे राजनीतिक दल महिलाओं को बराबरी का दर्जा देने और लोकसभा व विधानसभा में 33% आरक्षण की चाहे जितनी वकालत करें, उनकी कथनी और करनी में बहुत फर्क नजर आता है। महिलाओं के सशक्तिकरण तथा बराबरी की बात करने वाले दलों की असलियत टिकट वितरण के समय सामने आ जाती है। यह भी देखने को मिलता है की प्रमुख महिला प्रत्याशी के खिलाफ अक्सर महिला को ही मैदान में उतारते हैं। ऐसे में दोनों उम्मीदवारों में से एक ही महिला उम्मीदवार चुनाव जीत पाती है। इस तरह बहुत सी प्रतिभावान महिला उम्मीदवार संसद या विधानसभा पहुंचने से वंचित रह जाती है। इन सबके बीच अति पिछड़े देशों की संसदों में भी महिलाओं की हिस्सेदारी भारत से ज्यादा है। विश्व भर की संसदों में महिलाओं की संख्या के आधार पर हुए सर्वे में भारत 103 वे स्थान पर है जबकि चीन 53वें, पाकिस्तान 64वें, इंग्लैंड 56 वें, नेपाल 35वें अफगानिस्तान 39 वें तथा अमेरिका 72वें स्थान पर है। बांग्लादेश में हर 5 में से एक सांसद महिला है। यहां तक कि सीरिया, रवांडा, नाइजीरिया और सोमालिया आदि देशों की संसदों में भी महिलाओं की हिस्सेदारी भारत से ज्यादा है। फिलहाल भारतीय संसद के दोनों सदनों में 12% महिलाएं (96) हैं। नेपाल की संसद में कुल 176 सीट हैं और वहां हर तीसरी सीट पर महिला सांसद विराजमान है। अफगानिस्तान के दोनों सदनों में कुल 28% महिला (97) सांसद हैं जबकि चीन के निचले सदन में कुल 699 सांसदों में 24% महिलाएं हैं। पाकिस्तान में 84 महिलाएं सांसद है। इनमें से 21% निचले और 17% उच्च सदन में है। इंग्लैंड के हाउस और कॉमंस और हाउस ऑफ लॉर्ड्स में क्रमश: 23 और 24 प्रतिशत है। अमेरिका के निचले सदन में 20%, जबकि उच्च सदन में केवल 20 सांसद हैं। सबसे खराब स्थिति वनुआतू की जहां संसद में एक भी महिला नहीं है।[8]

परिकल्पना

प्रस्तुत शोध कार्य हेतु प्रस्तुत परिकल्पना निम्नलिखित है:-

1. महिलाओं की राजनीतिक प्रतिनिधित्व में पूर्व के लोकसभा चुनावों के तुलना में 14वीं लोकसभा चुनाव में वृद्धि हुई है।
2. 14वीं लोकसभा चुनाव में महिलाओं की राजनीतिक चेतना में वृद्धि हुई है।

शोध आलेख का उद्देश्य

1. इस शोध का उद्देश्य महिलाओं में राजनीति के प्रति बढ़ती रूची का अध्ययन करना।
2. प्रस्तुत शोध का उद्देश्य लंबित महिला आरक्षण विधेयक के मार्ग में आने वाले बाधाओं को स्पष्ट करना।
3. महिलाओं को संसद एवं विधानमंडलों में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व दिलाने वाले कारणों का पता लगाना।
4. महिलाओं के राजनीतिक उत्थान के साथ-साथ उनके सामाजिक-आर्थिक स्तर के लिए मार्ग बनाना।

शोध आलेख की पद्धति

प्रस्तुत शोध का अध्ययन द्वितीयक स्त्रोंतों के माध्यम से किया गया है है। इस अध्ययन में ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक विश्लेषणत्मक, तुलनात्मक एवं नवीन पद्धतियों को अपनाते हुए शोध लेख को मौलिकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। इस शोध कार्य में उपयोगी सामग्री केन्द्रीय निर्वाचन आयोग (दिल्ली) के अभिलेखों, राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय पुस्तकालयों, इन्टरनेट एवं शोध संस्थानों आदि में उपलब्ध, सामाचार पत्र-पत्रिकाएँ, राजनीतिक दलों के घोषणा पत्रों एवं अन्य प्रासंगिक सामग्रियों से प्राप्त किया गया है।

निष्कर्ष

आज के बदलते राजनीतिक परिवेश में महिलाओं की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति विरोधाभासों से भरी हुई होने के बावजूद स्वतंत्र भारत में महिला सशक्तिकरण को राजनीतिक पोषण सुलभ हुआ है, जिसके फलस्वरूप राजनीतिक क्षितिज पर महिलाओं की भूमिका में सकारात्मक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। राष्ट्रीय स्तर पर महिला मतदाता पहले से अधिक सक्रिय हुई हैं, यह विभिन्न चुनाव एजेन्सियों के सर्वेक्षण रिर्पोटों से जाहिर होता है। महिला पूर्व की अपेक्षा अधिक राजनीतिक समझ का परिचय विभिन्न चुनावों के दौरान प्रस्तुत की हैं। 16वीं लोकस भा चुनाव में महिलाओं का मतदान प्रतिशत एवं लोकसभा में प्रतिनिधित्व इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। राजनीतिक व्यवस्था में आया यह परिवर्तन महज पुरूष मतदाताओं के बल पर सम्भव नहीं था। 'आधी आबादी' के योगदान के बिना इतना बड़ा परिवर्तन कदापि सम्भव नहीं था और यह महिलाओं की बदलती मतदान प्रवृति एवं राजनीतिक सहभागिता का परिचायक है।

सन्दर्भ

1. ब्रज किशोर शर्मा, भारत का संविधान, एक परिचय, पीएचआई, 2010, पृष्ठ–348–351।
2. नवभारत टाइम्स, 17 मई, 2014।
3. द पत्रिका, 13 मई, 2014।
4. जागरण पोस्ट, 14 मई, 2014।
5. रूपा मंगलानी, भारतीय शासन एवं राजनीति, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2016, पृष्ठ–258–259।
6. राजेश्वरी देशपाण्डेय, वोमेन्स वोट इन 2014, द हिन्दु, 26 जून 2014।
7. डॉ. शशि शर्मा, राजनीतिक समाजशास्त्र की रूपरेखा, पी.एच.आई., 2010, 521–527।
8. साधना, आर्य, एवं निवेदिता, मेनन, लोकनीता जिनी, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, दिल्ली विश्वविद्यालय पब्लिकेशनः दिल्ली, 2017, पृष्ठ 207–219।

भारत में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० निवेदिता

(एम.ए., राजनीति विज्ञान, पीएच-डी), पटना विश्वविद्यालय, पटना

शोध-आलेख का सार

लोकतंत्र में चुनाव का महत्वपूर्ण स्थान है। चुनाव में मतदाता मतदान के द्वारा अपनी पसंद के उम्मीदवार को चुनते हैं। यह चुने हुए प्रतिनिधि ही देश की शासन व्यवस्था को संचालित करते हैं। स्वतंत्रता के पूर्व मतदान का दायरा बहुत ही सीमित था। बाद में 1988 में 61वें संविधान संशोधन के द्वारा 21 वर्ष से उम्र घटाकर 18 वर्ष कर दी गई। अब भारत में प्रत्येक वयस्क नागरिकों को मताधिकार प्राप्त हो गया है। अब प्रश्न उठता है कि आखिर मतदाता किन-किन कारकों से प्रभावित होकर अपने इस अधिकार का प्रयोग करते हैं। इस शोध के माध्यम से उन कारकों का विश्लेषण कर अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचा जायेगा।

मूल-शब्द : निर्वाचन, मतदान व्यवहार, संघीय शासन-प्रणाली, एकात्मक व्यवस्था, भारतीय संविधान।

प्रस्तावना

सामान्य अर्थ में मतदान व्यवहार का आशय चुनाव में मतदाताओं के द्वारा वोट डालने से लगाया जाता है। मतदान व्यवहार एक व्यापक प्रक्रिया है, इसमें चुनाव के समय मतदाता चुनाव प्रक्रिया के प्रति, चुनावी मुद्दों के प्रति व उम्मीदवारों के प्रति जो अपना रूख, रूझान व पसंद व्यक्त करते हैं, उसे राजनीति विज्ञान में मतदान व्यवहार की संज्ञा दी गयी है। भारत में अब तक जितनें भी चुनाव हुये हैं उसके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मतदान व्यवहार को प्रभावित करने के पीछे कोई एक नहीं, बल्कि अनेक कारक मौजूद है।

भारत में अब तक जितने भी चुनाव हुए हैं, उनमें मतदाताओं का मतदान व्यवहार एकसमान नहीं रहा, विशेषरूप से आजादी के पूर्व के वर्षो में, जब देश मे सामाजिक-आर्थिक पिछड़ापन था, आर्थिक विषमताएँ व्याप्त थी, लोगों में शिक्षा की कमी व महिलाओं को समाज में उचित दर्जा प्राप्त नहीं था। इन सभी के चलते अनेक मतदाता मत का प्रयोग करने से वंचित रह जाते थे, परिवार के सदस्य परिवार के मुखिया के प्रभाव में अपने मत का प्रयोग करते थे और मजबूर व छोटे किसान जमींदारों के प्रभाव में मतदान करते थे। मतदान व्यवहार को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्त्वों- पिछले 30-35 वर्षों में भारत में चुनाव-प्रक्रिया व लोकतंत्र के स्वरूप निर्धारित किया है। शिक्षा व प्रेस के विस्तार से मतदाताओं को तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विषयों की पर्याप्त जानकारी मिलती रहती है और यह जानकारी उनके मतदान व्यवहार को प्रभावित करती रही है। वर्तमान समय में भारतीय मतदाताओं के व्यवहार को मुख्य रूप से निम्नलिखित तत्त्व प्रभावित करते हैं-

जाति भारतीय समाज की एक ऐसी सच्चाई है, जिससे व्यक्ति सबसे अधिक प्रभावित होता है। शिक्षा के प्रसार के बाद भी व्यक्तियों को अपनी जाति के प्रति लगाव कम नहीं हुआ है। यह भी देखने में आया है कि ज्यादा पढा-लिखा व्यक्ति भी जातिवाद से प्रभावित होता है। राजनीतिक स्तर पर जाति का प्रभाव पहले से अधिक बढ़ा है। राजनीति शास्त्र के प्रमुख विद्वान प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' में यह बताया है[1] कि भारत में जाति का सामाजिक स्तर पर प्रभाव घटा है, जबकि राजनीतिक स्तर पर जाति का प्रभाव बढा है। जिस प्रकार से राजनीतिक दलों व दबाव समूहों के निर्माण में और आरक्षण को निश्चित करने में जाति प्रमुख भूमिका निभाती है, उसी प्रकार से मतदान व्यवहार को भी प्रभावित करने में भी जाति की निर्णायक भूमिका है। जब मतदाता अपने मत का प्रयोग करता है, तो वह अपनी जाति से प्रभावित होकर अपनी जाति के उम्मीदवार के पक्ष में मत डालते हैं। जाति आज भी मतदान व्यवहार का प्रमुख तत्त्व है।

विचारधारा भी मतदान व्यवहार का एक प्रमुख निर्धारक तत्त्व है। भारत में कुछ ऐसे राजनीतिक दल भी हैं, जिनकी कोई न कोई विचारधारा है। ये खुलकर इसका प्रचार व प्रसार करते हैं, जिससे मतदाता अवश्य ही प्रभावित होते हैं। समाजवाद, साम्यवाद, उदारवाद, गाँधीवाद, लोहियावाद, हिन्दुवाद अनेक ऐसी विचारधाराएं प्रचलित हैं, जिनके अधार पर राजनीतिक दल बने हैं। इन्होंने आगे चलकर चुनावी राजनीति को प्रभावित किया और ये मतदान-निर्धारण का प्रमुख कारक बनीं। पष्चिम बंगाल में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव है, जिसके आधार पर वहां मार्क्सवादी दलों को अधिकांश लोगों के मत मिलते हैं।[2] 1950 के बाद भारत में समाजवादी विचारधारा ने नागरिकों के मतदान व्यवहार को अधिक प्रभावित किया। यहां तक कि काँग्रेस में भी समाजवादी विचारधारा के अनेक समर्थक हैं। वहीं भाजपा हिन्दूवादी राजनीति का समर्थक है।

वर्तमान भौतिकवादी युग में धन की अहम् भूमिका है। आज राजनीति का व्यवसायीकरण हो गया है। चुनावों में धन के द्वारा मतदाताओं को प्रभावित किया व लुभाया जाता है। गरीब व बेरोजगार व्यक्ति प्राय: धन के लालच में आकर अपना मत दे देते हैं। इस प्रकार धन, मतदान व्यवहार का एक निर्धारक तत्त्व बन जाता है। केवल गरीब व बेरोजगार व्यक्ति ही नहीं, बल्कि यहां विधायक व सांसद भी मताधिकार के लिए बिकते देखे गए हैं। यहां एक पार्टी से दूसरी पार्टी में जाने, पार्टी तोड़ने व जोड़ने में धन की अह्म भूमिका रहती है। राज्य व स्थानीय स्तर की राजनीति में यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। नि:संदेह धन मतदान व्यवहार को प्रभावित करने में अहम भूमिका निभा रहा है। 1996, 1998 व 1999 के लोकसभा चुनावों के अवसर पर जनता महंगाई से त्रस्त थी, इसलिए चुनाव परिणाम काँग्रेस पार्टी के विरोध में गया[3] और दूसरे राजनीतिक दलों को इसका लाभ मिला।

व्यक्ति पूजा भारतीय राजनीति की विशेषता रही है। यहां प्रत्येक राजनीतिक दल किसी ऐसे विशिष्ट व्यक्ति या परिवार के चारों ओर घूमता है, जिसका अपना एक प्रभाव होता है। ऐसा नेता मतदाता के व्यवहार को प्रभवित करता है। प्रथम तीन आम चुनावों में काँग्रेस पार्टी की विजय का कारण पण्डित नेहरू का चमत्कारी नेतृत्व था।[4] 1971 के चुनावों में काँग्रेस की भारी हार का कारण इन्दिरा गांधी की नेतृत्व क्षमता थी। 1996 व 2014 के लोकसभा चुनावों में काँग्रेस की हार का एक कारण कुशल नेतृत्व का अभाव था। 16वीं एवं 17वीं लोकसभा के चुनावों में भारतीय जनता पार्टी की सफलता का एक प्रमुख कारण नरेन्द्र मोदी का कुशल नेतृत्व रहा है।[5]

जाति की तरह धर्म भी भारतीय मतदाताओं के व्यवहार को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्त्व है। भारत में मुस्लिम लीग, हिन्दु महासभा, षिवसेना व अकाली दल जैसे राजनीतिक दलों का गठन धर्म के आधार पर किया गया है। ये राजनीतिक दल धर्म के अधार पर वोट मांगते हैं। अयोध्या में राम मन्दिर के निर्माण के मुद्दे ने हिन्दु मतदाताओं को प्रभावित करने और भारतीय जनता पार्टी के पक्ष में मतदान करने में प्रमुख भूमिका निभाई है।[6] वी. पी. सिंह की सरकार भी राम जन्म भूमि से जुड़े मसले पर गिर गयी थी। भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका विगत दो लोकसभा चुनावों में प्रभावकारी रूप में देखने को मिली है।

मतदाताओं के मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में एक तत्त्व आयु वर्ग भी है। 18 से 30 वर्श की आयु के मतदाताओं का राजनीतिक व्यवहार 50 या उससे ऊपर के मतदाताओं के राजनीतिक व्यवहार में समानता नहीं होती है। किसी भावनात्मक मुद्दे से कम उम्र के मतदाता जल्दी प्रभावित होते हैं। अधिक उम्र के मतदाताओं की राजनीतिक भागीदारी इतनी अधिक नहीं होती, जितनी की नवयुवकों की। प्राय: नौजवान उम्मीदवारों के प्रति मतदाताओं का रूझान अधिक होता है। लोकसभा चुनावों के विषय में डॉ. वेद प्रकाश 'वैदिक' लिखते हैं कि 40 वर्षीय राजीव गांधी उन मतदाताओं की स्वाभाविक पसंद बने, जिनकी आयु 21 से 35 वर्ष के बीच थी।[7]

समकालीन मुद्दे- अन्य तत्वों के अलावा, चुनावों के समय चर्चित विषयों का मतदाताओं के व्यवहार पर सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ता है। 1977 के चुनावों में देश में इमरजेन्सी का मुद्दा मतदाताओं पर अधिक प्रभाव डाला। 1985 के चुनावों में इंदिरा गांधी की हत्या से उत्पन्न सहानुभूति ने मतदाताओं को बहुत प्रभावित किया। 1989 के चुनावों में भ्रष्टाचार का मुद्दा मुख्य चुनावी मुद्दा रहा। इसी प्रकार महंगाई, बेरोजगारी, आतंकवाद और युद्ध ऐसे विषय हैं, जिन्होने भारतीय मतदाताओं को बहुत प्रभावित किया है। 2019 के लोकसभा चुनाव में पुलवामा में भारतीय सैनिकों पर आतंकी हमला और भारतीय वायु सेना द्वारा पाकिस्तान के बालाकोट में 'एयर स्ट्राईक' का मुद्दा हावी रहा।[8]

दबाव समूह राजनीतिक दलों व प्रषासकों को प्रभावित करते हैं, वहीं ये अपनी पसंद के उम्मीदवारों को सफल बनाने के लिए विभिन्न तरीकों से मतदाताओं को प्रभावित करने का काम भी करते हैं। भारतीय किसान यूनियन एवं जातिगत दबाव समूहों की मतदाताओं के व्यवहार को प्रभावित करने में उल्लेखनीय भूमिका रही है।

मतदान व्यवहार को निर्धारित करने में उम्मीदवार का अपना व्यक्तित्व भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। एक प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला उम्मीदवार मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल रहता है, विषेश रूप से तब, जब उसके प्रतिद्वन्द्वियों का व्यक्तित्व प्रभावषाली न हो। उदाहरण के लिए, स्व. इन्द्रजीत गुप्त मिदनापुर (पष्चिम बंगाल) से लगातार 10 बार लोकसभा के लिए निर्वाचित हुए।[9] सोमनाथ चटर्जी, साम विलास पासवान, पी. एम. सईद लगातार 9 बार लोकसभा चुनाव के लिए निर्वाचित हुए। ऐसा इनके धनी व्यक्तित्व के कारण ही हुआ।

व्यक्तिगत सम्पर्क- कोई प्रत्याषी मतदाताओं से कितना निकट से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करता है अथवा मतदाताओं को अपने प्रत्याषी के संबंध में कितनी जानकारी है, यह तथ्य भी मतदाताओं के निर्णय को प्रभावित करता है। अधिकांष मतदाता ऐसे होते हैं, जो व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण किसी उम्मीदवार के पक्ष में मत डालते हैं। ऐसे मतदाता, जो किसी अन्य तत्त्व से प्रभावित नहीं होते, ऐसा करते हैं। दिसम्बर, 2018 के दिल्ली विधान सभा चुनावों में व्यक्तिगत सम्पर्क ने आम आदमी पार्टी को 68 सीटें दिलाने में उल्लेखनीय भूमिका रही।

आधुनिक युग प्रचार का युग है। चुनाव-प्रचार से मतदाता बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। प्रचार के कारण तो गलत बात भी ठीक लगने लगती है। कोई राजनीतिक दल अपने प्रत्याषियों के लिए कितना चुनाव-प्रचार करता है और चुनाव-प्रचार के लिए कौन-से साधन अपनाता है, इसका मतदाताओं पर गहड़ा प्रभाव पड़ता है। जितना अधिक प्रचार किया जाता है, उतनी ही अधिक सफलता की सम्भावना रहती है। इसी कारण सभी राजनीतिक दल चुनावों में प्रचार के विभिन्न साधानों का उपयोग करते हैं। ऐसा समझा जाता है कि 16वीं लोकसभा चुनावों में भारतीय जनता पार्टी की सफलता का एक प्रमुख कारण चुनाव प्रचार पर पाँच हजार करोड़ रूपये खर्च करना भी रहा है।

भारत के अधिकांष मतदाताओं की एक अजीब प्रवृत्ति दल अथवा प्रत्याषी की जीत की सम्भावना को ध्यान में रख कर ही मतदान करते हैं। अनेक मतदाता यह निर्णय नहीं कर पाते कि वे किसके पक्ष में मत डालें। यदि उन्हे किसी तरह यह विष्वास हो जाए कि अमुक दल अथवा प्रत्याषी के जीतने की सम्भावना है, तो वे उसी दल अथवा प्रत्याषी के पक्ष में मतदान करते हैं। भारत के चुनावों में 'चुनावी लहर' की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

भारत में मतदान व्यवहार इस बात पर भी निर्भर करता हे कि कौन-सा राजनीतिक दल एक स्थायी एवं सुदृढ सरकार प्रदान कर सकता है। भारतीय मतदाता आम तौर पर केंद्र में एक स्थायी तथा सुदृढ सकार चाहते हैं। उन्होने मार्च, 1977 में जनता पार्टी को इसी अषा से सत्ता सौंपी थी, किन्तु जब यह दल ऐसा करने में सफल नहीं हुआ, तो 1980 में लोकसभा चुनाव में उन्ही मतदाताओं ने जनता पार्टी के स्थान पर काँग्रेस को सत्ता सौंप दी। इसी आधार पर 1984 के चुनावों में काँग्रेस को सबसे अधिक जन-समर्थन प्राप्त हुआ था। 2019 में नरेन्द्र मोदी को इसी आधार पर जनता ने पुनः सत्ता सौपी है।

स्वतंत्रता के पष्चात् भारत में सामंतषाही को समाप्त करके लोकतंत्र की स्थापना की गई और आगे चलकर राजाओं के प्रिवी-पर्स व अन्य सुविधाएँ समाप्त कर दी गई। भारत में सैद्धान्तिक रूप से राजतंत्र की कोई व्यवस्था नहीं है, लेकिन भारतीय जन-मानस पर आज भी सामन्तवादी व्यवस्था का प्रभाव बना हुआ है। आज भी आम भारतीय के मन में सामन्तों के प्रति विषेश सम्मान है। यद्यपि समय के साथ-साथ सामन्तषाही का प्रभाव कम होता जा रहा है, फिर भी बहुत से राजघराने आज भी राजनीति पर अपना आधिपत्य स्थापित किए हुए हैं। सिंधिया घराना मध्य प्रदेष के मतदाताओं को प्रभावित करता रहा है, जो जयपुर घराना राजस्थान के मतदाताओं को।

भारत एक बहु-भाषाई राज्य है। यहां धर्म तथा जाति के पष्चात राजनीति में यदि किसी तत्व का प्रभाव है, तो वह भाषा ही है। भारत में भाषा के नाम पर चुनाव लड़े तथा जीते जाते हैं। यहां अनेक राज्यों में चुनावों का आधार भाषा होती है। दक्षिण में- विशेषकर तमिलनाडु- जो राजनीतिक दल हिन्दी का अधिक विरोध करता है, उतनी ही अधिक उसके जीतने की संभावना अधिक होती है।[10]

भारत में मतदाताओं के व्यवहार को नियन्त्रित तथा प्रभावित करने में क्षेत्रवाद की भी भूमिका होती है। आज भारत में छः राष्ट्रीय दल हैं, किन्तु भारतीय जनता पार्टी को छोड़कर कोई भी राष्ट्रीय दल इतना प्रभावषाली नहीं है कि वह क्षेत्रीय दलों के सहयोग के बिना सरकार का निर्माण कर सके। इसके कारण, भारत की राजनीति में एक और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति स्थापित हो गई है और वह प्रवृत्ति है- गठबंधन की सरकार। अब एक-दो दलों के गठबंधन वाली सरकारें स्थापित होने लगी हैं। 2005 में पंजाब विधानसभा का चुनाव अकाली दल (बादल) तथा भारतीय जनता पार्टी ने मिलकर लड़ा और इनमें सफलता प्राप्त करने पर गठबंधान सरकार का निर्माण किया। उत्तर प्रदेश के समाजवादी पार्टी का 2012 में विधानसभा के चुनावों में विजयी रहना क्षेत्रवाद का नवीन उदाहरण है।

भारतीय मतदाता समय-समय पर राजनीतिक दलों द्वारा उछाले गए लुभावने नारों से प्रभावित होते रहे हैं। 1971 के चुनावों इंदिरा गांधी का नारा था 'गरीबी हटाओ'।[11] 'काँग्रेस का हाथ-गरीबी के साथ', 'काँग्रेस बार-बार भारतीय जनता पार्टी एक बार', 'अब की बार मोदी सरकार' ऐसे ही नारे हैं। 2004 के चुनावों में काँग्रेस ने प्रत्येक परिवार के एक सदस्य को 100 दिन का काम देने का वादा किया था। ऐसे लुभावने नारे, जो हवा में उछाले जाते हैं, जनता के मन को छू जाते हैं। जनता नारों से प्रभावित होकर किसी दल के पक्ष में मतदान कर देती है अथवा मषीन का बटन दबा देती है और वह दल बहुसंख्या में स्थान प्राप्त करके, सरकार का गठन करने में सफल हो जाता है। 2019 के लोकसभा चूनाव में भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही है।

परिकल्पना

इस शोध कार्य में मैंने निम्नलिखित परिकल्पनाओं को आधार बनाया है:

1. मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों में जाति की भूमिका सबसे अहम है तथा भविष्य में इसकी अहम संभावना है।
2. मतदान व्यवहार समय, परस्थिति व स्थान से भी प्रभावित होती है।

शोध आलेख का उद्देश्य

- इस शोध का उद्देश्य मतदान को स्वच्छ एवं पारदर्शी बनाने वाले कारको को उजागर करना।
- प्रस्तुत शोध का उद्देश्य लोकतंत्र को मजबूत बनाने विषयों को मतदाता के सम्मुख लाना।
- देश के ग्रामीण, अशिक्षित एवं वेरोजगार युवाओं को मतदान के प्रति जागरूक करने वाले कारणों को रेखांकित करना।

शोध-पद्धति

इस शोध-पत्र के लिए शोध सामग्री अधिकांश रूप में द्वितीयक स्रोतों से ग्रहण की गई हैं। इसमें ऐतिहासिक विश्लेषण व वर्णनात्मक दृष्टिकोण के साथ-साथ शोधकर्त्ता ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों को भी स्थान दिया है। शोध सामग्री प्रसिद्ध पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं व समाचार पत्रों से प्राप्त की गई हैं।

निष्कर्ष

भारत में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले उपर्युक्त कारकों के विवेचन एवं विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि ये कारक किसी विशेष क्षेत्र, वर्ग अथवा समुदाय को प्रभावित नहीं करते, वरन् सभी मतदाताओं को प्रभावित करते हैं। इस विषय में मतदाताओं की प्रवृत्ति कम अथवा अधिक समान है। भाषा, धर्म, समुदाय, क्षेत्रीयवाद व लुभावने नारे सभी को प्रभावित करते हैं। यहां मतदाता अक्सर धर्म, जाति, भाषा, सम्प्रदाय के नाम पर मतदान करते हैं। राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता के लिए यह आवश्यक है कि मतदाता इन संकुचित भावनाओं से ऊपर उठकर मतदान करें। लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा हेतु एक व्यापक राजनीतिक दृष्टिकोण का अपनाया जाना अनिवार्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रसाद, मणिशंकार, राजनीतिक समाजशास्त्र, मोतीलाल बनारसी दास, 2010, पृष्ठ–132।
2. कुमार, संजय, एवं राय परवीन, मिजरिंग वोटिंग विहैवियर इन इंडिया, सेज पब्लिशिंग, 2013 पृष्ठ–87।
3. अहमद, इम्तियाज, क्वॉटेडफ्रॉम गोविन्दराम वर्मा, “भारतीय राज नीति और शासन” नई दिल्ली : 1978 : पृष्ठ–487।
4. डा. धर्मवीर, “भारत में राजनीतिक प्रक्रिया” राजनीतिक समाजशास्त्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2016, पृष्ठ–39–245।
5. मिलब्राथ, एल., “प्रीडिस्पोजीशन टुवाईज पॉलिटिकल कन्टेशन” इन वेस्टर्न पॉलिटिकल क्वार्टरली, 1960, 13, पृष्ठ 5–18।
6. डेविथ, किंग्सले, ह्यूमन सोसायटी, मैकमिलन, 1949, पृष्ठ 127–138।
7. मेहरा, अजय कुमार, पॉलिटिकल पार्टिज एण्ड पार्टी सिस्टम, नई दिल्ली, सेन पब्लिकेशन 2002, पृष्ठ 162–180।
8. वीनर, एम. “विपेज एण्ड पार्टी फ्रैक्शनलिज्म इन आन्ध्रः पानूर कांसट्यूएंसी” इन वीनर एण्ड कोठारी, पृष्ठ 177।
9. माइरन वीनर, “पॉलिटिकल पार्टिसिपेशनः क्राइसिस ऑफ द पॉलिटिकल प्रोसेज प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1971।
10. सिंह, एम.पी., “इलेक्टोरल रिफॉर्म्स इन इंडिया'', बिहार जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, 2012 पृष्ठ 12–17।
11. बघेल, डी. एस ., सिंह कर्चुली, टी.पी., राजनैतिक समाज शास्त्र, पृष्ठ 267।

नेपाल में माओवादी आन्दोलन की भूमिकाः एक समीक्षात्मक अध्ययन

सुनीता प्रसाद

(एम.ए., पीएच-डी-राजनीति विज्ञान)

शोध आलेख का सार

चीनी क्रांतिकारी, राजनैतिक विचारक और साम्यवादी (कम्युनिष्ट) दल के सबसे बड़े नेता माओत्से तुंग, जिनके नेतृत्व में चीन की सफल क्रांति हुई को माओवाद का जनक माना जाता है। वे जनवादी गणतन्त्र चीन की स्थापना (सन् 1949) से लेकर मृत्यु पर्यन्त (सन् 1973) तक चीन का नेतृत्व किया। मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा को सैनिक रणनीति में जोड़कर उन्होंने जिस सिद्धांत को जन्म दिया उसे 'माओवाद' नाम दिया जाता है। चीनियों के अनुसार माओ ने अपनी नीति और कार्यक्रमों के माध्यम से आर्थिक, तकनीकी एवं सांस्कृतिक विकास के साथ देश को विश्व में प्रमुख शक्ति के रूप में ला खड़ा करने में मुख्य भूमिका निभाई। माओ के ग्रेट लीप फॉरवर्ड और 'सांस्कृतक क्रांति' नामक सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यक्रमों के कारण देश में गंभीर आकाल पैदा हुए थे। उनके कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के दौरान करोड़ों चीनी लोगों की मौत भी हुई। इसलिए कहा जाता है कि उनके विचारों ने चीनी समाज, अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति को बहुत ठेस पहुँचाई। लेकिन इन सारी खूबियों और खामियों के बावजूद माओ संसार के सबसे प्रभावशाली व्यक्तियों में गिने जाते हैं।

मूल शब्दः माओवाद, सांस्कृतिक क्रांति, आतंकवाद, सर्वहारा, श्रमिक संगठन, चरमपंथी, बुद्धिजीवी, राजनीतिक सत्ता आदि।

प्रस्तावना

माओवाद, चरमपंथी या अतिवादी माने जाने वाले तथा कथित बुद्धिजीवी वर्ग का एक ऐसा उत्तेजित जन समूह है, जोकि जंगलों से लेकर विश्वविद्यालय, फिल्म और मीडिया तक में सक्रिय है। माओवादी राजनैतिक रूप से सचेत, सक्रिय और योजनाबद्ध तरीकों से दल के रूप में काम करते है। उनका तथा मुख्य धारा के राजनीतिक दलों में प्रमुख भेद यह है कि जहाँ मुख्यधारा के दल वर्तमान व्यवस्था के भीतर ही काम करना चाहते हैं वहीं माओवादी समूचे तंत्र को हिंसक तरीकों से उखाड़कर अपनी विचारधारा के अनुरूप नई व्यवस्था को स्थापित करना चाहते हैं। वे माओ के प्रसिद्ध दो वाक्यों पर काम करना चाहते है। माओ का कहना था कि - 1. राजनीतिक सत्ता बन्दूक की गोली से निकलती है। 2. राजनीति रक्तपात रहित युद्ध और युद्ध रक्तपात युक्त राजनीति। यही माओवाद आज नेपाल में सक्रिय है।[1]

नेपाल में माओवाद की शुरुआत 1990 के बाद प्रजातंत्र की वापसी के समय से ही प्रारम्भ होने लगी थी, लेकिन सन 1994 के बाद माओवादी हिंसा इतनी तीव्र हो गयी कि कोई भी प्रजातान्त्रिक सरकार उसका मुकाबला नहीं कर सकी। पिछले बारह वर्षों में जारी माओवादी हिंसा में हजारों लोगों की जान जा चुकी है। सन 1995 से लेकर कई वर्षों तक वहाँ की राजनीतिक स्थिति अस्थिर बनी हुई है। कोई भी सरकार अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पा रही है। अनेक प्रधानमंत्री को माओवादी कारनामों के कारण असफल होना पड़ा।

काठमांडू से प्रकाशित काठमांडू पोस्ट के अंक में प्रत्युष ऑटो का एक विश्लेषण प्रकाशित हुआ है उसमें उन्होंने ने कहा कि "यह सच है कि साठ के दशक में नेपाल में कम्युनिस्ट पार्टी में पहले विघटन के बाद दो दल बने - एक सोवियत रूस समर्थक और दूसरा चीन समर्थक। रूस समर्थक गुट ने राजा महेंद्र से समझौता कर लिया और उन्हें पार्टी विहीन पंचायती व्यवस्था में शामिल कर लिया गया। बाद में चीन समर्थक गुट और अधिक विभाजित होते गये। चूँकि वर्त्तमान माओवादियों की उत्पति चीन समर्थक वामपंथी दल से हुई है, अतः कुछ राजनैतिक विश्लेषक उन्हें चीन समर्थक मानते है।[2]" वर्ष 1991 के संविधान के आने के बाद नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (मशाल), नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी चौथा महाधिवेशन (निर्मल लामा), सर्वहारा श्रमिक संगठन (रूप लाल) का विलय होकर नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। किन्तु संयुक्त मोर्चा नामक संस्था का गठन करके उन्होंने चुनाव में भाग लिया और कम्युनिस्ट पार्टी एकता केंद्र के टिकट पर वर्ष 1990 में माओवादी डॉ. बाबूराम भट्टाचार्य सहित नौ व्यक्तियों ने जीत हासिल की जो संसद में तीसरे नंबर की बड़ी पार्टी थी। 1991 में ही आयोजित संयुक्त महाधिवेशन में माओवादी नेता प्रचंड द्वारा प्रस्तुत "जनयुद्ध" का प्रस्ताव मंजूर कर लिया। वर्ष 1992 में एकता केंद्र की स्थानीय चुनावों में करारी हार हुई। 1990 से 2000 के बीच 10 सरकारें नेपाल में बनी। इन वर्षों के दौरान सरकार में शामिल होने के लिए नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी ने नेपाली काँग्रेस तथा राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी से समझौता किया। राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी को राजशाही का समर्थक माना जाता है। वास्तव में उनकी सत्ता के लालच में लगातार सरकार में शामिल होने से उनके प्रति जनता का मोह भंग हुआ और माओवाद को फलने - फूलने के लिए मौका मिला और पृष्ठभूमि तैयार हुई।

नेपाल में राजशाही समाप्त करने के उद्देश्य से हथियारबंद माओवादियों ने अपना आंदोलन फरवरी 1996 में शुरू किया था और सिर्फ छह वर्ष में वे देश के आधे से भी अधिक हिस्से में सक्रिय हैं। इस बीच कई सरकारें आईं और गईं लेकिन वे इस विद्रोह को कुचलने में नाकाम रहीं। इन सरकारों ने माओवादियों के इलाके में विकास पर भी ध्यान दिया और ताकत का इस्तेमाल भी किया। लेकिन यह आंदोलन निरंतर जारी है। इन माओवादियों में हजारों प्रशिक्षित लड़ाके शामिल हैं और इन्होंने अपने संगठन का खाका पेरू के सेंडेरो लुमिनोसो संगठन के आधार पर बनाया है।[3] पश्चिमी नेपाल के कुछ इलाकों में माओवादी समानांतर सरकार चलाते हैं। वे माओ के लेखन से प्रभावित हैं और उसी के आधार अपनी रणनीति पर बनाते हैं। ये रणनीति बड़ी साफ है। खेतों में काम करने वाले किसानों और कामगारों को इकट्ठा कर शहरी इलाके के लोगों को धमकाना। साथ ही हिंसा का सहारा लेकर अपनी बात मनवाना। जन युद्ध नेपाल की माओवादी कम्युनिस्ट पार्टी कभी देश की संसदीय प्रणाली का हिस्सा हुआ करती थी। माओवादियों ने 1990 में देशकी मुख्य धारा की राजनीतिक पार्टियों और कम्युनिस्टों के साथ लोकतंत्र की स्थापना के लिए संघर्ष किया था। 1991 में देश में बहुदलीय चुनावों में उन्होंने संसद में कुछ सीटें भी जीती थीं। वर्ष 1994 के मध्यावधि चुनाव का माओवादियों ने बहिष्कार किया। लेकिन 1996 के चुनावों में उनका मोहभंग हो गया और तभी से उन्होंने कथित 'जन युद्ध' की शुरुआत कर दी। तब से अब तक हिंसा में 2400 से अधिक लोग मारे जा चुके हैं।[4] माओवादी आमतौर पर पुलिस को निशाना बनाते हैं। सेना के कम वेतन पाने वाले सैनिकों को हतोत्साहित करने की कोशिश करते हैं। आंदोलन के शुरुआती दिनों में माओवादियों ने चालीस माँगें सामने रखी थीं। इनमें व्यापक रूप से भूमि सुधार, भारत के साथ करीबी रिश्ते खत्म करना, विदेशी मदद रोकना और शाही परिवार को सत्ता से बेदखल करना प्रमुख थीं। बाद में ऐसे संकेत मिले थे कि इनमें से कुछ माँगों पर वे अपना रवैया बदलने के लिए तैयार थे। अक्टूबर 2000 में सरकार के साथ शांति बातचीत शुरू करने की कोशिशें सफल नहीं हो सकीं क्योंकि जेल में बंद दो माओवादी नेताओं को लेकर भ्रम था। इसके अतिरिक्त माओवादियों की मांग यह भी है कि नेपाल में जन गणतंत्र की स्थापना के लिए नयी संविधान सभा गठित की जाये। राज्य तथा राज्य परिवार के सदस्यों के विशेष अधिकार समाप्त किये जाये। नेपाल के लगभग सभी राजनीतिक दल और बुद्धिजीवी संविधान सभा के गठन और राजतन्त्र की समाप्ति की मांग को छोड़ कर माओवादियों के अन्य सभी मांगों का समर्थन करते है। नेपाल में माओवाद की शुरुआत 1990 के बाद प्रजातंत्र की वापसी के समय से ही प्रारम्भ होने लगी थी। लेकिन सन 1994 के बाद माओवादी हिंसा इतनी तीव्र हो गयी कि कोई भी प्रजातान्त्रिक सरकार उसका मुकाबला नहीं कर सकी। पिछले सात वर्षों में जारी माओवादी हिंसा में हजारों लोगों की जान जा चुकी है। सन 1995 से लेकर अनेक वर्षों तक वहाँ की राजनीतिक स्थिति अस्थिर बनी हुई है। कोई भी सरकार अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पा रही है। अनेक प्रधानमंत्री को माओवादी कारनामों के कारण असफल होना पड़ा।

फरवरी 1996 को माओवादियों ने दीर्घकालीन जनयुद्ध की घोषणा कर दी। तब से आज तक समय - समय पर माओवादियों एवं सरकार में अपनी मांगों को मनवाने के लिए निरंतर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रही है। इसी के चलते माओवादियों का हिंसक संघर्ष प्रारम्भ हुआ। माओवाद एक राजनीति आस्था न हो कर असामाजिक तत्वों का वह गिरोह है। जिसे विदेशी हथियार के रूप में इस्तेमाल कर रहे है। नेपाली माओवादी अपने खिलाफ करवाई में राजा तथा राजनीतिक नेतृत्व के बीच आपसी अविश्वास का पूरा फायदा उठा रहे थे। माओवाद का जन्म वामपंथी मुहिम से हुआ, जो आज भारत व नेपाल के संबंधों पर गहराता काला बादल है और दोनों देशों के अस्तित्व के लिए खतरा बन गया है। शुरू में माओवादी नेपाल की राजशाही के विरुद्ध थे लेकिन धीरे - धीरे वे भारत विरोधी हो गये। नब्बे की दशक में वामपंथ माओवादियों के रूप में उभरा है तथा आंध्रप्रदेश से लेकर छत्तीसगढ़, झाखण्ड के वन मार्ग के माध्यम से नेपाल तक जुड़ा हुआ है। माओवादियों का आंदोलन सिर्फ राजनैतिक आंदोलन नहीं है। भारत और नेपाल की सीमा पर नाजायज कारोबार करने वाले इसके बीच सेतु का काम कर रहे है। यह सेतु इतना स्पष्ट है कि भारत- नेपाल सीमा पर निरंतर आबादी के संतुलन में बदलाव के रूप में इसे देखा जा सकता है। चाहे जम्मू - कश्मीर हो, पंजाब, पूर्वोत्तर के राज्य या वन श्रृंखला से जुड़े क्षेत्र हो, हिंसा से बदलाव की पीठ पर हमेशा विदेशी हाथ ही रहा है। भारत एवं नेपाल द्वारा संयुक्त रूप से अभियान चला कर ही इस माओवादी अभियान को खत्म किया जा सकता है। माओवादी संघर्ष का सीधा असर भारत-नेपाल संबंधों पर पड़ रहा है, जिससे दोनों देशों की विकास में बाधा पड़ रही है।[5]

नेपाल के माओवादी आंदोलन के कीचड़ में न चाहते हुए भी भारत को अपना एक पैर रखना पड़ा। नेपाल में माओवादी आंदोलन के तार जहाँ भी जुड़े हो परन्तु भारत के लिए चिंता का विषय है। माओवादी हिंसा से निर्दोष नेपालियों का ही खून वह रहा, जिससे घाटी के लोग भयभीत है। भारत-नेपाल के सम्बन्ध 1950 की संधि के आधार पर विकसित होते रहे हैं। लेकिन नेपाल में जनता द्वारा पंचायत व्यवस्था के खात्में और लोकतंत्र की स्थापना का समर्थन किया। राजनीतिक पार्टियां तथा जनता के उग्र प्रदर्शन और आंदोलन के बाद 19 अप्रैल, 1990 को नेपाल में लोकतंत्र की स्थापना हुई। सन 1991 में नेपाल में आम चुनाव हुए और गिरिजा प्रसाद कोइराला नेपाल के प्रधानमंत्री बने। लेकिन मार्च 1994 में नेपाल में राजनीतिक संकट प्रारम्भ हो गया। राजनीतिक पार्टियां कोइराला सरकार के कार्य एवं व्यवहार से खुश नहीं थी। 30 नवंबर 1994 को मनमोहन अधिकारी के नेतृत्व में पहली बार अल्पमत कम्युनिस्ट सरकार पदारूढ़ हुई। लेकिन अधिकारी भी कोई ठोस कार्य नहीं कर पाये और 13 जून 1995 को नेपाल के महाराज वीरेंद्र ने संसद भंग कर दी और 16 जून को अधिकारी को सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पारित हो गया। उसके उपरांत शेर बहादुर देउआ नेपाल के प्रधानमंत्री बने लेकिन देउआ सरकार के पतन के बाद में पुनः गिरिजा प्रसाद कोइराला की सरकार बनी। कोइराला सरकार बनते ही नेपाल में माओवादियों के संगठन बने जो राजशाही की खात्मे की बात और अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए उन्होंने नेपाल में आतंकवादी गतिविधियां फैलाना शुरू कर दी। लेकिन कोइराला सरकार माओवादियों पर नियंत्रण नहीं रख सकी। तब से लेकर आजतक माओवादी नेपाल में उथल - पुथल मचा रहे है।

काठमांडू से प्रकाशित कुछ लोगों का विचार है कि नेपाल के माओवादी 'रिम' अर्थात रेवोल्यूशनरी इंटरनेशनल मूवमेंट के निदेशन और मार्गदर्शन में काम करती है। काठमांडू से प्रकाशित नेपाली टाइम्स के दिनांक 30 नवंबर 2001 के अंक में माओवादियों के बारे में बहुत सारी सूचनाएं दी गयी है, जैसे- माओवादियों ने जुलाई 2001 के 'कन्फेडरेशन ऑफ कम्युनिस्ट एंड माओइस्ट पार्टीज ऑफ साउथ अफ्रीका' नामक क्षेत्रीय संगठन की घोषणा की है। 21 नवंबर 2001 में डॉ. बाबूराम भट्टाचार्य की अध्यक्षता में सैंतीस सदस्यीय संयुक्त क्रान्तिकारी जन परिषद् का गठन किया। पत्र में यह भी कहा गया है कि 1

जून 2001 को नेपाल नरेश वीरेंद्र की हत्या के बाद माओवादी नेता भट्टाचार्य ने कहा कि नेपाल नरेश की हत्या के बाद नेपाल में रिपब्लिकन का जन्म हो गया है। उन्होंने यह भी कहा कि स्वर्गीय नरेश वीरेंद्र के साथ उनकी समझदारी विकसित हो गयी थी जिसे वे 'वर्किंग अंडरस्टैंडिंग' कहते है।[6] इस कथन का लोगों ने यह मतलब लगाया कि माओवादियों को दरबार का समर्थन प्राप्त था। परन्तु सिर्फ अखबार के आधार पर इस बात को सही नहीं माना जा सकता है। नेपाल के माओवादियों को काठमांडू लिबरेशन आर्गनाइजेशन (ज्ञस्ं) उल्फा, एम० सी० सी० तथा पी० डब्ल्यू० जी० जैसे भारत के उग्रवादी संगठनों से मदद मिल रही है।[7]

2006 में सार्वजनिक होने के बाद और जेल में कैद 'हार्डलाइनर्स' के बाहर आने के बाद नेपाल की माओवादी पार्टी में दो लाईन का तीव्र संघर्ष शुरू हो गया। विगत की कमजोरियों को ठीक कर आंदोलन को पटरी में लाने के इरादे से पार्टी के एक बड़े हिस्से ने अंतरसंघर्ष शुरू किया। इस संघर्ष का नतीजा यह निकला कि माओवादी पार्टी के विसर्जनवादी नेतृत्व ने 'वाम' एकता के छद्म नारे में पार्टी के अंदर उन तमाम लोगों को भरना आरंभ कर दिया जो जनयुद्ध और माओवादी राजनीति के घोर विरोधी रहे थे। अंततः पार्टी के अंदर जनयुद्ध विरोधियों का बहुमत हो गया। 2012 तक आते आते माओवादी पार्टी के अंदर दो लाईन के साथ साथ चलने का दौर पूरा हो गया। पार्टी टूट गई। नव संशोधनवादियों के खिलाफ पार्टी के मूल नेतृत्व ने, प्रचण्ड और बाबुराम को छोड़, नई पार्टी का निर्माण किया नेपाल कम्युनिष्ट पार्टी– माओवादी। इस पार्टी ने आरंभ से ही बिखरे माओवादियों को एकताबद्ध करने और नव संशोधनवादियों के खिलाफ संघर्ष चलाने का प्रयास किया।

तेज आर्थिक विकास के सुपरसोनिक दौर में नेपाल में संसदीय ढ़ाँचा को माओवादी क्रांति जल्द पूरा कर लेना चाहते हैं औ इसके लिए कुछ मामूली 'समझौते' करने पर भी तैयार है– जैसे, सर्वहारा की तानाशाही जैसे 'बदनाम' नारे को छोड़ना चाहते है। ऐसे ही और तर्को के साथ नेपाल का माओवादी आंदोलन खुद को 'नई' बिश्व मान्यता के अनुरूप ढालने, 'बिश्व जनमत' का भरोसा जीतने और 'नई' तरह की क्रांति करने के काम में व्यस्त है। कुल मिला कर वह मार्क्सवादी या नेपाल के संदर्भ में माओवादी क्रांति को पूरा करने के लिए मार्क्सवाद और माओवाद से समझौता करने, यहां तक कि उससे पीछा छुड़ाने को तैयार है।

परिकल्पना

शोध कार्य को सही दिशा देने तथा उचित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए परिकल्पना का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस शोध कार्य में निम्नलिखित परिकल्पना प्रस्तावित है:-

1. नेपाल में सक्रिय माओवादी भारतीय राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था एवं वैदेशिक नीति को प्रभावित किया है।
2. नेपाल में सक्रिय माओवाद नेपाल ओर भारत दोनों देशों में कई अप्रिय घटनाओं को अंजाम दिया है, जिससे भविष्य में भारत को सचेत रहने की आवश्कता है।
3. नेपाली माओवादी नेपाल के राजनीतिक अस्थिरता के लिए भी उत्तरदायी है।

शोध आलेख का उद्देश्य

- प्रस्तावि शोध का उद्देश्य नेपाल में सक्रिय माओवादी गतिविधियों का विवेचन करना।
- प्रस्तुत शोध का उद्देश्य माओवादी गतिरोध के परिप्रेक्ष्य में भारत-नेपाल संबंधों पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।
- नेपाल में माओवादी आन्दोलन को समाप्त करने और उन्हें समाज के मुख्य धारा में लाने हेतु उत्तरदायी कारणों का पता लगाना।

अध्ययन विधि

प्रस्तुत शोध के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक विवरणात्मक पद्धति के अतिरिक्त अन्य पद्धतियों का सहारा लिया है। वस्तुतः प्रस्तुत शोध की अध्ययन पद्धति, ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक विवरणात्मक है। इस के अतिरिक्त शोध कार्य की आवश्यकतानुरूप तुलनात्मक पद्धति का भी सहारा लिया जा सकता है। प्रस्तुत शोध की अध्ययन पद्धति में विश्लेषण हेतु इतिहास से आधारभूत सामग्री प्राप्त किया जा रहा है तथा इस की वैज्ञानिक योजना स्वीकार्य है। इस शोध कार्य हेतु आवश्यक सामग्री विदेश मंत्रालय (दिल्ली) के अभिलेखों, राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय पुस्तकालयों, इन्टरनेट एवं शोध संस्थानों आदि में उपलब्ध, सामाचार पत्र-पत्रिकाएँ एवं अन्य प्रासंगिक सामग्रियों का अध्ययन किया गया है।

निष्कर्ष

नेपाल में लोकतंत्र के लिए बहुत दुखद स्थिति है। नेपाल में माओवादी विद्रोह को सिर्फ सेना और पुलिस की ताकत से नहीं दबाया जा सकता है। इसके लिए माओवादी विचारधारा का प्रभावपूर्ण जवाब लोगों के सामने जाना चाहिए। माओवादी विद्रोह को दबाने के लिए यह आवश्यक है कि नेपाल में वास्तविक लोकतंत्र की बहाली हो। नेपाल की समस्या पर भारतीय नीति पूर्णतया आंकलन करने में असफल रही है। माओवादी इतने शक्तिशाली हो गये कि वे नेपाल के शासन तंत्र बदलने की स्थिति में आ गये। आज वे सरकार में भी शामिल हैं तथा उनका विचार भारत से मोल-भाव करने का है तथा 1950 में हुई भारत – नेपाल संधि आदि को पुनः परिभाषित करने पर वह जोर दे रहा है, जबकि यह संधि नेपाल के हित में है। भारत और उसके उत्तरी पड़ोसी हिमालयी देश नेपाल के सम्बन्धों में इतनी अधिक पुरातनता तथा सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्तरों पर इतनी अधिक समानताएं है कि सामान्यतया दोनों देशों के सम्बन्ध हमेशा सौहाद्रपूर्ण बने रहने की आशा की जाती है।

सन्दर्भ

1. डॉ. दीपेंद्र सिंह तोपवाल एवं डॉ. दीघवाल सिंह भंडारी, नेपाल की राजनितिक स्थिति एवं भारतीय भूमिका प्रतियोगिता दर्पण, पेज– 2195 – 2198।
2. राम सागर शुक्ल, अनजान पड़ोसी, भारत नेपाल, सनातन प्रकाशन, लखनऊ, 2004, पृष्ठ–63।
3. रमाकांत बी० सी०, इंडिया नेपाल रिलेशन, द चैलेंजिंग अहेड, साऊथ एशियन पब्लिशर्स प्रा० लि० दिल्ली।
4. भट्टाचार्य, जी.पी., इंडियन एण्ड पॉलिटिकल आर्फ मॉडर्न नेपाल, पृष्ठ–3 ।
5. मनीष दमादे एवं हर्ष वी पन्त, कॉपिंग विद् चैलेन्ज टू सोवर एट्टी : सीनो इण्डियन राइवरली एण्ड नेपाल्स् फॉरेन पॉलिसी, कन्टेम्पटरी साउथ एशिया 13 (2) जून, 2004
6. शुक्ल, राम सागर, अंजान पड़ोसी भारत–नेपाल, सनातन प्रकाशन, लखनऊ, 2004, पृष्ठ 47–52।
7. एम0 डी0 धर्मदसानी, इण्डिया एण्ड डेमोक्रेसी प्रोसेस ऑफ नेपाल, इण्डियन जनरल ऑफ नेपालीज, वॉल्यूम 5–6, वर्ष 95–96 पृष्ठ–27 ।
8. रोज, एल. ई., नेपाल एण्ड भूटान इन 1998 : टू हिमालयन किंगडमस (जनवरी–फरवरी, 1999) : 155–162 ।

बैंकिंग क्षेत्र में उभरते रुझान तथा आधुनिक बैंकिंग

डॉ० कुंदन कुमार सिंह

शोधकर्ता, वाणिज्य विभाग बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर, बिहार

बैंक वित्तीय संस्थान हैं जो मौद्रिक लेनदेन में सौदा करते हैं। बैंक किसी भी समाज का अभिन्न अंग हैं। बैंक एक ऐसा संस्थान है जो जनता से धन जमा करता है और व्यक्तियों के साथ-साथ फर्मों को भी धन उपलब्ध कराता है। ये एक बैंक के प्राथमिक कार्य हैं लेकिन एकमात्र नहीं हैं। वे अपने ग्राहकों को कई अन्य सेवाएं भी प्रदान करते हैं जैसे कि लॉकर सुविधा, धन का हस्तांतरण, ड्राफ्ट और पोर्टफोलियो प्रबंधन जारी करना आदि। हमारे देश के विभिन्न हिस्सों में कई बैंक स्थित हैं। हालांकि पहले भारत में बड़े शहरों और कस्बों में कुछ शाखाओं के साथ सीमित संख्या में बैंक थे पर पिछले कुछ दशकों में कई नए बैंकों ने देश के हर जगह और कोने-कोने में शाखाएं खोल दी हैं।

बैंकिंग का आधुनिकरण

भारत में बैंकों का राष्ट्रीयकरण एक बड़ा बदलाव था और इंदिरा गाँधी के काल का यह समय बेशक क्रांतिकारी माना जा सकता है। इससे पहले आम जनमानस सीधे तौर पर बैंकों से नहीं जुड़ा था और उन पर साहूकारी का मायाजाल चढ़ा हुआ था। इसके बाद क्रमवार ढंग से लोगों के जीवन में बदलाव आता गया, जो अब पूरी तरह टेक्नोलॉजी के हवाले हो चुका है। आज बैंकिंग का मतलब पूरी तरह बदल गया है और अधिकांश लोगों के लिए यह सिर्फ पैसे जमा करने, निकालने भर की एक संस्था नहीं रह गयी है।

2015 में मोदी सरकार द्वारा जनधन योजना लाई गयी, जिसमें तकरीबन 25 करोड़ नए खाते खुले। तमाम किन्तु-परन्तु के बावजूद यह एक बड़ी क्रांति सरीखा था, क्योंकि इससे बहुत से वैसे लोग भी जुड़े जो अब बैंकिंग से दूर थे। अब बैंकिंग के बदलावों और और प्रभावों पर एक नजर डालना सामयिक रहेगा।

भारत की सवा सौ करोड़ आबादी को लाइनों में खड़ा करने वाले इस फैसले की कई तरह से व्याख्या की जा सकती है। कोई इसे विनाशकारी बता सकता है तो कोई काले धन पर लगाम लगाने वाला। कोई इसे नौकरियाँ कम करने वाला बता रहा है तो कोई आर्थिक वृद्धि की रफ्तार पर ब्रेक लगाने वाला। वैसे, नौकरियां घटने और आर्थिक वृद्धि की रफ्तार कम होने सम्बन्धी बातों में एक हद तक सच्चाई भी है। हालाँकि, इस बात से शायद ही कोई इंकार करे कि नोटबंदी के बाद बैंकिंग-क्षेत्र में आमूल चूल बदलाव देखने को मिले हैं। टेक्नोलॉजी ने जबरदस्त ढंग से दस्तक दी है तो और भी कई नियम बदले हैं।

भीम ऐप

इसका एंड्राइड वर्जन 10 मिलियन से अधिक बार डाउनलोड किया जा चुका है, जो निश्चित रूप से एक नए ऐप के लिए एक बड़ी संख्या है। 3 एमबी से भी कम इस ऐप को हिंदी, अंग्रेजी के अतिरिक्त भारत सरकार इसे तकरीबन 11 भारतीय भाषाओं में उपलब्ध करा चुकी है, जिससे इसकी पहुँच बेहद व्यापक होने वाली है। लगभग सभी बड़े बैंक इससे जुड़े हुए हैं और सुरक्षित यूपीआई यानी यूनिफाइड पेमेंट इंटरफेस से ट्रांजैक्शन की सुविधा उपलब्ध कराते हैं। इसमें मोबाइल नंबर के सहारे आसानी से पैसा भेजा जा सकता है। इतना ही नहीं, अगर आप भीम के जरिए पैसे मंगवाना चाहते हैं तो इसका तरीका भी बेहद आसान है। जिस व्यक्ति से आप पैसे मंगवाना चाहते हैं उसे आप रिक्वेस्ट भेजेंगे और अगर वह अपना पासवर्ड डालकर उसे ओके कर देगा तो आपके अकाउंट में तुरंत पैसे आ जाएंगे। सरकार इसे प्रमोट कर रही है और आने वाले दिनों में बैंकिंग में यह ऐप बड़ा बदलाव ला सकता है।

मोबाइल वॉलेट्स

कहना गलत न होगा कि नोटबंदी के दौरान इन वालेट्स ने जबरदस्त ढंग से लोगों को सहूलियत दी, अन्यथा हालात नियंत्रण से बाहर हो सकते थे। पेटीएम, एसबीआई बडी, मोबिक्विक, पेटीएम, ऑक्सीजन, एमरुपी, साइट्रस और फ्रीचार्ज जैसी तमाम कंपनियां और वालेट्स ने कैश पर निर्भरता को कम किया और इनके इस्तेमाल में आया उछाल भी असाधारण था। बाद में रिजर्व बैंक से पेटीएम और एयरटेल ने बाकायदा लायसेंस लेकर बैंकिंग क्षेत्र में एंट्री ले ली है। जाहिर है, अब आपकी बैंकिंग का एक्सपीरियंस और भी बेहतर हो सकता है।

पेटीएम का पेमेंट्स बैंक

डिजिटल पेमेंट्स कंपनी पेटीएम अपना पेमेंट्स बैंक लॉन्च कर चुकी है। कस्टमर्स को डिपॉजिट पर 4 फीसदी ब्याज के साथ कैशबैक और ऐसी ही तमाम सहूलियतों के साथ यह व्यवस्था पारम्परिक बैंकिंग को निश्चित ही चुनौती दे सकती है। इसका टारगेट भी कम महत्वाकांक्षी नहीं है, बल्कि 2020 तक 50

करोड़ यूजर्स तक पहुँचने का दम भर रही है यह कंपनी। हाल फिलहाल इसके पास 20 करोड़ से अधिक रजिस्टर्ड यूजर हैं। आप नोटबंदी के दौर को याद करें। साथ ही पेटीएम की उस आक्रामक रणनीति को भी याद करें, जब उसने तमाम अखबारों के फ्रंट पेज पर प्रधानमंत्री की फोटो लगाकर आक्रामक विज्ञापन किया और करोड़ों यूजर्स तक पहुंची भी। हालाँकि, बाद में उसके यूजर और ट्रांजैक्शन कम जरूर हुए, किन्तु इसे हल्के में नहीं लिया जा सकता। वैसे भी चीन का बड़ा अलीबाबा ग्रुप और जापानी सॉफ्टबैंक इसके इन्वेस्टर्स में से हैं।

इसी से मिलता जुलता एयरटेल पेमेंट बैंक भी है तो दूसरी कई कंपनियां शुरुआत करने की प्रक्रिया में हैं।

इनटच बैंकिंग

अब बैंकों का सारा काम ऑटोमेटेड हो सकता है और ऐसा होगा तकनीक से जुड़ी उन मशीनो की सहायता से, जिसे भारतीय स्टेट बैंक ने 'इन टच बैंकिंग' (In Touch Banking) नाम दिया है। गौर करने वाली बात यह भी है कि भारतीय स्टेट बैंक की मानव रहित बैंक की 70 शाखाएं बखूबी काम भी कर रही हैं। निश्चित रूप से इससे बैंक में लगने वाली भीड़ कम हो सकती है। बताया जा रहा है कि यह मशीन खाता खोलने, पासबुक अपडेट, पैसा निकालने या जमा करने, एटीएम कार्ड मुहैया करने से लेकर लोन के लिए आवेदन करने तक के सभी काम चुटकियों में पूरा कर देगी। दिलचस्प बात यह भी है कि ऐसे में बैंक रविवार सहित अन्य छुट्टियों को भी खुले रहेंगे। हालाँकि, तकनीक का सही इम्प्लीमेंटेशन और उसकी अपडेशन भी उतना ही आवश्यक है, अन्यथा इंटरनेट के युग में हैकर्स के लिए कुछ भी मुश्किल नहीं है।

बैंक अकाउंट पोर्टेबिलिटी

अब ग्राहकों को बिना अपना अकाउंट नंबर बदले एक बैंक से दूसरे बैंक में खाता ट्रांसफर करने की सुविधा मिल सकती है। ठीक मोबाइल नम्बर पोर्टेबिलिटी की तरह। वैसे बैंक अकाउंट पोर्टेबिलिटी की काफी समय से बात चल रही है और अगर ऐसा होता है तो ग्राहकों को कई बैंक अकाउंट खोलने से निजात मिल सकती है। हालाँकि, यह प्रक्रिया अभी शुरूआती चरण में है। अब जबकि तमाम प्राइवेट बैंक मार्किट में आ रहे हैं तो यह सुविधा महत्वपूर्ण हो सकती है, इस बात में दो राय नहीं।

कैश लेन देन पर लगाम

सरकार इस बात के प्रति सजग दिख रही है और इसका प्रमाण यही है कि इनकम टैक्स डिपार्टमेंट लोगों को दो लाख रुपये से अधिक का नकद लेनदेन करने के प्रति आगाह कर रहा है। इसके लिए विभाग की ओर से बाकायदा blackmoneyinfo@incometañ-gov- पद नामक ईमेल जारी हुआ है, जिस पर कोई भी व्यक्ति अधिक नकदी लेन देन की सूचना दे सकता है। सरकार ने वित्त अधिनियम 2017 के तहत एक अप्रैल 2017 से दो लाख रुपये से अधिक के नकद लेनदेन पर रोक लगा दी है। बताया जा रहा है कि धारा 269 एसटी का उल्लंघन करने पर नकद राशि प्राप्त करने वाले पर इतनी ही राशि के बराबर जुर्माना लगेगा। मतलब कैश कारोबार करने वालों के लिए सब इतना आसान नहीं रहने वाला है। हालाँकि, भारतीय अर्थव्यवस्था को साफ सुथरी बनाने की कोशिश अच्छी है, किन्तु अब तक दूसरे ढंग से चलने वाला समाज कितनी जल्दी बदलता है, यह अवश्य देखने वाली बात होगी।

बैंकिंग के सन्दर्भ में कुछ और बातें हैं विचारणीय

इस बात पर वृहद चर्चा हो सकती है कि आजादी के 70 सालों बाद भी देश का आम आदमी बैंकिंग प्रक्रियाओं से उस ढंग से नहीं जुड़ पाया है, जैसे उसे जुड़ा होना चाहिए। अभी करोड़ों लोग ऐसे हैं जो बैंकिंग का मतलब सिर्फ पैसे भेजना और पाना ही समझते हैं। हालाँकि, बैंकिंग की मूल अवधारणा साहूकारी से मुक्ति है। आज भी तमाम लोगों को शिक्षा, शादी, व्यवसाय या किसी अन्य कठिनाई के समय बैंक की बजाय साहूकार ही नजर आते हैं। गाँव तो गाँव, शहरों में भी एक पर्सेंट, दो पर्सेंट या तीन पर्सेंट पर 'आधुनिक साहूकारी' का धंधा खूब फल फूल रहा है तो इसे बैंकिंग सिस्टम की सफलता कैसे माना जाए?

आसान लोन सिस्टम

पिछले दिनों तत्कालीन रिजर्व बैंक गवर्नर रघुराम राजन ने भारतीय बैंकों के सन्दर्भ में कड़ी टिप्पणी करते हुए कहा था कि, "जब बैंको को ब्याज दर बढ़ाना होता है तो वो पॉलिसी रेट की बात करते हैं। लेकिन जब रिजर्व बैंक अपना रेट कम करता है तो वो इसे कम क्यों नहीं करते।" ऐसे में तमाम अर्थशास्त्री सीधा मानते हैं कि बैंक अपनी ब्याज दरों में जितनी जल्दी कटौती करेंगे, अर्थव्यवस्था के बेहतर होने की सम्भावना भी उतनी ही बढ़ जाती है। लेकिन भारतीय परिदृश्य बैंको द्वारा ऊँची ब्याज दर रखी जा रही है और इससे अर्थव्यवस्था की बेहतरी की संभावनाएं कुछ हद तक ही सही क्षीण होती हैं। एक और बात ध्यान देने योग्य है कि आम आदमी बैंकों से कर्ज लेने से डरता है, क्योंकि इसमें काफी उलझाव हैं। जाहिर तौर पर इसे सरल किये जाने की आवश्यकता है। इसके उलट कॉर्पोरेट्स के लिए तमाम बैंक ढील देते हैं और कई बार तो नियमों को ताक पर रखने की हद तक। बाद में यही मामला एनपीए तक पहुँचता है और बैंकों को बड़ी चपत लगती है। हाल ही में विजय माल्या का सन्दर्भ इस बाबत बेहतर ढंग से दिया जा सकता है।

बैंकिंग क्षेत्र में उभरती प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं:

1. विलय और अधिग्रहण (Mergers and Acquisitions): वैश्वीकरण के वर्तमान युग में भारतीय बैंकिंग परिवेश में नयी चुनौतियाँ उभर रही है। इसी पृष्ठभूमि में परसिंहम कमेटी द्वारा अपनी दूसरी रिपोर्ट में बैंकों के विलय और अधिग्रहण की वकालत की है। आज भारतीय बैंकों के समक्ष विदेशी और निजी क्षेत्र के बैंक एक बढी चुनौती पेश कर रहे हैं। फलत: सार्वजनिक क्षेत्रों के बैंकों के मुनाफे में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पा रही है दूसरी, विदेशी-निजी

क्षेत्र के बैंक अपने साथ उन्नत तकनीक भी ला रहे है जिससे कम लागत पर उत्तर सेवा देने में सक्षम हैं सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक अपेक्षित कम उत्पादकता, पूँजी गाव और बढ़ती गैर-निष्पादित आस्तियों के दबाव से जूझ रहे है। बैंकों के सामने यह भी एक चुनौती है कि वह कैसे अपना अस्तित्व बनाये रखे विशेषकर छोटे और मझोले बैंकों के संदर्भ में यह अहम प्रश्न है।

वर्ष 1999-2000 के केन्द्रीय बजट द्वारा ऐसी सम्भावनाओं को तलाशने की पहल की है। वैसे तो वर्तमान भारतीय परिवेश में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के बलात अधिग्रहण में ऐसी संभावनाएँ नगण्य है फिर भी निजी क्षेत्र के बैंकों के लिए खतरा बना रहता है क्योंकि वहाँ कम पूँजी निवेश है, उत्पादकता अधिक और परिणाम (मुनाफा) ललचाने वाला है।

विदेशों में विलय और अधिग्रहण जब भी हुए है वह सम्बन्धित बैंकों/कम्पनियों द्वारा अपनी पहुँच बढाने, परिचालनों में विविधता और बलात अधिग्रहण से बचने के लिए किए गए है। उदाहरणार्थ बैंकर्स ट्रस्ट और बाल्टी मोर इन्वैस्टमैण्ट हाउस का विलय और हाल स्ट्रीट, न्यूयार्क की फर्म डिलन रीड को एलेक्सा ब्राउन और स्विस बैंकिंग कॉर्पोरिशन के खरीदने के संयुक्त प्रयास।

जापान में भी एक योजनाबद्ध तरीके से बैंकों को मजबूती प्रदान करने के उद्देश्य से ऐसे प्रयास अनवरत किए जा रहे है। भारत में अब तक जो भी विलय हुए है वह कमजोर बैंकों के सशक्त बैंकों के साथ बिना किसी खास प्रयोजन के, केवल कर्मचारियों की नौकरियाँ बरकरार रखने के लिए किए गए हैं, जैसे-पंजाब नेशनल बैंक में न बैंक ऑफ इण्डिया लि., सेठ काशीनाथ बैंक लि. का भारतीय स्टेट बैंक के साथ ऐसे अनुभव यह बताते हैं कि बेमेल विलय बडे बैंकों पर बोझ बने है और उनके कर्मचारी की सघनता अधिक है, परन्तु व्यापार कम है तो ऐसी शाखाओं के विलय से अथवा बन्द करके नये गैर बैंकिंग क्षेत्रों में पैठ बनायी जा सकती है। ऐसे प्रयासों से लागत में कमी आयेगी, लाभ में वृद्धि होगी और दूसरे बैंकों को कडी प्रतिस्पर्धा दे सकेंगे।

2. उपभोक्ता साख ब्यूरो (Consumer Credit Bureau): भारत बैंकिंग परिदृश्य में आज बैंकों में कडी प्रतिस्पर्द्धा के चलते ऋणी के सही चयन और पुनर्भुगतान की बडी विकट समस्या है। गैर निष्पादित आस्तियों (NPAs) के फैलाव में ऋणी का सही चयन न हो पाना एक बडा कारक (Factor) है।

इस समस्या को कुछ हद तक कम करने के और अन्य सम्बन्धित सूचना के संकलन आकलन के उद्देश्य से करते के गठन का प्रस्ताव उपस्थिति वाले ब्रिटिश कम्पनी 'एक्सपेरियन' और अमेरिकी कम्पनी 'इक्वीफैक्स' द्वारा लाया गया है जो कि उपभोक्ता की व्यक्तिगत वित्तीय स्थिति आधार और साख की विस्तृत रिपोर्ट तैयार करेगी और बैंकों को नियत शुल्क पर उपलब्ध कराएगी। इस आशय का प्रस्ताव भारतीय रिजर्व बैंक की स्वीकृति के लिए प्रेषित किया जा चुका है।

3. यूनीवर्सल बैंकिंग (Universal Banking): ऐसी परिस्थितियों जब बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाएँ विकास बैंक उन्मुक्त तौर से अपना कार्य कर सकेंगे। वर्तमान में बैंकिंग संस्थाओं की एक सीमा से ऊपर दीर्घकालीन ऋण देने पर रोक है वहीं वित्तीय संस्थाएँ कार्यशील पूँजी वित्त प्रदान नहीं करते है। विकास वित्त संस्थाएँ (DFI) अपनी आवश्यकताओं हेतु भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा 'दीर्घावधि परिचालन निधि खाता' (Long Term Operation Fund) से प्राप्त कर रहे हैं।

यह फण्ड दीर्घावधि की प्रकृति के होने के कारण दीर्घावधि परिपक्वता वाली परिसम्पत्तियों (Assets) के निर्माण में सहायक रही है। जब यह स्रोत सुख गया है। बैंकों की जमा राशियाँ अपेक्षित कम लागत पर बचत खातों चालू खातों से मिल जाती हैं जबकि वित्तीय संस्थाओं को यह सुविधा नहीं है और उन्हें जमा राशियों के लिए बॉण्डों को जारी करना होता है जो कि उन्हें अपेक्षित अधिक ब्याज दरों पर प्राप्त हो।

फलत: वित्तीय संस्थाएँ कम ब्याज दरों पर ऋण नहीं दे पाती हैं। वर्तमान में जबकि बैंक कम लागत पर ऋण देने की स्थिति में ह। तीसरे, बैंकों को अपनी जमाओं पर सावधिक तरल अनुपात (SLR) और नकद आरक्षित अनुपात (CRR) के अनुपालन की आध्यता है तो वित्तीय संस्थाओं को इन अनुपातों से मुक्त रखा गया है।

प्रतियोगिता के युग में बैंक, और वित्तीय संस्थाओं को यदि समान अवसर (Level Playing Fild) और नियमों में रखे जाने की आवश्यकता है जिससे ब्याज दरों में कमी आयेगी, प्रतिस्पर्द्धा बढेगी, उत्पादों के लागत मूल्यों में कमी आने से बैंकिंग उत्पाद प्रतियोगी बनेंगे। भारतीय रिवर्ज बैंक द्वारा 'यूनीवर्सल बैंकिंग' के समस्त पहलुओं के अध्ययन हेतु भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) के अध्यक्ष श्री खान की अध्यक्षता में एक समिति गठित की थी जिसने अपनी रिपीर्ट दे दी है।

4. वंश बैंकिंग (Generation Banking): इस दशक में नये विदेशी बैंक और निजी क्षेत्र में बैंकों के आने से आज प्रतिस्पर्द्धा कुछ ज्यादा ही हो चली है। बैंक यह प्रयास करते है कि उनके ग्राहक बन रहे है और, उनके माध्यम से उनके परिवार/कुटुम्ब के सदस्य भी उसी बैंक से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करें। दूसरे शब्दों में, पर परिस्थितियाँ जब दादा पिता पुत्र सभी अपना खाता एक बैंक में रखे तो आप उनके विभिन्न पीढ़ियों की सेवा करते हैं। यही वश बैंकिंग (Generation Banking) है।

सजगता

दिनों दिन टेक्नोलॉजी का प्रसार बढ़ता जा रहा है और बैंकिंग जैसे क्षेत्र तो इसके ऊपर पूरी तरह डिपेंड से हो गए हैं। ऐसे में आवश्यकता सावधानी की भी है, क्योंकि जिस तेजी से टेक्नोलॉजी बढ़ रही है, उसी तेजी से बढ़ रहे हैं अपराध भी। तो आइये देखते हैं, इस मानक पर हमें किन महत्वपूर्ण बातों का हमेशा ध्यान रखना चाहिए:

- मोबाइल बैंकिंग में ऑफिशियल एप्स ही इस्तेमाल करें, तो बैंकिंग के लिए पब्लिक वाई-फाई का इस्तेमाल कतई न करें। बैंकिंग से जुड़ी इंफोर्मेशन जैसे यूजरनेम, पासवर्ड, ट्रांजैक्शन पासवर्ड इत्यादि मोबाइल में कदापि सेव न करें। फोन को पासवर्ड और बेहतरीन मोबाइल सिक्युरिटी एप्स से जोड़ें रखें।

- फिशिंग अटैक्स, आइडेंटिटी थेफ्ट, की-लॉगर्स इत्यादि आपराधिक गतिविधियों के प्रति सजग रहें। बैंकिंग के लिए कभी भी लॉगिन-लिंक्स पर क्लिक करके न जाएं, बल्कि यूआरएल, यूजरनेम, पासवर्ड इत्यादि टाइप करें।
- अपने बैंक अकाउंट में अंतिम लॉगिन डिटेल चेक करते रहें। अपने अकाउंट के बैलेंस पर आप बारीक नजर रखें, मतलब पासबुक अपडेट रहे, ताकि किसी संदिग्ध गतिविधि को आप तुरंत पकड़ सकें।
- वैसे तो पब्लिक कंप्यूटर पर बैंकिंग करनी ही नहीं चाहिए, किन्तु बेहद जरूरी होने प्राइवेट ब्राउजिंग / इन्कॉग्नीटो विंडो में लॉगिन करें।
- ऑनलाइन शॉपिंग में क्रेडिट-कार्ड का इस्तेमाल ठीक रहता है क्योंकि फ्रॉड होने पर आप बैंक को सीधा रिपोर्ट कर सकते हैं, जबकि डेबिट-कार्ड में रियल-मनी तुरंत कट जाती है।
- इसके अतिरिक्त विभिन्न एंटीवायरस सेफ बैंकिंग के लिए आपको वर्चुअल विंडो प्रोवाइड करते हैं।
- यदि आपके पास कई बैंकों के ऑनलाइन पासवर्ड्स हैं तो उन सभी के पासवर्ड अलग रखने की कोशिश करें।

संदर्भ

1. Times Of India Editorial.
2. The Hindu Editorial.
3. Bankers Adda.
4. Banking Briefs SBI

लालदास कृत रमेश्वरचरित मिथिला रामायणमे मिथिलाक वर्णन

कुमकुम कुमारी

शोध-गवेषिका, (यूजीसी-नेट), विश्वविद्यालय मैथिली विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा

रामकाव्य परम्परामे कविवर लालदास कृत रमेश्वर चरित मिथिला रामायण अमूल्य निधि थिक। जँ साहित्यिक एवं धार्मिक दूनु दृष्टिसँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखैत अछि। महाकवि लालदासक जन्म 17 फरवरी 1856 ई0मे मधुबनी जिलाक खड़ौआ नामक गाममे एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवारमे भेलनि। हिनक पिताक नाम बचकन दास छलनि।

रामायण सहित हिनक सत्रह गोट मैथिलीक कृति अछि, यथा– साँग सप्तशती दुर्गाटीका, चण्डीचरित्र अथार्त् सप्तशती दुर्गा, स्त्रीधर्म-शिक्षा, श्री सत्यनारायण व्रत कथा टीका, गणेश खण्ड, महेश्वर विनोद अथवा गौरी शम्भु विनोद, हरितालिका व्रत कथा, सोमवारी व्रत कथा, विरूदावली, गंगा माहात्मय, जानकी रामायण, श्रीमद्भगवत गीता, ब्रह्मोतर खण्ड, लक्ष्मीकाण्ड, राधेकाण्ड, सावित्री-सत्यवान नाटक प्रभुति।

रमेश्वर चरित्र मिथिला रामायण महाकवि लालदासक विशिष्ट कृति थिक, जाहिमे प्रबन्धकाव्यक प्रत्येक लक्षण परिलक्षित होइत अछि। ओना मिथिलामे रामायणक प्रथम रचयिता कवीश्वर चन्दा झा छलाह आ दोसर लालदास। मैथिली साहित्यक रामकाव्य प्रणेताक रूपमे लालदास दोसर स्थान पर छथि, मुदा मौलिकता, विषय-वस्तु, भाव एवं उपस्थान शैलिक दृष्टिसँ प्रथम एवं अद्वितीय छथि। लालदासक सबसँ पैघ विशेषता ई छनि जे अपन रामायण बोधगम्य भाषामे लिखने अछि। रामायणमे 'पुष्कर काण्ड'क चर्च सेहो भेल छैक। मुदा चन्दा झाक रामायणमे ई गप नहि छैक। लाल– दासक रामायण ततेक सहज, सरल, स्वच्छ आ स्पष्ट भाषामे छैक, जे मुर्खो कँ पढ़वा आ बुझवामे कठिनता नहि होइछ। जे निम्न पांतीमे देखल जा सकैछ–

''सीता रामाक चरिता ई जे पढ़वाह सूनताह। लाल सकल सुखभोगी पुन, ब्रह्मक पद पौताह।''[1]

कविवर एहि रामायणक रचना अपन आश्रयदाता रमेश्वर सिंहकँ तुष्ट करबाक हेतु लिखलनि, जकर उद्देश्य व्यापक छल। हिनक राम मात्र दशरथक पुत्र नहि, मानव मात्र नहि अपितु ओ राम अर्थात् लक्ष्मी ईश्वर विष्णु थिकाह। एहि रामायणमे रामक अलौकिक प्रसंग, लक्ष्मी अर्थात् सीताक उत्कर्ष, सीताकँ जननीक रूपमे देखब। कारण अछि, जे हिनक रामायणमे रामसँ बेसी सीताकँ महत्व देल गेल अछि। आ मातृभाषा मैथिलीकँ साक्षात् लक्ष्मीक रूपमे कविक व्यापक दृष्टिक परिचायक थिक।

कविवर लालदास बाल्मीकिसँ विशेष प्रभावित छलाह। तँ हिनक रामायणक मुख्य आधार बाल्मीकि रामायण थिक। ई अपन रामायणमे राम आ सीताक स्थान पर विष्णु आ लक्ष्मीक परिक्लपना कएने छथि। ई कृति पुराण ओ तन्त्रसँ सेहो विशेष प्रभावित अछि जाहि मादे कवि स्वयं लिखने छथि –

''आदि कविक आशय कतोक,
आशय विविध पुराण।
कतहु तन्त्र मन्त्रसँ करत,
लान रास-गुन-गान।।''[2]

हिनक रामायण आठ काण्डमे विभक्त अछि। यथा– बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड, उत्तराकाण्ड एवं पुष्कर कांड।

एहि रामायणमे सुगम दोहा आ चौपाई आदिसँ अन्त धरि भेटैत छैक। तत्सम शब्दक संग ठेठ शब्दावलीक प्रयोग रचनामे चमत्कार आनि देने अछि। संगहि विविध छन्दक प्रयोग जेना– चौपाई, सौरठा, दोहा, रूपमाला, शट्पद, हरिपद, कुण्डलिया आदिक सेहो एहि रचनामे भेल छैक।

''हमहुँ जायब अहि संग सुत,
करब नित वनवास।
धेनु, जेहि विधि वत्स-संगहि,
रहय मन उल्लास।।''[3]

एहि रूपमाला छन्दमे रामक प्रति कौशल्या वात्सल्य प्रदर्शित भेल अछि। उत्प्रेक्षा अलंकार चमत्कारपूर्ण सरस वर्णन हमरा तखन भेटैछ जखन लंका यात्रक अवसरपर हनुमानक अतुल पराक्रमक विवरण अछि –

''कयल गिरि जनु कविक पूजन,
पुष्पमय तन भेल।
बूझि पड़ जनि "फूलक बानर",
पवन सुत बनि गेल।।''[4]

एहि रामायणमे प्रत्येक छन्दक माधुर्य एवं प्रसादगुणक विशिष्टता दर्शनीय छैक।

ई मूलस्पसँ बाल्मीकि रामायणक आधारपर लिखल गेल छैक। किछु विषय पुराण ओ तंत्र सँ सेहो लेल गेल छैक। एहि रामायणक सभसँ पैघ विशेषमा थिक जे सीताक चरित्रकँ प्रधानता देल गेल छैक। जेना-उर्मिलाक चरित्रकँ दृष्टिमे राखि 'साकेत'क रचना भेल ताहिना सीताक दृष्टिमे राखि लालदास रमेश्वर चरित्र मिथिला रामायणक रचना कएलनि। एहि रामायणक प्रारम्भ सीताक महिमा वर्णनसँ होइत अछि। यथा –

''मूल प्रकृति लक्ष्मी जनिक,
सीता रूप प्रधान।
तनिक नाम जपि पाब नर,
दुहु लोकक कल्याण।।''[5]

एहि अदभूत कृतिक माध्यमसँ कविवर मिथिलाक प्रति प्रेम, समर्पण एवं भक्तिक धाराकँ प्रवाहित करौलनि। पुष्करकांडमे मिथिलाक प्रति जगत् जननी सीताक भावना एहि रूपँ अभिव्यक्त भेल अछि :

''नैहर हमर मिथिला देश।
अति प्रियकर की कहब विशेष।।''[6]

एहि कृतिक माध्यमसँ कविवर लालदासक व्यक्तित्वक निखार सेहो होइत अछि। ओ पाण्डित्यक संग मिथिलाक प्रति श्रद्धाकँ काव्य कुशलताक संग अभिव्यक्ति देलनि। (राम देल तँ मिथिला सती साध्वी सीता, जकर आदर्श पर चलब एखनो प्रत्येक भारतीय नारी अपन गौरव बुझैत छथि। एहि सीताक व्यक्तित्वकँ जाहि रूपँ लालदास'जी प्रस्तुत कएने छथि से अतुलनीय अछि एवं एहि द्वारा मिथिलाक गौरव पुन: साहित्यमे स्थापित भेल अछि।)

कवि एहि प्रबन्ध काव्यमे मिथिलाक अद्भूत वर्णन कएने छथि। आर एहिसँ स्पष्ट अछि, जे कविवर अपन मातृभूमि मिथिलाक प्रति सेहो अत्यधिक मोह देखौलनि अछि। मिथिलाक भूमिक विशिष्टता, ओकर महनीयता, पवित्रता आदिक मनोहारी चित्रण प्रस्तुत'क' कविवर मातृभूमिक प्रति प्रगाढ़ स्नेह देलनि अछि -

''जन्मभूमि नैहर सीताक।
जतय स्वयं शिवरूप पिनाक।।
शक्ति पीठ उत्तम स्थान।
उग्र भूमि सभ भाँति महान।।''[7]

एतवे नहि -

''कंचनमय प्राकार ललाम।
शरदमेघ सन सौंध सुधाम।।''[8]

लालदासक सीता उपेक्षित नहि छथि। राम कथाक संग सीताक उपस्थिति अनिवार्य अछि। आओर सीताक मर्यादित रूप प्रतिष्ठापित भेल अछि। मर्यादा स्रोत होइछ शक्ति आओर शक्तिक पुंज थिकीह सीता। यदि अयोध्या मर्यादा पुरुषोतम। कविवर लालदास मिथिलाक परम्परागत शाक्त भावनाकँ रामकाव्यमे उद्भाषित कएलनि अछि। पुष्करकांडमे सीताक उत्कर्ष वर्णन अछि। एहिमे सीताक महत्वकँ विशिष्ट रूपँ चित्रित कएल गेल अछि। सीताक विशिष्ट चरित्र रामसँ बेसी शक्तिशाली प्रदर्शित भेल अछि।

कवि मिथिलाक सभ्यता एवं संस्कृतिक चित्रण विशद रूपँ कएलनि अछि। मिथिलाक परम्पराक अनुकूल विविध विषयक वर्णन एहि महाकाव्यमे भेल अछि। यथा -

गिरिजा अर्चना, सरिता अर्चना (कोशी कमलाक पूजा), परदा प्रथा, विवाहोत्सव, अतिथि-सत्कार, उचिती, विधकारी, डहकन, महुअक, समदाउन, द्विरागमन, भारदोर, दान-दहेजक संगहि विविध उत्सवक अन्तर्गत जन्मोत्सव, धनुषभंग, अभिषेक, भविष्यवाणी, वस्त्रभूषण,श्रृंगार प्रसाधन, भोजन-विन्यास प्रभुतिक सांगोपांग वर्णन भेल अछि।

हिनक रामायणमे नव-नव प्रसंगक स्थान महत्वपूर्ण अछि। एहि प्रबन्धकाव्यमे नारीक मातृत्व रूपक प्रधानता देखाओल गेल अछि। चरित्र-चित्रण, सामाजिक नियम, आचार-विचार, सभ्यता-सुस्कृति सभक दृष्टिएँ ई अनमोल निधि मानल जाएत।

मिथिला नगरक शोभा सुन्दरताक दिसि जखन कविक दृष्टि जाइत छनि, तँ ओकर वर्णन प्रस्तुत करबामे मंत्रमुगध भ' जाइत छथि आ लिखैतकाल अघाइत नहि छनि। मिथिला राज्यक शोभा-सुन्दरता, मिथिलाक उद्यान, नदी,पोखरि, खेत-पथार, मिथिलावासीक सदाचारिता, तपस्या, धर्मप्रियता प्रभृतिक वर्णन अनेक दृष्टिसँ कएल गेल अछि।

स्वर्गहुँसँ उच्च प्रदर्शन करैत मिथिलाकँ शक्तिक विशिष्ठ सिद्धिपीठ प्रमाणित करबाक प्रयास महाकवि कएने छथि। कवि आत्मामे, प्राणमे, आँखिमे सर्वतोभावेन महाशक्ति अमर ज्योतिक किरण अनुपम आलोकसँ जगमगा रहल छनि। ई मृर्त्यलोकमे मिथिलाक तुलना सुरलोकक विष्णुधामसँ कएने छथि। मिथिलाक नारी-गुणक, आचार-विचार, सौन्दर्य-सतीत्व, कला प्रभृतिक चित्रण बेजोड़ अछि। मिथिलाकँ स्वर्गक संज्ञा देल गेल अछि, जे निम्न पाँतिमे द्रष्टव्य अछि -

''भासमान मिथिलापुरी,
रवि सन तेज प्रचण्ड।
बुझि पड़ अनुपम देश जनि
महिगत स्वर्गक खण्ड।।''[9]

भाव पक्षक दृष्टिएँ एहि रामायणक ई विशेषता अछि जे एहिमे व्यक्ति ओ समाजक प्रतिनिधित्व भेटैत अछि। एकर कथानक सार्वभैम, सार्वकालिक एवं सार्वजनिक अछि आ ई समाज ओ काव्य दुनूकँ गति प्रदान कएलक अछि। चरित्र-चित्रण, अभिव्यक्ति-कौशल एवं घटना संगठन एकर विलक्षण अछि। एहिमे सभ प्रकारक सामग्री भेट जाइत अछि।

कविवर लालदास पात्रसँ जाहि प्रकारक आत्मीयक भाव स्थापित कएलनि अछि। ओ चरित्र विकासक योजनामे एकटा अभिनव प्रयोग मानल जाइत अछि। कविवर अपन विलक्षण काव्य-प्रतिभाक कारणँ विषय-वस्तुक उपस्थापन एहि रूपँ कएलनि अछि जे विषय-वस्तु प्राचीन रहितहुँ नवीन बुझि पड़ैत अछि।

प्रकृति वर्णनक सांगोपांग चित्रण सेहो एहि प्रबन्ध काव्यक एकटा प्रमुख लक्षण मानल जाइत अछि। जीवनक सम-विषम, अनुकूल-प्रतिकूल एवं शान्त-अशान्त परिस्थितिक स्वाभाविक वर्णन एहि काव्यमे भेल अछि, जे निम्न पाँतीमे द्रष्टव्य अछि -

''दयाहीन अति दीन जन सुख सम्पति विहिन।
पाव अनादर शोक नित शरद् मेघ सन क्षीण।।''[10]

कलापक्षक दृष्टिसँ सेहो ई रामायण अद्वितीय अछि। प्रकृति एवं लोक-जीवनसँ जुड़ल उपमानक प्रयोग भेल अछि। कवि अभिव्यंजनाक माध्यमसँ सौन्दर्यक एहन प्रदर्शन कएलनि अछि जे नि:सन्देह रामायण कला-पक्षकँ आकर्षक रूपँ प्रदर्शित करैत अछि। कवि एहि रामायणक रचना जनभाषामे कएलनि अछि। शिष्ट जनक भाषा एहिमे प्रयोग कएल गेल, अशिष्ट जनक भाषा नहि।

जगतजननी सीताक अवतरण होइतहि मिथिला स्वर्ग सदृश भ' गेल आर महाकवि स्वर्ग लोककँ मृर्त्यलोकपर उतरबाक सफल चित्रण कएलनि अछि। वैकुण्ठक सम्पूर्ण वैभव-विलास, कमला प्रभृतिक जतेक धार अछि सभ सीताक सखीरूप भ' मिथिलाक पदार्पण कएलनि। अणिमादिक ;द्धि-सिद्धि सीताक संगनी भ' अएलीह। एतवे नहि,

विरजा, यमुनी, दुग्धवती, गंगा, यमुना, सरस्वती, एवं आनो-आन नदी सभ जे स्वर्ग लोकमे प्रवाहित भ' देव लोकक गौरव बढ़बैत छलीह, सेहो सभ नदी मिथिलामे अतरि अइली। पृथ्वीपर जतेक तीर्थधाम छल सब मिथिलामे आबि एकाकार भ' गेल। महादेव आदि एकादश, रूद्र, दिक्पाल, अलकाधीश, कुबेर एवं सातो समुद्र प्रभृति समस्त देवता लोकनि मिथिलाहिमे पदार्पण कएल।

रामरूपमे स्वयं विष्णु आबि अपार धन सम्पत्तिक भण्डार मिथिलामे भरि देलनि। एहि मिथिला तपोभूमिमे ;षि, महर्षि, देवर्षि एवं ब्रह्मर्षि लोकनि तपस्यार्थ अबैत गेलाह। होम-यज्ञक व्यापकतासँ मिथिला पुष्पवती भ' उठलि। सर्वत्र सभ कालमे धर्मो चरणेक प्रमुखतासँ मिथिला धन्य-धन्य भ' गेल। रामायणमे एहि प्रकारक बहुतो प्रसंग थिक, जे द्रष्टव्य थिक :

''के कहि सक मिथिलाक प्रशंस।
वैकुण्ठक ई पूरण अंश।।''[11]

एतवे नहि -

''काशी, पुष्कर, विन्ध्य प्रयाग।
वयस वर्ष दिन जे सद्भाव।।
ततवा पुण्य समान स्वभाव।
एकहि दिन मिथिला वसि पाव।।
सप्तपुरी जे मोक्ष-स्थान।
से सामान्य मोक्ष नहि जान।।
जे जन मिथिलामे तन-त्याग।
जानब जनक तनिक बड़ भाग।।''[12]

कविवर लालदासक रामायणमे भक्तिभावना प्रधानता रहितहुँ सभ रसक धारा प्रवाहित भेल अछि। जेना-श्रृंगी ;षिक संग अयोध्याक ललना नोकनि रंग-रभसँ, सीताक वय: सन्धिक वर्णन, अहिल्या-चरित्र, रावणक विलासिता, सीता-रामक परस्पर अवलोकनि प्रकृति। तँ एहि रामकाव्यक वैशिष्ट्यकँ देखि प्रख्यात मैथिली साहित्यक विद्वान प्रो0 (डा0) शैलेन्द्र मोहन झा लिखने छथि -

''प्रस्तुत रामायण जहिना भक्ति-भावसँ ओत-प्रोत अछि, तहिना श्रृंगार प्रधान काव्यक चमत्कारिता सँ सेहो परिपूरित अछि।''[13]

सीताक जन्मक उपरान्त मिथिला देशक जे मनोहारी वर्णन कवि प्रस्तुत कएलनि अछि, ताहिमे अत्यन्त स्वाभाविकता अछि एवं आन रामायणसँ भिन्न अछि। रामक अपेक्षा सीताक व्यापक महिमा ओ गरिमा कँ देखेबाक उद्देश्य कविकँ छलिन। सीताक जन्मक बाद जे मिथिलाक विभव-विलास एहि काव्यमे प्रस्तुत भेल। ओ मिथिला वासीक हेतु प्रेरणादायक बनल। यथा -

''लक्ष्मी जतय कयल आवास।
तहँक कहय के विभव-विलास।।
अनुखन सुखी जीव समुदाय।
मिथिला विभव कहल नहि जाय।।''[14]

रामायणक बालकाण्ड अपन प्रासंगिक कथा सभक विस्तार लेल प्राचीनकाल सँ प्रसिद्ध रहल अछि। प्रचलित बाल्मीकि रामायणमे दससँ बेसी एहन कथा सम्पूर्ण व्याख्याक संग उद्धृत भेल अछि। मुदा लालदास अपन रामायणमे मुख्यत: पाँच गोट कथा-प्रसंगकँ उद्धृत कएलनि अछि।

निष्कर्षत

लालदास कृत रामायणमे वर्णित मिथिला महिमाक कथा प्रसंग सभक चित्रण बड़ सुन्दर भेल अछि। कोन प्रसंगक चर्चा कएल जाए, कोन छोड़ल जाए। पुष्पोद्यानमे सीता-रामक झाँकी तेहन आकर्षक, धनुर्भगक अवसरपर जनकक मुख सँ 'वीर विहीनता'क कटूक्ति सुनि शेषावतार लक्ष्मणक भड़कल क्रोधाग्निक चित्रण बेजोड़ छनि। तेजास्वितापूर्ण रामक सौन्दर्य देखि मिथिलाक महिलागण विलक्षण मनोरथ कलापूर्ण चित्रण अपूर्व अछि। जनकपुरमे राक कौतुक गृहक हास्य-विलास तेहने रसमय अछि।

सन्दर्भ

1. रमेश्वरचरित मिथिला रामायण– ले. लालदास, पृ. सं. 7 प्रकाशक– साहित्य आकेदमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1993 ई.
2. लालदास (विनिबन्ध)– प्रो. देवेन्द्र झा, पृ. सं. 21 प्रकाशक-साहित्य आकेदमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1993 ई.
3. लालदास (विनिबन्ध)– डॉ. राधेकृष्ण चौधरी, पृ. सं. 41ए प्रकाशक-मैथिली आकेदमी, पटना, प्रकाशन वर्ष-1981 ई.
4. ओएह– पृ. सं. 42
5. लालदास (विनिबन्ध)– प्रो. देवेन्द्र झा, पृ. सं. 25
6. रमेश्वरचरित मिथिला रामायण-ले. लालदास, पृ. सं. 175 प्रकाशक– साहित्य आकदेमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1999 ई.
7. लालदास (विनिबन्ध)– डॉ. राधेकृष्ण चौधरी, पृ. सं. 39
8. ओएह ओएह
9. ओएह– पृ. सं. 40
10. ओएह– पृ. सं. 32
11. ओएह– पृ. सं. 41
12. ओएह– ओएह
13. ओएह– पृ. सं. 38
14. रमेश्वरचरित मिथिला रामायण– ले. लालदास, पृ. सं. 25 प्रकाशक– साहित्य आकेदमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1993 ई.

भूमिका-अनुसन्धान-आलोचनाक प्रणेताः प्रो. रमानाथ झा

डॉ० गोपाल कुमार

अतिथि शिक्षक, मैथिली विभाग, आर.के. कॉलेज, मधुबनी, (बिहार)- 847211

मैथिली आलोचना साहित्यक विकासमे भूमिका-अनुसन्धान-आलोचना लेखनक योगदान उल्लेखनीय अछि। भूमिका द्वारा पाठक कोनो कृतिकारक कृत्तित्व ओ व्यक्तित्वक ज्ञान प्राप्त करैत अछि। स्वतन्त्रता प्राप्तिक बाद पोथीक प्रकाशनमे गति आएल आ विभिन्न विद्वान द्वारा ताहि पोथीक भूमिका लिखल गेल। एहि प्रकारक भूमिका लेखक लोकनिमे विशेष रूपसँ उल्लेखनीय छथि म.म.डॉ. उमेश मिश्र, आचार्य रमानाथ झा, प्रो. सुरेन्द्र झा 'सुमन', प्रो. आनन्द मिश्र, प्रो. मुनीश्वर झा, प्रो. भीमनाथ झा आदि। प्रो. रमानाथ झा भूमिका-अनुसन्धान-आलोचनाक रूपमे प्रमुख अछि।

वास्तवमे प्रो. झा मैथिली साहित्यमे हंसवृत्ति समीक्षकक रूपमे विख्यात छथि। आलोचनाकेँ वैज्ञानिक रूपमे लेनिहार प्रथम व्यक्ति रमानाथ बाबू भेलाह। आलोचनाक शास्त्रीय पक्षपर हिनक 'समीक्षावृत्ति ओ आलोचना-साहित्य' शीर्षक रचनामे देखल जा सकैत अछि। मैथिलीक मान्य समालोचक प्रो. अमरेश पाठक लिखित 'रमानाथ झा' विनिबन्धमे प्रो. झाक समीक्षा विषयक अवधारणा द्रष्टव्य अछि -

"जँ कुशल परीक्षक नहि भेल तँ कतोक वास्तविक सुन्दर वस्तु वा सुन्दर रचना अनादृत भए जाएत, उपेक्षित रहि जाएत। बहुतो निरर्थक रचना भ्रम वा पक्षपातसँ सुन्दर एवं ग्राहय बुझल जाए लागत। एहिसँ अयोग्यकँ प्रोत्साहन भेटत तथा मूल्यांकनक एहन भ्रामक कसौटिक कारणेँ अनुचितकँ उचित, अभव्यकँ भव्य एवं त्याज्यकँ ग्राहय बुझल जाए लागत। तँ समाजक रूचिकँ परिष्कृत, व्यवस्थित, सन्तुलित बनबएबाक हेतु, बनओने रहबाक हेतु कोनो रचनाक ठीक-ठीक परीक्षण ओ मूल्यांकन कएनिहार कुशल समीक्षक मानव समाजक सत्यवृतिक सुरक्षाक हेतु आवश्यकँ नहि अनिवार्य। जाधरि ठीक समीक्षक नहि रहत ताधरि कोनो कलाकृतिक सौन्दर्यक कोन कथा जे लोक ओहि कलाकृतिकँ चीन्हि पर्यन्त नहि सकत।"[1]

आचार्यक उपर्युक्त कथनक सत्यताक जाँच हुनक कोनो भूमिकाक आधारपर कएल जा सकैत अछि। मैथिली साहित्यमे हमरा जनैत हुनकासँ अधिक केओ भूमिका लेखनक काज नहि कएने छथि। कोनो पोथीक भूमिकामे सर्वप्रथम ओहि विधाक ऐतिहासिक क्रम ओ ओकर तत्त्वक विस्तृत विश्लेषण कएलाक बादे ओकर गुण-दोषक उल्लेख करैत छथि। एक निश्चित मापदण्डक आधारपर ओ कोनो कृतिक मूल्यांकन करैत छथि। भूमिका लिखबाकाल हुनका समक्ष मात्र पोथी रहैत छनि, लेखक नही। उषाहरण नाटक, श्रृंगार-भजन, कृष्णजन्म, विडम्बना,मृच्छकटिक नाटक, पृथ्वीपुत्र, पवित्रा, ललका पाग, बौद्धगानमे तान्त्रिक सिद्धान्त, श्रीशजीक इतिहास आदि पोथीक हुनक भूमिका उल्लेखनीय अछि। ओ सम्पादन कलाक सिद्ध-हस्त आचार्य छलाह। एतेक पोथीक एखन धरि मैथिली साहित्यमे केओ व्यक्ति सम्पादन नहि कएने छथि। अपन प्रत्येक सम्पादित पोथीमे ओहि विधाक विस्तृत ऐतिहासिक क्रमक जिक्र करैत, संकलित रचनाक ओ शास्त्रीय समीक्षा कएने छथि। हुनक सम्पादित पोथीमे प्रमुख अछि विद्यापतिक पुरूष-परीक्षा, कविता-कुसुम, मैथिली गद्य-संग्रह, मैथिली पद्य-संग्रह, प्राचीन गीत, कथा-काव्य, नवीन गीत आदि पोथी एहि विवशतासँ सर्वथा मुक्त अछि से कहब कठिन होयत, तथापि एहिमे सन्देह नहि जे ई सभ मात्र पाठयक्रमक पोथी नहि अछि। रमानाथ झा एहि सभक पोथीक आधारपर सम्पादन-कार्यक मानक प्रस्तुत कएलनि अछि। सम्पादन कला थिक। सम्पादन दृष्टि थिक। छात्रक लेल सम्पादित पोथीक उपयोगिताकँ ध्यानमे रखैत ओकर साहित्यिक मर्यादा प्रदान करब रमानाथ झाक सम्पादन-कला आ हुनक स्फीत दृष्टिक प्रमाण अछि। एहि प्रसंग मोन रखबाक बात ई अछि जे सम्पादन अथवा कोनो प्रकारक लेखन व्यक्ति-सापेक्ष होइत अछि। अपन अध्ययन आ विचार, इच्छा आ रूचिकँ ताकपर राखि कऽ सम्पादन नहि भऽ सकैत अछि तँ रमानाथ झा अपन सम्पादित पोथीमे हिनका लेलिन-हुनका नहि, अथवा किनका सम्बन्धमे की कहलनि तकरा निरपेक्ष-उक्तिक रूपमे देखब बहुत उपयुक्त नहि अछि। देखबाक मूल बात ई अछि जे मैथिली साहित्य ओ साहित्यकारकँ देखबाक जे बाट ओ देखोलनि अछि, जे निकष ओ स्थापित कएलनि अछि- से कतेक उपयोगी अछि।

हमरा जनैत सम्पादन काजक जे प्रारूप ओ अपन एहि प्रकारक पोथीमे देलनि अछि से आइए नहि, आगुओ लेल सार्थक अछि। एकर अतिरिक्त गुणवत्ताक दृष्टिकोणसँ सेहो एहि पोथी सभक उपादेयता निर्विवाद अछि। उदाहरण रूपमे 'कविता-कुसुम' आ 'प्राचीन-गीत'मे विद्यापति आ हुनक गीतसँ सम्बन्ध लेखनकँ लेल जा सकैत अछि।

प्रो. रमानाथ झाक सम्पादन-दृष्टिक उल्लेखनीय विशेषता अछि रचनाक पाठ आधारित विश्लेषण। संस्कृतक भाष्यकार एवं व्याख्याकारक शैलीमे ओ रचनाक बखलौइया छोड़ौलनि अछि। ओकर हीरकँ तकबाक प्रयास कएलनि अछि। आजुक समयमे एकर प्रासंगिकता बेसी अछि।

रामानाथ झा मैथिली साहित्य आ साहित्यकारक खोज-खबरि कात-करौटसँ नहि लेलनि। हुनक उद्देश्य छलनि साहित्यमे निहित विशेषताकँ रेखाकिंत एवं विकसित करब। एहि लेल मैथिली परम्परा, मैथिल संस्कृति तथा मिथिलाक इतिहासक उपयोग कएलनि। उपयोग करबासँ पूर्व ओहि सभ आधर-सामग्रीक रूपरेखा स्थिर कएलनि आ तखन समीक्षा-कर्ममे प्रवृत भेलाह। एहि प्रक्रियामे हुनका लेल गम्भीर आ व्यापक अध्ययनक आवश्यकता छलनि। संयोगवश दरभंगा-राजक अनुकूलता हुनका उपलब्ध रहनि। राज-पुस्तकालयक प्रकाशित-अप्रकाशित लिखित संसाधन तँ हुनका प्राप्त रहबे करनि, देश-विदेशेमे राखल

पांडूलिपि पुस्तक सेहो सुविधासँ भेटि जाइन। तँ हुनक अध्ययनक क्षेत्र आ ज्ञानक गाम्भीर्य क्रमशः बढ़ैत गेलनि। किन्तु, ताहि अनुपातमे ओ लिखि नहि सकलाह। लेखनक अनेक कार्यक्रम बनले रहि गेल, क्रियान्वित नहि भ' सकल। मुदा एकर ई अर्थ नहि जे हुनक लेखन आकारमे झुझुआन अछि। ओ जतेक लिखि सकैत छलाह ततेक नहि लिखलनि जे सभ लिखबाक योजना छलनि सेहो नहि लिखा सकलनि–ई सभ भिन्न बात लेल, मुदा ओ जतेक लिखि गेल छथि से एखनो मैथिली साहित्यकारक लेल प्रतिमान अछि। रमानाथ झा कथा–कविता–उपन्याससँ भिन्न प्रकारक वस्तु बेसी लिखलनि आ ओकर लेखनमे जाहि अनुशासनक पालन करब अपेक्षित छैक से ओ कएलनि। उदयन कथा आ वररूचि कथा हुनक प्रारम्भिक लेखन–कालक रचना अछि। रमानाथ झा जानल जाइत छथि समीक्षक आ सम्पादक रूपमे, निबन्धकार आ अनुवादक भूमिकामे।

प्रो. झाक लेखनक बीज मन्त्र अछि मिथिला। मिथिलाक उत्थान। हुनक लेखकीय जीवनक प्रारम्भ भेल अछि 'मिथिलाक विकास कामना' शीर्षक लिखित निबन्धसँ। संयुक्त लेखनकेँ छोड़ि देल जाय तँ हुनक पहिल प्रकाशित निबन्ध अछि– 'मिथिला ओ मैथिली'। मिथिलाक उत्कर्ष रमानाथ झाक लेखनक प्रथम प्रथम प्राथमिकता छल।

प्रो. झा मिथिलाक विकास चाहैत छलाह, मुदा हुनका लेल विकासक अर्थ ओ नहि छल जे आइ साधारणतः बूझल जाइत अछि। आर्थिक वा भौतिक उन्नति हुनक विकासक परिधिमे नहि छल। हुनक दृष्टिमे मिथिला अपन ज्ञान–लोकसँ, विद्याा–वैभवसँ, आचार–चारूतासँ एवं विचारक वैशद्यसँ महत्वपूर्ण रहल अछि। आगुओ इएह सभ एकर उत्कर्षक आधार होयत। मोटामोटी कहि सकैत छी जे रमानाथ झाकेँ सभ्यता आ संस्कृतिपरक विकास कायम छलनि। इएह कारण अछि जे ओ मिथिलाक उत्थानक लेल दू टा विषयकेँ चुनलनि आ ओहि प्रसंगपर गहनतासँ विचार कएलनि। ओ दुनू विषय अछि– मैथिली भाषा ओ साहित्य। आब देखबाक ई अछि जे मैथिली भाषा एवं साहित्यक प्रसंग रमानाथ झाक धारणा–अवधारणा की छल आ ओहि माध्यमसँ ओ मिथिलाक सांस्कृतिक मूल्य–बोधकेँ कतेक बलगर बना सकलाह अछि।

मैथिली भाषाक उत्पति ओ विकासक सम्बन्धमे रमानाथ झाक सुविचारित दृष्टिकोण अछि। संस्कृतक प्रसंग हुनक कथन छनि जे– "ओ वर्ग–विशेषक भाषा छल, शिष्टक भाषा, द्विजातिक भाषा छल, पण्डितक भाषा।"[2] एकर विपरीत प्राकृत भाषा जनसामान्यक भाषा दैनिक व्यवहारक भाषा छल। ज्योतिरीश्वर वर्णरत्नाकरमे जाहि तरहक भाषाक नाम लेलनि अछि ताहिमे अवहट्ठ सेहो अछि। अवहट्ठ अपभ्रंश भाषा थिक। एहि मान्यताक आधारपर लोचन सत्रहम् शताब्दीक उत्तरार्द्धमे मिथिला भाषाकेँ 'मिथिलापभ्रंश' भाषा कहलनि। चन्दा झा 'अपभ्रंश' शब्दकेँ हटा देलनि आ सोझे 'मिथिलाभाषा' कहब उचित बुझलनि। हुनके समयमे ग्रियर्सन एहि ठामक भाषा लेल 'मैथिली' शब्दक प्रयोग करय लगलाह जे आब सर्वमान्य प्रचलित नाम अछि।

भाषाक अर्थमे मैथिली शब्दक उपयोग उक्त पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण अछि। एकर महत्ता आओर बढ़ि जाइत अछि जखन रमानाथ झा लिखैत छथि–

"जनपदीय भाषा जनपद सबहुँक भाषा छल, मुदा संस्कृतक जे केओ विद्वान होथि तनिक मात्र, विशेषतः ब्राह्मणक भाषा भए गेल एवं क्रमेँ संस्कृत जनजीवनसँ दूरि हटि एकवर्गीय भए गेल, ओ केवल एक वर्गमे, पण्डितवर्ग मात्रमे सीमित भए रहल, परन्तु से भए गेल ओ भारतवर्षक समस्तक, ओकर कोनहुँ एक भू–भागक नहि। भू–भाग भेदेँ भिन्न–भिन्न भए गेल जनपदीय भाषा जकरा ओहि भू–भागक समस्त जनता, ब्राह्मणसँ चण्डाल धरि पुरूष ओ स्त्री आबला वृद्ध जानए।"[3]

मैथिली आ ओकर साहित्य–भाषा बनबाक प्रक्रियाक ई ऐतिहासिक विवेचन रमानाथ झाक कीर्तिकर कार्य थिक। मैथिलीकेँ संस्कृत सन्तान नहि, मिथिलाक माटि–पनिक उपजा मानब, मैथिली साहित्यक आदि रचनाकार रूपमे ब्रह्मणेतर समुदायक योगदानक ऐतिहासिक तथ्यकेँ निरूपित करब निश्चित रूपसँ प्रशंसनीय कार्य अछि। एहि कार्यक महत्व आजुक जातिवादी वातावरणमे आओर बढ़ि गेल अछि। ई बात रमानाथ झाकेँ ध्यानमे छलनि।

प्रो. झा मैथिली भाषाक स्थिति आ समस्यापर, ओकर भविष्य आ समाधानपर अपन अनेक निबन्धमे विचार कएलनि अछि। मुदा, मैथिलीक प्रसंग हुनक एक टा चर्चित कार्य अछि मैथिलीक मानकीकरणक प्रयास। हुनक एहि कार्यकेँ अनेक नामसँ अभिहित कएल गेल अछि भाषाक एकरूपता, लेखन–शैलीक एकरूपता, भाषाक मानकीकरण आदि। रमानाथ झा चिन्तक रचनाकार छलाह। ओ जे किछु लिखलनि से सोचि–विचार कए, गम्भीरतापूर्वक। जकरा बामा हाथक लेखन कहल जाइत अछि से ओ कहियो नहि कएलनि। सभ–सम्मेलनक लेल भाषणक आलेख हो वा आकाशवाणीसँ प्रसारित होमयवला कोनो लेख–हड़बड़ीमे किछु लिखि लेलहुँ, ई हुनक प्रवृति नहि छलनि। तँ हुनक सभ रचना सुचिन्तित आ सुगठित अछि। माने ई जे लेखनकेँ ओ दायित्व–पूर्ण कार्य बुझैत छलाह। ई हुनक पैघ विशेषता थिक। सोनामे सुगन्ध तखन भेटैत अछि जखन सोचि–सोचि कए, तौलि–तौलिकए लिखयवला रमानाथ झाक विशालकाय लेखनकेँ देखैत छी। बेसी लिखलासँ स्तरीयता प्रभावित भेल हो तकर बोध कोनो पढ़लासँ नहि होइत अछि। एकर विपरित पुरूष परीक्षाक अनुवाद हो अथवा 'गुरू गोविन्द सिंहक मैथिली नाटकक ऐतिहासिक प्रसंग हो वा मैथिली लिपिक, मिथिलामे फगुआपर लिखबाक हो कि म.म.पं.बालकृष्ण मिश्र आ वाचस्पतिपर सर्वत्र अध्यननक गहनता आ प्रस्तुतिक निजता देखबामे अबैत अछि।

प्रो. रमानाथ झा सर्वाधिक महत्वपूर्ण छथि समालोचक–रूपमे। एहि रूपमे हुनक पहिल महत्वपूर्ण कार्य अछि मैथिली साहित्यमे समीक्षाक महत्व स्थापित करब। ई कार्य ओ दू तरहेँ कएने छथि–व्यवहारिक समीक्षा द्वारा तथा समीक्षाक सैद्धान्तिक विवेचनक माध्यमसँ। व्यावहारिक आलोचना तीन प्रकारक अछि–निबन्ध रूपमे, पुस्तक रूपमे आ भूमिका रूपमे। निबन्धमे सभा–सम्मेलनमे देल गेल लिखित भाषण, आकाशवाणीमे पठित आलेख तथा स्वतन्त्र रूपसँ लिखित निबन्ध अछि। विषय अथवा रचनाकार केन्द्रित पुस्तक एकेटा अछि–साहित्य अकादेमीसँ प्रकाशित 'विद्यापति'। भूमिका रमानाथ झा बहुत पोथीकेँ लिखने छथि। अपन आ अनकर दुनू कोटिक पोथीक। एहि भूमिका सभमे सम्बन्ध कृतिक गुण–दोषक विश्लेषणक संगहि विषय–वस्तुक सैद्धान्तिक पक्षपर सेहो ध्यान राखल गेल अछि। प्रसिद्ध कथाकार ओ उपन्यासकार ललितक उपन्यास 'पृथ्वीपुत्र'क भूमिकाक किछु पाँती देखल जाए–

"पृथ्वीपुत्रमे हमरा हेतु आकर्षणक दोसर विषय थिक औचित्यक रक्षा। अवैद्य प्रेमक प्रसंगमे कनेको संयम शिथिल भेलासँ कथानक अमर्यादित भए जाइत, परन्तु श्री ललित अवैध प्रेमक प्रसंगकेँ वैधहु प्रेमसँ भव्यतर चित्रित कए मानव स्वभावक सहज शालीनताकेँ स्फुट कए देल अछि।"[4]

संगहि तत्वक आधारपर ओकर दोषक उल्लेख करैत कहैत छथि –

"परन्तु पृथ्वीपुत्रमे त्रुटि नहि छैक से नहि। सबसँ विशेषतँ ई उपन्यास हमरा अत्यन्त छुछुन लगैत अछि। उपन्यासमे जे व्यापकता चाही से एहिमे नहि भेटैत अछि। उपन्यासमे मुख्य कथानक संग-संग एको गोट गौण होएब आवश्यक से एहिमे नहि अछि।...... सबसँ बेसी खटकैत अछि एहिमे विशुद्ध हास्य'रसक क्षीणता। ग्रामीण जीवनमे हास्य रसक बड़ विशेष स्थान छैक ओ तकर समावेश नहि भए सकल अछि जे नीक नहि लगैत अछि।"[5]

वास्तवमे आचार्यक उद्देश्य रहैत छलनि रचनाकार लेखकीय प्रतिभाकँ विकसित करब। मैथिलीमे स्तरीय रचना हो, ताहि दिशामे ओ साकांक्ष रहैत छलाह आ जे लेखक हुनक परामर्श ओ मार्गदर्शनमे काज कएलनि सें आगू जाकए मैथिली साहित्यमे प्रसिद्ध भेलाह उदाहरण रूपमे प्रो. तन्त्रनाथ झा, पं. उपेन्द्रनाथ झा 'व्यास', ललित, प्रो. अमरेश पाठक, प्रो. जयधारी सिंह 'प्रभाकर', डॉ. दुर्गानाथ झा 'श्रीश', डॉ. बाल गोविन्द झा 'व्यथित' आदि। ओ स्वयं सश्रम काज करैत छलाह आ अन्यसँ सेहो ओहने अपेक्षा रखैत छलाह। राम-द्वेषसँ मुक्त भए निर्भिकतापूर्वक कोनो कृतिक समीक्षा करैत छलाह। हुनका आगू रचना रहैत छल, रचनाकार नहि। हुनका लेल भाषा-साहित्यक हित सर्वोपरि छल।

प्रो. रमानाथ झा मैथिली आलोचनाकँ दिशा आ दृष्टि देलनि अछि। चन्दा झासँ प्रेरित भए ओ अनुसन्धानकँ आलोचनासँ मिला देलनि। अनुसन्धान ओ दू स्तरपर कएलनि-तथ्यक अनुसन्धान आ अर्थक अनुसन्धान। तथ्यक अनुसन्धान सेहो दू प्रकारक अछि-रचनाक खोज आ रचनाकार परिचय-पातक खोज। हम सभ जनैत छी जे प्रो. झा विद्यापतिकँ सैंतीस गीतक उत्खनन कएलनि जे हुनका द्वारा सम्पादित 'भाषागीत-संग्रह'मे संकलित अछि। एहिसँ मैथिली साहित्यक भण्डार भरल अछि। ओकर गरिमा बढ़ल अछि।

रचनाकारक परिचय तकबाक क्रममे रमानाथ झा पंजी-व्यवस्थाक उपयोग कएलनि अछि। पंजी-व्यवस्थाक उपयोग करयवला पहिल साहित्यकार चन्दा झा छथि। प्रो. झा हुनक अनुसरण करैत एहि व्यवस्थाक साहित्यिक उपयोग साधन रूपमे कएलनि अछि। प्रो. झाक समालोचनाक अधिकांश केन्द्रित पद्य-रचनापर अछि। मैथिली गद्य-कृतिपर ओ अपेक्षाकृत कम लिखने छथि। हिनकामे अध्ययन जनित आत्मविश्वास तथा विचारपरक दृढ़ता छलनि। समालोचक लेल ई आवश्यक अछि। किन्तु कखनो काल एहिमे व्यवधान सेहो होइत छैक। हम सभ जनैत छी जे लेख-शैलीक एकरूपताक प्रति ओ कतेक आग्रही छलाह। मुदा हुनक सम्पादनमे प्रकाशित 'मैथिली गद्य-संगह'मे लेख शृलिक एकरूपता नहि, बहुरूपता अछि। एकर कारण अछि सम्पादन ओ समीक्षा-धर्मक प्रति निष्ठा। समीक्षाक लेल जरूरी छैक जे रचनाकँ मूल रूपमे पढ़ल जाय। तँ ओकर यथावत् प्रस्तुति ओ अनिवार्य छैक। प्रो. झा एहू बिन्दुपर एकटा मानक देलनि अछि।

वस्तुतः मैथिलीक आजुक समीक्षा प्रो. रमानाथ झाक ऋणी अछि। समालोचनाक लेल अध्ययनशीलता, चिन्तनपरकता, वैचारिकता, अवधारणाक स्पष्टता तथा सम्प्रेषणीयताक जाहि मूलाधारकँ ओ रेखांकित कए गेल छथि से अजुके नहि, काल्हुको समालोचक लेल मार्गदर्शक अछि। हुनक कृतित्व समीक्षकक हेतु जाहि तीन टा गुण तर्जनी निर्देश करैत अछि ओ थिक-शोध-प्रवृति, मौलिकताक आग्रह आ समाज-सापेक्षता। ई तीनू गुण आओर प्रभावशाली भऽ जाइत अछि। आजुक समयमे भूमिका-अनुसन्धान-आलोचकनाक प्रति अभिरूचि बढ़ल अछि। रचनाकारसँ पाठक धरि समालोचनाक इच्छा नहि, प्रतीक्षा करैत देखल जाइत छथि। ई आकर्षण समीक्षा-कर्मक महत्ताक द्योतक अछि। एहिसँ प्रमाणित होइत अछि जे आजुक समीक्षा साहित्य आ समाजक मध्य सेतुक काज सफलतापूर्वक कऽ रहल अछि। विकासशीलता समाज आ साहित्यक स्वभाव अछि। समालोचना सेहो एहि प्रक्रियाक अंग अछि। रमानाथ झा मैथिली समालोचनाकँ स्थापित आ मर्यादित कएलनि। आवश्यकता अछि जे प्रो. रमानाथ झा कालीन समालोचनाक गुण-तत्वकँ ग्रहण करैत आगाँ बढ़ल जाय। मुदा, ई तथ्य मोन रखबाक थिक जे ओ मैथिलीक प्रथम समालोचक छथि, अन्तिम नहि।

निष्कर्षतः आई-काल्हि कथा, कविता, निबन्ध, नाटक आदि पोथी सभ लिखल जा रहल अछि। वास्तवमे लेखक वा कवि धन्यवादक पात्र छथि जे अपन प्रतिभासँ मैथिलीक भण्डारकँ भव्य बनबैत छथि। परन्तु भूमिका-समालोचकक प्रशंसाक प्रसादात् कतेको पोथी विभिन्न पुरस्कार लेल नामित भऽ जाइत अछि। एखन तँ कोनो नवोदित साहित्कारो अपन प्रथमे रचनाकँ साहित्य अकादेमी पुरस्कारसँ कम नहि मानैत छथि। एहिसँ साहित्यक अहित होइत अछि। राता-राति पोथी लिखि कोनो महत्वपूर्ण साहित्यकारसँ भूमिका लिखा ओकरा पुरस्कारक रेसमे लगा देल जाइत अछि। एहेन साहित्यकार ओ विद्वान लोकनिक आँखि खोलिकँ भूमिका लिखथि आ रमानाथ बाबूसँ प्रेरणा लेथि।

सन्दर्भ

1. रमानाथ झा (विनिबन्ध)- डा. अमरेश पाठक, पृष्ठ सं.-45,प्रकाशक-साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1995 ई.
2. प्रबन्ध-संग्रह - श्री रमानाथ झा, पृष्ठ सं.-10,प्रकाशक-शेखर प्रकाशन, पटना प्रकाशन वर्ष-द्वितीय संस्करण 2015 ई.
3. विद्यापति (विनिबन्ध) - श्री रमानाथ झा, पृष्ठ सं.-19,प्रकाशक-साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली प्रकाशन वर्ष-1987 ई.
4. रमानाथ झा (विनिबन्ध) -डा. अमरेश पाठक, पृष्ठ सं.- 50-51, प्रकाशक-साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1995 ई.
5. पृथ्वीपुत्रक भूमिकासँ - ललित, प्रकाशक - मैथिली अकादमी, पटना, प्रकाशन वर्ष - चतुर्थ संस्करण - 2012 ई.

आधुनिक मैथिली साहित्यः धूमकेतु

साधना कुमारी

अतिथि शिक्षिका, मैथिली विभाग, बी.एन. एम.भी. कॉलेज साहुगढ़, मधेपुरा (बिहार)

आधुनिक मैथिली साहित्यक विकासमे धूमकेतुक योगदान स्वर्णअक्षरमे अंकित कएल जा सकैत अछि। ओ मैथिलीक एकांत साधक रहथि। बहुमुखी प्रतिभाक धनी धूमकेतु मूल नाम भोलानाथ झा रहन्हि। हिनक पिताक नाम रहन्हि रमानाथ झा। हिनक घर मधुबनी जिलाक कोइलख पछवारी टोलमे छलन्हि। हिनक जन्म 25 जनवरी 1932 के भेल रहन्हि आ हिनक निधन 6 अगस्त 2000 के भेलन्हि। धूमकेतु अर्थशास्त्रमे एम. ए.क डिग्री प्राप्त कएने रहथि। अनेक वर्ष धरि ओ आर. आर. कैम्पस जनकपुर नेपालमे ख्याति लब्ध प्रतिष्ठित प्रध्यापक रहलाह। धूमकेतु प्रधानाचार्यक रूपमे कार्यक सम्पादन कएल। परन्तु मोनमे विप्लव रहन्हि ह्दियमे रहन्हि साहित्यकार लहरि, आ प्राण चेतनामे रहनि कविताक राग, ताल आ लय। ते नौकरी बन्धन बूझि पड़लन्हि। लोक हिनक प्रतिभासँ मुग्ध रहैत छल। मुदा मोन चंचल रहन्हि एहने परिस्थितिमे ओ मैथिलीमे कालजयी साहित्यक रचना आ सृजन करैत रहलाह।

धूमकेतु कथा लेखन 1964 सँ आरम्भ कएल। धूमकेतु मैथिली साहित्यक अनेक विधामे रचना कयलनि अछि, जे आधुनिक मैथिली साहित्यक विकासमे महत्वपूर्ण योगदान देलक अछि। कथा हो, कविता हो, उपन्यास हो, किंवा एकांकी आ निबंध, आलोचना सभ विधामे धूमकेतु रचना उपलब्ध अछि। परिभाषा मे कम रहितो गुणववता ततेक स्तरीय अछि जे मैथिली साहित्यके समृद्ध केलक अछि। विशेषरूप सँ कथा विधामे धूमकेतुकँ सिद्धहस्तता प्राप्त छलनि। धूमकेतु एहि सदीक श्रेष्ठतम कथाकारमे परिगणित छथि। हिनक पहिल कथा संग्रह अगुरवान आ अन्य कथा अछि।

धूमकेतु कथा लेखनमे एतेक पारंगत छलाह जे ओ किछु लिखलनि अपने-अपने एकटा शैली मानल गेल। गंगेश गुंजन कहैत छथि- “बतौर लेखक धूमकेतु आधुनिक मैथिलीक दशावतार कथाकार छथि। मात्रामे कम लिखियोक गुणवत्तामे श्रेष्ठताक कारणे ओ अपन समकालीन कविक ईर्ष्येय आ परवत्ते लेल सादर अनुकरणीय छथि।”[1]

मैथिलीक प्रख्यात तारानन्द वियोगी स्पष्ट कएने छथि, जे 1964 मे हुनक चारि गोट कथा छपल कायामाया, मैल अंचर उज्जर दाग, विरड़ो आ वैदेहीक सितम्बर 1964 अंकमे कथाकार ललितक एक पत्र प्रकाशित भेल। ओ एहि पत्रमे धूमकेतुक प्रतिभाक सारगर्भित व्याख्या कएने छथि। धूमकेतु प्रतिभा बहुत तीव्र कतहु-कतहु अपन तीव्रताक कारण-कारण कटु। धूमकेतु कथाके मनुक्खक भीतरक ‘इर्द आ इगो’क दन्द्व देखैत छलाह आ स्वभोगित खिस्सा के सभएँ प्रामाणिक मानैत छलाह। भीमनाथ झाक कथन छनि-धूमकेतु कहलाएँ जे तेज ओज, विराट चमक चकचौन्ही, जड़ता पर प्रहार, अंधकारके चिरैत चलबाक बोध होयत अछि।

1980 मे धूमकेतु पहिल कथा संग्रह अगुरवान आ अन्य कथा नवारम्भ प्रकाशनसँ प्रकाशित भेल रहन्हि। हिनक देहान्तक बाद हिनक एक उपन्यास मोड़ पर 2000 ईमे तथा हिनक उपलब्ध समस्त (34) कथाक संग्रह उदयास्त 2003 में प्रकाशित भेल। एम्हर हिनक कविताक एक संग्रह एक बेर फेर राजधानीमे प्रकाशनक पथ पर छन्हि। हिनक अनेक कथा टिप्पणी कविता ओ निबंध आदि अप्रकाशित छन्हि। अतः एहन कालजयथी कथाकार, उपन्यासकार,काव्याकार मैथिली साहित्यमे दुलर्भ अछि।

एहन अताइ नहि देखल अछि आ से चुपचाप पुलिसक समक्ष आत्म समर्पण क दलकैक। काल्हि फैसला होयतैक छौड़तै तँ नहीये। अपने स्पष्ट कसूर कबूल कयलकैए। मुदा भगवान करथि जान धरि बकसि दै। जन्मद्यैते देते तैयो कहियो ने कहियो तीवैत तँ धूमि औते। पण्डिक वंश बॉचि जेतै। अगुरवान कथा लड़ क जखन धूमकेतु मैथिली साहित्यमे प्रवेश कएलनि तखनो हुनक रचनाक के चमोत्कर्ष पर पहुँचा देलक। एहि कथामे धूमकेतु एकटा अभावग्रस्त पण्डिक परिवार वर्णन कएने छथि जे कोनो अपन जीवन काटबाक लेल वेवश परिवार अपन इज्जतिके दॉव पर लगा दैत अछि। नः माट्सैब आइ दोखरी देलियै।

बोली आधारक स्वर पसिझैक। आँखिए नोर टघरलैक वाजल गरीबक इज्जतिक कोनो मोल नइ छै माट्सैब। ओकरा इज्जत होइत ने छै। ई सभ ओकरा मानबाक चाही जत पेटक समस्या एहि तरहे धूमकेतु जी अपन प्रसिद्ध कथा अगरवान मे व्याख्या कएने छथि।

धूमकेतु दोसर अति प्रतिद्ध कथा ‘छठि परमेसरी’ के मानल जाइत अछि। ई कथा मौलिक एकमात्र एहेन कथा थिक। एहिपर कोनो एक पत्रिकामे कतेको अंकमे लगातार विमर्श चलल हो। धूमकेतु धर्मक प्रचलित रूपके प्रति आलोचक दृष्टि रखैत छथि।

धर्म विमर्श अथवा धार्मिक आडंबरसँ मुठभेड़ करैत हुनक कथा सभमे नमाजे शुकराना, निहुँछ, छठि परमेसरी, विघटन एहि नातक प्रमाण प्रस्तुत करैत अछि। सामाजक विभिन्न वर्ग। पर धर्मक विदास्पद प्रभाव देखाआने छथि। अन्ततः ई कहल जा सकैछ जे हुनक कथामे ओ सकरात्मक अंतपर पहुँचीक विराम लेबाक प्रयास करैत छथि।

धूमकेतुक कथा नवीन भावबोधक सृष्टि करैछ, कथातत्व उच्च मूल्यक प्रतिष्ठापन करैछ, अभिव्यक्तिक मनोरम् घटाक दर्शन करबैछ। हिनक कथा विशिष्ट बनि जाइछ तँ एकर कारण अछि कथ्यक टटका संस्पर्श आ शिल्पक अनुपम सौन्दर्य। हिनक कथा-मानव तिरस्कृत रहितो दया नहि उपजबैछ, जधन्य काज करितो घृणाक पात्र नहि बनैछ। अपन चरित्रकँ प्राण फूकि देबामे जेहन ई माहिर छथि, तेहने दक्ष छथि ओकरासँ जीवनक तह-पर-तह खोलबा देबामे सेहो। संसारक कंटकाकीर्ण बाटपर कौशलपूर्वक बढ़ैत हिनक चरित्र ह्दय कोमलतम तन्तुकँ छूबि कऽ गुदगुदाइयो दैत अछि तँ अत्याचारक विरूद्ध तनिकऽ ठाढ़ो होइत अछि। परम्पराक भजनो करैत अछि तँ अजुको विसंगतिक आँखिमे अुार भोकि दैत अछि। से कुटकुटा कऽ लगैत छैक जरूर, मुदा ओकरापर क्रोध सेहो उपजैत छैक। सामान्य धरातलपर जूझैत धूमकेतु कथाकँ इएह विशिष्टता प्रदान करैत अछि तथा कथाकार धूमकेतुकँ महान बनबैत अछि।

भाषापर हिनक अदभूत अधिकार अछि। पात्रानुरूप भाषाक प्रयोग, ठेठ मैथिलीक सुच्या रूप अभिव्यक्तिक वातावरणक प्रभावकारी निर्माण। जेहन हिनक कथामे भेटैत अछि, से आन ठाम विरल अछि। हिनक कथा व्यक्ति ग्रन्थिकेँ सोझकराकऽ अन्तर्मक सत्यकेँ उद्घाटित करैत अछि।

धूमकेतुक एकमात्र प्रकाशित उपन्यास 'मोड़पर' अछि जे 1945-1970 क कालखण्डपर आधारित अछि। 1942 क भारत छोड़ो आन्दोलनक चित्र सभ सेहो उपन्यासमे आएल अछि।

मोड़परमे किछु स्त्री चरित्र बेस प्रभावकारी रूपमे उपस्थिति भेल अछि। मुदा स्त्री पात्र विद्रोहक मुद्रामे नहि अवैत अछि।

एहि उपन्यासक लेखक एकटा एहन घटनाक्रम चक्रके दरसाओने छथि। जाहिमे एकटा सम्पन्न परिवारक ढहैत सामंती अवस्थाके देखाओने छथि।

एहि उपन्यासक नायकक नाम सदाशिव अछि, जे अपनी जीवन जेलमे व्यतित कएने छथि। ताही अवस्थाके विभिन्न घटनाक्रम के दरसाओने छथि। मोड़ उपन्यासक नायिका गूना छथि दुनूके संबंध भाई बहिनक अछि। वाल्यावस्था सँ लड़ उपन्यास अंत धरि दुनूक मनोव्यथा के स्वाभाविक चित्रण कएने छथि उपन्यासकार धूमकेतु।

एहि उपन्यासक प्रकाशन वेली रोड पटनासँ प्रकाशित भऽ नवम्बर 2000मे आयल अछि। जे 262 पृष्ठक उपन्यास थिक। प्रेम आ घृणाक अन्तद्वन्दक जाहि ढ़ंग सँ उठाओल गेल अछि जे मानवीय मूल्यधर्ममे फलित भऽ जाइत अछि, से अदभूत कथाक सृष्टि करबैत अछि। तँ अरिमता आ अस्तित्वबोधक खास पहचान बनबैत जँ कोनो पात्र-पात्रीक चरित्र-सृष्टि होअय तँ संधिबोधक स्वरमे करत।

इएह संघर्षक स्वर उभरवे करत। यैह संघर्षबोधक स्वर धूमकेतु रचनाक वैशिष्ट्य थिक। उपन्यासकार निर्लज्ज भाव पात्र-पात्रीक मानसिक परिवेश आ ओकर भीतरक मनोवैज्ञानिक सत्यकँ उभारिकऽ यथार्थक धरातल जे अलननि अछि, ऐ विशेष अहलादकारी थिक। मोड़पर उपन्यासक उपोहघातमे उपन्यासकार धूमकेतु स्वयं स्पष्ट कयने छथि। मोड़पर समाजक कील पुरने बनल रहल। उपरका पट्टा जतेक घूमल हो, निचला ठोकले रहि गेल। व्यवस्था तुर्क अफगान सल्तनक हो, मुगलक हो, अंगरेजक एहि सभ मोड़पर धूरी यथावत् रहल। वस्तुत: धूमकेतु मोड़पर उपन्यास मनुक्खक संघर्ष, पीड़ा, मुक्तिक छटपटाहटि जिजीविषा दृढ़ता आ संकलप जीवन तँ सहजहि दु:ख दर्दसँ भरल-पुरल रहिते अछि। से नायक सदाशिव'क माय होउक, पीसी सत्यभामा दाइ वा पिसियौत बहिन गूना सभक प्राय: कमो बेस एके गत। की एहने स्त्री जे सदिक पतिक घूर धूआँ करैत सभ किछु सहैत रहौक तैयो सदाशिवक माय मारल जाउक। सदाशिवक पिता यशोधर झाके अपन तँ जाति-पांति नै रहिन, मुदा वंशक लोभ तँ रहथि। तँ पत्नीके छोटका घरक लोक कहथिन।

कथा आरम्भमे सारगर्मित विषय-वस्तुक उठाकर सदाशिवक बाल मनोविज्ञानक जतेक ऊँचा लड़ जेबाक प्रयास एहि उपन्यासमे भेल अछि, से अविस्मरणीय बनि जाइत अछि। एहिमे सदाशिवक चरित्र अप्रितम उदाहरण थिक।

हिनक कविताक प्रसंग प्रो. रमानाथ झाक मन्तव्य छनि हिनक कविताक पूर्ण मौलिक भाव-चित्रण प्रस्तुत करैत अछि। विषयकँ प्रभावपर्ण रीतिसँ प्रस्तुत करबहिनक कविताक प्रमुख विशेषता थिक जकर केन्द्रमे निहित रहैत अछि। युग चेतना ई विशेषता हिनक प्रकृति विषयक रचनाहुँ मध्य स्पष्ट रहैत अछि।"[2]

धूमकेतु नवीन भावबोधक समन्वित मुक्त छन्दमे काव्य सेहो लिखने छथि। जे पारम्परिक विषयक रचनहुँ मध्य स्पष्ट रहैत अछि। कोनो कवि एकठाम कहने छथि-मिथिला तरूआरिक बलँ कथमपि नहि जीबि सकता अर्थात मिथिलाक इतिहास एहिठाम शौर्यक हेतु प्रसिद्ध नहि अछि। किन्तु धूमकेतु एकरा नहि मानैत छथि। हुनक मान्यता छनि जे मिथिलाकँ जीबाक छै तँ तरूआरि पकड़हि पड़तैक अपन अधिकारकँ टोबहि पड़तैक।

मिथिला तरूआरिक बिना न कथमपि जीबि सकत
ई कालकूट पायी चरणोदक पीबि सकत?
मिथिला तरूआरिक नोकँ सँ कविता लिखलक
आ मैथिलीक फाटल अँचर नहि सीबि सकत?
हिलकोर लेतै कन्दर्पी घाटहुमे यौवन युगनायक बिझलगुए तरूआरि उठाबथु तँ!

× × × × × × × ×

अधिकार अपन देवहुसँ लड़ि लेबे करबनि
जन-गण मनमे विश्वास अदम्य जगाबथु तँ!'[3]

हिनक कविता वैचारिक अधिक होइत अछि, भावात्मक कम। किन्तु जे विचार कवि अपन कविताक माध्यमे प्रकट करऽ चाहैत अछि से ओकर मानसिक उर्वरताक परिचायक अछि। संगहि वर्तमानकँ गम्भीरतासँ देखबाक ओकर सूक्ष्म दृष्टिक सूचक सेहो देखल जाइत अछि। मुदा कविता लजाइतो-लजाइतो कवि चिन्ताकँ, वेदनाकँ आक्रोशकँ बड़ तीव्रतासँ उजागर करैत अछि तथा अन्तमे पाठकक मस्तिष्ककँ झकझोरि दैत अछि। संगहि कविता प्रतीकात्मक होइतो, कवि विचारकँ हृदयगंम करबा हेतु पाठककँ थोड़ेक मानसिक व्यायामक रए पड़ैत अछि। आ से हृदयगंम भऽ गेलापर अतीव सन्तोष प्रदान दैत अछि।

निष्कर्षत

आधुनिक मैथिली साहित्य जगतमे धूमकेतु एक सुपरिचित स्थान रखैत छथि। ई अपन विविध रचनासँ नव चुनौतिक आशाक अनुरूप कथा, उपन्यास, कविता आदि साहित्य जगतमे यथेष्ठ योगदान अनुभव करौने अछि।

सन्दर्भ

1. धूमकेतु- ले. तारानन्द वियोगी, पृष्ठ सं.-77, प्रकाशक- साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली प्रकाशन वर्ष-2000 ई
2. **परिचायिका- डा. भीमनाथ झा, पृष्ठ सं.-171, प्रकाशक-भवानी प्रकाशन, पटना,** प्रकाशन वर्ष-1985 ई.
3. ओएह

माधवी में स्त्री अस्मिता का स्वरुप

सोनम सिंह

शोधार्थी (हिंदी), विद्यासागर विश्वविद्यालय, मिदनापुर (पश्चिम बंगाल)

'माधवी' पौराणिक कथा पर आधारित भीष्म साहनी का तीसरा नाटक है। इस नाटक में कल्पना का आधार लेकर पौराणिक कथा की नयी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। माधवी की कथा महाभारत के उद्योगपर्व से लिया गया है। माधवी नहुष कुल में उत्पन्नत चंद्रवंश के पाँचवें राजा ययाति की पुत्री थी। गालव, आचार्य विश्वामित्र का शिष्य है, शिक्षा समाप्ता होने के बाद गुरु दक्षिणा देने का हठ करता है, जिससे विश्वामित्र क्रोधित होकर उसके अहंकार को चोट करने के लिए दक्षिणा स्वरूप आठ सौ अश्वरमेधी घोड़े माँग लेते हैं। गालव गुरुदक्षिणा को पूरा करने की हर संभव कोशिश करते हुए इधर-उधर भटकता रहता है। अंत: असफल एवं निराश होकर आत्म हत्या करने पहुँचता है तो भगवान विष्णु उसे बचाने के लिए गरुड़ को ब्राह्मण बनाकर भेजते हैं। गरुड़ गालव को समझाते हुए राजा ययाति के पास जाने की सलाह देता है। राज-पाट से निवृत्तं राजा ययाति गालव की प्रतिज्ञा के संबंध में सुनकर असमंजस में पड़ जाते हैं और अंत में अपनी एकमात्र पुत्री माधवी को दान में देते हैं क्योंकि माधवी को यह वरदान प्राप्त है कि उसकी कोख से जन्म लेने वाला पुत्र चक्रवर्ती होगा और माधवी फिर से अनुष्ठान करके कुमारी हो सकती है।

बीज शब्द: स्त्री चेतना, अस्मिता, विद्रोह, पुरुष सत्तातत्मकता का दोहरा चेहरा

भूमिका

सीमोन-द-बोउवार का सुपरिचित कथन है कि "स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।"[1] यह कथन इस नाटक के केंद्रीय चरित्र माधवी के जीवन पर सटीक रूप से लागू होता है। शक्ति और सत्ता द्वारा किए जाने वाले अन्याय, अत्याचार और शोषण को खत्म या कम करने की प्रक्रिया में हमने बेहतर प्रयास तो किया ही है लेकिन गहराई से विचार करें तो हम पाएंगे कि तमाम नये सिद्धांतों-विचारों के बावजूद इस पुरूष प्रधान समाज में स्त्री की स्थिति और नियति को लेकर कोई बुनियादी अंतर नहीं आया है। हाँ, समय के साथ-साथ शोषण के स्वरूप अवश्य बदल रहे हैं, कभी वह देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है तो कभी बिल्कुल बाजारू बना दिया जाता है, इन सब की आड़ में सिर्फ स्वार्थ ही छिपा रहता है। हमारे धर्मग्रंथों में स्त्री की तुलना धरती से की गई है, जिस प्रकार धरती समस्त संसार का निस्वार्थ बोझ वहन करती है वैसे ही स्त्री भी समस्त दायित्व का भार वहन करती है।

स्त्री को त्याग की प्रतिमूर्ति कहा जाता है, लेकिन त्याग और सेवा का फल खुद स्त्री को मिले, यह कतई जरूरी नहीं। महाभारतकालीन पौराणिक परिवेश में अलौकिक गुणों से युक्त, अनिंद्य सुंदर राजकन्या माधवी को अगर उसके त्याग, सेवा का फल मिलता तो पिता दानवीर कैसे कहलाता, और प्रेमी गुरु-दक्षिणा कैसे चुकाता, विश्वामित्र संसार भर में अपने कठिन गुरु दक्षिणा को लेकर कैसे प्रसिद्ध होते।

विषय प्रतिपादन

'माधवी' नाटक में तीन अंक हैं जो क्रमश: तीन, चार और तीन दृश्यों में विभाजित किए गए हैं। हर अंक में माधवी के जीवन की दयनीय स्थितियों का स्तर बढ़ता ही जाता है। सूत्रधार की तरह कथावाचक का प्रयोग इसकी विशेषता है। नेमिचंद्र जैन के शब्दों में समग्रत: हम कह सकते है– "कथानक में नाटकीय स्थितियों और उससे पैदा होने वाली विडंबनाओं के लिए बहुत गुंजाइश है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि भीष्म साहनी ने इन स्थितियों की नाटकीयता को पकड़ने की कोशिश की है। ...मगर नाटक में विवरण या सूचना अधिक है, स्थितियों का सीधा नाटकीय कार्य व्यापार कम। नाटक का अंत भी माधवी की त्रासद असहायता को किसी ऐसे विस्फोटक स्तर तक नहीं ले जा पाता कि पाठक या दर्शक पूरी तरह स्तब्ध्ध हो जाए। फिर भी कुल मिलाकर आलेख में मानवीय संबंधों की विषमताओं और करुणा का ऐसा स्पर्श है जो आकर्षित करता है।"[2]

त्रिलोचन शास्त्री से 'माधवी' की कथा सुनते ही भीष्मजी उसे नाट्य रूप देने के लिए व्यग्र हो उठे। यह नाटक स्त्री देह और पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के शोषण की अकथ्य कथा बयां करता है। लेखक अपने 'आज के अतीत' में लिखते हैं–"मैंने कथानक के नाते तो महाभारत में वर्णित कथा के ही प्रसंग रखें परंतु नाटक के केंद्र में माधवी आ गई। यह उसी की कहानी है, पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री की अवहेलना और शोषण की कहानी।"[3] लिखने की प्रक्रिया में ही भीष्म साहनी को एहसास हुआ कि नाटक की मुख्य पात्र माधवी है और उसीके पक्ष में कथा कही जानी जरूरी है। 80 के दशक तक स्त्री विमर्श और शोषण के अंतिम उपनिवेश के रूप में स्त्री देह को पहचान लिए जाने से लेखक कितना परिचित था यह कहना मुश्किल है लेकिन इतना तय है कि माधवी की कथा कहते हुए भीष्म साहनी ने हिंदी साहित्य में स्त्री वादी देह विमर्श में एक महत्वपूर्ण शुरुआत की।

स्त्री समाज इतना भोला, सीधा होता है कि जरा में अपने आपको भूलकर अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार हो जाता है। स्त्री–जाति ही एक ऐसी जाति है जो सारे अत्याचार को सहते हुए भी सरलमना बनी रहती है। वह हमेशा पराश्रित ही रहती है, कभी पिता के अधीन तो की पति के, और कभी पुत्र के अधीन। उस पर सबका हक होता है पर उसका हक किसी पर नहीं होता है। पुरुष सत्तात्मक समाज ने स्त्री को वस्तु मात्र ही समझ रखा है। पुरुष के

मन में स्त्री को अपने नियंत्रण में रखने की प्रवृत्ति सदा ही मौजूद रही है। गालव मुनिकुमार के कर्त्तव्य परायणता और दृढ़निष्ठा को देखकर उसकी गुरु दक्षिणा के लिए ययाति अपनी पुत्री माधवी को दान स्वरूप दे देता है। यहाँ सब मानवता की तिलांजलि देते हुए कर्त्तव्य पालन पर लगे हुए हैं। ययाति कहते हैं– "माधवी मेरी पुत्री है। पिता के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाएगी। मैंने अपना कर्त्तव्य–निभाया है, वह भी अपना कर्त्तव्य निभाएगी।"[4]

धर्मग्रंथों में मनुष्य के बहुत से गुण गिनाये गए हैं कहा जाता है कि इनमें सबसे बड़ा गुण कर्तव्य पालन है और स्पष्टत: नाटक के मुख्य पात्र अपने इसी कर्त्तव्य बोध से परिचालित हैं, इसके लिए उन्हें कितना ही बड़ा व्यक्तिगत बलिदान ही क्यों न देना पड़े। अपने कर्त्तव्यों की मर्यादा से बँधे बड़ी विडंबना भी साहस तथा धैर्य के साथ झेलते हैं पर टूटते नहीं, यही नाट्यानुभूति माधवी के त्याग और बलिदान को उजागर करते हुए एक स्त्री के रूप में उसके सामाजिक-वैयक्तिक शोषण का तिरस्कार करती है। आदिकाल से ही नारियों की पूजा होती रही है और उन्हें आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। पुराणकाल में तो जीवन और जगत में उनकी समान भूमिका रही है। पर वहीं से नारियो के शोषण की कथा भी आरंभ हुई है। माधवी के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि नारियों का व्यक्तिगत जीवन कभी-कभी सामाजिक एवं पारिवारिक मान-मर्यादाओं तथा कर्त्तव्य बोध की बलि चढ़ जाता है।

पिता द्वारा दान में दिए जाने पर माधवी आश्चार्यचकित हो उठती है। उस समय उसे अपनी माँ की याद आती है। प्रत्यक्ष रूप से न सही लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से वह अपने पिता से तर्क करती है। वह सोचती है कि आज माँ होती तो क्या वह भी उसे दान में देती, वह अपने अधिकारों के प्रति सजग रहते हुए अपने अस्तित्वों का नवोन्मेष महसूस करती है।

प्रेम और कर्त्तव्य के सूत्र में बंधी माधवी गालव की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए निकल पड़ती है। माधवी गालव से प्रेम करती है लेकिन गालव के लिए माधवी प्रतिज्ञा पूरी करने की साधन मात्र है। एक ओर वह माधवी के झूठी प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहता है– "यदि मेरा बस चले तो मैं बड़े-से-बड़े राजा के लिए भी तुम्हें अपने से अलग न होने दूँ।"[5] वही दूसरी ओर उसे प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए दो-दो सौ अश्वमेधी घोड़ों के बदले अयोध्या, काशी, भोजनगर के राजाओं के पास भेज देता है। यहाँ व्याापारिक वस्तुओ में तब्दिल हो जाती है। उसके खरीददार राजा हर्यश्च के राजा– ज्योतिष, छू-छूकर उसके अंग-प्रत्यंगों की जाँच करते हैं। माधवी की त्रासदी यहीं खत्म नहीं होती है। वह राजा दिवोदास के पास पहुँचती है तो राजा देवोदास उसके रूप-सौंदर्य को देखकर उस पर मुग्ध हो जाते हैं और दो सौ अश्व मेधी घोड़े के बदले उसे अपनी रनिवास में रखते हुए कहते हैं– "यदि पुत्र न हुआ और अठारहवीं बेटी हुई तो हम, तुम दोनों को काल कोठरी में बंद कर देंगे।"[6] यहाँ भी हम देख सकते हैं कि बेटी कितनी अभिशापित है। बेटी पैदा करने के जुर्म में सत्रह रानियों को काल कोठरी की सजा दी गई। शेष घोड़े के लिए माधवी स्वयं विश्वामित्र के पास पहुँच जाती है और यहाँ माधवी को अपनी गुणवत्ता की परीक्षा देनी पड़ती है। यहाँ उसका सौदा बड़ी आसानी से हो जाता है। इसकी एक प्रमुख वजह यह थी कि अब वस्तु की गुणवत्ता बिना विज्ञापन के बाजार में पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है। विश्वावमित्र भी दो सौ अश्वामेधी घोड़े के बदले माधवी से पुत्र प्राप्त करते हैं। इससे गुरु के मन, मर्यादा, कर्त्तव्य पर कोई आँच नहीं आती है। यहाँ भी हमें गुरु का अद्‌भुत स्वरूप देखने को मिलता है, वर्तमान संदर्भ में भी धर्मगुरुओं के नारी शोषण संबंधी अघृणित कार्यो का पर्दाफाश हो रहा है।

यदि गालव, ययाति और विश्वामित्र तीनों ही कर्त्तव्य परायणता की प्रतिमूर्ति हैं तो निश्चित ही कर्त्तव्य परायणता का अर्थ होता होगा स्त्री शोषण। सभी अपने स्वार्थपूर्ति के लिए स्त्री का शोषण करते हैं। प्रेम और कर्त्तव्य रूपी हथियार इसमें अहम भूमिका निभाते हैं। यह पुरुषों द्वारा एक स्त्री की अस्मिता के साथ खेला गया षडयंत्र है, सब उसकी संवेदनाओं की बलि चढ़ा कर महान बनते हैं। ये कैसी महानता है जो एक स्त्री की आशा, आकांक्षाओं को मार कर उसे व्यापारिक वस्तु बनाकर समाज में प्रतिष्ठा हासिल करते हैं। भीष्म साहनी ने सामंती व्यवस्था की हृदयहीन क्रूरता को रेखांकित किया है। प्रस्तुत नाट्यकृति की विषय वस्तु के संदर्भ में डॉ. सत्यवती त्रिपाठी का मत है– "वस्तुगत स्तर पर इस नाटक के प्रयोगों की विशेषता स्त्री के प्रति पुरुष के व्यवहार को लेकर शोषण और दमन की परंपरा और सामंतवादी मनोवृत्ति के यथार्थवादी शैली के उद्‌घाटन में है।"[7]

गालव को ऋषि बनने के लिए माधवी अपने आत्मसम्मान के त्याग के साथ-साथ अपनी मातृत्व की भी बलि चढ़ाती गई। बच्चों को जन्म देना और जन्मते उससे अलग हो जाना, एक माँ के लिए कितना मानसिक एवं शारीरिक कष्ट है, जिसका अंदाजा लगाना गालव जैसे दानव के बस की बात नहीं। माधवी को जब अपने बच्चे का रोना सुनाई देता है तब गालव कहता है यह वहम है माधवी। माधवी उत्तर देती है– "नहीं गालव, मैं अपने आने वाले बच्चे का रोना सुन रही हूँ।"[8] यहाँ माधवी का मातृत्व प्रेम उभर आता है।

प्रतिज्ञा पूरी होती है और ययाति के आश्रम में स्वयंवर और दीक्षांत समारोह का आयोजन होता है। स्वयंवर में अनेक राजाओं के साथ गालव का भी आगमन होता है। माधवी के जर्जर शरीर और ढलते यौवन को देखकर गालव ठिठक जाता है। उससे अनुष्ठान करने का आग्रह करता है लेकिन माधवी अनुष्ठान करने से मना कर देती है। देर से ही सही लेकिन माधवी अब कर्त्तव्यपरायणता का प्रपंच समझ चुकी है, जिस गालव के लिए वह अपने पूरी अस्तित्व को दाव पर लगा देती है, आज वही गालव उसके ढ़लते देह को देखकर उसे अपनाने से इंकार कर देता है। वह माधवी से नहीं उसके शरीर से प्रेम करता है, वहीं दूसरी ओर कर्त्तव्यवपराणता का नया प्रपंच खड़ा करते हुए कहता है– "जो स्त्री मेरे गुरु के आश्रम में रह चुकी हो, उसे मैं अपनी पत्नी कैसे मान सकता हूँ।"[9] यही है आदर्श शिष्य एवं कर्त्तव्यपरायणता की प्रतिमूर्ति गालव का असली चेहरा, जो अपने लक्ष्य को पाने के लिए माधवी को एक-एक कर तीन कसाई के हाथों बेच आता है, और अंत में गुरु की दुहाई देकर मार्ग में पड़े काँटे के समान उठाकर बाहर फेंक कर स्वतंत्र हो जाता है। वर्तमान परिदृश्य में भी कुछ ज्यादा बदलाव नहीं आया है। आधुनिक समाज ने उसे उस सामंतवादी समाज के अंधेरे से तो आजादी दी है, किंतु अब भी वह रमणीय वस्तु ही है, जिसकी रमणीयता का उपयोग ब्लेड से लेकर कार तक बेचने के लिए किया जा रहा है।

माधवी के समक्ष पितृसत्ता के दानवों का गिलाफ गिर चुका है, वह सबकी असलियत से रू-ब-रू हो चुकी हैं। वह अपने को उस मायावी तथाकथित प्रेम प्रपंच से निकाल लेती है। वह पूछती है गालव से– "तुम किस माधवी के लिए छटपटाते रहते थे? मैं तुम्हारे लिए केवल निमित्त मात्र थी। जब तुम मेरे समाने अनुनय-विनय कर रहे थे तब भी तुम झूठ बोल रहे थे। तुमने केवल एक ही व्यक्ति से प्रेम किया है और वह अपने आप से। पर मैं तुम्हें। पहचानते हुए भी नही पहचान पाई। मैं सारा वक्त यही समझती रही कि गालव सच्ची साधना और निष्ठावाला व्या।क्ति है।"[10]

गालव छल स्वरूप माधवी के यौवन की आहुति देकर गुरुदक्षिणा जुटाता तो है लेकिन उसने माधवी के पवित्र भावना का भी शोषण किया है, इस क्रूर और अमानवीय प्रक्रिया में वह पूरी तरह क्षत-विक्षत हो जाती है। यह आत्मनिर्वासन उसे अकेलापन देता है। वह अब इन सब से बहुत दूर चली जाना चाहती है। वह कहती है– "संसार बड़ा विशाल है। उसमें निश्चय ही मेरे लिए कोई स्थान होगा।"[11]

निष्कर्ष: भीष्म साहनी की नाट्यकला की अद्‌भुत विशेषता है कि वह अतीत के आलोक में वर्तमान और भविष्य को प्रकाशित करते हैं। माधवी भी ऐसी ही एक रचना है जो सिर्फ अतीत के आख्यानों तक सीमित न रहकर वर्तमान और भविष्य से जुड़ी हुई है। माधवी के समय का समाज और आज के समय के समाज में तब्दिलयाँ तो आई हैं, लेकिन माधवी की स्थितियों में बुनियादी परिवर्तन नहीं आता है। वर्तमान में भी माधवी हमारे आस-पास दिख ही जाती है। स्त्रियाँ माधवी तब तक बनी रहेगी जब तक उसको संचालित करने वाली शक्तियाँ पुरुष सत्तात्मक समाज के हाथों होगी। नाटक की मूल नाट्यानुभूति माधवी के त्याग, बलिदान और समर्पित प्रेम को उजागर करती है और एक स्त्री के रूप में उसके वैयक्तिक और सामाजिक शोषण का तिरस्कार करने से भी नहीं चूकती है।

पौराणिक कथानक होने के कारण नाटक में संस्कृति शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। कथानक की कसावट, रोचकता, स्वाभाविक भाषा के कारण नाटक में कौतूहलपन आ जाता है। शिल्प एवं कथानक की दृष्टि से 'माधवी' एक सशक्त नाटक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बोउवार द सीमोन, 'द सेकेंड सेक्स', (अनुवादक– प्रभा खेतान), पृष्ठ आवरण पृष्ठ
2. तनेजा डॉ. जयदेव, 'हिंदी नाटक आजकल', तक्षशिला प्रकाशन, पृष्ठ संख्या– 61
3. साहनी भीष्म, 'आज के अतीत', राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या– 239
4. साहनी भीष्म, 'माधवी', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 2 – 22
5. वही, पृष्ठ संख्या – 28
6. वही, पृष्ठ संख्या – 78
7. त्रिपाठी डॉ. सत्यवती, 'आधुनिक हिंदी नाटक में प्रयोगधर्मिता', पृष्ठ संख्या-85
8. साहनी भीष्म, 'माधवी', राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-67
9. साहनी भीष्म, 'माधवी', राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-115
10. साहनी भीष्म, 'माधवी', राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-117
11. साहनी भीष्म, 'माधवी', राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-119

बुद्धिधर्मी का दायित्व और प्रेमचंद

शीतांशु

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय, दीफू परिसर, दीफू, असम

पूँजीवादी होड़ के दौर में बाजार ने फेसबुक, ट्विटर, यूट्यूब और सोशल मीडिया के अन्य माध्यमों के द्वारा लेखकों को खुद को स्थापित होते देखने का भ्रामक मौका दिया है। इसने तुरंत सब कुछ हासिल कर लेने की आकांक्षा पैदा की है जो अब एक किस्म की प्रतियोगिता में बदल चुका है। इस स्थिति ने सही लीक पर चल रहे कई लेखकों में भी एक उत्तेजना और हड़बड़ी पैदा कर दी है जिससे उनकी चेतना अपने अपेक्षित स्थान से विस्थापित हुई है। साहित्य के साध्य और साधन को लेकर चली आ रही मान्यताओं में विचलन आया है। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि अपनी विरासत के सार्थक तत्वों के प्रति भी पूँजीवादी-बाजारवादी-उपभोक्तावादी मानसिकता के साथ देखा जाने लगा है और उसे आधुनिक और तर्कपूर्ण प्रक्रिया कहकर 'मूर्तियों को ध्वस्त' करने का कुतर्क दिया जा रहा है। जबकि वास्तविकता यह है कि अपने श्रेष्ठ लेखकों की श्रमसाध्यता, समय से उनके संवाद, प्रगतिशीलता और कुल मिलाकर उनकी देश-कालगत परिस्थितियों के बारे में भी इस उत्तेजना और हड़बड़ी ने इन लेखकों की दृष्टि को सीमित किया है। इन बाजारग्रस्त लेखकों में ऐतिहासिक चेतना सिकुड़ी है और प्रगतिशील मूल्यों की धार कमजोर पड़ी है। वैश्वीकरण ने जिस तरह अमानवीय मूल्यों को स्वीकार्य बनाया है उसी की छाया साहित्य जगत पर भी पड़ी है और कुछ लेखक भी 'सब चलता है' की शैली में आ गए हैं। उत्तरआधुनिकता के तर्क से कहें तो 'कुछ भी अब अप्रस्तुतियोग्य नहीं रहा'; हर बात कही, बोली, लिखी और दिखाई जा सकती है। स्पष्ट कर दूँ कि यह सबके साथ नहीं है, संवेदनशील लेखकों की एक बड़ी संख्या है, जो इन्हीं मंचों का बहुत ही सार्थक उपयोग कर रहे हैं, संयत ढंग से चिन्तन-मनन की प्रक्रिया को और विस्तार दे रहे हैं। किन्तु माध्यमों का अपना समाजशास्त्र होता है और पूँजीवादी-साम्राज्यवादी आक्रामकता के दौर में माध्यमों पर नियंत्रण माध्यमों के व्यवहार और प्रकारांतर से उसे प्रयोग में लाने वालों के मानस को काफी हद तक संचालित करता है।

कभी अज्ञेय ने कहा था कि 'सुनो कवि, भावनाएँ नहीं हैं सोता/ भावनाएँ खाद हैं केवल/ जरा उनको दबा रखो- जरा सा और पकने दो/ ताने और तपने दो/ अँधेरी तहों के पुट में पिघलने और पचने दो।' लेकिन सोशल मीडिया के वर्तमान माध्यमों के स्वरूप और व्यवहार ने, भावनाओं के कच्चेपन को और अपचन को तीव्र किया है, या फिर इसी तरह की भावनाओं का पाठकों तक पहुँचना आसान कर दिया है। सामान्य पाठक के पास कविता या आलोचना की शक्ल में इतनी चीजें पहुँचने लगी हैं कि सचेत और सार्थक कविता या आलोचना से उसकी दूरी बढ़ गई है, फर्क करना उसके लिए कठिन हो गया है।

प्रेमचंद पर हमेशा ही कुछ न कुछ सकारात्मक/नकारात्मक टिप्पणियाँ होती चली आई हैं। माध्यमों के विस्तार के साथ इन टिप्पणियों की संख्या बढ़ गई है। जो पिछले दो दशकों की टिप्पणियाँ हैं उन पर विचार करते वक्त उक्त स्थितियों का ध्यान रखा जाना चाहिए। इधर फेसबुक पर एक उपन्यासकार महोदय आत्मप्रचार करते हुए भी अपने उपन्यास के सार्थक पहलुओं पर नहीं बल्कि प्रेमचंद के गोदान की कमियों को बताने में लगे हुए थे। उन्होंने बस इस पर विचार नहीं किया कि आखिर गोदान में ऐसा क्या है कि इस बीच हजारों उपन्यासों के प्रकाशित हो जाने के बावजूद उन्हें अपने उपन्यास की तुलना गोदान से करनी पड़ रही है। इसी तरह कुछ समय पहले सोशल मीडिया पर दिल्ली के एक लेखक प्रेमचंद को एक 'ओवररेटेड' रचनाकार बता रहे थे। अस्मिता की अतिवादिता से ग्रस्त कुछ लेखक कुछ वर्ष पहले रंगभूमि की प्रतियाँ जला रहे थे। प्रेमचंद को सामंत का मुंशी तक बताया गया। हंस के ही संपादक महोदय इधर उनकी लिखी अधिकांश कहानियों को कूड़ा बता रहे थे। एक सिलसिला ही चल पड़ा है जैसे कुछ भी बोलने का।

रामविलासजी ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद और उनका युग' में उनके समय में प्रेमचंद के बारे में हो रही ऐसी ही टिप्पणियों का जिक्र किया है। और भूमिका में उन्होंने यहाँ से शुरू किया है कि हंस के प्रेमचंद स्मृति अंक में चन्द्रहासन जी ने लिखा है कि 'प्रेमचंद का स्वर्गवास उत्तर के हिन्दी भाषियों को उतना नहीं खटका होगा जितना कि दक्षिण के हिन्दी प्रेमियों को'। यह टिप्पणी सिर्फ स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में प्रेमचंद के महत्व पर नहीं है बल्कि अपने समाज की दरिद्रता पर भी है जो जातिवाद-सांप्रदायिकता-रूढ़िवाद और पूँजीवाद में इतना फँसा है कि अपनी विरासत ही नहीं पहचान पा रहा और उन्हें ओवररेटेड कह रहा है। आगे भूमिका में ही रामविलासजी ने नकारात्मक टिप्पणियों का जिक्र किया है। किसी ने उनके शिल्प को थर्ड रेट कह दिया, किसी ने प्रेमचंद से पाँच सौ कदम आगे के और रचनाकारों की सूची जारी की, किसी ने बताया कि उनमें भावों की गहराई नहीं है, किसी ने बताया कि मनोविज्ञान छिछला है प्रेमचंद का।

कहना न होगा कि इन टिप्पणियों का इतिहास रहा है और इस इतिहास के बीच प्रेमचंद का राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्व बढ़ता ही रहा क्योंकि उनके साहित्य में जीवन की मर्मस्पर्शी छवियाँ है, उसकी आलोचना है। जब तक मनुष्यता उन कठिनाइयों का सामना करती रहेगी जिसकी ओर प्रेमचंद का साहित्य ध्यान ले जाता है तब तक प्रेमचंद हमारे समय के रचनाकार रहेंगे, तब तक लोगों को लगता रहेगा कि प्रेमचंद समकालीन हैं। रामविलासजी उक्त टिप्पणियों का जवाब देने के बाद लिखते हैं कि 'टिटिहरी समुद्र की गहराई को नहीं नाप सकती। उसके लिए समुद्र क्या है? नीला-नीला पानी जिसमें कहीं कहीं लहरें उठती हैं वरन समतल।' उसमें कितनी गहराई है, उसके भीतर कितना जीवन छिपा है, उसकी परिधि कितनी विशाल है इसे समझने के लिए टिटिहरी-अवलोकन की प्रवृत्ति का परित्याग करना होगा।

प्रेमचंद ने कुछ ऐसे ऐतिहासिक कार्य किए हैं कि उन्हें नकारने की तमाम कोशिशों के बावजूद आगे अनेक वर्षों तक वे हमारे साथ चलते रहेंगे, जैसे कबीर चलते रहे हैं। बुद्धिजीवियों को इन कार्यों और प्रवृत्तियों की पहचान करते रहना होगा ताकि आजकल की उत्तेजनापरक और हड़बड़ी की संस्कृति में हम अपनी परंपरा से प्राप्त श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों की रक्षा कर सकें। प्रेमचंद को ओवररेटेड या सामंतवादी कहे जाने की जिस सेंसेशनवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ है उसका प्रतिकार इन श्रेष्ठ तत्वों की पुनरावृत्ति से ही संभव है, तथ्यों को दिग्भ्रम से बचा कर ही संभव है।

तो इस तरह की टिप्पणियाँ उछालने वालों को प्रेमचंद की ऐतिहासिक भूमिका के कुछ पहलुओं की थोड़ी याद दिलाते हैं। सबसे पहली बात यह कि उपन्यास विधा जिस दिशा में चलती आई थी, हिन्दुस्तान में जिन कुछ लेखकों ने उसकी दिशा बदल दी, उसका चरित्र बदल दिया, हमारे साहित्य का स्वरूप परिवर्तित किया, उनमें प्रेमचंद अग्रणी थे। निश्चित रूप से इसका श्रेय सिर्फ उन्हें नहीं जाता बल्कि उन भौतिक परिस्थितियों को भी जाता है जिसमें कि यह संभव हुआ। आधुनिक काल से पहले एक पूरा युग था रीतिकाल, जिसमें हमारे देश के बहुलांश यानी किसानों और सामान्य जनों का स्वर गायब था। स्त्री सौन्दर्य, श्रृंगार, अलंकार और आचार्यत्व की महिमा थी। उर्दू की कविता समृद्ध थी लेकिन वहाँ भी उन्नीसवीं सदी में हुस्न और इश्क हावी था। मेहनतकश समाज वहाँ भी सीमित रूप में दिखाई देता है और जिनमें दिखाई देता है उन्हें पहली पंक्ति का कवि नहीं माना जाता। भारतेन्दु युग ने महान परिवर्तन किए लेकिन राजभक्ति की चेतना खत्म नहीं हुई थी और कविता में खड़ी बोली में कविता करने वाले पिछली पीढ़ी के क्रोध का सामना कर रहे थे। यह वह पृष्ठभूमि थी जिसमें प्रेमचंद ने कथा साहित्य की बागडोर थामी, फिर उसे जिस दिशा में ले गए वह करने का सामर्थ्य विरले लोगों में होता है।

उपन्यास विधा पश्चिम से आई और मध्यवर्ग की विधा के रूप में आई। हिन्दुस्तान में आने के बाद वह भारतीय परिस्थितियों के हिसाब से विकसित हुई। नवजागरण के दौर में सुधारवादी उपन्यास लिखे गए और उसके कुछ ही समय के भीतर तिलिस्मी-ऐय्यारी-जासूसी उपन्यासों का दबदबा हो गया। प्रेमचंद ने इन उपन्यासों की सीमाओं को रेखांकित करते हुए लिखा कि "हमने जिस युग को अभी पार किया है उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। ...इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्‌भुत रस प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से भी कोई लगाव है यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है जीवन जीवन। दोनो परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं।... प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौन्दर्य का आँखों को।" यह वह चेतना थी जिसके साथ प्रेमचंद उपन्यास लेखन की दिशा में आए। प्रेमचंद मानते थे कि इन उपन्यासों में भी सार्थक तत्व संभव हैं अगर वे व्यापक मानवीय मूल्यों से संचालित हों। प्रेमचंद ने अपनी इसी सामाजिक चेतना के साथ उपन्यास की धारा को बदल दिया बल्कि पाठकों की रुचियों को भी काफी हद तक परिवर्तित किया। मनोरंजन के नाम पर मूल्यों से कोई समझौता किए बगैर। बाजार के नाम पर मजबूरी के पर्दे के पीछे छिपे बगैर। प्रेमचंद फिल्मी दुनिया की ओर भी गए लेकिन बाजार के हिसाब से फिल्में नहीं बनाई। जब बाजार ने उनकी फिल्म को स्वीकार नहीं किया, तमाम तरीके से उस पर प्रतिबंध लगाए गए, तो वे अपने शर्तो पर काम करने अपनी साहित्यिक दुनिया में वापस चले आए।

वस्तुत: हिन्दुस्तान में प्रेमचंद ने एक सशक्त विधा के वर्गीच चरित्र को बदलने का काम किया। हमारे नायक बदल गए, विषयों के चुनाव बदल गए, चरित्रों का व्यवहार बदल गया, कथा का विकास और अंत बदल गया, भाषा बदल गई, शिल्प बदल गया। हर जगह वास्तविक जीवन के दृश्य दिखाई देने लगे। किसान और मजदूर दिखाई देने लगे। मध्य वर्ग भी अलग ढंग का दिखाई देने लगा। समय के साथ उनकी अपनी रचनाओं का मध्यवर्ग और भी बदल गया। हाशिए के समाजों के चरित्र दिखाई देने लगे। दलितों और अल्पसंख्यकों के जीवन के संघर्ष दिखाई देने लगे। उनकी समस्याएँ दिखाई देने लगीं। यह कोई मामूली स्थिति नहीं है बल्कि इतिहास का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। तो, प्रेमचंद पर टिप्पणी करने से पहले उन ऐतिहासिक स्थितियों का अध्ययन जरूरी है जिसमें वे सक्रिय थे। इतिहास में उन्हें अवस्थित करके जब वर्तमान के 'टिप्पणीकर्ता' उन्हें देखेंगे तो स्पष्टत: उन्हें उनकी वास्तविक और अपनी भ्रामक अवस्थिति का भान हो पाएगा। आज जब अपनी वर्गीय और अस्मिताई सीमाओं को रेखांकित करना इतना दुष्कर दिखाई दे रहा है, ध्यान रखना चाहिए कि प्रेमचंद अपने समय में पूरे युग का भार उठाए चल रहे थे।

प्रेमचंद जिस दौर में लेखन कर रहे थे वह औपनिवेशिक आक्रामकता और स्वाधीनता आन्दोलन का दौर था। इसी स्वाधीनता आन्दोलन से उनकी चेतना निर्मित हो रही थी। इस स्वाधीनता आन्दोलन और अपने समय से प्रेमचंद का रिश्ता कैसा था, उसके बारे में नामवरजी का यह बयान देखिए- "1905-06 के बंग-भंग से लेकर 1936 तक, जब प्रेमचंद की मृत्यु हुई, इन तीस वर्षो के भारतीय जीवन की धड़कन, उसका संघर्ष, उसकी पराजय, उसका दुख, उसका दर्द, अपनी समस्त गहराई के साथ और अपनी समस्त व्यापकता के साथ अगर किसी एक भारतीय लेखक में आप ढूँढना चाहें तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के रहते हुए, शरतचंद्र के रहते हुए, सुब्रहमण्यम भारती के रहते हुए, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के रहते हुए, डॉ. मुहम्मद इकबाल के रहते हुए भी मैं प्रेमचंद का नाम लेना चाहूँगा, क्योंकि वही एकमात्र साहित्यकार हैं, जिनके साहित्य में स्वाधीनता संग्राम की अमर गाथा अपने पूरे ब्यौरे के साथ कही गई है।" यह हुई एक श्रेष्ठ आलोचक की राय। अब हिन्दी के एक श्रेष्ठ साहित्येतिहासकार और उपन्यासकार हजारीप्रसाद द्विवेदी की राय देख लीजिए- "अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर विधानसभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचंद का हाथ पकड़कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अंत:पुर में मान किए प्रियतमा को, कोठे पर बैठी वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोचन्दों को, ईर्ष्या-पारायण प्रोफेसरों को, दुर्बल हृदय बैंकरों को, सासह पारायण चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है वह गलत नहीं है। उससे अधिक सच्चाई से दिखा सकने वाले परिदर्शक को अभी हिन्दी-उर्दू की दुनिया नहीं जानती।"

जब प्रेमचंद कर्मभूमि लिखते हैं तब तक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का परिदृश्य काफी स्पष्ट हो चुका था। कर्मभूमि नाम से ही स्पष्ट है कि उसका अभिप्राय क्या है। कर्मभूमि न सिर्फ विभिन्न वर्गो को बल्कि विभिन्न अस्मिताओं से बँधे जनसमूह को स्वाधीनता आन्दोलन के समर्थन में और सामाजिक कुरूपताओं के खिलाफ एकजुट होने की प्रेरणा देता है। क्या शहरी उच्च वर्ग और क्या गाँव का किसान, स्त्री हो या पुरुष, दलित हो या सवर्ण, मजदूर हो या पूँजीपति, सभी को इस कर्मभूमि का हिस्सा बनना होगा। समरकान्त, अमरकान्त, सुखदा, सकीना, सलीम, मुन्नी, सलोनी आदि सभी उपन्यास के

विकास-क्रम में एक मंच पर खड़े दिखाई देते हैं। वे मूलतः विभिन्न वर्गों और अस्मिताओं के प्रतिनिधि बनकर ही आते हैं। इसी गहन राजनीतिक-सामाजिक चेतना को ध्यान में रखकर रामविलास शर्मा ने कर्मभूमि को स्वाधीनता आन्दोलन की गहराई और प्रसार का उपन्यास कहा है। आज जब वैश्वीकृत पूँजीवाद के दौर में बुद्धिजीवियों के कलम और विचारों को सत्ताधारी अपनी मशीनरी के माध्यम से नियंत्रित कर रहे हैं, हमें यह सीखना होगा प्रेमचंद से कि किस तरह औपनिवेशिक आक्रामकता के दौर में भी उनकी कलम समय से इतना सार्थक संवाद करती है। इतना सार्थक कि वह आज भी प्रेरणास्रोत है।

स्वराज्य लाभ और उसका व्यवस्थित विकास प्रेमचंद का लक्ष्य है। कर्मभूमि में गजनवी कहता है– "स्वराज्य हम चाहते हैं मगर इन्कलाब की सूरत में नहीं। हालांकि कभी-कभी मुझे भी ऐसा मालूम होता है कि इन्कलाब के सिवा हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है। इतनी फौज रखने की क्या जरूरत है, जो सरकार की आमदनी को आधा हजम कर जाए। फौज का खर्च आधा कर दिया जाए तो किसानों का लगान बड़ी आसानी से आधा हो सकता है।... आखिर एक दो सदी बाद दुनिया में एक सल्तनत हो जाएगी। सबका एक कानून, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे, मजहब शख्सी चीज होगी। न कोई राजा होगा न परजा।" गजनवी का यह वाक्य प्रेमचंद की चेतना की गहराई को दिखाता है। स्वराज का मतलब केवल अंग्रेजों से आजादी नहीं है, बल्कि देश में आजादी से है, पूरी दुनिया में आजादी से है। और प्रेमचंद को बराबर यह डर था कि अगर स्वराज की जो लड़ाई है उसकी चिन्ताओं को हम सही दिशाओं में नहीं ले जाएंगे तो यह हासिल होने से रहा। प्रेमचंद एक ऐसा समाज चाह रहे थे जो गैरबराबरी का समाज हो, जिसमें सेनाओं की जरूरत न हो, जिसमें धार्मिक, सांप्रदायिक संकीर्णताएँ न हों, सबके साथ न्याय हो, शासक और जनता के बीच, गाँव और शहर के बीच का फर्क मिट जाए।

लेकिन प्रेमचंद यह भी जानते थे कि यथार्थ में इसे संभव करना कितना कठिन है। इसलिए स्वराज की उनकी चेतना, उनकी रचनाओं में आप जितना आगे बढ़ते जाएंगे, नारेबाजी की तरह नहीं उभरती बल्कि उन वर्गों, अस्मिताओं, समस्याओं की ओर इंगित करती है, जो उन्हें डर है कि इस नारेबाजी के बीच दब जाएंगी और बाद में स्थितियाँ बद से बदतर होंगी। कर्मभूमि से गोदान की ओर के सफर को ऐसे समझना होगा। कर्मभूमि पहले लिखी गई, गोदान और कफन बाद में। गोदान और कफन में अगर प्रत्यक्ष राजनीतिक बहसें नहीं दिखाई देतीं तो क्या यह निष्कर्ष निकाल लें कि प्रेमचंद में राजनीतिक चेतना नहीं थी, या कम हो गई थी! वास्तविकता यह है कि इन दोनो उपन्यासों में इन बहसों का न होना उनकी और भी गहरी राजनीतिक चेतना का प्रमाण है। उनको पता था कि सिर्फ नारेबाजी से कुछ नहीं होगा, उनकी राजनीति यह होनी चाहिए कि हमारे समाज के सबसे दबे-कुचले वर्ग की जीवन स्थितियों से राष्ट्र की बागडोर जिनके हाथ में है, आजादी के बाद जिनके हाथ में जाएगी, उन्हें पूरी तरह से परिचित कराएँ। यह थी औपनिवेशिक दौर में प्रेमचंद की राजनीतिक चेतना। इतनी गहन, इतनी गूढ़, इतनी सूक्ष्म। इतनी दूरदर्शी। उनका डर कितना सच साबित हुआ यह कहने की जरूरत नहीं।

कुछ साहित्य सर्जकों और प्रेमियों को प्रेमचंद के शिल्प से दिक्कत है। जब विषय-वस्तु के रास्ते से उन्हें पीछे नहीं खींचा जा सकता तो अक्सर इस चोर दरवाजे का इस्तेमाल किया जाता है। इसका भी इतिहास बहुत पुराना है। आधुनिकतावादी और उत्तर आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों के विकास के साथ ऐसे टिप्पणीकर्ताओं की संख्या बढ़ी ही है। यहाँ भी नामवरजी को उद्धृत करना जरूरी है। नामवरजी ने प्रेमचंद के 'सादगी के सौन्दर्यशास्त्र' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसी शीर्षक से अपने एक लेख में उन्होंने कई कहानियों के माध्यम से इस सादगी के विभिन्न आयमों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है लेकिन जो निष्कर्ष उन्होंने दिया वह देखने लायक है। उनका कहना है कि 'प्रेमचंद की इन कहानियों के माध्यम से मैंने सिर्फ बताना चाहा है कि ये सरल-सुस्पष्ट और पारदर्शी कहानियाँ हैं, जिनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है, बल्कि जहाँ अर्थ-गर्भ प्रसंग हैं, उनको केवल रेखांकित कर देने की जरूरत है, वे अपनी व्याख्या करने में स्वयं समर्थ हैं। यही प्रेमचंद की ताकत है।' यह है हिन्दी के ख्यातिलब्ध चर्चित समर्थवान आलोचक का निष्कर्ष। यह है निष्कर्ष कि उनके लेखन को समझाने के लिए टूल्स की जरूरत ही नहीं है। सिर्फ कुछ रेखांकित किया जा सकता है। आजकल कुछ लेखक बात-बात पर आलोचकों को तमाम बातें सुना रहे हैं, उन्हें इस टिप्पणी को पढ़ना चाहिए। जब साहित्यकार कालजयी होता है तो उसे आलोचनाओं की जरूरत नहीं होती। कबीर लोगों की जबान पर हैं, रवीन्द्र संगीत लोगों के दिल में है और प्रेमचंद लोगों के जीवन में सहज व्याप्त हैं।

मैं तो यहाँ तक कहने की हिम्मत कर रहा हूँ कि साहित्यिक समुदाय में सौन्दर्य शब्द का जो अर्थ था उस अर्थ-छवि को विस्थापित करने में प्रेमचंद की भूमिका महत्वपूर्ण रही होगी। सौन्दर्य शब्द को सुनते ही जो कुछ मस्तिष्क में आता रहा होगा, प्रेमचंद और उनके जैसे अन्य साहित्यकारों के लेखन के बाद उससे अलग बातें हिन्दी साहित्य प्रेमियों के जेहन में आने लगी होंगी। उनके यहाँ सौन्दर्य वहाँ है जहाँ 'मन का संस्कार' हो। उनकी पंक्ति है, 'साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सच्चाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है।' यह है प्रेमचंद का सौन्दर्य। इन मूल्यों का विकास। पारंपरिक काव्यशास्त्र और रीतिकालीन दृष्टि से इस सौन्दर्य की व्याख्या हो सकती है क्या? साथ ही यह सौन्दर्य क्या शिल्प मात्र की ऊंचाई से हासिल हो सकता है? यह सौन्दर्य जीवन में डूबकर निकाले गए अंतर्वस्तु के बगैर नहीं संभव है। इसीलिए प्रेमचंद के समय तक ढेर सारे लोग वहाँ सौन्दर्य ढूँढने में अक्षम थे जहाँ-जहाँ प्रेमचंद ने ढूंढा। उन्होंने उस कसौटी को ही बदल देने की माँग उठाई जिससे सौन्दर्य को देखा जा रहा था। उन्होंने लिखा है, 'हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख दुख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वंद्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे।' इस दृष्टि के साथ आगे बढ़े प्रेमचंद। इसलिए वहाँ वहाँ सौन्दर्य ढूंढा जो उनके पूर्ववर्ती साहित्य में सीमित था।

प्रेमचंद ने गोदान में जीवन संग्राम में सौन्दर्य ढूंढा। उनके साहित्य की यह विशेषता है कि जो भी जीवन संग्राम में उतरता है सुन्दर दिखाई देने लगता है। स्त्री रूप से सुन्दर हो तब भी प्रेमचंद के यहाँ वह कुरूप लग सकती है अगर वह जीवन संग्राम में नहीं उतरती, अगर वह मूल्यों का विकास नहीं करती। मालती जब तक अपनी अदाओं का उपयोग करती रहती है वह गोदान में कुरूप लगती है और जैसे ही वह दायित्वों का वहन करने के लिए तैयार हो जाती है, सुन्दर लगने लगती है। यह है प्रेमचंद का सामर्थ्य। मातादीन जब तक अपने जातिवादी संस्कारों से जड़ित होकर मानवीय मूल्यों का ह्रास करता है वह कुरूप लगता है लेकिन जैसे ही वह सिलिया का हाथ थामने का प्रण लेता है सुन्दर दिखाई देने लगता है। शिकार पर निकले मेहता को जो आदिवासी कन्या मिलती है वह सहज सुन्दर लगती है और मालती समझ भी नहीं पाती कि मेहता को यहाँ क्या दिख रहा है!

तो प्रेमचंद ने सौंदर्य के भी वर्गीय चरित्र को समझा था। यह समझा था कि इन उच्च वर्गीय संस्कारों से पाठकों की चेतना को समाजविमुख करने वाले सौन्दर्य बोध से अलग एक नया सौन्दर्य बोध रचने की जरूरत है। बहुत हुआ पशुओं के सौन्दर्य के आधार पर स्त्रियों की देह के सौन्दर्य का चित्रण- स्त्रियों के सौन्दर्य के लिए खंजन नयन और गजगामिनी जैसा चित्रण। प्रेमचंद ने एक किसान की साध गाय के सौन्दर्य का चित्रण एक रानी के सौन्दर्य के आधार पर कर दिया। उलट दिया चीजों को। अब आप कहिए कि कहाँ है शिल्प! तो यही है उनके शिल्प की खासियत कि उन्होंने इतना बड़ा काम भी इस सादगी से किया कि आलोचकों को उपकरण तलाशने पड़ते हैं। प्रेमचंद ने अपने पूर्ववर्ती साहित्य के बारे में लिखा था कि 'उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखें। उपवास और नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है इसे वह कदाचित स्वीकार नहीं करता। उसेक लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है, उस बच्चोंवाली गरीब रूप रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत के मेड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है।' प्रेमचंद ने इसी सीमित दृष्टिकोण को बदल कर सौन्दर्य शब्द को ही विस्तृत करने का उद्योग किया। गोबर पाथती नारी पर कविता लिखने की बात की। गोदान में आरंभ में ही होरी की दोनो बेटियाँ झगड़ा करती हैं कि गोबर मैं पाथूंगी और वह झगड़ा उनके सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा देता है।

फैज ने प्रेमचंद के अंतर्वस्तु और शिल्प की इसी गहराई को ध्यान में रखकर लिखा था कि उन्हीं की उंगली पकड़कर हिन्दी उर्दू कथा साहित्य सही मायनों में डीक्लास हो पाया। अपने समय के लेखकों को सचेत करते हुए फैज लिखते हैं कि 'अपनी कला की वास्तविक समस्याओं के बदले शैली-शिल्प की पहेलियों में मुब्तिला बहुतेरी युवा प्रतिभाएँ हैं- ऐसी सामाजिक साहित्यिक दुनिया में प्रेमचंद का कृतित्व संस्कृति, कला और यथार्थ के सच्चे परिप्रेक्ष्य की ओर ले जानेवाला एक अत्यंत प्रासंगिक आमंत्रण है।' फैज की यह उक्ति आज के साहित्य और साहित्यकारों के लिए भी बराबर लागू होती है। आज के बुद्धिजीवियों के लिए मौजू ढेर सारी बातें हैं प्रेमचंद के पास। उनसे सीखने के लिए अभी भी काफी कुछ है। हम परंपरा को कैसे देखें, इतिहास को कैसे समझें, कला का उद्देश्य क्या है, भाषा की क्या भूमिका है, भारतीयता क्या है, स्वराज का मतलब क्या है, पूँजीवाद और सामन्तवाद का प्रतिरोध कैसे करना है, जातिवाद कितना घातक है, सांप्रदायिकता से कैसे लड़ें, सादगी का क्या महत्व है, और इनके अलावा भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनकी समझदारी तैयार करने के लिए हमें बार-बार प्रेमचंद तक जाना होगा। अन्त में बुद्धिधर्मी के दायित्व के संदर्भ में प्रेमचंद की एक उक्ति- 'हमारी कसौटी पर वही साहित्यकार खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो- जो हममें गति, संघर्ष और बेचौनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और सोना मृत्यु का लक्षण है।'

संदर्भ

- रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, मेहरचन्द मुंशीराम, दिल्ली, 1952, भूमिका में पृष्ठ 5
- रामविलास शर्मा, वही, भूमिका में पृष्ठ 5
- प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, भारतीय ग्रंथ निकेतन, नई दिल्ली, 1992, पृष्ठ 8
- नामवर सिंह, प्रेमचन्द और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ 113
- नामवर सिंह, वही, पृष्ठ 22
- वही, पृष्ठ 101
- प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, वही, पृष्ठ 14
- वही, पृष्ठ 18
- मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, रेखा अवस्थी (संपादक), प्रेमचंद: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता, लेख- फैज अहमद फैज- राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा का संदर्भ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 40
- प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, वही, पृष्ठ 24

परमाराध्य : भगवान श्रीनाथजी का प्राकट्य वर्णन

डॉ० कांतिलाल यादव

असिस्टेंट प्रोफसर, हिन्दी विभाग, माधव विश्वविद्याल, सिरोही-30702, पिण्डवाड़ा, राजस्थान

शालिनी भट्ट

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, माधव विश्वविद्यालय, पिण्डवाड़ा, राजस्थान

युग-युग से उपेक्षित चली आती धर्म-भावना एवं सांस्कृतिक धारा को अपने स्वस्थतम रूप में उदय होने का अवसर मिला। भारतीय जनता को आज अपने धर्म और संस्कृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम प्रकट करने के लिये पूरा-पूरा अवसर है। साथ ही विश्व के सभी धर्मों के प्रति समान आदरभाव है। इस देश में भारतीय जनमानस की आस्था अथवा भक्ति-भावना के अनेक केन्द्र हैं ये केन्द्र ही 'धाम' पुकारे गये हैं। इन धामों की महिमा, इनके प्रामाणिक सांस्कृतिक इतिहासों की महती आवश्यकता का सदैव अनुभव किया गया है। भारतीय सीमा के छोर पर स्थित चार धाम, सप्तपुरियाँ, सौरों, शैवों शाक्तों, वैश्णवों एवं गाणपत्यों के उपास्य तथा उपासना स्थल, भक्ताचार्यों, दार्शनिकों के कर्मक्षेत्र भक्तों के धर्म क्षेत्र अवतारों की लीला स्थलियाँ, भगवद्-विग्रहों की दर्शनीय पुण्य पुरियाँ ही तीर्थस्थल मानी गई हैं। इन सबका अपना-अपना महत्व एवं माहात्म्य है। सभी का धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और भौगोलिक इतिहास है।

भगवान विष्णु हिन्दू त्रिदेवों (तीन महा देवताओं) में से एक हैं। निर्माण की योजना के अनुसार, वे ब्रह्माण्ड के निर्माण के बाद, उसके विघटन तक उसका संरक्षण करते हैं। भगवान विष्णु के दस अवतारों को संयुक्त रूप से 'दशावतार' कहा जाता है। जब मानव अन्याय और अधर्म के दलदल में खो जाता है, तब भगवान विष्णु उसे सही रास्ता दिखाने हेतु अवतारग्रहण करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीख्रष्ण के द्वारा कहा गया है :

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युथानम् अधर्मस्य तदात्मानं सष्जाम्यहम्सम
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्ख्रताम।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगेम

अर्थात् जब-जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्थान हो जाता है, तब-तब सज्जनों के परित्राण और दुष्टों के विनाश के लिए मैं विभिन्न युगों में (माया का आश्रय लेकर) उत्पन्न होता हूँ।

कृष्ण की प्रतिमा में क्षेत्रीय विविधताएँ उनके विभिन्न रूपों में देखी जाती हैं, जैसे ओडिशा में जगन्नाथ, महाराष्ट्र में विठोब, राजस्थान में श्रीनाथ जी, गुजरात में द्वारकाधीश और केरल में गुरुवायरुप्पन। अन्य चित्रणों में उन्हें राधे के साथ दिखाया जाता है जो राधे और कृष्ण के दिव्य प्रेम का प्रतीक माना जाता है। उन्हें कुरुक्षेत्र युद्ध में विश्वरूप में भी दिखाया जाता है। अपने मित्र सुदामा के साथ भी उनको दिखाया जाता है जो मित्रता का प्रतीक है। वास्तुकला में कृष्ण चिह्नों एवं मूर्तियों के लिए दिशानिर्देशों का वर्णन मध्यकालीन युग में हिन्दू मंदिर कलाओं जैसे वैखानस अगम, विष्णु धर्मोत्तरा, बृहत संहिता और अग्नि पुराण में वर्णित है, इसी तरह, मध्यकालीन युग के शुरुआती तमिल ग्रंथों में ख्रष्ण और रुक्मिणी की मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं। इन दिशानिर्देशों के अनुसार बनाई गई कई मूर्तियाँ सरकारी संग्रहालय, चेन्नई के संग्रह में हैं।

भारत के तीर्थ हमारी संस्कृति के रंगमंच हैं। अत: भारतीय जन-जीवन में प्राचीन काल से तीर्थ सेवन की परम्परा रही है। तीर्थ-सेवन का धार्मिक महत्व तो है ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाये तो तीर्थों का वातावरण-निराशों, निराश्रितों, मन: पीड़ितों को स्वस्थ, आशान्वित अन्तर्बल प्रदान करने वाला होता है। अभ्यास और वैराग्य से भी काबू में न आने वाले मन के निरोध के लिए एक कदम आगे बढ़कर महाप्रभु श्री बल्लाभाचार्य ने भारत के चार स्थानों में से किसी एक स्थान पर चिर निवास करने की सलाह दी है।

जगन्नाथ विट्ठले व श्रीरंगे वेकंटे तथा।
यत्र पूजा प्रवाहस्यातत्र तिष्ठेत् तत्पर:।।

अर्थात् यदि साधक अथवा भक्त का मन उद्विग्न चंचल बना रहे तो जगन्नाथ (पुरी) विट्ठल (पंढरपुर) श्रीरंगम् एवं श्रीवेंकटेष्वर (तिरुपति) आदि किसी एक स्थान पर चला जाये और यहाँ भगवान् के पूजा प्रवाह में तत्पर (एकनिष्ठ) हो जाये। भारत के ये चार स्थान पूजा-प्रवाह वाले कहे जाते हैं। किन्तु श्रीनाथद्वारा इन सबसे निराला है। यहाँ पूजा-प्रवाह नहीं, भाव-प्रवाह है। इस दृष्टि से नाथद्वारा नितान्त अनोखा और अनुपम ठहरता है। पूजा-प्रवाह में स्वस्थ तन मन धन के अतिरिक्त पूजोपकरण, पूजा कौशल की आवश्यकता रहती है।

श्रीनाथजी श्रीख्रष्ण भगवान के 7 वर्ष की अवस्था के रूप हैं। इनका स्वरूप राजस्थान में उदयपुर के निकट राजसमन्द जिले के नाथद्वारा के श्रीनाथजी मन्दिर में विराजमान है। श्रीनाथद्वारा राजस्थान के राजसमन्द जिले में स्थित है। श्रीनाथद्वारा पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदाय की प्रधान (प्रमुख) पीठ है। यहाँ नंदनंदन आनन्दकंद श्रीनाथजी का भव्य मंदिर है जो करोडों वैष्णवों की आस्था का प्रमुख स्थल है, प्रतिवर्ष यहाँ देश-विदेश से लाखों वैष्णव श्रृद्धालु आते हैं जो यहाँ के प्रमुख उत्सवों का आनन्द उठा भावविभोर हो जाते हैं।

श्रीनाथजी का तकरीबन 337 वर्ष पुराना मंदिर राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित रोडवेज बस स्टेण्ड से मात्र 1 किलोमीटर दूरी पर स्थित है। नाथद्वारा नगर भारत के प्रमुख वैष्णव केन्द्रों में से एक है, इसमें प्रमुख मन्दिर भगवान श्रीकृष्ण का है जो श्रीनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर वर्ष भर देश व विदेशों से श्रद्धालु दर्शन के लिए आते हैं। भारतवर्ष में मेवाड़, तीर्थ स्थलों के साथ ऐतिहासिक शौर्य की गाथाओं से भरा पड़ा है। अरावली की सुरम्य घाटियों की परिधि से लगी राजस्थान की धमार्वली राणा प्रताप की रण स्थली हल्दी घाटी नाथद्वारा से 16 किमी. दूर है।

उर्ध्वभुजा का प्राकट्य

उस समय भूमण्डल पर बडा मंगल हुआ। सर्वप्रथम श्रावण शुक्ल पंचमी (नागपंचमी) सं. 1466 के दिन जब एक ब्रजवासी अपनी खोई हुई गाय को खोजने गोवर्धन पर्वत पर गया तब उसे श्री गोवर्द्धनाथजी की ऊपर उठी हुई वाम भुजा के दर्शन हुए उसने अन्य ब्रजवासियों को बुलाकर ऊर्ध्व वाम भुजा के दर्शन करवाये। तब एक वृद्ध ब्रजवासी ने कहा कि भगवान् श्रीख्रष्ण ने गिरिराज गोवर्धन को बायें हाथ की अंगुली पर उठाकर इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों, ब्रज की गौऐं और ब्रज की रक्षा की थी। तब ब्रजवासियों ने उनकी वाम भुजा का पूजन किया था। यह भगवान् श्रीख्रष्ण की वही वाम भुजा है। वे प्रभु कंदरा में खड़ें है और अभी केवल वाम भुजा के दर्शन करवा रहे है। किसी को भी पर्वत खोदकर भगवान् के स्वरूप को निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जब उनकी इच्छा होगी तभी उनके स्वरूप के दर्शन होंगे। इसके बाद लगभग 69 वर्षो तक ब्रजवासी इस ऊर्ध्व भुजा को दूध से स्नान करवाते, पूजा करते, भोग धरते और मानता करते थे। प्रतिवर्ष नागपंचमी के दिन यहाँ मेला लगने लगा था।

श्रीमुखारविन्द प्राकट्य

विक्रम संवत् 1535 वैशाख वदि 11 गुरूवार के दिन, शतभिशा नक्षत्र, मध्याह्न काल, अभिजित् समय में गोवर्द्धननाथजी के मुखारविन्द का प्राकट्य हुआ। उसी दिन श्रीमदाचार्यजी का प्राकट्य अग्निकुण्ड से हुआ।[1] श्रीकृष्णावतार के ब्रजवासी भी सब व्रजमण्डल में जहाँ-तहाँ मनुष्यकुल में उत्पन्न हो गये, क्योंकि श्रीगोवर्द्धननाथजी उनसे क्रीडा करेंगे।

वि.स. 1535 में वैशाख ख्रष्ण एकादशी को मध्यान्ह एक अलौकिक घटना घटी। गोवर्धन पर्वत के पास आन्योर गाँव के सद्दू पाण्डे की हजारों गायों में से एक गाय नंदरायजी के गौवंश की थी, जिसे धूमर कहा जाता था। वह नित्य तीसरे प्रहर उस स्थान पर पहुँच जाती थी, जहाँ श्री गोवर्धननाथजी की वाम भुजा का प्रक्टय हुआ था। वहाँ एक छेद था। उसमें वह अपने थनों से दूध की धार झराकर लौट आती थी। सदू पाण्डे को संदेह हुआ कि ग्वाला अपरान्ह में धूमर गाय का दूध दुह लेता है इसलिए यह गाय संध्या समय दूध नहीं देती है। एक दिन उसने गाय के पीछे जाकर स्थिति जाननी चाही, उसने देखा कि गाय गोवर्धन पर्वत पर एक स्थान पर जाकर खडी हो गयी और उसके थनों से दूध झरने लगा। सद्दू पाण्डे को आश्चर्य हुआ। उसके निकट जाकर देखा तो उसे श्री गोवर्धननाथजी के मुखारविन्द के दर्शन हुए इसी दिन वैशाख ख्रष्ण 11 को संवत् 1535 छत्तीसगढ़ के चम्पारण्य में श्री वल्लाभाचार्य का प्राकट्य हुआ। श्री गोवर्धननाथजी ने स्वयं सद्दू पाण्डे से कहा कि - 'मेरा नाम देवदमन है तथा मेरे अन्य नाम इन्द्रदमन और नागदमन भी है। उस दिन से ब्रजवासी श्री गोवर्धननाथजी को देवदमन के नाम से जानने लगे। सदू पाण्डे की पत्नी भवानी व पुत्री नरों देवदमन को नित्य धूमर गाय का दूध आरोगाने के लिए जाती थी।

वि.स. 154ष्ब (ई.स. 1593) फाल्गुन शुक्ल एकादशी गुरूवार के दिन श्री गोवर्धननाथजी ने महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी को झारखण्ड में आज्ञा दी - हमारा प्राकट्य गोवर्धन की कन्दरा में हुआ है।[2] पहले वामभुजा का प्राकट्य हुआ था और फिर मुखारविन्द का। अब हमारी इच्छा पूर्ण स्वरूप का प्राकट्य करने की है। आप शीघ्र ब्रज आवें और हमारी सेवा का प्रकार प्रकट करे। यह आज्ञा सुनकर महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य अपनी यात्रा की दिशा बदलकर ब्रज में गोवर्धन के पास आन्योर ग्राम पधारे वहाँ आप श्री सद्दू पाण्डे के घर के आगे चबूतरे पर विराजे। श्री आचार्यजी महाप्रभु के अलौकिक तेज से प्रभावित होकर सद्दू पाण्डे सपरिवार आपश्री के सेवक बने। सद्दू पाण्डे ने आपश्री को श्रीनाथजी के प्राकट्य की सारी कथा सुनाई। श्री महाप्रभुजी ने प्रात: काल श्रीनाथजी के दर्शनार्थ गोवर्धन पर पधारने का निश्चय व्यक्त किया। दूसरे दिन प्रात: काल श्री महाप्रभुजी अपने सेवकों और ब्रजवासियों के साथ श्री गिरिराजजी पर श्रीनाथजी के दर्शनों के लिए चले। सर्वप्रथम आपने हरिदासवर्य गिरिराजजी को प्रभु का स्वरूप मानकर दण्डवत प्रणाम किया और उनसे आज्ञा लेकर गिरिराजजी पर धीरे-धीरे चढ़ना आरम्भ किया। जब दूर से ही सद्दू पाण्डे ने श्रीनाथजी के प्राकट्य का स्थल बतलाया तब महाप्रभुजी के नेत्रों से हर्ष के अश्रुओं की धारा बह चली। उन्हें ऐसा लग रहा था कि वर्षो से प्रभु के विरह का जो ताप था, वह अब दूर हो रहा है। उनकी पर्वत पर चढने की गति बढ गई। तभी वे देखते है कि सामने से मोर मुकुट पीताम्बरधारी प्रभु श्रीनाथजी आगे बढे आ रहे है। तब तो श्रीमद् वल्लभाचार्य प्रभु के निकट दौडते हुए से पहुँच गये। आज श्री वल्लभाचार्य को भू-मंडल पर अपने सर्वस्व मिल गये थे। श्री ठाकुरजी और श्री आचार्यजी दोनो ही परस्पर अलिंगन में बंध गये। इस अलौकिक झाँकी का दर्शन कर ब्रजवासी भी धन्य हो गये। आचार्य श्री महाप्रभु श्रीनाथजी के दर्शन और आलिंगन पाकर हर्ष-विभोर थे। तभी श्रीनाथजी ने आज्ञा दी -"श्री वल्लभ यहाँ हमारा मन्दिर सिद्ध करके उसमें हमें पधराओं और हमारी सेवा का प्रकार आरम्भ करवाओं"। श्री महाप्रभु जी ने हाथ जोड़कर विनती की "प्रभु! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है"।

श्री महाप्रभु ने अविलम्ब एक छोटा-सा घास-फूस का मन्दिर सिद्ध करवाकर ठाकुरजी श्री गोवर्धननाथजी को उसमें पधराया तथा श्री ठाकुरजी को मोरचन्द्रिका युक्त मुकुट एवं गुंजामला का श्रृंगार किया। आप श्री ने रामदास चौहान को श्रीनाथजी की सेवा करने की आज्ञा दी। उसे आश्वासन दिया कि

चिन्ता मत कर स्वयं श्रीनाथजी तुम्हें सेवा प्रकार बता देंगे। बाद में श्री महाप्रभुजी की अनुमति से पूर्णमल्ल खत्री ने श्रीनाथजी का विशाल मन्दिर सिद्ध किया। तब सन् 1519 विक्रम संवत् 1576 में वैशाख शुक्ल तीज अक्षय तृतीया को श्रीनाथजी नये मन्दिर पधारे तथा पाटोत्सव हुआ।[3] तब मधवेन्द्र पुरी तथा कुछ बंगाली ब्राह्मणों को श्रीनाथजी की सेवा का दायित्व सौपा गया।

कुभंनदास संगीत सेवा करने लगे तथा ख्रष्णदास को अधिकारी बनाया गया। बाद में श्री गुसाँईजी ने बंगाली ब्राह्मणों को सेवा से हटाकर नई व्यवस्था की जो आज तक चल रही है। जब श्रीनाथजी ब्रज से श्रीनाथद्वारा में पधारे तब वि.स. 1728 फाल्गुन ख्रष्ण सप्तमी 2. फरवरी सन् 1672 ई. शनिवार को श्रीनाथजी वर्तमान निज मन्दिर में पधारे।[4] धूमधाम से पाटोत्सव हुआ तब सिहाड ग्राम का नाम "श्रीनाथद्वारा" प्रसिद्ध हुआ।

अन्य नामों से संबोधित

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने आप श्री का प्रथम श्रृंगार करके जिस दिन सेवा प्रणाली व्यवस्थित की उस दिन आपका एक अन्य नाम 'गोपालजी' रखा। इसी कारण गोवर्धन की तलहटी में स्थित वर्तमान जतीपुरा ग्राम को गोपालपुर कहा जाने लगा था। प्रभुचरण श्रीविठ्ठलनाथजी ने जब बंगाली पुजारियों को हटाकर नई व्यवस्था की तब आपश्री ने प्रभु को श्री 'गोवर्द्धननाथजी' नाम दिया। माला-तिलक रक्षक श्री गोकुलनाथजी के समय भावुक भक्त आपश्री को 'श्रीनाथजी' के संक्षिप्त किन्तु भाव भरे नाम से पुकारने लगे।[55] यह नाम श्री कोई नया नहीं था। गर्ग संहिता के गिरिराज खण्ड में श्री गोवर्धननाथ के देवदमन और श्रीनाथजी दोनो ही के नामों का उल्लेख है - "श्रीनाथं देवदमनं वदिष्यन्ति सज्जना:" इस प्रकार 'श्रीनाथजी' यह अभिधान भी बहुत प्राचीन है। 'श्री' शब्द लक्ष्मीवाचक और राधेपरक है। राधेजी भगवान् की आह्लादिनी आनंददायिनी शक्ति है और 'नाथ' शब्द तो स्वामिवाचक है ही। भावुक भक्त बडे ही लाड़ से श्रीनाथजी को 'श्रीजी' या 'श्रीजी बाबा' भी कहते है।

सारांष

भारतीय संस्कृति धर्म साधना एवं भक्ति भावना की एक दीर्घकालीन परम्परा रही है। संस्कृति एवं धर्म-भावना पर जब भी विपत्ति आई है अथवा कुठाराघात हुआ है, अनेक बलिदान देकर उसकी सुरक्षा की गयी है। ऐसे वंदनीय बलिदानों की अमर गाथाओं से हमारा इतिहास भरा पड़ा है। विगत 700-800 वर्शो की सांस्कृतिक परतन्त्रता के उपरान्त स्वतन्त्र भारतीय गणराज्य की स्थापना के पुण्य प्रभात में हमारे राष्ट्रीय संविधान ने पहली बार धर्म निरपेक्षता का उद्घोश किया। जिसका अर्थ धर्म विहीनता नहीं, अपितु धार्मिक परम्पराओं के अनुपालन में व्यक्ति और समाज की स्वतन्त्रता है जिसका पहली बार उद्घोश किया गया है। यही कारण था कि चीनी आक्रमण के अवसर पर दलाई लामा को हमने शरण दी। ईसाई धर्म प्रचारकों को लक्ष्य से कभी रोका नहीं। मुस्लिम, जैन, बौद्ध, पारसी सभी को अपनी-अपनी धर्म-परम्पराओं के पालन की भारत में पूरी स्वतंत्रता है। तात्पर्य यह है कि भारत एक भक्ति-निष्ठा प्रधान देश रहा है। यहाँ का साधारण से साधारण व्यक्ति किसी महान् अव्यक्त सत्ता के प्रति गहन आस्था रखता है जो उसकी जीवन यात्रा का सम्बल होती है। उसी आस्था के बल पर वह अपने जीवन चक्र की धुरी को सोत्साह घुमाता रहता है।

श्री नाथद्वारा श्री भारतीय भगवद्धामों में से एक सुप्रसिद्ध भगवद्धाम है। नाथद्वारा स्थित परमाराध्य श्रीनाथजी के यहाँ आप खाली हाथ, अस्वस्थ तन किन्तु भाव भरे मन से जाइए और प्रपति भाव से सकृदेव "तवास्मि" बोलिए, आप कृतार्थ हो जायेंगे। उनके चरणों में कुछ दिन रहिए, आप अनायास निरोध स्थिति पा जायेंगे। ऐसे दिव्य-स्थान की महिमा पर लेखनी उठाना निष्चय ही महती लोक मंगल साधना कही जायेगी।

,सच्चिदानन्दघन श्रीनाथजी सदियों से इस भारत भू पर अनन्त सख की वर्शा कर रहे हैं। अनेक भक्त इनके अनुपम सौन्दर्य तथा माधुर्यादि से प्रभावित हो चुके हैं। सम्राट् अकबर ने भी इन्हीं प्रभु से प्रभावित होकर अपने महल में श्रीकृष्णजन्माष्टमी का विशाल आयोजन प्रारंभ किया था। उसके दरबार में राजस्थान के उद्भट कवि "वेलिकृष्ण रुक्मिनी" के रचयिता श्रीपृथ्वीराज राठौड़ जैसे श्रीनाथ भक्त मौजूद थे। श्रीकृष्णचरणानुरागी कविवर रहीम स्वयं श्रीनाथजी का गुणानुवाद गाते थे। यही नहीं रामचरितमानस के रचयिता सुप्रसिद्ध रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास जी भी श्रीनाथजी के दर्शन कर गद्गद् हो गये थे और इन प्रभु के दर्शनान्तर ही उन्होंने "श्रीकृष्ण-गीतावली" की रचना की।

श्रीजी के ध्यान से जग जंजाल दूर होकर प्रत्येक प्राणी परम शांति का अनुभव करता है एवं प्रेमानुराग में मस्त हो जाता है।

(Endnotes)

1. वर्मा (डॉ.) राजलक्ष्मी, आचार्य वल्लभ और उनका दर्शन पृष्ठ सं. 288
2. श्रीनाथजी की प्राकट्य वार्ता, श्रीहरिराय कृत, प्रकाशक विधा विभाग मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा, पृष्ठ सं. 6
3. श्रीनाथजी की प्राकट्य वार्ता, श्रीहरिराय कृत, प्रकाशक विधा विभाग मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा, पृष्ठ सं. 13
4. वैरागी प्रभुदास श्रीनाथजी का सांस्कृतिक इतिहास पृष्ठ सं. 75
5. डॉ. आशुतोश गुर्जर, श्रीनाथद्वारा जागीर का इतिहास, पृष्ठ सं. 20

स्वामी विवेकानंद: सामाजिक विचारक के रूप में

डॉ० प्रतिमा गोंड

असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रस्तावना

19वीं शताब्दी संपूर्ण विश्व में एक ऐसी शताब्दी के रूप में जानी जाती हैं जिसमें अनेक महान विचारकों ने अपने चिंतन के द्वारा एक नए समाज की रचना में महान योगदान किया है। इनमें से अनेक विचारकों ने मानवता के कल्याण तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए जो प्रयत्न किए हैं उन्हीं के प्रभाव से संसार के अनेक समाज आज नया रूप ग्रहण कर रहे हैं। 12 जनवरी सन 1863 में जन्में स्वामी विवेकानंद जी भी उन्हीं महान विचारकों में से एक हैं जिनका प्रभाव भारतीय समाज पर चिरकाल तक बना रहेगा। उन्होंने भारत के प्राचीन सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं को ना केवल एक नया अर्थ दिया बल्कि भारतीय संस्क्रति की गिरती हुई प्रतिष्ठा को पुन: स्थापित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने अपने सामाजिक चिंतन से संपूर्ण विश्व में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाई तथा 39 वर्ष के अपने छोटे से जीवनकाल में सब कुछ कर दिखाया जिससे शताब्दियों से सोया हुआ भारतीय समाज पुनर्जागरण की दिशा में आगे बढ़ने लगा। विवेकानंद जी की बहुमुखी प्रतिभा उनके व्याख्यानों, लेखों और शास्त्रलापों से होती थे। उपनिशदों और गीता पर उनका असाधारण अधिकार था। पातंजल,व्याकरण महाभाष्य को भी उन्होंने विद्यार्थी की तरह पढ़ा था। हिंदी में भी लोहौर में उन्होंने कई व्याख्यान दिए थे। बंगला में भी उनका कुछ साहित्य है। विज्ञान और इतिहास में भी उनकी रुचि थी। इनकी सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों का स्रोत वेदांती धारणा थी कि अंतरात्मा सर्वशक्तिमान तथा सर्वोच्च है, इसलिए उन्होंने पीड़ित जनता को अभयम, एकता तथा शक्ति का क्रांतिकारी संदेश दिया। वे उन वर्गगत तथा जातिगत श्रेष्ठता के विचारों का उन्मूलन करना चाहते थे जिन्होंने हिंदू समाज को शिथिल, स्तरबद्ध तथा विघटित कर दिया।उन्होंने अस्पृश्यता की बुराइयों की कटु भर्त्सना की और पाठशाला तथा पाकभाण्डों पर आधारित धर्म-कर्म की निंदा की। वे समाज का सांगोपांग कायाकल्प करना चाहते थे किंतु उनका आग्रह था कि यह सब कुछ आध्यात्मिक आधार पर किया जाए। उन्हें केशव चंद्र सेन तथा महादेव गोविंद रानाडे सख्रश उन समाज सुधारकों की कार्यशैली से सहानुभूति नहीं थी जो समाज का यूरोपीयकरण करना चाहते थे। वे कुछ सीमा तक समाज सुधारक थे किंतु यह निश्चय है कि वे अतीत से पूर्ण रूप से संबंध विच्छेद करने के पक्ष में नहीं थे।

स्वामी विवेकानंद जी का सामाजिक चिंतन

विवेकानंद जी समाजिक यथार्थवादी थे। उनके व्यक्तित्व का प्रमुख पक्ष यह था कि उन्हें अपनी शक्ति, ज्ञान, चिंतन और आध्यात्मिक अनुभूति परिपक्व दार्शनिक अन्वेशण में लगा दी। वे निश्चय ही यह चाहते थे कि भौतिकवादी परिचय योग तथा वेदांत की आध्यात्मिक शिक्षाओं का समागम करें। उनकी यह भी कामना थी कि पश्चिम के लोग अंतरदेसी तथा आत्मगत मनोविज्ञान का अभ्यास करें किंतु अपने देशवासियों को उन्होंने यथार्थवाद और व्यवहारवाद का संदेश दिया। उन्होंने भारत तथा पश्चिम के पर्यटन के दौरान अनुभव किया कि जो देश 1000 वर्ष से भी अधिक समय से पराजय, विपन्नता,अपरिमेयचिंता, दुख, निराशा और राजनीतिक विपदाओं का शिकार रहा है, उसे अपनी कमर सीधी करने के लिए शक्ति और निर्भीकता की आवश्यकता है। वे भारत के करोड़ों लोगों के दुखों के संबंध में अत्यधिक जागरूक थे।एक सन्यासी मुख से निकला यह शब्द सचमुच क्रांतिकारी है, “भूखमरी से पीड़ित मनुष्य को धर्म का उपदेश देना कोरा उपहास है।”[1] विवेकानंद जी का गंभीर सामाजिक यथार्थवाद उनके इस कथन से भी प्रकट होता है कि भारत की हजारों वर्ष पुरानी दासता की जड़ जनता का दमन है। सामाजिक चिंतक के रूप में भारतीय समाज के विभिन्न व्यवस्थाओं पर इनके विचार निम्नवत हैं–

रूढिवादित का विरोध

स्वामी विवेकानंद ने संपूर्ण भारत में जिस वेदान्त धर्म को स्वीकार करने की प्रेरणा दी, उसमें रूढ़िवादिता का कोई स्थान नहीं है। उन्होंने बतलाया कि हमारे समाज में रूढ़िवाद व्यवहार उन कर्मकांडों की उपज है जो हिंदू धर्म का अंग बन गए हैं। वह पुरोहितों के कर्मकांडीय धर्म के विरोधी थे तथा उन्होंने स्पष्ट किया है कि पुरोहित वर्ग ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए कर्मकांडों को बढ़ावा दिया है। इस संबंध में स्वामी विवेकानंद ने अपने से पहले के उन समाजसुधारकों की भी आलोचना की जो पश्चिम की नकल करके भारत में सामाजिक सुधार का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने कबीर, चौतन्य, दादू, रामानुज और नानक द्वारा दिए गए आदेशों को महान बतालाया। भक्ति सम्प्रदाय के यह सभी सुधारक वे थे जिन्होंने मानव की समानता पर बल देते हुए विभिन्न प्रकार के भेदभाव को दूर करने का प्रयत्न किया। वास्तव में, यह वह मार्ग है जिसके द्वारा सामाजिक रूढ़ियों को समाप्त करके समताकारी समाज की स्थापना की जा सकती है।

सांप्रदायिकता का विरोध

अपनी पुस्तक 'धर्म रहस्य' तथा अनेक भाषणों के द्वारा विवेकानंद जी ने न केवल सांप्रदायिकता के कारणों का विश्लेशण किया बल्कि सांप्रदायिक सदभाव की आवश्यकता पर भी बल दिया। उन्होंने बतलाया कि जब किसी धार्मिक समूह में अपना धर्म दर्शन को समझने की शक्ति कमजोर पड़ जाती है तथा व्यक्ति कर्मकांड को भी धर्म समझने लगता है। तब इससे एक ऐसी धार्मिक कट्टरता उत्पन्न होती है जो सांप्रदायिकता का कारण बन जाती हैं। धार्मिक कट्टरता स्वयं ख्रष्ट बुद्धि और क्रोध उत्पन्न करती हैं। उन्होंने लिखा है कि हम सभी लोग सर्वजन भ्रातृत्व की बात तो करते हैं इसके पीछे प्रायः हमारी स्वार्थपरता छिपी रहती है। हम चाहते हैं कि इस तरह की बातें बनाना कम करके यथार्थ में कुछ अधिक काम किया जाए। जो लोग वास्तव में अपने हृदय में परस्पर प्रेम का अनुभव करते हैं उनके क्रियाकलापों और संपूर्ण जीवन पर ध्यान देने से स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि उनके हृदय में मानव प्रेम से कितना परिपूर्ण है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार किसी सार्वभौमिक धर्म को स्थापित करने के लिए संगठनों के निर्माण करना आवश्यक नहीं है। यदि हम औपचारिक संगठन के बिना सभी धर्मो से प्रेम करना सीखे तो इसे सार्वभौमिक धर्म को बल मिलता है। इस प्रकार स्वामी विवेकानंद ने सांप्रदायिकता का विरोध करके धर्म को विकसित करने पर बल दिया जो सभी लोगों को बंधुत्व और मानव सेवा के रास्ते पर आगे बढ़ा सके यानी स्वामी विवेकानंद मानवतावादी धर्म को ज्यादा महत्व देते थे।

स्वामी विवेकानंद भी अन्य विद्वानों की भाँति संप्रदायिकता को समाज विरोधी मानते हैं जबकि अनेक संप्रदायों का समाज में होना स्वभाविक मानते हैं। उनका मत है कि भारत में अनेक संप्रदाय है और भविष्य में भी उपस्थित रहेंगे। इसका मुख्य कारण भारत का धर्म इतना उदार और विशाल है कि उसमें अनेक सम्प्रदायों के उत्पन्न होने की संभावनाएं सदैव रहती है। इसलिए यहाँ एक ही संप्रदाय की शाखा-प्रशाखाये आदि देखने को मिलती हैं। किन्तु इन संप्रदायों से किसी भी प्रकार की सांप्रदायिकता समाज में विकसित नहीं होनी चाहिए। अस्तु संप्रदाय तो रहे किंतु संप्रदायिकता का अंत होना चाहिए।[2]

धर्म का मानवीय रूप

विवेकानंद अपनी प्रतिभा और गंभीर अध्ययन के द्वारा धर्म को एक वैज्ञानिक ख्रष्टिकोण देने में सफल हुए। धर्म को इस प्रकार होना चाहिए कि वह निर्धन और दरिद्र व्यक्तियों की सहायता कर सकें

वे धर्म को व्यवहारिक बनाना चाहते थे। ऐसा धर्म जो मानव कल्याण के लिए उपयोगी हो सके, केवल सिद्धांतों में ही ना घिरा रहे। वे ऐसे धर्म के पक्ष में थे जो सर्वव्यापी एवं सर्वग्रहता हो। उनमें न ब्राह्मणवाद हो न ईसाईवाद और ना कोई अन्य वाद वरन उसमे मानवतावाद हो। इस प्रकार के धर्म में किसी प्रकार का अत्याचार न होगा और न धर्म के नाम पर दंड देने की आवश्यकता होगी। विवेकानंद के धर्म में मानवधर्म के तत्व निहित है। उसमें सहिष्णुता का प्रभाव है। वे किसी भी धर्म के विरुद्ध नहीं है। सभी धर्मो का उद्देश्य है मानव की सेवा करना। उन्होंने यह भी कहा कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह पहले अपने धर्म को समझे-बुझे और उसका अध्ययन करें। जब वह अपने धर्म की वास्तविकता को परख और समझ लेगा तब वह दूसरे धर्मो को जान सकेगा। वे वैदिक धर्म के लिए कहते हैं कि अगर कोई धर्म विश्वव्यापी हो सकता है तो केवल वेदांत धर्म। संसार के अन्य धर्म किसी न किसी व्यक्ति पर आधारित है जबकि वेदांत धर्म सिद्धांतों पर आधारित है। उन्होंने सैद्धांतिक वेदांत की शिक्षा पश्चिम को दी और व्यवहारिकता की भारत मे,जिससे जनकल्याण हो सके।

स्वामी जी ने धर्म की व्याख्या प्राचीन रूढ़िवादी विचारधारा की लीक से हटकर की, "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" धर्म न तो पुस्तकों में है, ना धार्मिक सिद्धांतों में, केवल अनुभूति में निवास करता है धर्म अंधविश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यंत स्वाभाविक तत्व है।" विवेकानंद एक ईश्वर में विश्वास रखते हैं। प्रत्येक धर्म ईश्वर की प्राप्ति की शिक्षा भले ही देता हो पर उसके मार्ग भिन्न-भिन्न है। सभी धर्म ईश्वर के बनाए हुए हैं मानव भी उसी की देन है। उनके अंदर रहने वाली आत्मा उसका ही अंश है। फिर समस्त मानव भी उसी का अंश है। इस लिए प्रत्तेक धर्म सभी प्राणियों का है और समस्त धर्म एक है धर्म का समन्वयात्मक विचार उनकी विद्वता एव उनके विदेश भ्रमण का परिणाम है उन्होने संसार के अनेक धर्मो का अध्ययन किया और फिर तुलनात्मक रूप में इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभी धर्म ईश्वरकृत है। सभी मान्य है। वे देवी-देवता मूर्तियों का पूजा पाठ तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का ईश्वर की अनुभूति के अनेक माध्यम बतलाते थे जिसके द्वारा एक सत्य 'ईश्वर' की प्राप्ति कर सके वह इस अनुष्ठानों को परिवर्तित करने के पक्ष में नहीं थे।[3]

जातिगत भेदभाव का विरोध

स्वामी विवेकानंद ने भारत के वर्ण व्यवस्था को कार्यकुशलता और श्रम विभाजन के दृष्टिकोण से अवश्य उपयोगी माना लेकिन उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि एक दीर्घ समय से कोई परिवर्तन होने के कारण यह व्यवस्था विकृत हो गई हैं। इसी के फलस्वरुप ऊंच-नीच की भावनाओं पर आधारित जाति व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। अपने समाज में जाति प्रथा के व्यापक प्रभाव को देखते हुए स्वामी विवेकानंद ने यह यथार्थवादी चिंतन प्रस्तुत किया की वर्तमान दशाओं में जाति प्रथा को समूल नष्ट नहीं किया जा सकता। इस दशा में निम्न जातियों की स्थिति में सुधार लाकर ही जाति व्यवस्था के दुष्प्रभाव को दूर किया जा सकता है। यह सच है कि रामानुज, चौतन्य, कबीर, नानक ने इस दिशा में काफी प्रयास किया लेकिन भक्ति काल के सुधार वादियों ने निम्न जातियों में उच्च जातियों की सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रसार करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वास्तविकता यह है कि यदि निम्न जातियां उन्हीं सांस्कृतिक व्यवहारों को ग्रहण कर लें जो उच्च जाति में पाए जाते हैं। तब ही सामाजिक समानता और सामाजिक विकास की प्रक्रिया स्वयं ही प्रभावी बन जाएगी। जाति प्रथा की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है कि आध्यात्मिक जीवन में किसी तरह का भेदभाव नहीं होता। एक सन्यासी की कोई जाति नहीं होती। समाज में कोई ऐसा कर्म नहीं है जिससे दूसरे से अधिक उच्च और निम्न में कहा जा सके। वे कहा करते थे कि सड़क पर काम करने वाला एक भंगी भी उतना ही ऊंचा व श्रेष्ठ है जितना कि सिंहासन पर आःढ़ एक राजा। थोड़ी देर के लिए राजा को गद्दी से उतार दो तो उसे सड़क की सफाई का काम दे दो तो

फिर देखो कैसे काम करता है। इस कथन से स्पष्ट होता है कि स्वामी विवेकानंद राजा और सफाई करने वालों के काम को समान रूप से महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने सभी जाति के लोगों को समान अधिकार देने के बाद करते हुए कहा कि समाज में ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त होना चाहिए। आध्यात्मिक जगत में सभी मनुष्यों का अधिकार समान है। मनुष्य में कृत्रिम भेदभाव पैदा नहीं किया जाना चाहिए। स्पष्ट है कि विवेकानंद जी एक समतावादी व्यवस्था के पक्षधर रहे हैं।[4]

दलितों का उत्थान

स्वामी विवेकानंद का सामाजिक चिंतन अस्पृश्यता का विरोधी है। उन्होंने बतलाया कि कोई भी धर्म जन्म के आधार पर मानव और मानव के अंतर को स्वीकार नहीं करता। उन्होंने लिखा है कि तुम्हारे और मेरे अंदर जो ईश्वर विद्यमान है, वही ईश्वर सभी के अंदर विद्यमान है फिर यह भेदभाव क्यों है? यदि उच्च जाति का कोई व्यक्ति निम्न जाति के व्यक्ति का शोषण करता है तो यह अधार्मिक है। हमारे समाज में काम के बंटवारे को लेकर वर्ण व्यवस्था अवश्य बने लेकिन इसके द्वारा छुआछूत को कभी मान्यता नहीं दी गई। हम जब तक छुआछूत को समाप्त करके मानव मात्र की समानता को स्वीकार नहीं करते तब तक हमें अपने आप को एक आध्यात्मिक समाज का व्यक्ति मानने का कोई अधिकार नहीं है।[5]

वर्ण व्यवस्था के पक्षधर

एक सिद्धांतकार के नाते उन्होंने वर्ण विभाजन को बुद्धि संगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। जिस प्रकार हर व्यक्ति में सत्व, रजस और तमस में से कोई ना कोई गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में उन गुणों में से कोई न कोई न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है जिनसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य अथवा शूद्र बनते हैं। किंतु कभी-कभी उसमें इनमें से किसी एक गुण का विभिन्न अंशों में प्राधान्य रहता है और तदनुसार उसकी अभिव्यक्ति होती है किसी मनुष्य के उसके विभिन्न कार्यों की ख्रष्टि से देखिए। उदाहरण के लिए जब वेतन के लिए कोई किसी व्यक्ति की सेवा करता तो शुद्र हैं, जब वह स्वयं लाभ के लिए कोई व्यवसाय करता है तो उस समय उसमें वह वैश्य है। जब वह अन्याय का अंत करके न्याय की स्थापना करने के लिए संघर्ष करता है तो उसे स्थिति में उसमें क्षत्रिय के गुणों की अभिव्यक्ति होती हैं और जब वह ईश्वर का ध्यान करता है अथवा ईश्वर विषयक वार्तालाप में संलग्न होता है तो उस समय वह ब्राह्मण बन जाता है। अतः व्यक्ति के लिए एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तित होना संभव है अन्यथा विश्वामित्र ब्राह्मण और परशुराम क्षत्रिय कैसे बन जाते। इनके अनुसार जाति का उन्मूलन करना आवश्यक नहीं है बल्कि उसे परिस्थितियों के अनुकूल बना देना चाहिए।[6] पुरानी व्यवस्था में इतना जीवन है कि उसमें 200 नवीन व्यवस्थाओं का सृजन किया जा सकता है। जाति व्यवस्था के उन्मूलन के कामना करना मात्र कोरी बकवास है।मनुष्यों के लिए जाति अच्छी चीज है। जीवन की समस्याओं को हल करने का वही एकमात्र साधन है। मनुष्यों के लिए समूह बनना स्वभाविक है, तुम उससे बचने सकते। तुम कहीं भी जाओगे वहाँ तुम्हें जाति देखने को मिलेगी।[7] विवेकानंद के अनुसार समाज का चार वर्णों में विभाजन आदर्श समाज व्यवस्था का द्योतक है।

स्वामी विवेकानंद के नारी विषयक विचार- भारतीय नारी का आदर्श बताते हुए भी लिखते हैं–

"भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी नरियों का आदर्श सीता, सावित्री, दयंवती है। मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य से सर्वत्यागी आप शंकर हैं। मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इंद्रिय सुख के लिए या अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है। मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलि स्वरूप रखे गए हो। मत भूलना कि तुम्हारा समाज उस विराट महामाया की छाया मात्र है। स्वामी विवेकानंद ने भारतीय नारियों को सीता और सावित्री के जीवन से प्रेरणा लेने की बात कही है। उनकी जीवन घटनाओं से भारतीय नारियों को साहस, धैर्य तथा विपत्तियों से जिस प्रकार संघर्ष किया जाए, उसकी शिक्षा ग्रहण करना चाहिए।

नारी उत्थान के पक्षधर: स्त्री-पुरुषों की समानता स्वामी विवेकानंद के सामाजिक चिंतन का एक प्रमुख अंग है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि जो समाज स्त्रियों को समुचित सम्मान नहीं दे सकता वह ना तो आध्यात्मिक है और ना ही अपना विकास कर सकता है। भारत का वैदिककालीन समाज इसलिए गौरवपूर्ण था क्योंकि उसमें स्त्रियों के सभी अधिकार पुरुषों के समान थे। कालांतर में जैसे-जैसे स्त्रियों की निंदा करके उन्हें विभिन्न प्रकार के अधिकारों से वंचित किया जाता रहा, हमारा समाज पतन की ओर जाने लगा। इसलिए आवश्यक है कि स्त्रियों को चारित्रक तथा धार्मिक शिक्षा देकर उनका विकास किया जाए। इसी से उसमें साहस और आत्मबल उत्पन्न हो सकता है। जीवन के हर क्षेत्र में स्त्रियों का दूसरों पर निर्भर रहना समाज के लिए घातक है। विवेकानंद जी से पहले ब्रह्म समाज ने भी स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने का व्यापक प्रयत्न किया था लेकिन स्वामी जी ने वेदांत धर्म के आधार पर यह प्रमाणित किया कि स्त्रियों के समानता के अधिकार का विरोध करना धर्मविरोधी कार्य हैं।

नारी शिक्षा के पक्षधर: स्वामी जी इस सत्य से परिचित हैं कि स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार प्रसार होना चाहिए, क्योंकि यदि स्त्रियों में शिक्षा का अभाव रहता है तो देश उन्नति नहीं कर सकता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे कुछ ब्रह्मचारिणीयां बनाने की इच्छा प्रकट करते हैं। ब्रह्मचारिणीयां सन्यास धारण कर देश और गांव-गांव जाएंगे तथा सर्वसाधारण में शिक्षा प्रसार का प्रबंध करेंगे। इस प्रकार ब्रह्मचारिणीया, स्त्रियों में इस शिक्षा का प्रसार करेंगे शिक्षा का भारतीय ढंग का है। शिक्षित और सतचरित्र ब्रह्मचारिणीयां केंद्र में कुमारियों को शिक्षा देंगी। इस शिक्षा ख्रकार्य मे पुराण, इतिहास, गृहकार्य, तथा गृहस्थी के एवं समस्त नियमादी की शिक्षा विज्ञान की सहायता से देनी होगी तथा आदर्श चरित्र गठन करने के लिए उपयुक्त तथ्यों की भी शिक्षा देनी होगी।

स्वामी विवेकानंद हार्दिक इच्छा थी कि भारत के पुरुष और नारी दोनों ही शिक्षित हो जिससे कि वह संसार की गतिविधियों का अध्ययन कर सकें कि उन्हें किस दिशा में कार्य करना चाहिए। वह पुरुष को डाटते हुए कहते हैं कि तुमने उसे पतित भी बनाया और गुलाम बनाकर घर के बच्चों के पालन पोषण के लिए रखा है, इसलिए तुम्हारा पुनीत कर्तव्य है कि सर्वप्रथम नारी जाति को सुशिक्षित बनाओ फिर वह कहेंगे कि उन्हें किन सुधारों की आवश्यकता है तुम्हें उनके प्रत्तेक कार्य में हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार है? अंत में नारी शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं-

"हम चाहते हैं कि भारत की नारियों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे निर्भय होकर भारत के प्रति अपने कर्तव्य को भलीभांति निभा सकें और संघमित्रा, लीला, अहिल्याबाई और मीराबाई आज भारत की महान देवियों द्वारा चलाई गई परंपरा को आगे बढ़ा सकें एवं वीर प्रसू बन सकें।[8]

विवाह संबंधी विचार: स्वामी विवेकानंद को हिंदू विवाह की अनेक बातों से शिकायत थी, जैसे बंगाल में कन्या का बहुत कम आयु में विवाह कर दिया जाता था। इसके लिए वे समाज और पोंगा पंडितों को दोषी ठहराते हैं। वे कहते हैं कि जहां लड़की 10-11 साल की हुई कि आस-पास के लोग उसके माता-पिता को विवाह करने के लिए विवश करने लगते हैं। बेचारे मां-बाप भी क्या करते? और जब सरकार ने कानून द्वारा किसी पुरुष के लिए 12 वर्ष की छोटी कन्या सहवास करना दंडनीय ठहराया तब उन पोंगापंडितों ने बड़ा कोलाहल मचाया कि धर्म भ्रष्ट हो गया, कलयुग आ गया आदि आदि। किसी बालिका पर 12 या 13 वर्ष की आयु में मातृत्व का भार डालना ही मानव धर्म है? स्वामी जी यह इच्छा थी की नारियों को इतना शिक्षा दी जाए कि वह अपने जीवन का निर्माण कर सकें। शिक्षा ही उनमें आत्म-रक्षा और आत्म-बल को उत्पन्न कर सकती है।

बाल विवाह और विधवा विवाह: स्वामी जी कहते हैं कि अगर बाल विवाह समाप्त हो जाए अथवा कन्या का विवाह कुछ अधिक आयु में हो तो इससे ना केवल उनका हीस्वस्थ्य अच्छा रहेगा बल्कि यदि बाल विवाह की संख्या घट जाएगी तो विधवाओं की संख्या स्वत: ही घट जाएगी।

विवाह के संबंध में विवेकानंद जी शिक्षा देते हुए कहते हैं-

"पवित्रता और सतीत्व तो भारतीय नारी की वह बहुमूल्य निधि है जो वह उसे अतीत काल से प्राप्त हुई है। इसलिए स्वभावत: वह उसे समझती है। सर्व प्रथम हमेंउनमे इस आदर्श के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि वे इस आदर्श पर ख्रढ़ हो जा हो गई, तो उसके फलस्वरूप उनका चरित्र इतना बलवान और ख्रढ़ होगा कि वे अपने प्राणों की आहुति देकर भी अपनी पवित्रता और सतीत्व की रक्षा करना अपना धर्म समझेंगीं चाहे वे विवाहित हो अथवा अविवाहित रहने का ख्रढ़ संकल्प धारण किए हो।[9]

भारतीय नारी की वर्तमान स्थिति और उसका भविष्य

स्वामी विवेकानंद ने स्पष्ट कहा है कि जब तक स्त्रियाँ पराधीन रहती हैं तब तक देश प्रगतिशील नहीं बन सकता। उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित रखना न तो मानव समाज के लिए उचित है ना देश के लिए ही नारी प्रगति का अर्थ है देश की प्रगति। वे द्रविड़ जो भारत दक्षिण भारत में बस गए, अत्यंत सभ्य और सुसंस्ख्रति थे। स्त्रियों का स्थान पुरुषों से ऊंचा था। भारतीय स्त्रियों की स्थिति मे सुधार लाने के लिए आवश्यक है की हम उन्हें शिक्षित करें। शिक्षित होने से ही वे अपने समस्याओं का समाधान स्वयं ढूंढ लेंगीं। स्वामी जी का यह मत है कि बौद्ध धर्म के प्रचार से ही भारतीय स्त्रियों में हीनता की भावना उत्पन्न हुई। स्वामी जी का ख्रढ़ विश्वास है कि स्त्रियों को धार्मिक शिक्षा देने से उनकी स्थिति में परिवर्तन आएगा। वह अपनी धार्मिक शिक्षा की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- मेरा ख्रढ़विश्वास है कि धर्म ही शिक्षा का सार है हां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि धर्म मेरा अभिप्राय किसी विशिष्ट धर्म से नहीं है। मैं समझता हूं कि अन्य विषयों के समान अध्यापक को इस संबंध में भी छात्रों का आरंभिक मार्गदर्शन करना चाहिए और उन्हें इस योग्य बनाना चाहिए कि वे अपना विरोध करने वाले मार्ग पर कम से कम आगे बढ़ सकें।

इस तरह हम कह सकते हैं कि स्वामी जी भारतीय स्त्रियों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति से दु:खी और चिंतित थे। वे चाहते थे कि भारतीय स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार अधिक से अधिक किया जाए जिससे वे स्वावलंबी बन सके तथा अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकें।

समाज सुधारक के रूप में स्वामी विवेकानंद

स्वामी विवेकानंद अन्य समाज-सुधारकों की भांति विशुद्ध सुधारक नहीं थे। उनका चिंतन-मनन, धर्म की एक नवीन पद्धति की खोज में लगा था। वह धर्म के क्षेत्र में भी कायाकल्प नहीं करना चाहते थे वरन संपूर्ण संसार को मानव धर्म की शिक्षा देना चाहते थे जिसमें मानव की सर्वश्रेष्ठ है। मानव की दरिद्रता एवं निर्धनता को नष्ट करना ही मानवधर्म है। वे सभी धर्म एक के लिए है, एक धर्म सभी के लिए है-उनकी ऐसी धारणा थी। इसके बावजूद वे भारतीयों से कहते थे कि उनका धर्म सर्वश्रेष्ठ है वेदांत में विश्वास करने से ही देश का कल्याण हो सकता है। देश का पतन इसलिए हो रहा है कि उन्होंने वेदान्त में विश्वास करना छोड़ दिया है। वह भी समकालीन कुप्रथाओं एवं अंधविश्वासों के विरुद्ध थे, जैसे ब्रह्मसमाज थे। किंतु उनके विचार ब्रह्मसमाज के इतने निकट नहीं थे जितने स्वामी दयानंद सरस्वती के। लेकिन वे दयानंद की भांति विशुद्ध भारतीय विचारधारा के समर्थक नहीं थे। वह पश्चिम के अनुकरण में नहीं वरन विनिमय के पक्ष में थे जिससे समान स्तर पर संबंध स्थापित हों। जहां तक समकालीन समस्याओं का प्रश्न है जैसे जाति-पाति, छुआछूत, अंतर-जाति विवाह, नारी शिक्षा आदि। इनके संबंध में उनके वैसे ही विचार थे जैसे अन्य समाज-सुधारकों के।

स्वामी विवेकानंद पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के पूर्णतया विरुद्ध तो नहीं थे, किंतु उसको आंख मूंदकर ग्रहण कर लेना, इसके पक्ष में भी नहीं थे। उनकी शिक्षा पद्धति में हल्की, ओछी भावना नहीं थी बल्कि गंभीर चिंतन और दर्शन मनन की गहनता जैसा प्रतीत होती है। बाह्य विकास की अपेक्षा वह अंत: विकास पर अधिक बल देते हैं। अंत: विकास होने से व्यक्ति के अंदर मानव धर्म एवं सर्व कल्याण की भावना का उदय होता है। देश के व्यक्तियों की आत्मिक शक्ति जब तक शक्तिशाली नहीं होती तब तक देश का आर्थिक एवं राजनीतिक पुनर्निर्माण नहीं हो सकता।[10] वे चाहते थे कि हिंदुस्तान के नवयुवक इस्पात की तरह शक्तिशाली बने और अपने देश के लक्ष्य की प्राप्ति अपनी आत्मशक्ति और बाहुबल द्वारा करें।

विवेकानंद देश के पुनर्निर्माण का कार्य आत्मिक शक्ति और बाहुबल के द्वारा लाना चाहते थे। यह संदेश उन्होंने देश के कोने-कोने में पहुंचाया एक तरह से उनकी राष्ट्रीय भावना को दर्शाता है और दूसरी तरफ देश प्रेम को समकालीन परिस्थिति की मांग भी यह थी कि देश के व्यक्तियों में नई चेतना प्रेरणा और धर्म की भावना को उत्पन्न किया जाए।

सामाजिक परिवर्तन के पक्षधर

स्वामी विवेकानंद जी का सामाजिक चिंतन यथास्थिति का समर्थक नहीं है। उन्होंने एक ऐसे सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया जो क्रमिक हो। सामाजिक नियमों व प्रथाओं के बारे में अपने विचार स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया कि समाज में प्रत्येक प्रथा के अपने कुछ न कुछ कार्य होते हैं तथा इन प्रथाओं को एकदम समाप्त कर देने से समाज में अव्यवस्था फैल सकती हैं। इसके बाद भी उन दोषपूर्ण प्रथाओं व कुरीतियों में सुधार करना आवश्यक है जो समाज को विघटित करते हैं। यह सुधार हिंसक क्रांति के द्वारा संभव नहीं है बल्कि संगठित प्रयत्नों से इनमें धीरे-धीरे सुधार लाया जा सकता है। इसके लिए हमें अपने मन को बदलना होगा। जब हम एक मानव के रूप में अपने कर्तव्य को समझने लगेंगे तब निहित स्वार्थों से उत्पन्न होने वाली कुप्रथा के हम स्वयं विरोधी बन जाएंगे। यदि कोई परिवर्तन कट्टरता और हिंसा के द्वारा लाया जाता है तो ऐसा परिवर्तन स्थाई नहीं होता क्योंकि ऐसा परिवर्तन किसी व्यवस्था के मूल दोषों को समाप्त नहीं कर सकता।

सारांश

स्वामी विवेकानंद के सामाजिक चिंतन की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि एक लंबे समय तक विशेष विदेशी शासन के प्रभाव से हिंदू संस्ख्रति तथा धर्म का गौरव जब लुप्त होता जा रहा था, तब उन्होंने भारतीयों में एक नई शक्ति व स्वाभिमान का संचार किया।अपने सामाजिक व धार्मिक चिंतन के द्वारा उन्होंने संपूर्ण विश्व में जहां हिंदू समाज की प्रतिष्ठा में वृद्धि की वहीं सामाजिक चिंतन के द्वारा एक समताकारी समाज की स्थापना में भी महान योगदान दिया। अंधविश्वास और कुरीतियों से जकड़े भारतीय समाज को अपने धर्म की मूल मान्यताओं से परिचित कराने तथा धर्म के मानवतावादी पक्ष को उजागर करने के क्षेत्र में स्वामी जी का चिंतन सदैव याद किया जाता रहेगा।

स्वामी विवेकानंद के सामाजिक चिंतन में वह वेदांत के शिक्षाओं के आधार पर भारतीय समाज का पुनर्निर्माण करना आवश्यक समझते थे। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि सभी सामाजिक समस्याओं का मूल कारण द्वैत बुद्धि पर आधारित व्यक्ति की अज्ञानता है।जब कोई व्यक्ति यह समझने लगता है कि यह भी उचित है और वह भी उचित है अर्थात द्वंद की स्थिति में वह सत्य को समझने में असमर्थ हो जाता है। इस अज्ञानता को समाप्त करके यदि हम ब्रह्म के वास्तविक रूप को समझने की शक्ति प्राप्त कर लें तो सभी मानव के प्रति हमारी बुद्धि समता की बन जाएगी। सच तो यह है कि विवेकानंद ने अपने समाजिक चिन्तन में अस्पृश्यता, स्त्रियों की प्रस्थिति तथा सामाजिक परिवर्तन के बारे में जो विचार प्रस्तुत किए उसे महात्मा गांधी ने एक बड़ी सीमा तक न केवल उन्हें ग्रहण किया बल्कि उन्हीं के आधार पर अछूतोद्धार के कार्य को भी आगे बढ़ाया।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वर्मा, डॉ. वी पी : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, छठा संस्करण, 2005 - 20 06, पृष्ठ संख्या : 202
2. सिंह, डॉ. वी एन एवं सिंह, जन्मेजय : भारतीय सामाजिक चिंतन, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, पंद्रहवाँ संस्करण, सन 2011, पृष्ठ संख्या -174
3. वही, पृष्ठ संख्या- 176
4. अग्रवाल डॉ. गोपाल कृष्ण एवं शर्मा श्रीनाथ : प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक, एस बी पी डी पब्लिशिंग हाउस, आगरा चतुर्थ संस्करण, 2006, पृष्ठ संख्या - 390
5. वही, पृष्ठ संख्या -391
6. विवेकानंद, कम्प्लीट वर्क, जिल्द 5, पृष्ठ संख्या 129
7. स्वामी विवेकानंद, ऑन इण्डिया एंड हर प्रॉब्लमस, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा,चतुर्थ संस्करण, 1946, पृष्ठ संख्या 77-78, 80
8. सिंह, डॉ. वी एन एवं सिंह,जन्मेजय : भारतीय सामाजिक चिंतन,विवेक प्रकाशन, दिल्ली, पंद्रहवाँ संस्करण, सन 2011, पृष्ठ संख्या -180
9. वही, पृष्ठ संख्या -181
10. विवेकानंद, मॉडर्न इंडिया, कंपलीट वर्क, जिल्द-4, पृष्ठ संख्या 394-95

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की बाल कहानियाँ

डॉ० मिथिलेश कुमारी

एम. फिल. पीएचडी. जे.एन.यू.

बचपन जीवन का प्रारंभिक काल है। इस समय बच्चा मिट्टी के लोंदे के समान होता है। उसे किसी भी आकार में ढाला जा सकता है। बच्चे अनुकरण द्वारा ज्यादा सीखते हैं। वे अपने परिवार और वातावरण से ही सबसे पहले सीखते हैं। बच्चे अलग-अलग आयु, वर्ग, धर्म और समुदाय के होने के कारण भिन्न सहूलियतें और सुविधएँ प्राप्त करते हैं। पहली बात तो भारत में शिक्षा से ही अधिकांश बच्चे कोसों दूर हैं। राजनीतिक दिशाहीनता का खामियाजा बच्चों को भी भुगतना पड़ता है। भारत में शिक्षा व्यवस्था का स्तर बहुत अच्छा नहीं है। बच्चों के लिए पुस्तकालयों का अभाव है। स्कूली पाठ्यक्रम की पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों तक जिन बच्चों की पहुँच है, उनका प्रतिशत बहुत कम है।

बचपन, किशोरावस्था और वयस्क, हर आयु की अलग रूचि और जरुरत होती है। बच्चों के लिए लिखने में अलग कौशल और भाषा की जरुरत होती है। कथानक की रोचकता और भाषा की सरलता बाल साहित्य के लिए जरुरी है। चित्रा एक अनिवार्य तत्व है जो बच्चों को किताबों की ओर आकर्षित करता है। शुरुआत में जब उन्हें शब्द-ज्ञान नहीं होता तो वे चित्रा द्वारा ही चीजों को समझने की कोशिश करते हैं। कहानियों का आकार बहुत ज्यादा बड़ा नहीं होना चाहिए। साहित्य में काल्पनिकता का समावेश होता है पर बच्चों के साहित्य में पशु, पक्षी पर मनुष्य अपनी जाति के गुणों को आरोपित करते हैं। कई बार ये कहानियाँ बाल मन को कल्पना की तरफ तो मोड़ देती हैं, परन्तु वास्तविक जीव जंतुओं के यथार्थ से दूर कर देती हैं। बच्चों के लिए लिखने में यह एक चुनौती है। बच्चे बेहद कल्पनाशील होते हैं और साहित्य उनकी कल्पनाशक्ति को विस्तार प्रदान कर सकता है। कल्पना और यथार्थ के बीच एक सामंजस्य बनाकर रखना लेखक का कर्त्तव्य है।

बाल साहित्य की भाषा सरल होनी चाहिए। ऐसे प्रसंगों, घटनाओं का कहानियों में समावेश होना चाहिए जो उन्हें आश्चर्यचकित करे, कौतुहल और हास्य पैदा करे। गालियों का प्रयोग वर्जित है। बाल साहित्य का मुख्य उद्देश्य बच्चों में जागरूकता पैदा करना होता है। नैतिक शिक्षा, अच्छी आदतों का विकास और अपने आस पास के वातावरण के बारे में जानकारी प्रदान करना, ताकि वे एक अच्छे इन्सान बन सकें, साथ ही उनकी तार्किक क्षमता एवं कल्पनाशक्ति का विस्तार हो सके। बाल साहित्य में शिल्प का उतना ही महत्व है, जितना विषय का। एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न बुनावट की कहानियाँ देखी जा सकती हैं। विष्णु प्रभाकर द्वारा सम्पादित 'सुनो कहानी' की लगभग सारी कहानियाँ मूर्खता पर हैं, परन्तु उनके कथानक अलग अलग हैं। ये कहानियाँ बुद्धिमत्ता पर बल देती हैं और बच्चों को ये सिखाती हैं कि उन्हें अपने विवेक और समझदारी का प्रयोग करना चाहिए।

हिंदी में प्रेमचंद, हरिकृष्ण देवसरे, दिविक रमेश, निराला, सोहन लाल द्विवेदी, सुध भार्गव, मैथिलीशरण गुप्त, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि ने लिखा है। 21वीं सदी में शादाब आलम, जाकिर अली रजनीश, डॉ. राजेंद्र पंजियार, पूनम श्रीवास्तव आदि लिख रहे हैं। प्रेमचंद ने रामायण की कथा से लेकर ऐतिहासिक पात्रों तक को आधार बनाकर बच्चों पर लिखा है। पशु पक्षी से सम्बन्धित कहानियाँ भी लिखी हैं जैसे– 'शेर और लड़का', 'गुब्बारे पर चीता', 'मिट्ठू', 'पालतू भालू' आदि। 'ईदगाह' उनकी प्रसिद्द कहानी है। निराला ने 'भेड़िया भेड़िया', 'कंजूस और सोना', 'गधा और मेढक', 'दो घड़े', 'शिकार को निकला शेर' जैसी रोचक कहानियाँ लिखी हैं। हरिकृष्ण देवसरे, दिविक रमेश, सोहन लाल द्विवेदी ने बच्चों पर काफी कुछ लिखा है। मोहन राकेश का 'गिरगिट का सपना' कहानी महत्वपूर्ण है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा 20वीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण लेखिका हैं। उन्होंने लखनऊ आकाशवाणी में महिला एवं बाल-विभाग में बतौर पटकथा लेखिका 25 वर्षों तक काम किया। वहाँ, उन्होंने बहुत ज्यादा बच्चों के लिए लिखा। 'पशु पक्षी सम्मलेन' 'भोंदू और भोलू', 'दमयंती' और 'जग्गो ताई' बाल कहानी संकलन अब तक प्रकाशित पुस्तकें हैं। आकाशवाणी में उन्होंने जो भी लेखन किया, वह संरक्षित नहीं है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की पुस्तक 'पशु पक्षी सम्मलेन' संग्रह में 5 कहानियाँ हैं। इस संग्रह में लेखिका ने पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, बादल, नदी आदि को पात्रों के रूप में लिया है। वास्तविक दुनिया में शेर को न किसी जंगल का राजा सर्वसम्मति से माना जाता है, न ही ऐसी कोई प्रथा है। बच्चों के साहित्य में कल्पना की उडाघ्न भरपूर होती है। अप्रत्याशित, हास्य पैदा करने वाली घटनाएँ और चरित्रा होते हैं। चन्द्रकिरण ने इस संग्रह की सारी रचनाओं के कथानक को बाल-मन के अनुकूल विकसित किया है।

'करनी का फल' कहानी में यह बताया गया है कि झूठ की उम्र ज्यादा नहीं होती। सत्य एक दिन उजागर हो जाता है। दूसरों की नकल तो की जा सकती है, परन्तु दूसरों के जैसा बना नहीं जा सकता। गीदड़ शेर की खाल ओढ़कर भी अपनी स्वभावगत विशेषताओं से मुक्त नहीं हो पाता और अंत में उसका भेद खुल जाता है। पंचतंत्रा में इसी से मिलती जुलती एक कहानी है, 'शेर की खाल में गधा' लेकिन वह इतनी छोटी है कि बस एक छोटी घटना का जिक्र है कि दूसरी गधी की आवाज सुनकर शेर की खाल ओढ़ा हुआ गधा भी वैसी ही आवाज निकालने लगता है और सबको पता चल जाता है।

'चतुर पंडित' कहानी में भूरे पंडित बहुत बुद्दिमत्ता से गोरेमल को चोर साबित कर देते हैं। गोरेमल कल्लूमल की गाय का बच्चा चुराकर अपनी बकरी का बच्चा बना देता है। तब पंडित भी अजीब बातें करके उसके झूठ का पर्दाफाश करते हैं। उनका एक संवाद देखिए- "कल्लूमल ने आश्चर्य से कहा –

"नदी में आग!" पंडित बोले– "हाँ भाई, नदी में आग लगी थी और नदी की मछलियाँ पेड़ो पर चढ़कर घास खा रही थीं और पेड़ो पर उगी हुई बालू से नदी की आग भी बुझ रही थी"। गोरेमल ने कहा–"क्यों भई गाँव वालों क्या आपने कभी ऐसी अनहोनी बात देखी है?" भूरे पंडित ने भी गाँव वालों की और मुड़कर कहा– "क्यों भई गाँव वालों क्या तुमने कभी गाय के बकरी का बच्चा और बकरी के बछड़ा होते सुना है?" यदि नदी में आग नहीं लग सकती तो बकरी भी बछड़ा नहीं दे सकती।"

'टिड्डे का काम चोरी' कहानी समय की कीमत का एहसास कराती है और सही समय पर काम करने की नसीहत देती है, जो टिड्डे, मधुमक्खियों और चींटियों को आधार बनाकर लिखी गयी है। टिड्डा गर्मी के मौसम में खेल में मस्त होता है और अपने भोजन का संग्रह नहीं करता, वहीं मधुमक्खियाँ और चींटियाँ आने वाले दिनों के लिए भोजन जुटाने में लगी होती हैं; टिड्डा जब उनसे खेलने के लिए कहता है, तो वह दोनों मना कर देती हैं। मधुमक्खी बोली–"न भैया, यह समय काम करने का है इस समय गीत गायेंगे तो बरसात और जाड़ों में भूखों मरना पड़ेगा।" चींटियाँ बोली– "न भैया काम के समय काम और खेल के समय खेल।" लेकिन टिड्डे ने पूरी गर्मी खेलने में गुजार दी। अत: उसे बरसात और जाड़ों में भूखे रहना पड़ा। चन्द्रकिरण गीतों का प्रयोग भी अपनी बाल रचनाओं को सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए करती हैं।

"गर्मी की ऋतु आई
धुप सलोनी संग में लाई
टिड्डे के मन भाई...
भाई गर्मी की ऋतु आई।"

अनुशासन की आदत डालने के उद्देश्य से 'मेघ परी' भी एक अच्छी कहानी है। बचपन में बच्चे नासमझ होते हैं और बहुत बार मनमानी करते हैं। वह काम भी करने की जिद करते हैं जो उनके लिए बुरा होता है, परन्तु कहानियों को पढ़कर वह स्वयं सीखते हैं। मेघ परी बादल के एक टुकड़े को कहा गया है लेकिन प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग करके लेखिका बादलों के गुण भी बताती हैं और उनका मानवीकरण भी करती हैं। मेघ परी को नीलगिरी की पहाड़ियों पर बरसने के लिए कहा गया– "भारत के दक्षिण में नीलगिरी की पहाड़ियों पर, जहाँ चाय, कोको उगता है, तुम्हें अपना जल ढाल देना है।"

परन्तु गंगा-जमुना को देखकर वह उसमें बरसने की जिद करने लगी– "श्यामवर्ण भैया मैं तो गंगा जमुना में बरसूंगी। यह क्या कि नीलगिरी की पहाड़ी पर बरसकर रह जाओ या खेतों में बरसकर मिट्टी में घुल जाओ।" श्यामवर्ण बादल ने उसे समझाया– "न न बहना, हमें जहाँ बरसने का आदेश मिला है, हम वही बरसेंगे। खेतों में बरसने से हम किसानों को लाभ पहुँचायेंगे, धरती हमारे जल से अन्नमयी बनेगी।" अपनी मनमर्जी के कारण मेघ परी अन्य बादलों से दूर चली जाती है, रास्ता भटक जाती है और बहुत कष्ट उठाती है। बाद में उसे पछतावा भी होता है और सजा भी मिलती है।

'खुटखुट और गुटर गूं' (अप्रकाशित) कहानी में दिखाया गया है कि आपसी लड़ाई का फायदा दूसरे लोग उठा लेते हैं। अत: अपनी समस्या को समय रहते आपस में ही सुलझा लेना उचित है। यह दो मित्रों एक बढ़ई और कबूतर की मित्राता की कहानी है। 'सोने की नदी' कहानी चमत्कार और कल्पना का सम्मिश्रण है। किसान का छोटा बेटा शील मेहनती और दूसरों की मदद करने वाला है जबकि उसके दोनों बड़े भाई झगड़ालू और आलसी होते हैं। अपने अच्छे व्यवहार के कारण वह सोने की नदी को अपने खेतों तक लाने में सक्षम होता है। दूसरों की मदद करके ही आगे बढ़ा जा सकता है। शील बौने को भोजन देता है तो वह नदी तक पहुँचने का रास्ता बताता है।

'दमयंती' कहानी भी प्राचीन काल की है। इस कहानी में लेखिका ने दमयंती के धैर्य, पति प्रेम, दायित्व का उल्लेख किया है। मुसीबत आने पर धैर्य से काम लेना बुद्धिमानी है। दु:ख एक राजा के जीवन में भी आता है परन्तु परिस्थितियों का सामना करके अपने गौरव को पुन: प्राप्त करने की कोशिश बहुत कम लोग करते हैं। ये कहानी दु:ख मुसीबत का सामना करना सिखाती है। दमयंती राजकुमारी होकर भी दु:ख में अपने पति के साथ जंगल में भटकती हैं, अपने पिता के पास नहीं जातीं। मेहनत करके अपनी जीविका अर्जित करती हैं। अपने से बिछुड़ गए पति की खोज करती हैं और राज्य हासिल हो जाने के पश्चात अपने देवर पुष्कर को राज्य से बाहर नहीं निकालती जबकि उसी ने नल दमयंती को राज्य से बाहर कर दिया था। वह पुष्कर को राज्य का एक भाग देने की सलाह अपने पति को देती हैं। दमयंती की अपने चरित्रा पर अडिगता और अपने साथ बुराई करने वालों के साथ भी इतनी दयालुता ही उनके चरित्रा को मजबूत बनाती है।

'जग्गो ताई' कहानी देश प्रेम के विषय को लेकर लिखी गयी है। लखनऊ के साहिबगंज की जग्गो को अपनी हवेली बहुत प्रिय होती है। वह उस हवेली को किराये पर भी नहीं उठाती। उनका एक भतीजा है, जो सेना में है। वह अपने भतीजे के लिए ही इस हवेली को संभालकर रखे हुए हैं। वह अपने भतीजे के पास भी रहने नहीं जाती, परन्तु भारत-चीन युद्ध के समय वह अपनी हवेली बेच देती है। "हवेली बेचोगी? लाला को मानो बिजली छू गई। हाँ देवर– और अपने गहने मैं सुरक्षा कोष में दे दूंगी। हवेली में रहने वाला न रहेगा तो हवेली का क्या होगा? मैं यह सब रकम भी हथियार खरीदने को दे दूंगी।"

"अरे ऐसा गजब न करना। बुढ़ापे में क्या खाओगी?" लेकिन ताई तो अडिग थी– "लाला आज भी तो भतीजे की कमाई खाती हूँ। मैं उसकी बहु के पास चली जाऊँगी। पुरखो की निशानी ये हवेली देश की आजादी में लग जाय इससे बड़ा पुण्य क्या होगा?"

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की ही एक कहानी 'गरीब का दिल', जो वयस्कों के लिए लिखी गयी है उसमें भी एक वृद्ध महिला के देश प्रेम का वर्णन है, परन्तु दोनों के कथानक में बहुत अंतर है। जग्गो ताई की संरचना में हास्य है, वाक्य सरल हैं, वहीं गरीब का दिल कहानी की संरचना गंभीर है, करुणा का भाव प्रबल है, भाषा वयस्कों की है, जिसमें गाली का प्रयोग भी हुआ है।

'भोंदू और भोलू' कहानी में भोंदू का मन पढ़ने में बिलकुल नहीं लगता। वह पढ़ाई करने से बचता है। भोंदू का नाम भूपेंद्र है, परन्तु पढ़ने में कमजोर होने के कारण सारे बच्चे उसे भोंदू कहते हैं। अपनी उम्र के बच्चों से वह कक्षा में पीछे है। वह अभी दूसरी कक्षा में है जबकि उसके हम उम्र के बच्चे चौथी कक्षा में पढ़ते हैं। उसका मन पढ़ने के अलावा खेलने, घूमने-फिरने सब काम में लगता है। भोलू उसका कुत्ता है जिसे वह खूब प्यार करता है और

उसके कारण वह जल्दी उठने लगता है लेकिन जब भोंदू को एक ठग अपने साथ झांसा देकर उठा ले जाता है। उस समय वह अपने घर से बहुत दूर दूसरे शहर में होता है। उसे भीख मांगकर लाने को कहा जाता है, तब उसे अपने घर की बहुत याद आती है। ठग उसे खाना भी ठीक से नहीं देता। उसे लिखना नहीं आता। उस स्थिति में उसने अपने बस्ते से किताबें निकालकर उन्हें मिला मिलाकर पढ़ना शुरू किया और बड़ी मुश्किल से दो शब्द लिख पाया। एक पडोघ्सी की मदद से वह घर पहुँच जाता है, तब उसे एहसास होता है कि पढ़ना-लिखना कितना जरुरी है। "माँ बड़ी भूख लगी है", भोंदू ने माँ से कहा। "यह बाबा मुझे रात को खाना भी नहीं देता था। दिन में भी सूखी रोटी देता था। मुझसे भीख मंगवाता था। अगर मुझे ठीक-ठीक लिखना आता तो मैं तुम्हें पत्रा लिखकर बता देता तब मुझे इतने दिन कष्ट न उठाना पड़ता।"

"देखा बेटा न पढ़ने का नतीजा! लेकिन अगर सुबह का भूला शाम को घर आ जाये तो वह भूला नहीं कहलाता। अब जुट जाओ पढाई में। बाबूजी ने कहा।"

इस प्रकार छोटी-छोटी आदतें विकसित करने के उद्देश्य से ये कहानियाँ लिखी गई हैं। जग्गो ताई और दमयंती कहानी बड़े बच्चों के लिए है। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कहानियाँ छोटे बच्चों के लिए हैं। कुछ लेखक जैसे निराला की कहानियों में अंत में उपदेशपरक वाक्य होता है, परन्तु चन्द्रकिरण अलग से उपदेशपरक वाक्य या कहानी का सार नहीं लिखतीं। चन्द्रकिरण ने जग्गो ताई, भोंदू और भोलू लम्बी कहानी लिखी। इसके अतिरिक्त अन्य कहानियाँ भी बहुत छोटी नहीं हैं। एक पृष्ठ की कोई कहानी नहीं है परन्तु कथानक और शिल्प बेजोड़ है। भाषा पात्रानुकूल है और ये कहानियाँ बच्चों के लिए अत्यंत प्रेरणाप्रद हैं।

संदर्भ

- चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पशु पक्षी सम्मेलन, अंतरा प्रकाशन, 2008 पृष्ठ 16-17
- वही, पृष्ठ 19
- वही, पृष्ठ 20
- वही, पृष्ठ संख्या 24
- वही, पृष्ठ 25-26
- चन्द्रकिरण सौनरेक्सा,जग्गोताई, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2004, पृष्ठ 11
- चन्द्रकिरण सौनरेक्सा,भोंदू और भोलू, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2007, पृष्ठ 27-28

भारतीय दर्शन में मानवतावादी दृष्टिकोण एवं इसकी प्रासंगिकता

प्रवीण कुमार यादव

शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मानवतावाद, दर्शन की एक ऐसी विचारधारा है जिसके अन्तर्गत मानव तथा उसकी समस्याओं के विवेचन को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। इस विचारधारा के केन्द्रबिन्दु ईश्वर या अन्य कोई, काल्पनिक शक्ति न होकर स्वयं मनुष्य है जिससे सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण पक्षों का इसके अन्तर्गत सम्यक् विवेचन किया जाता है। इस प्रकार मानवतावाद का अभिप्राय मनुष्य केन्द्रित दर्शन है।[1]

भारत में मानव की सर्वोच्च महत्ता की अनदेखी कभी नहीं की गई। 'मानववाद' शब्द प्रारम्भ से ही विभिन्न लोगों के लिए अलग-अलग अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। प्रो0 एडवर्डचेने के अनुसार 16वीं सदी के बाद से मानववाद से अभिप्राय उस दर्शन का रहा है, जिसमें केन्द्र व प्रमाण दोनों मनुष्य ही है।[2] मानवाद वह पद्धति है जो मनुष्य के सम्मान व प्रतिष्ठा पर आधारित है।

प्राय: ऐसा देखा गया है कि मानववाद और मानवतावाद शब्दों को समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया गया है जबकि इन दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर है। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलीजन एण्ड एथिक्स में मानववाद को निम्न प्रकार से परिभाशित किया गया है-

मानववाद तथ्यात्मक है और मूलरूप से वह एक सिद्धांत है, दर्शनशास्त्र की पद्धति मात्र नहीं है बल्कि यह अमानवीयतर्क का विरोध करता है। मानववाद दर्शन न होकर दार्शनिक दृष्टिकोण है।

मानववाद की भाँति मानवतावाद भी मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों की सत्ता को ही विशिष्टता प्रदान करता है लेकिन मानववाद में जहाँ शुद्ध रूप से तर्क और बुद्धि का हामी है, वहाँ मानवतावाद व्यक्ति की संवेदनशील प्रवृत्ति को ही व्यक्ति वैशिष्ट्य की प्रेरणा के रूप में मानता है। मानववाद का क्षेत्र केवल मनुष्य समाज तक सीमित है इसकी तुलना में मानवतावाद का भाव क्षेत्र व्यापक है और उसकी करूणा के विस्तृत आयाम में मानव समाज के साथ-साथ वस्तु जगत के समस्त जीवों के प्रति उदारता, संवेदना एवं सहानुभूति के भाव आवृत्त हैं।

भारतीय दार्शनिक चिंतन में मानवतावादी दृष्टिकोण अत्यंत प्राचीन काल से ही देखा जा सकता है। प्राचीन काल में भारतीय विद्वानों एवं प्रबुद्ध आचार्यो ने इस उदात्त चेतना की अभिव्यक्ति में व्यक्ति में सात्विक गुणों के विकास और उसे आध्यात्मिक जीवन की दिशा में प्रेरित करने के लिए की थी। वैदिक काल में व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों स्वरूपों को प्रतिष्ठित एवं विकसित करने का प्रयास हुआ। भारतीय चिन्तन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में मानवीय तत्त्वों को लेकर प्रतिष्ठित हुआ है। न तो पूर्णरूप से पश्चिमी विचारकों की भाँति धर्म निरपेक्ष रहा और न ही पूर्णतया धर्मसापेक्ष ही।

भारतीय दर्शन सारत: आध्यात्मवाद पर आधारित है परन्तु हमारे इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में भारतीय विचारधारा पर शक्तिशाली प्रभाव डाला है। भौतिकवाद के प्रतिपादक चार्वाक दार्शनिकों ने मनुष्य को ही समस्त क्रियाओं का केन्द्र माना है। भारत ही नहीं बल्कि विश्व के सभी श्रेष्ठ चिंतकों, दार्शनिकों एवं समाज सुधारकों ने भी मानवतावाद की स्थापना के लिए ज्ञान के साथ-साथ आचार को भी महत्व देते हुए मानवतावादी भावना से अभिप्रेरित दिखाई देते हैं। इस रूप में संसार के सभी प्राचीन धर्म मानवतावाद की भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत मानव के साथ-साथ प्रत्येक प्राणी शांति, सौहार्द एवं सद्भावना के साथ जीवन निर्वाह कर सके इस प्रकार का विवेचन देखा जा सकता है।

भारतीय दार्शनिक चिंतन के अन्तर्गत संक्षिप्त रूप से कुछ महत्वपूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण निम्नलिखित है-

जैन दर्शन श्रमण परम्परा का प्रतिनिधि दर्शन है यह धर्म सुधार के आन्दोलन के रूप में विकसित होने के कारण नैतिकता पर विशेष बल देता है। जैन दर्शन की शाब्दिक उत्पत्ति 'जिन' से है जिसका अर्थ विजेता होता है, जिनकी उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं। दर्शन की दृष्टि से जैन दर्शन का प्रारम्भ ई0पू0 छठी शताब्दी में वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में बौद्ध दर्शन के साथ-साथ हुआ।[3] इसके नेतृत्वकर्त्ता के रूप में महावीर स्वामी को जाना जाता है।

मानवतावादी दृष्टिकोण मानव को केन्द्रीय बिन्दु मानकर अपने मतों एवं सिद्धांतों को प्रस्तुत करता है जिसके अन्तर्गत मानव कल्याण एवं सौहार्दपूर्णता का भी जिक्र मिलता है इसी प्रकार जैन दर्शन में अहिंसा को बहुत ही स्पष्टता के साथ परिभाशित किया गया है जो जीव मात्र के कल्याण की ही बात करता है। भारतीय दर्शन के विकास में अहिंसा की स्थापना में जैन दर्शन की मुख्य भूमिका है। जैन दर्शन ने 'अहिंसा परमोधर्म:' का उद्घोश किया जिसे परवर्ती सभी दर्शनों ने स्वीकार किया। जैन दर्शन में मुख्य दृष्टिकोणों के अन्तर्गत एकमत स्वावलम्बन से भी सम्बंधित है जिसके अनुसार प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्मा बन सकती है। इसके लिए मात्र इतनी आवश्यकता है कि आत्मशक्तियों को पहचाना जाए और बाधक तत्त्वों पर विजय प्राप्त करके

आत्मशक्ति का पूर्ण विकास किया जाय। जैन दर्शन का मानना है कि प्रत्येक जीव असीमित शक्तियों का स्वामी है यह शक्ति ज्ञान, पुरुषार्थ एवं संकल्प शक्ति है जो जीवका अभिन्न स्वरूप है।[4] जैन दर्शन आत्मोन्नति का समान अवसर प्रदान करता है सभी प्राणियों के लिए, इस दर्शन का यह दृष्टिकोण अत्यंत व्यवहारिक है। जैन की आचारमीमांसा भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। मात्र ज्ञानात्मक उपक्रम के द्वारा व्यक्ति सांसारिक बाधाओं को नहीं जीत सकता अपितु इसके लिए ज्ञान के साथ-साथ आचरण करना भी आवश्यक है। जैन दर्शन में जीवका स्वरूप, मानवीय गरिमा के प्रति पूर्णनिष्ठा, अहिंसावादी दृष्टिकोण, सर्वकल्याण की बातें, मानव व जगत का सम्बंध इत्यादि कई ऐसे विचार मिलते हैं जो मानवीय उत्कृष्टता को बढ़ावा देने एवं उनके कल्याण की बात करता है।

बौद्ध धर्म में मनुष्य के जीवन और संघर्ष पर अत्यंत गम्भीर चिंतन किया गया है। यह दर्शन कल्याणकारी मानवता की स्थापना पर विशेष बल देता है। जिसे मानवतावादी दर्शन की विशेषता के रूप में समझ सकते हैं। इसमें मानव जीवन को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हुए तप, योग एवं सदाचरण द्वारा दुःख निजात की बात की गई है। बुद्ध ने स्वयं तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के समाधान की अपेक्षा साधारण बुद्धि की मान्यताओं के समाधान का मार्ग सुझाया है।[5] बुद्ध स्वयं इस बात के समर्थक थे कि आध्यात्मिक ज्ञान वाद-विवाद से नहीं वरन् आचार-विचार से प्राप्त होता है।[6] भारत में प्राचीन बौद्ध दर्शन में आधुनिक मानवतावादी दर्शन की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। जिस आधुनिक मानवतावाद की आवश्यकता आज विश्व महसूस कर रहा है महात्मा बुद्ध ने उसे छठी शताब्दी ई0पू0 ही भारत की तपोभूमि पर प्रस्तुत किया था। सर्वप्रथम प्रत्यक्षवाद की धारणा बुद्ध ने प्रस्तुत की उनके अनुसार जगत की सम्पूर्ण व्यवस्था प्रत्यक्ष घटनाओं पर आधारित हैं। बुद्ध के प्रत्यक्षवादी दर्शन के मूल में प्रतीत्मसमुत्पाद का सिद्धांत हैं जिसे बुद्ध ने दूसरा आर्यसत्य कहा। यह सिद्धांत भगवान बुद्ध के उपदेशों का आधारभूत सिद्धांत है जो दुःख को जीवन व्यापी एवं अनिवार्य मानकर उससे बचने के लिए नवीन मार्गो का अनुसंधान करता है।[7] प्रतीव्यसमुत्पाद का प्रयोग कारण कार्य सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसके अनुसार कारण होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। यह सिद्धांत अच्छे कर्म का शुभ परिणाम एवं बुरे कर्म का अशुभ परिणाम जैसी अनिवार्यता को सिद्ध करता है। इस प्रकार से बौद्ध दर्शन का मानवतावादी दृष्टिकोण उसके भवचक्र, नैरात्मवाद, अनीश्वरवाद, अष्टांगिक मार्ग इत्यादि सभी मतों में परिलक्षित होता है जिसके अन्तर्गत मनुष्य के कल्याण एवं महत्ता को विशेष स्थान प्राप्त है।

मानवतावाद मानव अस्तित्व के लिए एक अनिवार्य विचारधारा है। इसके अन्तर्गत भारतीय दर्शन में विभिन्न विचारकों का मत है। प्राचीन मत के साथ-साथ कुछ समकालीन एवं आधुनिक विचारकों का मत भी है, जिसमें स्वामीविवेकानन्द, श्री अरविन्द, प्रो0 एन0 के0 देवराज, मानवेन्द्रनाथ राय के विचार महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

विवेकानन्द एक महान मानवतावादी एवं आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के प्रवर्तक थे। उन्होंने अपने चिंतन में स्वतंत्रता को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया था। उनका कथन है कि "जीवन सुख और समृद्धि की एकमात्र शर्त चिन्तन और कार्य में स्वतन्त्रता है।" शारीरिक, मानसिक तथा दूसरों को उसकी ओर अग्रसर होने में सहायता देना मनुष्य का सबसे बड़ा पुरस्कार है, जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के विकास में बाधा डालते हैं वे हानिकारक हैं और उन्हें शीघ्र नष्ट करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उन संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिनके द्वारा मनुष्य स्वतन्त्रता के मार्ग पर आगे बढ़ता है। उनका दृढ़ विचार था कि समाज के प्रत्येक सदस्यों को स्वतन्त्रता का समान अवसर मिलना चाहिए। समाज के सभी सदस्यों को धन, शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार होना चाहिए। विवेकानन्द मानव व्यक्तित्व की गरिमा पर बल देते थे और कहते थे कि आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति को अपने अहं का देश और राष्ट्र के साथ तादात्म रखना चाहिए।

वे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और विश्व बन्धुत्व के प्रबलसमर्थक थे। विवेकानन्द के अनुसार वह व्यक्ति जिसमें आत्मसम्मान, आत्मविश्वास का बोध नहीं है जो अपने अन्तर्निहित अनन्त शक्ति को नहीं जानता व पहचानता है, वह सच्चा एवं कर्मठ व्यक्ति नहीं बन सकता। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के विचार मानव कल्याण एवं मनुष्यकेन्द्रित हैं जिसमें सर्वकल्याण की बात विदित होती हैं।

श्री अरविन्द भी स्वामी विवेकानन्द की भाँति आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के समर्थक थे। वे अन्तराष्ट्रीयता के धरातल पर राष्ट्रवाद को स्थापित करना चाहते थे। वे विश्वराज्य की स्थापना करना चाहते थे। उस विश्व राज्य का सर्वोत्तम रूप स्वतंत्र राष्ट्रों का ऐसा संघ होगा जिसके अन्तर्गत हर प्रकार की पराधीनता, असमानता एवं दासता का विलोप हो जायेगा। श्री अरविन्द का मानना है कि हममें अभी मानव के वास्तविक स्वरूप को, वास्तविक परिप्रेक्ष्य को समझने की क्षमता उत्पन्न नहीं हुई है। हममें विभिन्न शक्तियाँ हैं, इन सभी शक्तियों का हमारी चेतना को सर्जित करने में योगदान है।[9] श्री अरविन्द का दृढ़ विश्वास था कि यदि मानव का चरम विकास करना हो तो राज्य के विचार का अतिक्रमण करके यह स्वीकार करना होगा कि सम्पूर्ण मानवजाति एक इकाई है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि श्री अरविन्द ने भी हमारे समक्ष मानव एकता का एक महान आदर्श प्रस्तुत किया और समग्रता की बात की जो कि वर्तमान मानव समाज के लिए अपरिहार्य है।

प्रो0 देवराज एक सृजनात्मक मानवतावादी चिंतक हैं, इनका मानना है कि मानव, मूलतः एक सृजनोन्मुख विशेषता से युक्त होता है। इसी आधार पर देवराज ने सृजनात्मक मानवतावाद सिद्धांत का प्रतिपादन किया। मनुष्य के अन्दर भाषा की जानकारी एवं उसके प्रयोग की क्षमता[10] ये दो विशेषताएँ हैं। मानव मूल की यह दो विशेषताएँ देवराज के सृजनात्मक मानवतावाद की धूरी है। यद्यपि यह सृजनात्मकता प्रत्येक प्राणी जगत में मिलती है किन्तु मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों की सृजनात्मकता, मात्र उनके इन्द्रिय बोध तक सीमित रह जाती है।[11] देवराज ने सृजनात्मकता को दर्शन की पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार कर साक्षात् अनुभव का विषय कहा है। सृजनात्मकता का लक्ष्य एक प्रकार का मूल्य उत्पादन है। अतः सृजनात्मक मानवतावाद को गुणात्मक मानवतावाद के रूप में देखा जा सकता है। मानव का सम्बंध भौतिक उत्पादन एवं व्यवहारिक चरित्र दोनों से होने के कारण उसका गुणात्मक विकास होता है। मनुष्य की सृजनात्मकता निरूद्देश्य न होकर नयी कल्पित स्थिति को यथार्थ के रूप में उतारने की प्रेरणा है। जिसे मानव प्रगति का भौतिक नियम भी कहा जा सकता है।[12] देवराज के मानवतावादी चिंतन का केन्द्र भी मनुष्य है, किन्तु इन्होंने अपने सृजनात्मक मानवतावाद में आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी स्थान देकर मानवतावादी विचारधारा को और अधिक जीवनोपयोगी बना दिया।

भारतीय मानवतावादी चिंतकों में एम0 एन0 राय को नवमानवतावादी और उग्रमानवतावादी की संज्ञा दी जाती है। नवमानवतावाद दर्शन का सर्वांगीण विकास ही इनके दर्शन का मुख्य लक्ष्य है। यदि मानव को ईश्वर के हाथ का खिलौना मान लिया जाए तो हमारी योजनाएँ निरर्थक होंगी। राय केअनुसार सार्वजनिक

जीवन में मानव की स्थिति अत्यंत दयनीय है। जिस मानव ने अपनी हितपूर्ति के लिए समय-समय पर समाज, ईश्वर, राज्य, राष्ट्र, विज्ञान का अविष्कार किया आज वह स्वयं अपने अविष्कारों के कारण खो गया है।[13] डॉ0 देवराज ने जहाँ सृजनात्मक मानवतावाद में आध्यात्मिकता को स्वानुभूति का प्रत्यक्ष विषय मानकर मानवता का एक पक्ष स्वीकार किया है वहीं राय ने मानव की विवेकशीलता को भौतिक विकास का परिणाम माना है। राय के अनुसार दर्शन में मानव व्यक्तित्व अत्यंत महत्वपूर्ण है। मानव भौतिक विकास से निर्मित प्राणी है, चेतना आदि सभी बातें मनुष्य को भौतिक द्रव्य के क्रमिक विकास से प्राप्त हुई हैं। अतः राय मनुष्य को पृथ्वी पुत्र की संज्ञा देते हैं। राय के अनुसार मानव में कुछ मात्रा में भौतिक तत्त्व, कुछ मात्रा में वनस्पति, कुछ जीव एवं कुछ मानसिक तत्त्व पाये जाते हैं। ये सभी तत्त्व जबतक संतुलित रहते हैं तब तक जीवितावस्था में रहते हैं। मनुष्य में सृजनात्मकता होती है वह विकास प्रक्रिया का अंग है। मानवतावादी चिंतन में राय का मानवतावादी दृष्टिकोण सबसे वैज्ञानिक एवं अत्याधुनिक है। मानव उसकी बुद्धि एवं उसकी क्रियाशीलता के अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं, यह राय के दर्शन का सारांश है और आज के चिंतन में प्रासंगिक भी प्रतीत होता है।

मानवतावाद वह सैद्धांतिक दृष्टिकोण है जो मनुष्य के सम्मान और प्रतिष्ठा के विचार पर आधारित है। साथ ही लोक कल्याण और बहुमुखी विकास तथा सामाजिक जीवन की दशा के निर्माण पर अवलम्बित है। भारतीय चिंतन में मानवतावाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहआध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में मानवीय तत्त्वों को लेकर प्रतिष्ठित हुआ है। न पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष रहा है न ही पूर्णतया धर्मसापेक्ष। मानवतावादी दृष्टिकोण मानवकल्याण के साथ-साथ अन्य जीवों के प्रति नैतिकता को बढ़ावा देता है जिसकी आरम्भिक काल से लेकर भावी काल तक आवश्यकता रहेगी। ऐसा भी हुआ है कि कभी-कभी मानव कल्याण मात्र के लिए अन्य सभी जीवों के साथ हिंसात्मक एवं अन्यायपूर्ण रवैया अपना लिया जाता है जो निन्दनीय रहा है। मानववादी दृष्टिकोण अगर एक सामंजस्य बनाकर चले तो हम इसे वैश्विक पटल पर सर्वात्मवादी दृष्टिकोण के तौर पर देख सकते हैं।

मानवतावादी दृष्टिकोण यदि पूरे विश्व की मानवता को एक मानकर चले तो इससे हम वसुधैव कुटुम्बकम् की तरफ कदम आगे बढ़ा सकते हैं। एक प्रकार से अगर मानवतावादी दृष्टिकोण अद्धैतवादी (किसी प्रकार का द्वैतन हो) दृष्टिकोण पर अवलम्बित हो जाये तो यह केवल उदारता की ही बात नहीं, बल्कि वर्तमान समस्याओं का हल भी है कि राष्ट्र, धर्म, जाति, रंग आदि के भेदभावों से हम उपर उठ सकते हैं और विश्व बन्धुत्व को और मजबूत कड़ी प्रदान कर सकते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि मानवतावादी दृष्टिकोण मानव संबंधी एक दार्शनिक अध्ययन है जिसकी प्रासंगिकता मानवता के लिए हमेशा रहेगी, समय-समय पर दृष्टिकोण बदल सकते हैं क्योंकि केवल आध्यात्मिक या केवल भौतिक वादी होकर सामंजस्य नहीं बना सकते वैश्विक पटल पर।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. डॉ0 देवराज, दर्शन, धर्म, अध्यात्म व संस्कृति, पृष्ठ 134
2. प्रो0 एडवर्ड चेने, इनसाइक्लोपिडिया ऑफ शोसल साइन्सेज, पृष्ठ 541
3. वाचस्पति गैरोला, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 95
4. उत्तराध्ययन 28/11
5. एम0 हिरियन्ना, भारतीय दर्शन
6. राहुल सांस्कृत्यायन, मज्झिमनिकाय
7. जी0 सी0 पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 76
8. चन्द्रकीर्तिवृत्ति, हेतुप्रत्ययापेक्षो भावनामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।
9. वी0 के0 लाल, समकाली भारतीय दर्शन, पृष्ठ 224
10. नन्दकिशोर देवराज, दर्शन, स्वरूप, समस्याएँ और जीवन दृष्टि, पृष्ठ 65
11. वही, पृष्ठ 34-35
12. वही, पृष्ठ 136-137
13. डी0 डी0 बंदिष्टे, नवमानवतावाद

दलित मानवतावादी: डॉ. अम्बेडकर

डॉ० शैलेन्द्र कुमार

(गोल्ड मेडलिस्ट)
***UGC-NET, (Philosophy)* जमुई बिहार**

आधुनिक काल में भारतीय दर्शनशास्त्र के साथ सभी प्रकार के शास्त्रों ने भी समाज में व्याप्त कुरीतियों यथा-जाति आधारित भेदभाव, वर्ण आधारित भेदभाव स्त्री-पुरुष में भेदभाव आदि के विरूद्ध काफी मुखर आंदोलन के लिए तत्परता दिखाई लेकिन इन सभी से अलग डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने दलितोद्धार को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाया। डॉ0 अम्बेडकर ने जातिगत पृथकतावादी पूर्वाग्रहों को तोड़ने का अथक प्रयास किया। डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण भारतवर्ष को जातिगत, उपजातिगत, वर्णगत जर्जर पूर्वाग्रहों से मुक्त कराकर लोकतांत्रिक, सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के पक्षधर थे। हिन्दु समाज में पले-बढ़े बाबा साहब इसमें व्याप्त कुरीतियों एवं विसंगतियों को भली-भाँति जानते थे। इसलिए इन्होंने न केवल हिन्दू संस्कार विधि का अध्ययन किया बल्कि इसे आश्रम व्यवस्था के साथ जोड़कर मूल्यांकित करने का भी प्रयास किया। इनका मानना था कि जनहित में जो भी संस्कार अथवा सामाजिक रीति-रिवाज है, उन्हें सर्वसामान्य के लिए सुलभ बनाया जाय ताकि सामान्य मानव की स्वतन्त्रता, समता, गरिमा और प्रतिष्ठा की रक्षा हो सके।

आज जब हम इक्कीसवीं सदी में जी रहे हैं तो ऐसे में यह अत्यावश्यक हो जाता है कि मानव-मानव में सामाजिक स्तर पर कोई विभेद नहीं हो। वस्तुत: डॉ0 अम्बेडकर एक ऐसे मानवतावादी समाज की रचना करना चाहते थे जो शोशणमुक्त और सामाजिक न्याय का प्रतीक हो। अर्थात् परम्परागत वर्ण-व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के प्रबलतम विरोध एवं समरस, नैतिक एवं उदात्त समाज की स्थापना। उनका दलित प्रेम (तथाकथित सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्तर पर पिछड़ा समुदाय या जनसमूह जिसे समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है।) समान अधिकार की प्राप्ति के लिए तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरूद्ध शंखनाद है[1]। उनका स्पष्ट मानना है कि बिना सामाजिक न्याय, समानता, बंधुत्व एवं स्वतंत्रता के आदर्श, समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। आदर्श के बिना हम सभी अपने सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते।

डॉ0 अम्बेडकर के विचारों को संकलित एवं एकीकृत कर उसे दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो उन्हें मानवतावादी कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। हम उनके विचारों को दलित मानवतावादी की श्रेणी में रख सकते है। उनका क्रांतिकारी दलित मानवतावाद एक प्रकार से प्राचीन बौद्ध मानवतावाद और आधुनिक साम्यवाद के सन्निकट प्रतीत होता है। इन सबका मूल उद्देश्य मनुष्य को परिवर्तित करके वर्तमान समाज के शोशणवादी तथा अन्यायपूर्ण संरचना में व्याप्त क्लिष्टता का समूल नाश करना है। दलित मानवतावाद का उद्देश्य मानवीय मूल्यों की गरिमा को नष्ट करने वाली सभी बुराईयों का अन्त करना है। डॉ0 अम्बेडकर का स्पष्ट मानना था कि “वैसा दर्शन जो समाज को अलग-अलग बॉटता हो, जो रूचि को काम से पृथक करता हो और जो संकट काल में समाज को सामान्य क्रिया की दिशा में संसाधनों की गतिशीलता को रोकता हो, किस प्रकार सामाजिक उपयोगिता की परीक्षा की संतृष्टि करने के लिए योग्य माना जा सकता है? इनका मानना था कि “दलितो के उत्थान के बिना न तो समाज का पूर्ण विकास हो सकता है और न ही एक स्वच्छ राष्ट्र का निर्माण हो सकता है[2]। इसलिए सभी विचारकों एवं चिंतको को अपना पुरुषार्थ दलितोत्थान हेतु ही लगाना चाहिए।

डॉ. अम्बेडकर दलितोद्धार में सबसे बड़ा बाधा हिन्दू धर्म के जाति-व्यवस्था एवं वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं। उनका मानना था कि जाति-व्यवस्था में ऐसी बंदिशे थी कि न केवल जाति के भीतर जाने पर प्रतिबन्ध थी, बल्कि जाति के बाहर जाने पर भी रोक थी। एक बार जिन्हें जाति से बाहर निकाल दिया जाता था उसके लिए अपनी अलग जाति बनाने के अलावा कोई चारा नहीं रहता था। जाति का तर्कशास्त्र इतना कठोर था कि बहिश्कृत होने पर नये-नये समूह लगातार बनते चले गए। इन क्रूर नियमों ने सामाजिक समूहों को अनेक जातियों में बदल दिया। हिन्दु समाज में अनेक ऐसी जातियाँ है जो आपस में खान-पान तो करती है लेकिन उनके अंदर का जातिवाद नहीं समाप्त हुआ। अम्बेडकर का मानना था कि जातिवादी ओछेपन के कारण हिन्दू समाज में वह एकता नहीं आ सकती जिसकी हमें आवश्यकता है। रक्त सम्बन्धों (अन्तर्जातीय विवाह) से ही पृथकता, ऊँच-नीच, घृणा-द्वेश आदि निकृष्ट भावनाओं का अन्त हो सकता है[3]। सभी बुद्धिजीवियों, विचारकों, चिंतको, दार्शनिकों से आग्रह है कि वे अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता देकर हिन्दु-धर्म में व्याप्त कुरीतियों एवं रूढ़िवादी मान्यताओं का समूल नाश करें। एक मनोवैज्ञानिक क्रांति ही ऐसी निर्मूल व्यवस्था का पूर्णत: अन्त कर सकती है।

भारतीय समाज में अस्पृषयता मानवीय गरिमा पर एक ऐसा कलंक है जिससे छुटकारा पाए बिना सभ्य समाज एवं पूर्ण विकसित मानव की कल्पना करना दिवास्वप्न के समान है। अम्बेडकर का मानना है कि सांवैधनिक रूप से भले ही छुआछूत को मिटा दिया गया किन्तु व्यवहार में सर्वत्र पाया जाता है। अस्पृषयता वस्तुत: एक मानसिक धारणा है जो स्मृतिकाल से अधिक प्रचलित हो गई। देखा जाय तो इसको भिन्न-भिन्न चिंतको ने अपने-अपने व्यापार (ज्ञान) के आधार पर अनेक तरह से परिभाशित किया है। किन्तु हिन्दू धर्म में अत्यन्त निकृष्ट कार्य करने वाले को ही अस्पृषय माना गया। डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार “अस्पृषय” वह अभिशप्त प्राणी है जिसको छूना, देखना तो दूर साया पड़ जाने पर भी सवर्ण हिन्दू अपने आपको अपवित्र मानने लगे थे। इसलिए इस बुराई को जड़ से समाप्त करने के लिए सुनियोजित तरीके से संस्थागत आधार पर अभूतपूर्व आन्दोलन की आवश्यकता है[4]। प्रारम्भ से ही यह धारणा बनी हुई है कि जो कुछ भी किया जाना है या बदलना है वह अस्पृषयों के प्रति किया जाना या बदलना है। सवर्णो के बारे में कुछ भी नहीं किया जाना है। सामाजिक मिथक ऐसा

बन गया था कि सवर्णो के लिए कुछ करना शेश नहीं अर्थात् वे पूर्ण है। भले ही यह धारणा उचित हो या अनुचित लेकिन हिन्दू इसमें कोई परिवर्तन नहीं चाहते। हिन्दू इस बात से पूर्ण आश्वस्त हैं कि वे अस्पृषयों (दलितों) की समस्या के लिए कहीं से भी उत्तरदायी नहीं है। डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार अस्पृषयता तभी दूर हो सकती है जब सम्पूर्ण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था विशेष रूप से जाति प्रथा समाप्त हो जाय[5]।

वर्ण-व्यवस्था के इतिहास में पाया जाता है कि प्रत्येक वर्ण के संस्कार अलग-अलग थे। हिन्दू समाज में शूद्र अछूतों की उन्नति एवं अवनति को उनके लिए कुछ संस्कारों के निशेध के साथ जोड़ा जाता था। शूद्र अछूतों दलितों के लिए उपनयन संस्कार का विशेष निशेध था। उपनयन संस्कार सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग था। जिससे दलितों को पूर्ण रूप से वंचित कर दिया गया था। उपनयन संस्कार के द्वारा ही व्यक्तियों की प्रतिष्ठा एवं अधिकार स्थापित होते थे साथ ही साथ इस संस्कार के द्वारा ही बच्चों को पुरोहितों द्वारा यज्ञोपवीत (जनेउ) धारण करवाया जाता था। यज्ञोपवीत-धारी बच्चे ही वेदाध्ययन (शिक्षा) कर सकते थे। अर्थात् उपनयन संस्कार विहीन बच्चों को पूर्णत: शिक्षा ग्रहण करने पर रोक लगा था। इस अर्थ में दलितों अर्थात् शूद्रों के बच्चों का जीवन पूर्णत: अंधकार युक्त था। साजिश के तहत समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को इस संस्कार से पूर्णत: अलग रखा गया था। यही कारण है दलित स्त्री-पुरुष निरंतर कमजोर, निरक्षर, नीच, अधम एवं पिछड़ते चले गए। मानव जीवन के नींव को जो चीजें (उपनयन संस्कार) संबल प्रदान करती है उनसे इनलोगों को वंचित कर दिया गया। दलितों को सिर्फ सोलह संस्कारों में से केवल एक विवाह संस्कार की ही छूट थी। फलत: उनके संतानों की वृद्धि तो हुई किन्तु अन्धकारयुक्त तथा अज्ञान की अवस्था में रहने को विवश कर दिया गया। जिसका दुश्परिणाम हमें भारतीय समाज में सर्वत्र दिखाई देता है।

डॉ0 अम्बेडकर का स्पष्ट मानना है कि हिन्दू धर्म पर जितना अधिकार सवर्णो का है उतना ही अधिकार अस्पृषयों का भी है। हिन्दू धर्म में व्याप्त विसंगति पर कटाक्ष करते हुए उन्होनें कहा कि मैं पैदा तो हिन्दू में हुआ हूँ जो मेरे वश में नहीं था, लेकिन मैं हिन्दू होकर नहीं मरूंगा, जो मेरे वश में है। दूरद्रष्टा, दार्शनिक, सामाजिक परिवर्तन के प्रणेता डॉ0 अम्बेडकर समस्त विचारकों एवं चिंतको से आग्रह करते हुए कहते है कि हम सभी को दिशाहीनता एवं विचार शून्यता की स्थिति से बाहर आना चाहिए[6]।

डॉ0 अम्बेडकर के ठोस व्यावहारिक तर्कों को देखते हुए अंग्रेजी सरकार ने भी छुआछूत के विरूद्ध सख्त एवं कठोर कानून बनाई। स्वतंत्र भारत में अस्पृषयता के लिए कठोर कानून बने। लेकिन इन सबसे अलग और भिन्न जो सबसे महत्वपूर्ण है वह वैचारिक, मानसिक एवं नैतिक रूप से दलितों को उसके अधिकार वापस दिलाना। डॉ0 अम्बेडकर के प्रयास का परिणाम था कि 29 अप्रैल 1947 ई0 में संविधान सभा ने भी छुआछूत को संज्ञेय अपराध घोशित कर दिया[7]। देश में संवैधानिक सुधारों और स्वराज प्राप्ति के कठिन दौर में डॉ0 अम्बेडकर का अछूतों के सामाजिक न्याय तथा आजादी के बाद संविधान रचना में सक्रिय भूमिका ने उन्हें दलितों का मसीहा बना दिया।

इस अर्थ में कहा जा सकता है कि डॉ0 अम्बेडकर सच्चे अर्थ में दलित मानवतावादी थे। स्पष्टत: उनका निहितार्थ यही रहा होगा कि यदि सर्वहारा वर्ग का जाति, वर्ण एवं धर्म के प्रति यही दृष्टिकोण रहा तो समाज में वह एकता नहीं आ सकती जो किसी भी राष्ट्र की सम्प्रभुता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आवश्यक है[8]। यहॉ यह लिखना आवश्यक प्रतीत होता है कि पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार उसकी जाति, वर्ण और कुल आदि होता था जबकि डॉ0 अम्बेडकर के आदर्श सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार उसकी प्रतिभा और गुण है। धर्म को परिभाशित करते हुए इन्होनें कहा कि धर्म वह साधन है जिससे मनुष्य मात्र की बुद्धि निर्मल और व्यवहार परिमार्जित होता है। धर्म लोकहित का साधन है जिसमें पाखण्ड के लिए कोई स्थान नहीं है[9]। इस भौतिकवादी युग में धर्म की अनिवार्यता को स्थापित करते हुए इसे समाज के लिए आवश्यक मानते है। लेकिन इन सबके बावजूद आज हिन्दू धर्मशास्त्रों का पुर्नमुल्याकंन एवं विश्लेशण वर्त्तमान संदर्भ में आवश्यक है[10]। धर्म को सर्वकल्याणकारी, न्यायसंगत, समानता, एकता एवं बंधुत्व का पोशक होना चाहिए। इसलिए मनुस्मृति आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था की अवधारणा आदर्श सामाजिक संगठन का निर्माण नहीं कर सकती। कोई भी धर्म नियतिवाद का पोशक नहीं हो सकता क्योंकि नियतिवाद से व्यक्ति में कुण्ठा का आविर्भाव होता है[11]। उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि डॉ0 अम्बेडकर धर्म विरोधी नहीं अपितु धर्म के अन्दर निहित विकृतियों से दुखी: थे और इसलिए वे परिमार्जन की बात करते थे जो समीचीन प्रतीत होता है।

संदर्भ

1. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर : व्हाट कॉंग्रेस एण्ड गॉंधी हैभ डन टु द अनटचेबल्स 1945 पृष्ठ–345।
2. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर : एनिहिलेशन ऑफ कास्ट 1936 पृष्ठ–79।
3. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर : राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज खण्ड–2 पेज–58, बसंत मून–1982।
4. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के द्वारा येवला सम्मेलन 1935 में दिए गए भाषण के एक अंश से उद्दृत।
5. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर : सम्पूर्ण वाडन्मय खण्ड–09 पृष्ठ–160 भारत सरकार प्रकाशन नई दिल्ली।
6. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर : भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ समता साहित्य सदन, जयपुर पृष्ठ–93।
7. मधु लिमय–डॉ. अम्बेडकर–एक चिंतक पृष्ठ–107 मस्तराम कपूर द्वारा अनुदित, मुम्बई।
8. डॉ. आर.सी. सिंह–डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक विचार पृष्ठ–80।
9. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर : राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज खण्ड–1 पृष्ठ–63 गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र प्रकाशन बाम्बे।
10. डॉ. रामगोपाल सिंह– डॉ. भीम राव अम्बेडकर: समाज वैज्ञानिक पृष्ठ–23 मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ टकादमी भोपाल 1992।
11. केवल भारती–मंदिर में क्या रखा है? पृष्ठ–72।

साहित्य और पत्रकारिता के परिवर्तित मूल्य

डॉ० नलिनी सिंह

असि0प्रो0-हिन्दी, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चुनार, मीरजापुर, उ0प्र0

सारांश

पत्रकारिता एवं साहित्य का स्वरुप आरंभ से अब तक की स्थिति में बदली हुयी है। पत्रकारिता और साहित्य का विशिष्ट सम्बन्ध है अपने आरंम्भिक स्थिति में दोनों ही मूल्यपरक, आदर्शपरक और उद्देश्य परक थीं। मूल्य से तात्पर्य सिद्धान्त और व्यवहार से है। साहित्य का मूल उद्देश्य प्रमुखतः मनोरंजन करना था जो प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन 1936 में प्रेमचन्द के अध्यक्षीय उद्‌बोधन तथा आग्रह से परिवर्तित हुआ, काल्पनिकता ने यथार्थ का रुप लिया, आदर्श, मूल्य, नैतिकता का आग्रह पीछे छूटता चला, गया, साहित्य में कटु सत्य, विशमता, कुरीति, को स्थान दिया गया। पत्रकारिता के क्षेत्र में देखें तो यह एक मिशन के रुप में जानी जाती रही है। स्वाधीनता से पूर्व पत्रकारों ने अपने मिशन के लिये अभूतपूर्व योगदान दिया। त्याग और बलिदान के अनेक मिशाले प्रस्तुत कीं। वे अपने लक्ष्य के प्रति अटल थे। अपने मिशन के लिये, उन्हों ने प्रतिबद्धता, कर्मठता, दृढ़निश्चय, आत्माभिमान, राष्ट्रीयता, एकता और देश के एक सच्चे नागरिक के कर्तव्यों का निर्वहन किया। स्वाधीनता के बाद यह स्थिति बदली है। शोध आलेख में इन्हीं स्थितियों व कारकों को केन्द्र में रखा गया है।

बीज शब्दः साहित्य, उद्देश्य, वैश्वीकरण बाजारीकरण, मूल्य, दायित्व, हस्तक्षेप कृत्रिम भाषा।

प्रस्तावना

किसी भी विधा और किसी भी क्षेत्र में कार्य की प्रतिबद्धता दृढ़ता, कर्म के प्रति सजगता तथा सतत् परिश्रम सदैव आदर्श, मूल्य, संस्कार, नैतिकता, और बचनबद्धता की श्रेष्ठता को प्रतिष्ठापित करती रही हैं। वैचारिक ज्ञान सम्पदा की श्रीवृद्धि, विशिष्ट अप्रतिम संस्कृति की रक्षा, उन्नत राष्ट्रीयता की द्योतक रही है। राष्ट्र वसुधैवकुटुम्बकम, की भावना को प्रमुखता देता रहा है। जिस तरह पूर्व स्वाधीन भारत में सामाजिक राजनीतिक, धर्मिक, सांस्कृतिक संकट के बावजूद मूल्यों को, आदर्शों के कर्णधार अपने त्याग और बलिदान से भारत भूमि को समृद्ध करते रहे हैं, वह स्थिति स्वाधीन भारत में दृष्टिगत नहीं होती। वैश्वीकरण, औद्योगीकरण, पाश्चात्य विचारों का प्रभाव, उपयोगितावादी दृष्टिकोण, स्वार्थपरता ने मूल्यों, आदर्शों और सिद्धान्तों के मायने ही बदल दिये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ के जनता की चित्तवृति का प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृति के परिवर्तन के साथ साहित्य में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[1] निश्चित रुप से यह अवश्यंभावी और अक्षरशः सत्य है। वे आगे कहते हैं- "जनता की चित्तवृति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"[2] बदली हुयी स्थिति साहित्य जगत और पत्रकारिता जगत में भी देखी जा सकती है। साहित्य में ब्रज, अवधी मुख्य रुप से प्रयुक्त हो रही थी। आधुनिक युग में खड़ी बोली को महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान से महत्व मिला। कथ्य और शिल्प में परिवर्तन आया। भाषा के स्तर पर कई बदलाव दृष्टिगत हुये, भाषा में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग भी होने लगा। आधुनिक प्रतीकों का प्रयोग जिसका सबसे बड़ा उदाहरण है। उदाहरण के लिये 'कैक्टस', 'क्रुसेड', 'क्यूब' प्रतीकात्मक प्रयोग देखे गये। नवीन शब्दों के निर्माण से उनके मूल स्वरुप ही विलुप्त हो गये। कविताओं में गद्यात्मकता बढ़ी। विषयगत वैविध्य के साथ आधुनिकीकरण, पाश्चात्यसभ्यता और संस्कृति का प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ। अंतरंगता का अतिरेक भी सामान्य बात हो गयी है आज। वैश्विक परिदृष्य में पत्रकारिता के क्षेत्र में भी बहुत परिवर्तन हुये। सत्य क्या है? इस पर बल देने की बजाय, 'क्या होना चाहिये' पर बल दिया जाने लगा। क्या है अभी, क्या हो जायेगा कुछ कहा नही जा सकता।

हिन्दी पत्रकारिता स्वाधीन भारत के समय में अपने दृढ़ता, आदर्श और मूल मानदण्डों के निर्वहन के लिये जानी जाती थी। उस समय के पत्र-पत्रिकाओं पर स्वामित्व का वर्चस्व अथवा प्रभाव नहीं था। न ही किसी बड़े औद्योगिक घरानों व पूंजीपतियों से था। जो साहित्यकार थे वे पत्रकारिता भी कर रहे थे, उनके ऊपर दोहरी जिम्मेदारी थी, स्वन्त्रता संग्राम में भी उनकी भूमिका महत्वपूर्ण थी, उन्हें जेल भी जाना, पड़ा पत्थर भी खाने पड़े। लेखनी और स्याही के अभाव में भी 'सत्य' जनता तक पहुँचता रहा फिर भी उन्हें पारम्परिक मूल्य, आदर्श और पत्रकारिता के सिद्धान्तों के साथ कभी समझौता नहीं किया। अपनी गम्भीर और चुनौतीपूर्ण दायित्व का निर्वहन ईमानदारी से किया लेकिन वैश्वीकरण के दौर में बाजारीकरण हर क्षेत्र में अपना प्रभाव जमा चुका है।

मीडिया वर्चस्वशाली के अधीन हो चुका है या सस्ती लोकप्रियता हेतु ऐसा क्रियान्वयन किया जा रहा है। प्रश्न यह है कि क्या मीडिया अपनी नैतिकता, अपने मूल्य, विस्मृत कर चुका है? क्या उनका उत्तरदायित्व, जागरुकता, शिक्षा आदि से हट गया है? जो मूल सिद्धान्त हैं उनके या जिस भाव से कार्य होना चाहिए उसका निर्वहन कर रहे हैं। मूलमानदण्डों, आदर्शो और दायित्वों का निर्वहन हो रहा है यदि हम इस पर विचार करते हैं कि मीडिया अपने उत्तरदायित्वों से हट रहा है। पत्रकारिता मिशन से व्यापार की ओर अग्रसर है। विवेक के स्थान पर समाचारों में सनसनी खेज खबरो को स्थान दिया जा रहा है। आज की पत्रकारिता में गंभीरता का अभाव है। रामशरण जोशी कहते हैं-"मिशन और व्यावसायिकता में बुनियादी अन्तर है, मैं मिशनवादी सम्पादकों की श्रेणी में लोकमान्य तिलक, मोहनदास करमचन्द गांधी, जवाहर लाल नेहरु, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गणेश शंकर विद्यार्थी, बाबू विष्णुराव पराड़कर, माधवराव सप्रे, माखन लाल चतुर्वेदी जैसे विभूतियों को रखना पसंद करुंगा।"[3] वे आगे कहते हैं, मिशन का दूसरा नाम है उत्सर्ग या होम करना लेकिन व्यावसायिकता में आसक्ति,

उपलब्धि, प्रतिफल उनकी साहित्य की भीत्ति 'अवैध सम्बन्धों', चारित्रिक दोशों के निरुपण से आगे नहीं बढ़ती। सत्यता के नाम पर नग्न यथार्थ को प्रस्तुत करके सफलता के परचम लहराते आगे बढ़ने में जनता के दु:ख-दर्द की सिसकियाँ कानों को बहरा कर देती है। साहित्य का एक उद्देश्य परहित की भावना भी है, वह कहीं खोज व अनुसंधान का विषय बन गया है।

पत्रकारिता के सिद्धान्त और व्यवहार के बारे में अवलोकन करने पर बहुत सारी बातें ऐसी सामने आती हैं जिससे पत्रकारिता के मानको का उल्लंघन हो रहा है जबकि पत्रकारिता और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परिवर्तित समय में उनकी कार्य प्रणाली, दृष्टिकोण, अर्जित सुविधा और प्रबंधन में बदलाव देखा जा सकता है। स्वतंत्रता से पूर्व पत्रकारिता के क्षेत्र, पत्रिकारिता के मूल्यों और आदर्शों के प्रति समर्पित रहना अभीष्ट था, अब मूल्यों के कोई मायने नहीं है। दैनिक भास्कर के सम्पादक डॉ0 प्रदीप भटनागर कहते हैं- "लेखन, अध्यापन के क्षेत्र में सक्रिय सम्पादक का दायित्व चुनौतीपूर्ण है पेड न्यूज का मुद्दा बहुत तेजी से बढ़ रहा है।"[4] साहित्य का जो एक महान उद्देश्य होता है उस उद्देश्य को साहित्य में पूर्ण होना चाहिये।

आज के समय में मौलिक सृजन एक प्रश्न है जिस को लेकर यह कहा जा सकता है कि आज के विषय वस्तु में पहले जैसी गुणवत्ता, सत्यता नहीं है जैसे कि पहले हुआ करती थी। यह सत्य है परिवेशगत रचनाकार की वास्तविक जमीन होती है, वहीं से उसकी विचारधारा सम्बद्ध होती है। परिवेशगत सत्यता सहित्य को प्रभावित करते हैं और परिवेशगत यथार्थ को केन्द्र में रखकर साहित्य सृजन रचनाकर से अपेक्षित ही नही अनिवार्य है। साहित्य सृजित कर लेने से ही वह अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकते उन्हें निराशा में आशा का संचार, विपथगामी को सन्मार्ग पर लाने का कार्य तथा वर्तमान समस्या के अवलोकन, विश्लेशण तथा भविष्य के लिये सही दिशा निर्देश देने का कार्य करना चाहिये। वर्तमान समय में साहित्य के उद्देश्य का लोप होता जा रहा है फिर भी कहीं न कहीं साहित्य ने अपने मूल्यों का दामन थामे हुये है, या यों कहें कि वैश्विक परिदृष्य में भी भारतीयता की सुगन्ध नयी छौंक के साथ दिखायी देती है तथा कथित साहित्य सृजन जो सस्ती लोकप्रियता और प्रसिद्धि के प्रयोजन के चलते जन मानस के दु:ख दर्दो की अवहेलना करते हुये नजर अंदाज करते है उनपर लगाम कसना आवश्यक है जैसे भाव निहित हैं। पूंजी, श्रम और बुद्धि के नियोजन पर व्यावसायिकता टिकी रहती है। व्यावसायिकता में कबीराई के लिये कोई स्थान नहीं है।"[5]

वर्तमान समय में हिन्दी अखबारों पर दबाव है, भ्रमित, विकृत और भटके हुये पत्रकारों के लिये कदम उठाने की जरुरत है। मीडिया का मुख्य कार्य है कि वह अपने मूल्यों, आदर्शों को न छोड़ें, मूल मानदण्डो के अनुसार कार्य करें। वस्तुनिष्ठ, सकारात्मक व नकारात्मक पक्ष को सामने रखें। वर्तमान समय में जो अन्तर्विरोध है उस पर अंकुश लगाएं। उचित दिशा में कार्य करने के लिये मीडिया को आगे आना होगा। जनता की जागरुक करना, सरकारी नीतियों को जनता तक पहुँचाना, मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। फेक न्यूज, पेड न्यूज, टूटी फूटी, खबरों, सनसनी खवरों से दूर रहना होगा। संस्कृति, सभ्यता, का अध्ययन, अध्यापन आवश्यक है। पुस्तकें और पत्रिकाएं ज्ञान का माध्यम है, इनका सतत् सर्जन साहित्य के उद्देश्य को ध्यान में रखकर होना चाहिए। अध्यापकों का भी कर्तव्य है कि वे सामाजिक विसंगति की दिशा में साहित्य सृजन करें। समसामयिक मुद्दों पर लिख कर समाज में चेतना जागरुकता लाना चाहिए तभी परम्परित मूल्यों आदर्शो को संरक्षित रखा जा सकता है।

"मीडिया और साहित्य दोनों ही के लिये यह एक चुनौती है कि वह अपनी विश्वसनीयता बनाये रखें।" यह एक गंभीर प्रश्न है कि वह अपनी प्रासंगिकता और विश्वसनीयता दोनों कैसे बरकरार रख सकती है"[6] क्योंकि यह वह दौर है जब पूंजीवादी संस्कृति के कारण पत्र तथा पत्रकार उथल-पुथल तथा संक्रमण की स्थिति से गुजर रहे हैं।"[7]

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुल्क
2. मीडिया मिशन से बाजारी करण तक-रामशरण जोशी
3. आधुनिक पत्रकारिता-डॉ0 अर्जुन तिवारी
4. डॉ0 प्रदीप भटनागर का कथन-मीडिया स्टडीज पुनश्चर्या कार्यक्रम में बोले गये वक्तव्य का अंश दिनांक 27.03.2019
5. तद्भव-विशेष अंक-पत्रकारिता: यथार्थ आभास और दु:स्वप्न
6. तद्भव-विशेष अंक-पत्रकारिता: यथार्थ आभास और दु:स्वप्न पृष्ठ 52
7. आधुनिक पत्रकारिता-डॉ0 अर्जुन तिवारी पृष्ठ 312

महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में संचार माध्यमों की प्रभावशीलता का अध्ययन

डॉ० रीना चौरसिया

Ph.D (Ext. Edu.), NET(JRF), Assistant Professor, Deptt. of Home Science,
Mahila PG College Ayodhya

सारांश

महिलायें भारत की आधी आबादी है और देश का महत्वपूर्ण मानवीय संसाधन भी। अतः महिलाओं का स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है। महिलाओं के उपर पूरे परिवार का उत्तरदायित्व होता है। अतः जब वे स्वयं स्वस्थ होगीं तभी एक स्वस्थ परिवार, समाज एवं देश स्वस्थ हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में संचार माध्यमों की प्रभावशीलता का अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन गोरखपुर के खोराबार विकासखण्ड के ग्रामीण क्षेत्रों की 110 महिलाओं पर किया गया। उत्तरदाताओं का चयन यादृच्छिक प्रतिचयन द्वारा किया गया। अध्ययन में पाया गया कि परम्परागत संचार माध्यम के अन्तर्गत अन्तरवैयक्तिक संचार माध्यमों जैसे–पारिवारिक सदस्यों, पड़ोस/रिस्तेदार/मित्र, आशा/आंगनवाड़ी/चिकित्सक आदि की प्रभावशीलता अधिक है। जनसंचार माध्यमों के अन्तर्गत इलेक्ट्रॉनिक माध्यम में टेलीविजन एवं मोबाइल अधिक प्रभावी माध्यम पाये गये। लोक संचार माध्यम, अन्तरसमूह संचार माध्यम एवं छपित संचार माध्यमों की प्रभावशीलता कम पाया गया।

मुख्य शब्दः स्वास्थ्य, संचार माध्यम, प्रभावशीलता।

प्रस्तावना

वर्तमान युग सूचना एवं संचार क्रान्ति का युग है। ग्लोबल विलेज की संकल्पना इन्हीं सूचना क्रान्ति का परिणाम है। स्वास्थ्य के लिए जन शिक्षा और जन जागरूकता के व्यापक प्रचार प्रसार के लिए सूचना एवं संचार माध्यमों का उपयोग किया जा रहा है। स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में परम्परागत और आधुनिक संचार माध्यमों का समान रूप से महत्व है। स्वास्थ्य की दिशा में आशातीत सफलता प्राप्त करने के लिए जहां एक ओर सूचना संचार माध्यमों की व्यापक पहुंच, बोधगम्यता एवं प्रभावशीलता को बढ़ाना होगा, वहीं दूसरी ओर आम नागरिकों, विशेषरूप से ग्रामीण महिलाओं में इन माध्यमों की उपलब्धता, सहज पहुंच और निरन्तर उपयोगिता को भी बढ़ाना होगा। वस्तुतः ग्रामीण महिलायें अनेक कारणों से सूचना, शिक्षा एवं संचार माध्यमों का निरन्तर उपयोग नहीं कर पाती हैं। परिणामतः वे अपने स्वास्थ्य के प्रति समयानुसार अवगत और जागरूक नहीं हो पाती हैं। जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव महिलाओं के स्वयं के स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं और सेवाओं से उनकी सहभागिता पर पड़ता है और वे उन योजनाओं या सेवाओं का समुचित लाभ भी नहीं उठा पाती हैं। इससे स्वास्थ्य योजनाओं की सफलता के साथ-साथ महिलाओं के स्वास्थ्य पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। अतः ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा, समझ और जागरूकता को उत्पन्न करने में विभिन्न संचार माध्यमों की पहुंच और प्रभावशीलता की पड़ताल करना अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। जिससे कि ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं को अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जागरूक बनाने के लिए विभिन्न संचार माध्यमों को अधिक सुलभ, प्रासंगिक, बोधगम्य और प्रभावी बनाया जा सके। सम्भवतः इससे जहां एक ओर स्वास्थ्य योजनाओं और सेवाओं को कारगर और लक्ष्यपरक बनाकर महिलाओं के स्वास्थ्य और पोशण को उन्नत बनाने के क्षेत्र में सफलता प्राप्त की जा सकेगी, वहीं शक्तिशाली राष्ट्र के लिए स्वस्थ और सक्षम मानवीय संसाधन का निर्माण भी किया जा सकता है।

संचार की क्षमता का पूरा अनुभव तभी किया जा सकता है, जब यह प्रभावी रूप में जनसामान्य तक पहुंचे और सक्षम, योग्य एवं संवेदनशील कार्मिक तैयार करें तथा जागरूक नागरिक भी तैयार करें, जो स्वयं कार्य करने हेतु सक्षम हो। ग्रामीण महिलाओं तक स्वास्थ्य के सन्दर्भ में विभिन्न संचार माध्यमों की पहुंच एवं प्रभावशीलता बढ़ाने की चुनौती अभी भी हमारे सामने है।

जागरूकता का संचार माध्यमों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जागरूकता के अभाव में व्यक्ति से किसी प्रकार की सक्रियता की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। किसी भी क्रिया-कलाप में भाग लेने हेतु उसके विभिन्न उपक्रमों व महत्व का समुचित ज्ञान व उसके प्रति रूचि का होना अति आवश्यक है। ग्रामीण जनता में स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के विभिन्न उपाय सरकारी एवं गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा किये जा रहे हैं। उन्हें संचार के विभिन्न माध्यमों जैसे-रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, समाचार पत्र, पत्रिकाओं, बैनर, होर्डिंग, चार्ट, पोस्टर, भित्ति चित्र, कठपुतली, ड्रामा, मेले एवं प्रदर्शनी इत्यादि के माध्यम से उपयोगी एवं आवश्यक जानकारी दी जा रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता बढ़ाने में विभिन्न संचार माध्यमों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

विभिन्न अध्ययनों के द्वारा भी संचार माध्यमों की प्रभावशीलता का पता चलता है। **मोनिका प्रियदर्शनी** ने मुस्लिम समाज पर संचार माध्यमों के प्रभाव सम्बन्धी अपने अध्ययन में पाया कि आधुनिक संचार साधनों का मुस्लिम समाज के रहन-सहन पर प्रभाव पड़ा हैं। **शिखा कपूर** (2012) ने भी अपने अध्ययन में पाया कि दूरदर्शन द्वारा प्रसारित स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण सम्बन्धी टेलीस्पॉट्स का अधिकांश उत्तरदाताओं के ज्ञान, जागरूकता एवं अभिवृत्ति पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। **प्रेमलता राजन** (2014) के "द इम्पैक्ट ऑफ मास कम्यूनिकेशन ऑन न्यूट्रीशन नोलेज, एटीट्यूड एण्ड प्रैक्टीस ऑफ स्लम एण्ड नान-स्लम वोमेन ड्वेलर्स ऑफ कानपुर सिटी" विषयक अध्ययन में पाया कि मलीन बस्ती (स्लम) एवं गैर मलीन बस्ती (नान स्लम) की महिलाओं पर जनसंचार माध्यमों का पोशण के ज्ञान के विकास में गहरा प्रभाव पड़ा। इसी परिपेक्ष्य में प्रस्तुत शोध पत्र में ग्रामीण महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रभावी सूचना, जानकारी प्रदान करने व जागरूकता उत्पन्न करने में विभिन्न संचार माध्यमों की प्रभावशीलता का अध्ययन किया गया है।

उद्देश्य

1. ग्रामीण माहिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में विभिन्न संचार माध्यमों की प्रभावशीलता का अध्ययन।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन के लिए यादृच्छिक प्रतिचयन विधि का प्रयोग किया गया। अध्ययन के लिए उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जनपद के खोराबार विकासखण्ड से 05 गांवों का चयन किया गया। प्रत्येक गांव से 22 परिवारों अर्थात 05 गाँवों से 18-45 आयुवर्ग के कुल 110 ग्रामीण महिलाओं को अध्ययन में सम्मिलित किया गया।

शोध उपकरण

प्रस्तुत अध्ययन में आंकड़ों के संग्रह के लिए शोधार्थिनी द्वारा स्वनिर्मित साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग किया गया।

तथ्यों का विश्लेषण

अध्ययन हेतु संकलित ऑकड़ों को श्रेणीबद्ध एवं व्यवस्थित करके सारणीयन के पष्चात् उनका विष्लेशण किया गया। जिसमें प्रतिशत एवं औसत के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये। प्रस्तुत अध्ययन हेतु संकलित ऑकड़ों का विष्लेशण इस प्रकार है-

सारणी-1: महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में संचार माध्यमों की प्रभावशीलता

क्र0 सं0	संचार माध्यम		प्रभावशीलता	
		प्रभावी संख्या (%)	कम प्रभावी संख्या (%)	अनिश्चित संख्या (%)
1	*परम्परागत संचार माध्यम*			
	अन्तरवैयक्तिक संचार माध्यम	**71 (64.85)**	36 (32.42)	3 (2.73)
	पारिवारिक सदस्य	78 (70.91)	32 (29.09)	0 (0)
	मित्र/रिस्तेदार/पड़ोसी/अन्य	67 (60.91)	43 (39.09)	0 (0)
	क्षेत्रीय स्वास्थ्य कार्यकर्ता/आशा/ आंगनवाड़ी/चिकित्सक	69 (62.73)	32 (29.09)	9 (8.18)
	लोक संचार माध्यम (नुक्कड़ नाटक, सांस्कृतिक लोकदल)	1 (0.91)	1 (0.91)	108 (98.18)
	अन्तर समूह संचार माध्यम (चर्चा मण्डल, गोष्ठी, बैठक)	3 (2.73)	2 (1.82)	105 (95.45)
2	*जनसंचार माध्यम*			
	छपित माध्यम	19 (17.27)	4 (3.64)	87 (79.09)
	समाचार पत्र/पत्रिकायें/पुस्तकें“	34 (30.91)	3 (2.73)	73 (66.36)
	लैशकार्ड/ब्राशचर/पम्पलेट	12 (10.91)	7 (6.36)	91 (82.73)
	चार्ट/पोस्टर/बैनर/होर्डिंग्स	10 (9.09)	3 (2.73)	97 (88.18)
	इलेक्ट्रॉनिक माध्यम	35 (31.82)	15 (15.45)	60 (52.73)
	रेडियो	15 (13.64)	1 (0.91)	94 (85.45)
	टेलीविजन	66 (60)	17 (15.45)	27 (24.55)
	कम्प्यूटर इन्टरनेट सहित	2 (1.82)	0 (0)	108 (98.18)
	टेलीफोन/मोबाइल	56 (50.91)	44 (40.0)	10 (9.09)

सारणी-1 के अवलोकन से स्पष्ट है कि स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में परम्परागत संचार माध्यमों के प्रथम श्रेणी अन्तरवैयक्तिक संचार माध्यमों के प्रथम घटक, पारिवारिक सदस्यों को अधिकांश 70.91% महिलायें स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता बढ़ाने हेतु प्रभावी साधन माना है, जबकि 29.09% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा उक्त माध्यमों की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित महिलाओं की संख्या शून्य थी। द्वितीय घटक मित्र, पडोस, रिस्तेदार को 60.91% महिलाओं ने प्रभावी, 39.09% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा ऐसी महिलायें नगण्य (शून्य) थी जो उक्त माध्यमों के प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं। इसी प्रकार अन्य घटकों क्षेत्रीय स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं, आशा, आंगनवाड़ी व चिकित्सक को 62.73% महिलाओं ने प्रभावी, 29.09% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा 8.18% महिलायें उक्त माध्यमों के प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं।

विभिन्न घटकों के औसत के आधार पर स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में अन्तरवैयक्तिक संचार माध्यमों को अधिकांश 64.85% महिलाओं ने प्रभावी, 32.42% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा 2.73% महिलायें उक्त माध्यमों की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं।

परम्परागत संचार माध्यमों के द्वितीय श्रेणी, लोक संचार माध्यम को 0.91% महिलाओं ने प्रभावी, 0.91% महिलाओं ने कम प्रभावी माना जबकि अधिकांशत: 98.18% महिलायें उक्त माध्यमों के प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं। इसी प्रकार परम्परागत संचार माध्यमों के तृतीय श्रेणी, अन्तर समूह संचार माध्यम को 2.73% महिलाओं ने प्रभावी, 1.82% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा अधिकांश 95.45% महिलायें उक्त माध्यमों की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं।

जनसंचार माध्यम के प्रथम श्रेणी, छपित संचार माध्यम के प्रथम घटक समाचार पत्र, पत्रिकाओं को 30.91% महिलाओं ने प्रभावी व 2.73% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा 66.36% महिलायें उक्त माध्यमों की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं। छपित संचार माध्यम के द्वितीय घटक "लैशकार्ड, ब्राश्चर, पम्फ्लेट को मात्र 10.91% महिलाओं ने प्रभावी व 6.36% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा अधिकांश 82.73% महिलायें उक्त माध्यमों की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं। छपित संचार माध्यम के तृतीय घटक चार्ट, पोस्टर, बैनर, होर्डिग्स को मात्र 9.09% महिलाओं ने प्रभावी व 2.73% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा अधिकांश 88.18% महिलायें उक्त माध्यमों की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं।

जनसंचार माध्यम के प्रथम श्रेणी, छपित माध्यमों के विभिन्न घटकों के औसत के आधार पर महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में छपित माध्यमों को मात्र 17.27% महिलाओं ने प्रभावी, 3.64% महिलाओं ने कम प्रभावी माना जबकि अधिकांश 79.09% महिलायें उक्त माध्यमों की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं।

इसी प्रकार महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता उत्पन्न करने में जनसंचार माध्यम के इलेक्ट्रानिक माध्यम के प्रथम घटक रेडियो को 13.64% महिलाओं ने प्रभावी व 0.91% महिलाओं ने कम प्रभावी माना जबकि अधिकांश 85.45% महिलायें उक्त माध्यम की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के द्वितीय घटक टेलीविजन को 60% महिलाओं ने प्रभावी व 15.45% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा 24.55% महिलायें उक्त माध्यम की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं।

इलेक्ट्रानिक माध्यम के तृतीय घटक कम्प्यूटर व इन्टरनेट को 1.82% महिलाओं ने प्रभावी व 0% महिलाओं ने कम प्रभावी माना जबकि अधिकांश 98.4% मातायें उक्त माध्यमों के प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थी। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के चतुर्थ घटक टेलीफोन/मोबाइल को 50.91% महिलाओ ने प्रभावी व 40% महिलाओं ने कम प्रभावी माना तथा मात्र 9.09% महिलायें उक्त माध्यमों की प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं।

जनसंचार माध्यम के द्वितीय श्रेणी इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के विभिन्न घटकों के औसत के आधार पर इलेक्ट्रानिक माध्यम को 31.82% महिलाओं ने प्रभावी, 15.45% महिलाओं ने कम प्रभावी माना जबकि 52.73% महिलायें उक्त माध्यमों के प्रभावशीलता के प्रति अनिश्चित थीं।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपरोक्त सारणी में प्रस्तुत तथ्यों से भी स्पष्ट होता है कि परम्परागत संचार माध्यमों में अन्तरवैयक्तिक संचार माध्यमों की प्रभावशीलता सबसे अधिक है। सम्भवत: इसका मुख्य कारण यह है कि यह माध्यम सर्वाधिक महिलाओं तक आसानी से उपलब्ध होता है जिसके कारण वे अन्य माध्यमों की अपेक्षा अन्तरवैयक्तिक के अधिक सम्पर्क में रहती हैं और चूंकि यह संवाद प्रत्यक्ष होता है, के कारण अधिक प्रभावी होते हैं। जनसंचार माध्यमों की अपेक्षा परम्परागत संचार माध्यम तुलनात्मक रूप से अधिक प्रभावशाली पाया गया है। परन्तु परम्परागत संचार माध्यम के अन्तर्गत ही लोक संचार माध्यम एवं अन्तर समूह संचार माध्यम की प्रभावशीलता नगण्य है। जिसका मुख्य कारण है ग्रामीण क्षेत्रों में उनकी उपलब्धता व पहुंच का न होना जिसके कारण महिलाओं को इन माध्यमों से सूचना व जानकारी नहीं मिल पाती है।

इसी प्रकार जनसंचार माध्यम के इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के अन्तर्गत टेलीविजन व मोबाइल फोन की उपलब्धता व पहुंच अधिक होने के कारण उनकी प्रभावशीलता भी अधिक देखी गई है। जबकि छपित माध्यमों जैसे- चार्ट, पोस्टर, पम्पलेट, समाचार पत्र आदि तथा इलेक्ट्रॉनिक माध्यम में रेडियो, कम्प्यूटर इन्टरनेट आदि की प्रभावशीलता कम है। समाचार पत्र-पत्रिका कोटि के संचार माध्यमों का ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं के स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता बढ़ाने में समाचार पत्र, पत्रिकाओं का प्रभाव व योगदान और अधिक बढ़ सकता है, बशर्ते गांवों से निरक्षरता को पूरी तरह समाप्त कर दिया जाये। आधुनिक उन्नत तकनीकों (जैसे- कम्प्यूटर व इन्टरनेट) के उपयोग में भी अज्ञानता, अशिक्षा एवं अल्पशिक्षा एक मुख्य बाधा हैं। हालांकि वर्तमान में आधुनिक जनसंचार माध्यमों की प्रसार व उपयोग बढ़ा है। परन्तु पिछड़े ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी इसकी पहुंच बढ़ाने की आवश्यकता है।

वस्तुत: गांवों में समुचित संचार व्यवस्था एवं सूचना का अभाव है। क्योंकि आधुनिक जनसंचार माध्यम और तकनीक अभी भी ग्रामीण लोगों तक नहीं पहुंच पाये हैं और परम्परागत संचार माध्यमों को लेकर विकास कार्यों में संलग्न एजेंसिया उतनी सक्रिय, प्रशिक्षित और समर्पित नहीं है जितनी वर्तमान में उभरते ज्ञानवान समाज की मांग है। अत: परम्परागत एवं जनसंचार दोनों ही माध्यमों को समुचित समिश्रण के उपयोग से वर्तमान ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता लायी जा सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ

- भारत 2014, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय (भारत सरकार)
- प्रियदर्शनी, मोनिका (2006). मुस्लिम समाज पर संचार माध्यमों का प्रभाव–लखनऊ महानगर के मुस्लिम समुदाय के संदर्भ में एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (पी. एच.डी. थेसिस). समाजशास्त्र विभाग, हे0न0ब0ग0वि0 विद्यालय श्रीनगर (गढ़वाल).
- कपूर, शिखा (2012). ए स्टडी ऑफ हेल्थ एण्ड फैमिली वेलफेयर टेली स्पॉट्स (एबस्ट्रेक्ट ऑफ द पीएच.डी. थेसिस). प्रौढ़ सतत् शिक्षा एवं प्रसार विभाग, जामिया मिलिया इस्लामियां, नई दिल्ली.
- कुरूक्षेत्र, अक्टूबर 2011, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय (भारत सरकार)
- राजन, प्रेमलता (2014). द इम्पैक्ट ऑफ मास कम्यूनिकेशन ऑन न्यूट्रीशन नोलेज, एटीट्यूड एण्ड प्रैक्टीस ऑफ स्लम एण्ड नान-स्लम वूमेन डवेलेर्स ऑफ कानपुर सिटी (पी.एच.डी. थेसिस). फैकल्टी ऑफ होम साइंस, बुन्देलखण्ड यूनिवर्यसिटी, झांसी.
- सरदाना, चंद्रकान्त व मेहता, कृ0शि0 (2004). जनसंचार, कल, आज और कल (प्रथम संस्करण). ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली.
- शा, गीता पुष्प (2011). प्रसार शिक्षा. विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के निर्धारण में तिथि निर्धारण की समस्या

डॉ० सुम्बुला फिरदौस

बी-28, अशोक नगर, पत्रकार कालोनी, इलाहाबाद-211001

सारांश

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में तिथि निर्धारण में इतिहासकारों में विरोधाभास है। आरम्भिक इतिहास में स्रोतो की कमी है एवं घटनाओं का क्रम उनके पूर्व एवं पश्चात् के स्वरूप के आधार पर निश्चित किया जाता था। बौद्ध कालीन भारत, महाकाव्य युग और संगम युग को चुनौती देना शुरू किया गया क्योंकि न ही बौद्ध युग न ही रामायण महाभारत किसी एक काल की घटनाएं है। एक अन्य मतभेद था कि भारतीय उपमहाद्वीप में मुस्लिम राजवंशों का आगमन अलग-अलग समय पर हुआ। भारत में तिथि निर्धारण का प्रारूप कुछ राज्यों जैसे मणिपुर, नागालैण्ड, मिजौरम जैसे राज्यों में निर्धारित करना कठिन है। इतिहास लेखन के प्रत्येक पक्ष में सावधान रहने की आवश्यकता है। यह अनिवार्य है कि किसी घटना का अंकन उसे देशकाल में स्थित करके किया जाए तभी उसका ऐतिहासिक निर्णय होगा। प्राचीन इतिहास लेखन के विकास पीछे अतीत के लोगों के समक्ष जो आवश्यकताऐं रही होगीं उनके विषय में हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। लेखन कला विकास नगरों और राज्यों के उद्‌भव और विकास से जुड़ा मालुम पड़ता है। लिखित इतिहास मानव इतिहास के एक अल्प अवधि का ही इतिहास प्रस्तुत करता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में तिथि निर्धारण की समस्या

भारतीय संस्कृति में चार युगो का वर्णन है- सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलयुग। इनमे सतयुग सबसे बड़ा था। इसके वर्शो के आधी संख्या वाले वर्शो का त्रेता हुआ। त्रेता के आने पर द्वापर एवं उसके पश्चात् कलियुग आ गया। विष्णु पुराण में वशांवलियों में विभिन्न क्षेणियों के आधार पर तीन कालों का विभाजन किया गया इनमें पहला सुदूरकाल जो कि मनु एवं उनसे जुड़े हुए चक्रो से सम्बंधित है। दुसरी क्षेणी में पीढ़ियों से सम्बंधित काल पर आधारित है और अन्त में महाभारत युद्ध के बाद राजवंशों पर आधारित काल राज्य की आरम्भ होता है।[1] रोमिला थापर के अनुसार काल निर्धारण यज्ञ आदि कर्मकाण्डो के प्रभावोत्पादकता से जुड़ा हुआ था। काल सम्बंधी गणना के लिये पंचागों का प्रयोग किया गया। भारतीय विद्धानों ने मनु के धर्मशास्त्र को काल की भारतीय आवधारणाओं को समझने के लिए अन्वेशणात्मक टेक्सट के तौर पर किया। धीरे-धीरे इस सूची में अन्य ग्रन्थ जुड़ गए।

भारत में कई नामचीन इतिहासकार विद्वान और ज्ञाता हुए है जिन्होंने अपने विचार ऐतिहासिक कालानुक्रमानुसार प्रस्तुत किये है। जो कि उनके नीति विचार और भावनाओं से ओत प्रोत भा गया है। विदेशी इतिहास विदो ने भी अवलोकनार्थ अध्ययन करके विविध तथ्यों को उजागर किया है। जिसमें वैचारिक एकरूपता नहीं आ पाई है। इस प्रकार की परिस्थितियों में कालक्रम तिथियों सम्बंधी विवादों में एक औसत सर्वमान्य मत मानकर तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं।

विशुद्धानन्द पाठक के अनुसार तिथियों का प्रयोग सर्वप्रथम विक्रम संवत् के प्रारंभ के साथ 57 ई0 पूर्व में शुरू हुआ एक दुसरा संवत् था शक संवत् जिसे 78 ई0 में शककुशाण शासक कनिश्क प्रथम ने प्रारम्भ किया किन्तु इन दोनो से पहले प्रारम्भ होने वाले संवत् का नाम था कलिसवत् जिसकी गणना महाभारत युद्ध के बाद परीक्षित के (अर्जुन के पौत्र) के राज्याभिशेक वर्ष से आरम्भ हुई। यदि अभिलेखिक दृष्टि से देखा जाए तो अशोक प्रथम शासक था जिसने अपने अभिलेखों में विभिन्न कार्यो की गणना अपने राज्याभिशेक वर्ष की संख्याओं के आधार पर प्रस्तुत किया। उड़ीसा के हाथी गुम्फा अभिलेख में और सौराष्ट्र स्थित जूनागढ़ क्षेत्र के गिरनार से प्राप्त अभिलेख इस गणना को आरम्भ किये जाने के उत्तर भारतीय उदाहरण है। सातवी शताब्दी के बाद से ऐतिहासिक काव्य लिखे जाने लगे। उनके लेखन का उद्देश्य ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करना था। घटनाओं का क्रम उनके पूर्व एवं पश्चात् के स्वरूपों के आधार पर निश्चित किया जाता था। इस अवधारणा के फलस्वरूप तिथियों वर्शो के क्रम का महत्व नही रह जाता था।[3]

विष्णु पुराण में पीढ़ियों की सूची मनुष्य के वंशजों से शुरू होती है जिन्हें आरम्भिक क्षत्रियों का वंशज बताया गया है। वंशावलियों के रूप में वृत्तातों का निर्माण पुराणों से जाकर होता है। धर्म शास्त्रों, पुराणों एवं महाभारत आदि में वर्णित कालसम्बंधी आदिकालीन भारतीय अवधारणाओं ने आरंभ से ही विद्धानों को मसलन प्रसिद्ध विद्धान अलबरूनी को अपनी ओर आकृषित किया। अलबरूनी ने लोक प्रचलित दृष्टिकोण और खगोलविदों और गणितज्ञों के दृष्टिकोण में अंतर किया।[4]

अठरहवीं शताब्दी के अन्त में रॉयल एशियाटिक सोसायटी के स्थापित किये जाने और भारत की अन्य क्लासिकी परम्परा पर किये गये काम को व्यवस्थिति परम्परा पर किये गए काम को व्यवस्थित तरीके से लिखित रूप में दिये जाने के साथ इन अध्ययन कार्यो में तेजी आ गई। आधुनिक काल में भारतीय इतिहास

का विभाजन जनरल विसेलियस ने किया। भारतीय ऐतिहासिक चिन्तन को प्रभावित करने की दृष्टि से उपयोगिता वादियों में सबसे विशिष्ट नाम जेम्स मिल का है। वह पहला इतिहासकार था जिसने भारतीय इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया। इन तीनों कालों को उसने नाम दिया- हिंदू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और ब्रिटिश सभ्यता।[5]

स्वतंत्रता मिलने के बाद भारतीय अतीत के प्रति हिन्दू भक्तिवादी दृष्टिकोण कायम रही लेकिन काल विभाजन पर बहस शुरू हो गई। यह इसलिये सम्भव हुआ कि सामाजिक आर्थिक प्रक्रियाओं की ओर ध्यान दिया गया। उदाहरण के लिये इन विद्धानों ने बौद्ध कालीन भारत, महाकाव्य युग और संगम काल जैसे प्रवर्गो के प्रयोग की प्रवति को चुनौती देना शुरू किया। इसका कारण यह था कि ना तो बौद्ध ग्रन्थ और ना ही रामायण और ना महाभारत किसी एक काल की घटनाएं है।[6] मिल के द्वारा भारतीय इतिहास के नामकरण में अतिव्याप्ति और व्याप्ति दोनो प्रकार का दोश माना जाता है। प्रथम राजवंशीय इतिहास के आधार पर प्राचीन काल को हिन्दू काल कहना उचित नही है कारण यह है कि कितने बड़े राजवंश युनानी, शक, कुशाण ये जिन्हें इस परिस्थिति में नहीं बैठाया जा सकता है। इन राजवंशों में राजा बौद्ध थे पहले अरबों ने और बाद में औरो ने हिन्दू देश में रहने वाले लोगों के लिये इसका प्रयोग किया। इस काल के विभाजन को स्वीकार करने में बुनियादी सवाल यह उठता0 है कि भारतीय उपमहाद्वीप के अलग-अलग प्रदेशों में मुस्लिम राजवंशों का आगमन अलग-अलग समय पर हुआ। मिल का कालविभाजन राजवंशों पर आधारित है, जो उचित नही है।[7] मिल के कालविभाजन से सम्बन्धित आधारभूत मान्यता खण्डित हो गई इसके साथ यह मान्यता आई कि इस्लाम के आगमन के साथ एवं गुप्तकाल के पतन के बाद माध्यकाल का उद्भव हुआ। मध्यकाल की पृथक विशेषताएं थी जो प्रकार की राजनैतिक क्षेत्र में सामतवाद, आर्थिक क्षेत्र में व्यापार वाणिज्य का पतन, मुद्रा अर्थव्यवस्था का पतन और स्वालम्बी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास, सामाजिक क्षेत्र में उपजातियों का विकास, ब्राह्मणवादी वर्चस्व में वृद्धि, वैश्यों की स्थिति में गिरावट धर्म के क्षेत्र में तन्त्रवाद और भक्ति का उद्भव।

रामधारी सिंह दिनकर ने मत दिया कि भारतीय इतिहास का विभाजन अनेक विकासक्रम में किया जा सकता है। कुशाण राज्य या सल्तनत राज्य या मुगल शासन का इतिहास बिना मध्य एशिया का अध्ययन किये नही जाना जा सकता है इसी प्रकार दक्षिण भारतीय इतिहास के ज्ञान के लिये दक्षिण पूर्वी एशिया के इतिहास को जानना जरूरी है।[8]

जनजीवन में जो भी परिवर्तन हुए वे प्राचीन भारतीय इतिहास के काल विभाजन के आधार पर काम कर सकते हैं। कौशाम्बी मानते है कि सामाजिक आर्थिक और संस्कृति का इतिहास काल विभाजन का तर्कसंगत आधार प्रस्तुत करता है। कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का प्रारम्भ छठीं सदी में गुप्त शासन के अन्त के साथ हुआ। गुप्तोत्तर काल में अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ। इस तरह कृषि दासता एवं सामती कृषि व्यवस्था के उदय के साथ पृष्ठभूमि तैयार हुई। छठी सदी के अन्त में और सातवीं शताब्दी के आरम्भ को एक दुसरे से अलग करने वाला दौर माना जाता है।

;ग्वेद के काल निर्णय का प्रश्न विलक्षण है कि कोई इसे पन्चानवे हजार वर्ष पुराना मानता है तो कोई इसे दो हजार वर्ष पहले का मानता है। लोकमान्य तिलक ने ब्राह्मण ग्रन्थों का रचनाकाल चौसठ हजार वर्ष पूर्व माना था। उनके मत से सारे मन्त्र एक साथ नहीं बने। ऋशियों और वंशधरों ने समय समय पर हजारों वर्शो में मन्त्र बनाए। इस सम्बन्ध में सबसे उत्साहपूर्ण दृष्टिकोण डा0 अविनाश चन्द्रदत्त का है जो ऋग्वेद को पचास से पचहत्तर हजार वर्ष पुराना मानते हैं। जयचन्द विद्यालंकार मानते हैं कि भारत में लेखन का प्रचार ई0पू0 तीन हजार वर्ष में भी था। भारतीय परम्परा के अनुसार कलियुग का आगमन राजा परीक्षित को काल में हुआ। परीक्षित के पिता अभिमन्यु महाभारत युद्ध में मारे गए। इससे चार सौ साल पहले संहिताएं लिखी गई।

रोमिला थापर ने क्षेत्रीय समूहों का विभाजन एक क्रम के क्षेत्रों के आधार पर किया है। केन्द्रीय क्षेत्र जैसे गंगा, रायचूर सौराष्ट्र, असम का सामाजिक राजनैतिक सांस्कृतिक दशा के आधार पर विभाजन किया गया है।[10]

इतिहास के स्रोतो की कमी या साहित्यिक स्रोतो पर अधिकार पर निर्भरता की सीमा है तो आधुनिक भारत के इतिहास में स्रोतो की प्रचुरता है। यह अनिवार्य है कि किसी समस्या या घटना का अंकन उसे देशकाल में स्थित करके किया जाए तभी उसका ऐतिहासिक निर्णय होगा।[11]

यह बात होनी चाहिए कि इतिहास मानव समाज का भी हो सकता है। प्राचीन मध्यकालीन तथा अर्वाचीन इतिहास के निर्धारण का आधार क्या है। कुछ मूल संस्थाएं या उपकरण या कोई ऐसा निर्धारक क्या है जो सभी स्थितियों में लागू हो सके। युरोप का माडल भारत पर लागू नही होता है क्योंकि भारत में प्राचीन काल पॉचवी शताब्दी में और मध्यकाल पन्द्रहवीं शताब्दी में समाप्त नही होता है। भारत का मॉडल कुछ राज्यों जैसे मणिपुर पर लागू नही होता है क्योंकि वहाँ प्राचीन काल सोलहवीं शताब्दी तक चलता दिखाई देता है। नागालैण्ड तथा मिजोरम जैसे राज्यों में यह निर्धारण और कठिन होगा। विभिन्न कालों में अध्ययन की अपनी पूर्ण शर्ते हैं। विशेषताएं है जिनके प्रति सचेत हुए बिना न्याय नही हो सकता है।[12] विश्वविद्यालय के विद्यार्थी लड़ाईयों की तिथि और राजाओं की संख्या और उनकी मृत्यु की तिथि बता सकते हैं। अतीत की घटना और उनकी मृत्यु की तिथि बता सकता है। अतीत की घटना एवं तिथियों की जानकारी से इतिहास और उसका सम्बंध स्थापित हो जाता है।[13]

भारतीय इतिहास लेखन के बदलते हुए दृष्टिकोण की ओर संकेत करने का उद्देश्य प्राचीन इतिहास के लिये किये गए कार्य्रो का मूल्यहीन कहकर अपेक्षित करना वा उनकी विद्वता के महत्व को घटाना नही है। इनके व्याख्या की कमियां इनके युग की कमियाँ थी। इतिहासकार अपने युग का इतना अधिक प्रतिनिधित्व करता है कि यह बात उसकी सोच के बाहर होती है। अपनी कमियों के बावजूद इस अध्ययनों ने भारतीय इतिहास की नींव रखी और उसे एक कालक्रम का ढाँचा प्रदान किया जिसको आधार बनाकर नई व्याख्या प्रस्तुत की गई।[14]

इतिहास में विभिन्न अवधारणाएं है जिनको इतिहासकारों ने अपने अपने ढंग से प्रस्तुत किया, चूंकि हर व्यक्ति हर स्थल पर अपनी सोच एक भावना के दायरे में व्यक्त करता है, इसलिये उनकी अभिव्यक्ति भिन्न है।

भारत के सन्दर्भ में पूर्व इतिहास और इतिहास के बीच सीमा रेखा खींचना कठिन है। हरवंश मुखिया के अनुसार इन तीनों कालों के विभाजन में यह धारणा है कि इतिहास एक अवस्था तक पहुँचता है फिर दुसरी अवस्था में आता है। हम विकास की ओर बढ़ रहे हैं। प्राचीन काल और मध्यकाल की पृथक विशेषताएं है और आधुनिक काल की अलग विशेषताएं है। हर काल की एक अवस्था होती है जो उसे विभाजित करती है। ऐतिहासिक विश्लेशण एक निरंतर प्रक्रिया है इसलिये उन पुराने सिद्धांतो का जारी रहना जिनका महत्व अतीत के प्रमाणों के अभाव के कारण सीमित रहता है मिथक निर्माण का रूप बन जाता है जिसमें ऐतिहासिक व्यवस्था की जगह कोई और उद्देश्य पूरा होता है। कई लोग संदिग्ध प्रमाण का सहरा लेते हैं यहां तक कि मनगढ़ंत प्रमाणों का भी। इस प्रकार के लेखन का उद्देश्य ऐतिहासिक प्रमाणों को इस सीमा तक विकृत कर देता है। अतः ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग सावधानी से किया जाय जो एक पूरे समाज को तबाह कर इन परिस्थितियों में ऐतिहासिक के प्रत्येक पक्ष के वर्णन में इतिहासकार को सावधान रहना होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

01. शेमिला थापर प्र0 41, इतिहास काल और आदिकालीन भारत–ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस–2018
02. वही....
03. विशुद्धानन्द पाठकप्राचीन भारतीय इतिहासलेखन, लखनऊ 2007, पृष्ठ 3, 5
04. रोमिला थापर इतिहास काल और आदिकालीन भारत–आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 3, 37
05. रोमिला थापर इतिहास का पुर्नव्याख्यानई दिल्ली–2016, पृष्ठ 8, 9
06. द्विजेन्द्रनाथ झा प्राचीन भारतनई दिल्ली 1981, पृष्ठ 22
07. विष्णु प्रसाद भारतीय इतिहास में कालक्रम की समस्या
08. रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्यायनई दिल्ली– 1956, पृष्ठ 25
09. रोमिला थापर प्राचीन भारतनई दिल्ली–1981, पृष्ठ 24
10. वही ....
11. लाल बहादुर वर्मा इतिहास क्यों क्या कैसेदिल्ली विश्वविद्यालय–1991, पृ 5
12. वही ....
13. लाल बहादुर वर्मा इतिहास क्यों, क्या कैसेदिल्ली विश्वविद्यालय–1991, पृष्ठ 17
14. रोमिला थापर प्राचीन भारतरोमिला थापर, नई दिल्ली–1981, पृष्ठ 17
15. रोमिला थापर इतिहास की पुर्नव्यवस्था राजकमल प्रकाशन–1991, पृष्ठ 11, 12, 13

स्नातक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन

नरेन्द्र कुमार

(शोधार्थी), शिक्षा संकाय, धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़ (उ0प्र0)

डॉ० अंजना

(एसोसिएट प्रोफेसर), शिक्षा संकाय, धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़

सारांश

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधार्थी द्वारा स्नातक स्तर पर विद्यार्थियों की नोमोफोबिक प्रवृत्ति के संदर्भ में शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन किया गया। प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का अनुसरण किया गया एवं शोधार्थी द्वारा शून्य परिकल्पनाओं 'स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्र व छात्राओं के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है' एवं 'स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्र व छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है' का निर्माण किया गया। प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधार्थी द्वारा डॉ0 भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध वित्तपोषित महाविद्यालयों से स्नातक की द्वितीय वर्ष (विज्ञान वर्ग) के कुल 100 विद्यार्थियों (50 छात्र व 50 छात्रायें) का चयन स्तरीकृत यादृच्छिक न्यादर्श विधि की सहायता से किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में शोधार्थी द्वारा आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए स्वनिर्मित नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति मापनी व विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मापन के लिए गत वर्ष (स्नातक की प्रथम वर्ष) के वार्षिक परिणामों को स्वीकार किया गया है। सांख्यिकीय प्रविधि के अन्तर्गत शोधार्थी द्वारा मध्यमान, मानक विचलन, प्रतिशतांक व टी-परीक्षण का अनुसरण किया गया है। प्रस्तुत शोध अध्ययन में निष्कर्ष के रूप में यह पाया गया कि लिंगभेद के संदर्भ में छात्राओं के मध्य नोमोफोबिक प्रवृत्ति, छात्रों की तुलना में कम पायी गयी एवं जिन विद्यार्थियों के मध्य नोबोफोबिक प्रवृत्ति उच्च स्तरीय पायी गयी। उनकी शैक्षिक उपलब्धि निम्न पायी गयी। जबकि निम्न नोबोफोबिक प्रवृत्ति के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि उच्च पायी गयी। जिससे यह कहा जा सकता है कि नोबोफोबिया का विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

मुख्य शब्द (key words) : नोबोफोबिया, शैक्षिक उपलब्धि एवं लिंगभेद

1.1.0 प्रस्तावना

नोमोफोबिया (Nomophobiaaa) का अर्थ है नो मोबाइल फोबिया (No Mobile Phobia) अर्थात् मोबाइल नहीं होने का डर। यह एक तरह का फोबिया (Phobiaa) है जिसमें व्यक्ति को फोन पास न होने का डर लगता है। उसे हमेशा इस बात का डर लगा रहता है कि कहीं उसका फोन (Phone) उससे दूर न हो जाए। फोन पास न होने पर वह बैचेन हो उठता है और उसे घबराहट होने लगती है। नोमोफोबिया से ग्रसित व्यक्ति को नोमोफोब (Nomophob) कहा जाता है।दुनिया भर में हुए एक सर्वे में 84 फीसदी स्मार्टफोन उपभोक्ताओं ने स्वीकार किया कि वे एक दिन भी अपने फोन के बिना नहीं रह सकते हैं। स्मार्टफोन की इस लत यानि 'नोमोफोबिया' हमारे शरीर के साथ-साथ हमारे दिमागी सेहत को भी प्रभावित करता है।

सामान्य तौर पर देखा जा सकता है कि स्मार्टफोन इस्तेमाल करने वाले अगर
फोन घर पर भूल जाएं तो उन्हें लगता है कि इसके बगैर वो बाहर क्या होगा।

अपनी उपयोगिताओं के अलावा अनजाने में ही लोग मोबाइल फोन की अनुपस्थिति में असहज होने लगते हैं। दुनिया भर में हुए कई शोध से पता चलता है कि यदि कोई लगातार स्मार्टफोन का इस्तेमाल करता है, वह 'नोमोफोबिया' (Nomophobia) बीमारी से पीड़ित हो सकते हैं। इस बीमारी के पीड़ितों की संख्या बढ़ती जा रही है।

आजकल स्मार्टफोन हमारे जीवन का एक अहम् हिस्सा बन गया है और देखा जाए तो यह जरूरी भी है। क्योंकि रोजमर्रा के कामों में स्मार्टफोन हमारी काफी मदद करता है। मनोरंजन से लेकर सूचनाओं का आदान-प्रदान करने और इंटरनेट सह्नफग से लेकर इंटरनेट बैलकग तक हर काम में स्मार्टफोन हमारी मदद करता है। इसलिए यह हमारी जरूरत बन गया है और हम चाहकर भी इसका इस्तेमाल किए बिना नहीं रह सकते।

नोमोफोबिया (Nomophobia) के लक्षण

नोमोफोबिया (Nomophobia) के लक्षणों के संदर्भ में सभी मनोवैज्ञानिक एकमत नहीं हैं। कई मनोवैज्ञानिक इसे नशे की लत से भी ज्यादा खतरनाक मानते हैं वहीं कुछ मनोवैज्ञानिक इसे एक भय और मनोविकार का नाम देते हैं। लेकिन फिर भी कुछ सामान्य लक्षण हैं जिनकी मदद से आप 'नोमोफोबिया' से ग्रसित व्यक्ति की पहचान कर सकते हैं। पूर्व में हुए शोध अध्ययनों के निष्कर्षों के आधार पर नोमोफोबिया के अन्तर्गत विभिन्न लक्षण को पहचाना गया। जैसे-

1. लगातार 5 मिनट भी फोन चेक बिना न रह पाना, 2. फोन की बैटरी खत्म होने पर घबराहट महसूस करना, 3. फोन के बगैर रहने पर बैचेन हो उठना, 4. लरगटोन बजते ही नोटिफिकेशन चेक करने के लिए अधीर हा उठना, 5. इंटरनेट/नेटवर्क कवरेज न होने पर बैचेन हो उठना, 6. फोन के खोने अथवा घर पर छूट जाने का डर एवं 7. लचता, थकान और स्वभाव में चिड़चिड़ापन। अत: प्रस्तुत शोध की इस आधुनिक एवं तकनीकी के युग में वर्तमान शोध अध्ययन की प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए शोधार्थी द्वारा 'स्नातक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की नोमोफोबिक प्रवृत्ति के संदर्भ में शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन' को शोध शीर्षक के रूप में चयनित किया गया है।

1.2.0 अध्ययन के उद्देश्य

1. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्र व छात्राओं के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति का प्रतिशत विश्लेषण करना।
2. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों की नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में उनकी शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन करना।
3. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्राओं की नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में उनकी शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन करना।

1.3.0 अध्ययन की परिकल्पना

1. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।
2. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।

1.4.0 न्यादर्श प्रारूप

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधार्थी द्वारा डॉ0 भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध वित्तपोषित महाविद्यालयों से स्नातक की द्वितीय वर्ष (विज्ञान वर्ग) के कुल 100 विद्यार्थियों

द्ध50 छात्र व 50 छात्रायें) का चयन स्तरीकृत यादृच्छिक न्यादर्श विधि की सहायता से किया गया है।

1.5.0 अध्ययन में प्रयुक्त उपकरण

प्रस्तुत अध्ययन में शोधार्थी द्वारा आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए स्वनिर्मित नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति मापनी व विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मापन के लिए गत वर्ष (स्नातक की प्रथम वर्ष) के वार्षिक परिणामों को स्वीकार किया गया है।

1.6.0 सांख्यिकीय प्रविधियाँ

सांख्यिकीय प्रविधि के अन्तर्गत शोधार्थी द्वारा मध्यमान, मानक विचलन, प्रतिशतांक व टी-परीक्षण का अनुसरण किया गया है।

1.7.0 अध्ययन की उपलब्धियाँ

1.7.1 स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्र व छात्राओं के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति का प्रतिशत विश्लेषण करना।

शोधार्थी द्वारा स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्र व छात्राओं के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति का अध्ययन करने के लिए नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति से सम्बन्धित आँकड़ों को प्रतिशतांक के माध्यम से तीन स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न स्तर) में विभक्त किया गया है। अत: नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न स्तर) के अन्तर्गत छात्र व छात्राओं की संख्या एवं उनके प्रतिशत को निम्नांकित तालिका 01 में दर्शाया गया है।

तालिका 01 स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्र व छात्राओं के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न स्तर) के अन्तर्गत छात्र व छात्राओं की संख्या एवं उनके प्रतिशत

प्रतिशतांक	**नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के स्तर**	**छात्रों का समूह**		**छात्राओं का समूह**		**कुल**	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
P_{75} से ऊपर	**उच्च वर्गीय**	15	30%	12	24%	27	27%
P_{25}&P_{75}	**मध्यम वर्गीय**	23	46%	25	50%	48	48%
P_{25} से नीचे	**निम्न वर्गीय**	12	24%	13	26%	25	25%

उपरोक्त तालिका के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि 30 प्रतिशत छात्रों द्वारा उच्च स्तरीय नोमोफोबिक प्रवृत्ति को व्यक्त किया गया अर्थात् लगभग एक तिहाई छात्र स्मार्ट फोन की लत से ग्रसित पाये गये। जबकि 46 प्रतिशत स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों द्वारा मध्यम स्तरीय नोमोफोबिक प्रवृत्ति को व्यक्त किया गया। इसी प्रकार 24 प्रतिशत छात्रों का समूह ऐसा पाया गया जो नोमोफोबिया से ग्रसित नहीं पाये गये अथवा निम्न स्तरीय नोमोफोबिक प्रवृत्ति पायी गयी।

पुन: तालिका 01 के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि 24 प्रतिशत छात्राओं के मध्य उच्च स्तरीय नोमोफोबिक प्रवृत्ति पायी गयी। जबकि 50 प्रतिशत छात्राओं में मध्यम व 26 प्रतिशत छात्राओं में निम्न स्तरीय नोमोफोबिक प्रवृत्ति पायी गयी। पुन: तालिका के अवलोकन से यह कह सकते है कि संयुक्त रूप से 27 प्रतिशत स्नातक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों द्वारा उच्च नोमोफोबिक प्रवृत्ति व्यक्त की गयी। जबकि 48 प्रतिशत विद्यार्थियों द्वारा मध्यम एवं 25 प्रतिशत विद्यार्थियों द्वारा निम्न स्तरीय नोमोफोबिक प्रवृत्ति प्रदर्शित की गयी। छात्राओं की तुलना में, छात्रों के मध्य नोबोफोबिक प्रवृत्ति उच्च पायी गयी। तालिका 01 में प्रदर्शित प्रतिशत के मानों को निम्न दण्डारेख के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है।

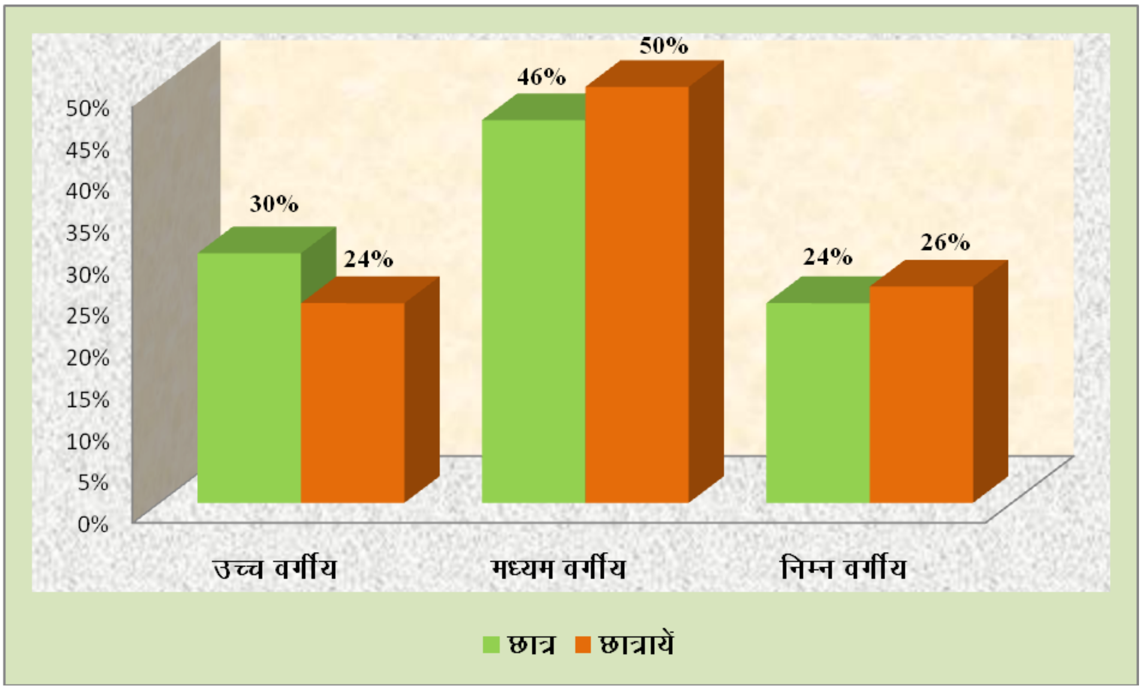

आरेख 01 स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्र व छात्राओं के मध्य नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न स्तर) के अन्तर्गत छात्र व छात्राओं की संख्या एवं उनके प्रतिशत

1.7.2 स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों की नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में उनकी शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन करना।

स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों की नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में उनकी शैक्षिक उपलब्धि करने के लिए शोधार्थी द्वारा नोमोफाबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों के संदर्भ में छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर हेतु टी–परीक्षण के मान की गणना की गयी एवं प्राप्त सांख्यिकीय मानों को तालिका सं. 02 में प्रदर्शित किया गया है।

तालिका 02 : नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों के संदर्भ में छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर की गणना हेतु प्राप्त मध्यमान, मानक विचलन एवं टी-परीक्षण का मान

नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति	संख्या	शैक्षिक उपलब्धि के विश्लेषण हेतु सांख्यिकीय मान		टी'-परीक्षण का मान	सार्थक स्तर
		मध्यमान	मानक विचलन		
उच्च	15	57.11	2.56	**2.64**	0.01 पर सार्थक
मध्यम	23	59.67	3.13		
उच्च	15	57.11	2.56	**2.86**	0.01 पर सार्थक
निम्न	12	60.14	2.95		
मध्यम	23	59.67	3.13	**0.43**	0.05 पर असार्थक
निम्न	12	60.14	2.95		

उपरोक्त तालिका के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान क्रमशः 57.11, 59.67 एवं 60.14 पाया गया व उपरोक्त के लिए मानक विचलन का मान क्रमशः 2.56, 3.13 एवं 2.95 पाया गया। तालिका 02 में प्रदर्शित मध्यमानों से स्पष्ट होता है कि उच्च नोमोफोबिक प्रवृत्ति के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान, मध्यम एवं निम्न नोमोफोबिक प्रवृत्ति के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमान से कम पाया गया है।

नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर की गणना हेतु टी-परीक्षण के मान की गणना की गयी एवं उच्च व मध्यम नोबोफोबिक प्रवृत्ति के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर हेतु टी-परीक्षण का मान 2.64 पाया गया। जोकि 0.01 विश्वसनीय स्तर पर सार्थक है। इसी प्रकार उच्च व निम्न नोबोफोबिक प्रवृत्ति के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य टी-परीक्षण का मान 2.86 पाया गया। जोकि 0.01 विश्वसनीय स्तर पर सार्थक है। पुनः मध्यम एवं निम्न नोबोफोबिक प्रवृत्ति के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर हेतु टी-परीक्षण का मान 0.43 पाया गया जोकि 0.05 विश्वसनीय स्तर पर असार्थक है।

अतः उपरोक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि उच्च नोमोफोबिक प्रवृत्ति के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि निम्न पायी गयी। जबकि निम्न नोमोफोबिक प्रवृत्ति के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि उच्च पायी गयी। तालिका 02 में अंकित मध्यमानों को निम्नांकित आरेख द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

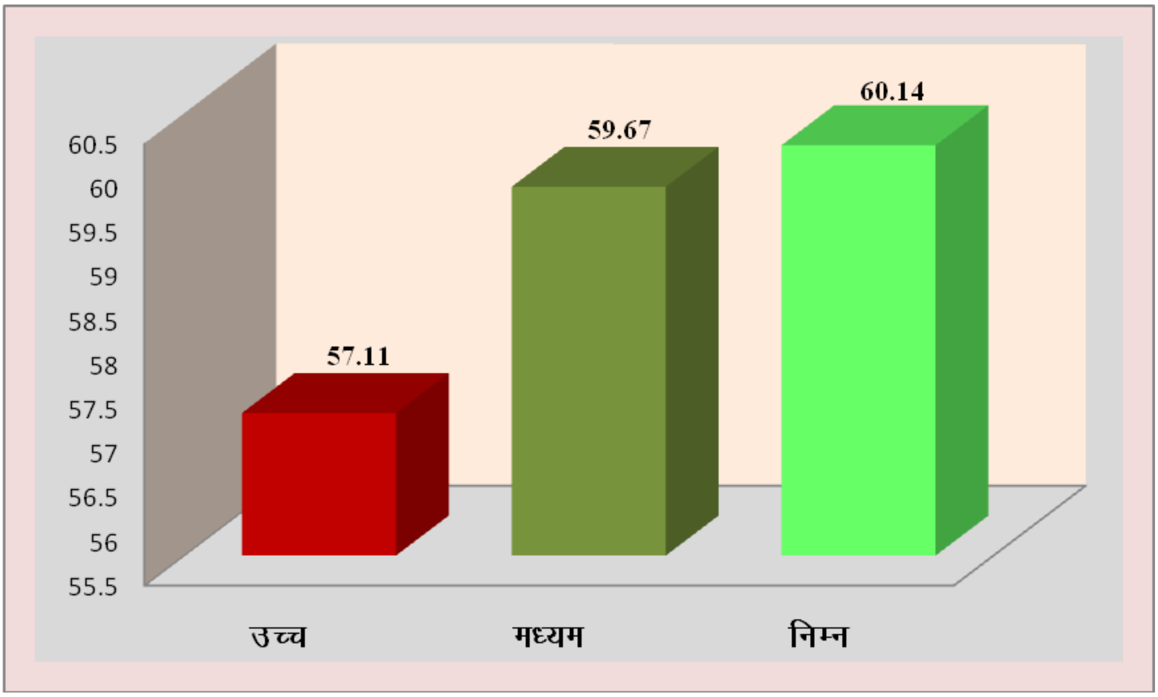

आरेख 02 नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान

1.7.3 स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्राओं की नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में उनकी शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन करना।

स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों की नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के संदर्भ में उनकी शैक्षिक उपलब्धि करने के लिए शोधार्थी द्वारा नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों के संदर्भ में छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर हेतु टी-परीक्षण के मान की गणना की गयी एवं प्राप्त सांख्यिकीय मानों को तालिका सं. 02 में प्रदर्शित किया गया है।

तालिका 03 : नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों के संदर्भ में छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर की गणना हेतु प्राप्त मध्यमान, मानक विचलन एवं टी-परीक्षण का मान

नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति	संख्या	शैक्षिक उपलब्धि के विश्लेषण हेतु सांख्यिकीय मान		टी'-परीक्षण का मान	सार्थक स्तर
		मध्यमान	मानक विचलन		
उच्च	12	56.03	3.17	**1.01**	0.05 पर असार्थक
मध्यम	25	57.23	3.49		
उच्च	12	56.03	3.17	**2.76**	0.01 पर सार्थक
निम्न	13	59.41	2.96		
मध्यम	25	57.23	3.49	**1.91**	0.05 पर असार्थक
निम्न	13	59.41	2.96		

उपरोक्त तालिका के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान क्रमशः 56.03, 57.23 एवं 59.41 पाया गया व उपरोक्त के लिए मानक विचलन का मान क्रमशः 3.17, 3.49 एवं 2.96 पाया गया। तालिका 03 में प्रदर्शित मध्यमानों से स्पष्ट होता है कि उच्च नोमोफोबिक प्रवृत्ति की छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान, मध्यम एवं निम्न नोमोफोबिक प्रवृत्ति की छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमान से कम पाया गया है।

नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर की गणना हेतु टी-परीक्षण के मान की गणना की गयी एवं उच्च व मध्यम नोबोफोबिक प्रवृत्ति की छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर हेतु टी-परीक्षण का मान 1.01 पाया गया। जोकि 0.05 विश्वसनीय स्तर पर असार्थक है। इसी प्रकार उच्च व निम्न नोबोफोबिक प्रवृत्ति की छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य टी-परीक्षण का मान 2.76 पाया गया। जोकि 0.01 विश्वसनीय स्तर पर सार्थक है। पुनः मध्यम एवं निम्न नोबोफोबिक प्रवृत्ति की छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक अन्तर हेतु टी-परीक्षण का मान 1.91 पाया गया जोकि 0.05 विश्वसनीय स्तर पर सार्थक है।

अतः उपरोक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि उच्च नोमोफोबिक प्रवृत्ति की छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि निम्न पायी गयी। जबकि निम्न नोमोफोबिक प्रवृत्ति की छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि उच्च पायी गयी। तालिका 03 में अंकित मध्यमानों को निम्नांकित आरेख द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

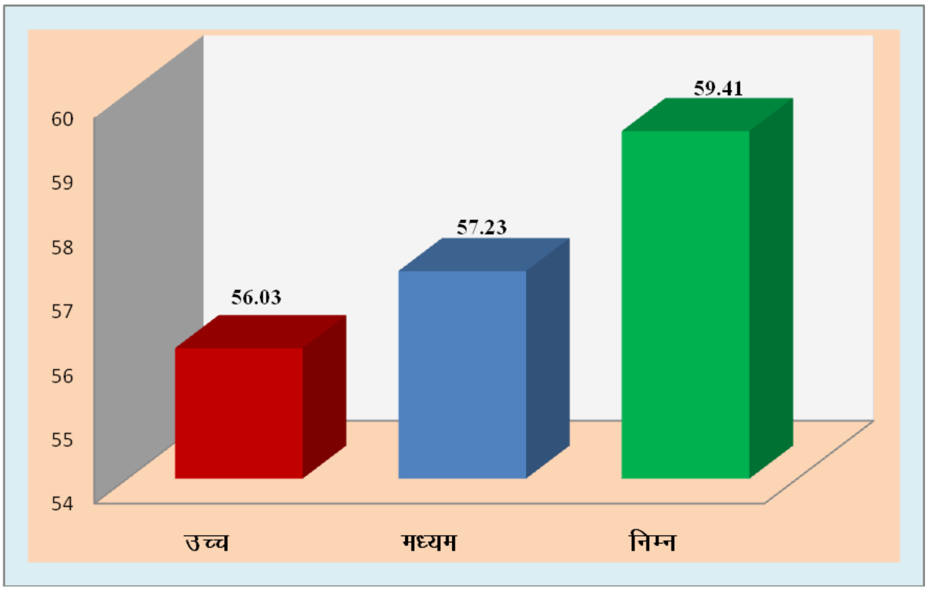

आरेख 02 नोमोफोबिक (Nomophobic) प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के संदर्भ में स्नातक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि का मध्यमान

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध अध्ययन में निष्कर्ष के रूप में यह पाया गया कि छात्राओं में नोमोफोबिक प्रवृत्ति, छात्रों की तुलना में निम्न पायी गयी है। अर्थात् मोबाइल फोन की लत छात्रों के मध्य प्रबल पायी गयी है। कुल न्यादर्श का लगभग एक तिहाई भाग उच्च नोमोफोबिया से ग्रसित पाया गया। जो यह दर्शाता है कि आधुनिक एवं तकनीकी के बढ़ते हुए युग में विद्यार्थियों के मध्य स्मार्ट फोन की लत (नोमोफोबिया) जैसी मनोविकारता तीव्र गति से बढ़ रही है एवं नोमोफोबिया का विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। प्रस्तुत शोध अध्ययन में यह पाया गया है कि जिन विद्यार्थियों में नोमोफोबिक प्रवृत्ति उच्च स्तरीय पायी गयी है उन विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि अपेक्षाकृत कम पायी गयी है। जिससे यह विदित होता है कि शैक्षिक उपलब्धि के लिए नोमोफोबिया एक नकारात्मक कारक के रूप में भूमिका अदा करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Bragazzi NL, Del Puente G. A proposal for including nomophobia in the new DSM- V. Psychol Res Behav Manag. 2014;7:155-60.
- https://www.amarujala.com/technology/nomophobia-kya-hai-mobile-phone-harmful-effects-mobile-phone-addiction-scale
- https://www.medlife.com/blog/nomophobia-mobile-addiction-dangers/
- https://whatis.techtarget.com/definition/nomophobia
- Nomophobia. In: Wikipedia [Internet]. 2019 [cited 2019 Jan 25] Available from: https://en.wikipedia.org/w/index.php?title=Nomophobia and oldid=879839860 .
- Nomophobia | Revolvy [Internet] [cited 2019 Jan 25]. Available from: https://www.revolvy.com/page/Nomophobia .

दिनकर की कविताओं में स्वाधीनता संघर्ष

डॉ० बृजेन्द्र पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, मानव संसाधन विकास केन्द्र, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर का रचना - काल और भारतीय स्वाधीनता संग्राम का उत्कर्श काल दोनों ही सहयोग से भारतीय इतिहास के एक ही काल खंड में है। इसे मणिकांचन सहयोग भी कहा जा सकता है।स्वाधीनता- संग्राम के उच्चावच्य सम-विशम परिस्थितियों ने एक और जहां रामधारी सिंह दिनकर की रचना धर्मिता को उपजीव्य एवं प्रेरणा सौंपी तो दूसरी और दिनकर की उर्जस्वलावाणी में प्रस्फुटित ओजस्वनि रचनाओं ने स्वाधीनता- संग्राम को पैनिधार और अदम्य स्फूर्तिमयी प्रेरणा समर्पित की। दोनों उपक्रम समानांतर चलते रहे। राष्ट्रीय परिस्थितियां जिस उद्दाम वेग से दिनकर के मानस को झकझोरता है उससे प्रबल त्वस-त्वरा के साथ दिनकर उसे कविताबध्द कर डालते और भारतीय जन -चेतना को झकझोर डालते है। आमतौर पर कविता रामणीयार्थ प्रतिपादक' और रसात्मक वाक्य' होती है, लेकिन देश-काल और वातावरण परिस्थितिवश उसे वज्रतुल्य कर्कश और कठोर भी बना देती है।दिनकर की रागात्मिका-वृत्ति के साथ भी ऐसा ही हुआ। जिस गर्जन -तर्जन से दिनकर बचना चाहते थे, उसी गर्जन-तर्जन से उनकी कविता का श्रीगणेश हुआ। इसलिए दिनकर की कविता-दृष्टि को समझने के लिए दिनकर- कालीन परिस्थितियों को समझना अपेक्षित होगा। डॉ. सामदेव सिंह ने एकदम सही लिखा है- "साहित्य अपनी समसामयिक परिस्थितियों से अछूता नहीं रहता। बल्कि कहना चाहिए कि समसामयिक परिस्थितियाँ ही साहित्य-सृजन की प्रेरणा देती है, उचित पृष्ठभूमि तैयार करती है।"[1] दिनकर का रचनाकाल राजनीतिक दृष्टि से गांधी युग में है, किंतु इनकी कविता की अन्तर्दृष्टि गांधीवादी न होकर गरामदलीय चिन्तन से अनुप्राणित है। दिनकर का गाँधी से प्रकटता कोई विरोध तो परिलक्षित नहीं होता, लेकिन कवि की विचारधारा गरमदल वालों से ज्यादा अनुकूल है।डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना लिखते हैं -"उग्र और सौम्य दल दोनों दलों में से कविवर दिनकर पर पहले उग्र दल का ही प्रभाव पड़ा थायजबकि कवि पीछे गांधी जी की सौम्य नीति का भी प्रशंसक हो गया था।"[2] यह तब का प्रसंग है,जब रामधारी सिंह दिनकर दस-बारह साल के थे, अपनी वयरूसंधि में प्रविष्ट भी नहीं हुए थे। अत्यल्प साधन जीवी थे, संभवतरू इसलिए वह जन्ममना कुशाग्र बुद्धि के थे। दुख सबको मांजता है के अनुरूप विलक्षण प्रतिभा मिल ही गई थी। देश भर में राष्ट्रीय चेतना सर्वव्यापी थी। उन्हें राष्ट्रीय विद्यालय में दाखिला भी मिल गया था। पाठड्क्रम में राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित विषय-वस्तु उपलब्ध थी साहित्य- सृजन की उर्वरा शक्ति संबंलित कुछ शिक्षकों की प्रेरणा और वरद-हस्त सुलभ हुआ। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में वंदे-मातरम श्रृंखला के तहत राष्ट्रीयतामूलक कविताएँ प्रचुरता से छपती थी। दिनकर को इन कविताओं की चसक लगी वे इसे कंठाग्र कर अक्सर सुनाया करते थे। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना के बीज उनके अंतर्मन में संचितऔर पूंजीभूत होते जा रहे थे। यह सब चल ही रहा था कि सन 1920 में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के सर्वमान्य, लोकप्रिय नेता महात्मा गांधी का पदार्पण बिहार के चंपारण जैसे पिछड़े ख्रषि प्रधान इलाके में हुआ तो गांधी जी के दुर्लभ दर्शन का सौभाग्य दिनकर जी को मिला। वस्तुत: दिनकर ने राष्ट्रपिता बापू का मेरे कवि जीवन पर प्रभाव' शीर्षक लेख सन 1969 में लिखा था और इसी से विचार व्यक्त किए थे।उस निबंध में उन्होंने प्रारंभिक दौर की एक-दो कविताओं की चर्चा की है,जिसकी पंक्तियाँ कवि के द्वारा ही उद्धृत हैं-

"यह विसम्य बड़ा प्रबल है,
बल को बलहीन रिझाते,
मरने वाले हँसते हैं,
आंसू है बधिक बहाते।"

कवि के अनुसार तीन-चार महीनों तक मैंने सन 1930 के नमक सत्याग्रह में काम किया था और उस आंदोलन पर एक कविता भी लिखी थी,जिसका पद मुझे अब भी याद है।सन 1932- 1933 ईस्वी में जब गांधी जी ने मैकडोनाल्ड-अवार्ड' के खिलाफ अपनी जान की बाजी लगा दी और आमरण अनशन आरंभ कर दिया,तब एक बार फिर मैंने गांधी जी पर एक कविता लिखी जो विशाल-भारत' में छपी थी। लेकिन इसके पूर्व ही रामधारी सिंह दिनकर ने सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा बारदोली सत्याग्रह तथा उसकी पूर्ण सफलता पर भावातिरेक में बारदोली-विजय' नाम से बहुत दिनों तक चर्चित रही दस कविताओं का संग्रह तैयार कर दिया था, जिसे अब निर्विवाद रूप से विजय-संदेश' के रूप में स्वीकृति मिल चुकी है। इस संदर्भ में कुमार विमल का अभिमत द्रष्टव्य है- "युग चेतना ने दिनकर को बहुत अधिक संवेदनशील बना दिया था। कहना तो यह उचित होगा कि युग-चेतना-जन्य संवेदनशीलता उनमें किशोर-काल से ही थी। कहाँ बारदोली और कहाँ दिनकर का गांव सिमरिया घाट।इन दोनों स्थानों के बीच बहुत लंबी दूरी है। इन दिनों तो संचार-माध्यमों और कनेक्टिविटी का विकास भी आज की तरह नहीं हुआ था। किंतु जब सरदार पटेल ने बारदोली सत्याग्रह में विजय प्राप्त की,तब उसके स्पंदनों को सिमरिया गांव के देहाती परिवेश से जुड़े हुए युवा कवि दिनकर ने सुना और उसकी संवर्द्धना में विजय-संदेश' जैसी ओजस्वी ख्रति की रचना कर दी।कवि ने इस काव्य पुस्तक का पद्यबद्ध समर्पण सिमरिया में रक्षाबंधन के दिन लिखा था, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

"जिन सिंहों ने हुंकारों से
जगा दिया निज प्यारा देश।
पहुँचे उन वीरों के कानों तक
मेरा यह पावन संदेश।"[3]

इसी प्रसंग में डॉ. कुमार विमल ने लिखा- "इस पुस्तक में दिनकर की कई प्रारंभिक कविताएँ संकलित है-विजय-संदेश, मातृवंदना, बारदोली वंदना, विजय-गायन, जनसत्ता, बारदोली में अचरज, विजयी पटेल, ललकार, मनमोहन गांधी और अंतिम संदेश।"[4] भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की हर छोटी-बड़ी घटनाओं ने हमारे राष्ट्रकवि के बाल मन को आंदोलित किया था, इसका बड़ा ही सिलसिलेवार तथा सूक्ष्मता से अनुशीलन किया है डॉ. कुमार विमल ने। दिनकर की कुछ रचनाएं अमिताभ के नाम से भी छपा करती थी। सन् 1929-32 के बीच कुछ कविताएं युवक नामक पत्रिका में अमिताभ के छद्म नाम से प्रकाशित हुई थी। असल में उन दिनों अनेक भारतीय साहित्यकार ब्रिटिश सरकार के दमन चक्र से बचने के लिए कई छद्मनामों से लिखते थे। दिनकर को भी यही उक्ति अपनानी पड़ी।उस समय हिंदी साहित्यकार, खासकर राष्ट्रीय भावधारा के कवि दो भिन्न मार्गों का आलम्बन कर साहित्य-सृष्टि कर रहे थे।एक ओर जहाँ कुछ कवि स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेते आए थे,अंग्रेजी हुकूमत का हर हाल में विरोध करते थे और दंड स्वरूप मिली जेल-यंत्रणाएँ झेलते, लाठियां खाते, अन्य प्रकार के सरकारी घात-प्रतिघात के शिकार होते,लेकिन रुकने का नाम नहीं लेते। तो दूसरी ओर रामधारी सिंह दिनकर ब्रिटिश सरकार की नौकरी करते हुए भी सरकार विरोधी भावनाओं को अपनी रचनाओं से उभारने का काम कर रहे थे।राष्ट्रवादी कविताएँ लिखने के कारण रामधारी सिंह दिनकर को अनेक बार अंग्रेज अफसरों की फटकार मिली। अनेक बार उन्होंने ऐसे मामले की लीपा-पोती भी की लेकिन यह दिनकर का ही जीवट था कि आग उगलना नहीं छोड़ा। चार वर्षों में बाईस बार उनका तबादला अंग्रेजी सरकार के द्वारा किया गया।भले दिनकर ने स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय योगदान नहीं किया हो लेकिन उस आंदोलन को वाणी देने के कारण कम यंत्रणा नहीं झेली। बिहार प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन सन 1933 ईस्वी में भागलपुर में हुआ था, जिसमें दिनकर अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय कविता हिमालय पहली बार पढ़ी थी। इसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि वाहवाही और तालियाँ रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। पददलित इसे करना पीछे, पहले ले मेरा सिर उतार' पढ़ते ही जनता उन्मुक्त हो उठी। दिनकर ने जब तू मौन त्यागकर सिंहनाथ' पढ़ा तो डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल ने उठकर दिनकर को गले लगा लिया और इस पूरी कविता को दिनकर से तीन-चार बार पढ़वाया।यह प्रसंग इसलिए उद्धृत करना पड़ा ताकि बताया जा सके कि दिनकर की यह वागस्मिता स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय उपस्थिति से कम है क्या? सन् 1935 ईस्वी में उनकी रेणुका' का प्रकाशन हुआ, इसके प्रकाशन से दिनकर का साहित्यिक व्यक्तित्व स्थिर हो गया। उसे अपार लोकप्रियता मिली लेकिन अंग्रेजों के कान खड़े हो गए। तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर बोस्टेड ने दिनकर को बुलाकर पूछा- रेणुका के लेखक आप है? आपने सरकार विरोधी कविताएँ क्यों लिखी? अनुमति क्यों नहीं ली? दिनकर का तर्क था कि रेणुका की कविताएँ सरकार विरोधी नहीं है। वे देशभक्ति पूर्ण है और देशभक्ति अपराध नहीं है। फिर भी इन्हें चेतावनी देकर छोड़ा गया। हुँकार (1939) के प्रकाशन पर फिर जवाब-तलब हुआ और फिर चेतावनी मिली। सन 1940 में ओ द्विधाग्रस्त शार्दुल बोल' कविता अमिताभ के छद्मनाम से लिखी और लिफाफे पर लिखा -

यह तो दिनकर का सत्य नहीं,
अमिताभ देव का दुष्ट कर्म।'
लेकिन अंततः बात पकड़ में आ गयी।

वारदोली-विजय' तो सीधे तौर से भारतीय-स्वतंत्रता संग्राम के अंग-विशेष से प्रेरित और उद्भूत कविता है। लेकिन दिनकर एवं अन्य समकालीन कवियों की धारणा थी कि व्यक्ति को अस्मिता एवं राष्ट्र की अस्मिता को उद्भूत करके भी राष्ट्र-सेवा की जा सकती है। सच तो यह है कि राष्ट्रीयता केवल स्वाधीनता से जुड़ी भावना नहीं होती। स्वतंत्र राष्ट्र की भी राष्ट्रीयता हुई करती है। इसीलिए दिनकर ने राष्ट्रीयता से जुड़े बुनियादी मुद्दे उठाएं और उनका सजीव चित्रण किया है।जब भारतीय मनीषा प्राणपण से स्वाधीनता के अभियान में निरत थी, तो दिनकर की आँखें अपने इर्द-गिर्द की समस्याओं को देख रही थीं। ख्रषि प्रधान देश भूखमरी के कगार पर था,यत्किंचित आर्थिक संसाधन अंग्रेजों की साम्यवादी वाणिज्य-नीति की भेंट चढ़ रहे थे इसीलिए दिनकर ने किसानों के पक्ष में तथा रोटी, कपड़ा,मकान, दूध,रोशनी और रोजमर्रे की जरूरतों की पूर्ति के लिए आवाज उठाई। दिनकर की कविताओं से उभरे जनाक्रोश ने स्वाधीनता संग्राम को अतुलित पोषण प्रदान किया। दिनकर की कविताओं ने साबित कर दिया कि साहित्य जब चाहे, तख्तापलट कर सकता है। जनशक्ति को उद्भुत कर, जाग्रत कर दिनकर ने अपनी प्रखर राष्ट्रीय चेतना का प्रमाण दिया और इसके लिए उन्होंने राष्ट्र के घटक-जन, भूमि और संस्कृति के बखान को माध्यम बनाया तो बुरा क्या किया? जनार्दन प्रसाद झा द्विज' ने अपनी पुस्तक चरित-रेखा' में लिखा-

> "ऐसे बहुत से पाठक है जो दिनकर की कविताएँ पढ़कर और कुछ कहने की जरूरत नहीं समझते। हिमालय,नयी-दिल्ली,तांडव,दिग्म्बरी,हाहाकार,
>
> विपथगा और अनिल-किरीट ये अपने समय के जनता को अंदर से झकझोरती थी। यही नहीं बल्कि उन्हें सुनकर बड़े-बड़े राष्ट्र नेता सभाओं में फूट-फूटकर रोने लगते थे और बूढ़े भी सभाओं में खड़े हो जाते थे।"[5]

प्रोफेसर कामेश्वर रामेश्वर शर्मा ने अधिक स्पष्टता के साथ उजागर करते हुए लिखा है- "दिनकर की अद्वितीय विशेषता इतिहास को वणी देने में है।यों तो भारतेंदु और गुप्त जी ने भी अपनी राष्ट्रीयता के लिए इतिहास का सहारा लिया है, पर वहाँ इतिहास को आकार मिला है, दिनकर ने उसे जीह्वा प्रदान की है। दिनकर से इतिहास अपनी संपूर्ण वेदनाओं को लेकर बोलता है।"[6]

दिनकर ने दिल्ली शीर्षक से चार कविताएँ लिखी हैं। इसमें अतीत के स्वर्णिम क्षणों की गरिमा का चित्रण और वर्तमान की गर्हित स्थिति और मानसिकता का प्राणवंत आकलन है।

"हमने देखा यही पांडु वीरों का कित्ती-प्रसार
वैभव का सुख-स्वप्न, कला का महा-स्वप्न अभिसार।
यहाँ कभी अपनी रानी थी, तू ऐसे मत भूल।
अकबर-शाहजहां ने जिसका किया स्वयं श्रृंगार।।"

लेकिन दिल्ली का दिल बदल गया है, हालात बदल गए हैं। इसलिए कवि उपालंभ देता है-

"तूँ वैभव मद में इठलाती, परकिया-सी सैन चलाती। री ब्रिटेन की दासी किसको इन आंखों पर ललचाती।"

प्रसंगवश कवि ने स्वाधीनता-सेनानियों के अभियान का सद्योख्रष्ट-जैसा चित्रांकन कर दिया है-

"अपनी गर्दन रेत-रेत असि की तीखी धारों पर
राजहंस बलिदान चढ़ाते माँ के हुँकारो पर।
पगली!देख जरा कैसी मर मिटने की तैयारी?
जादू चलेगा न धुन के पक्के इन बंजारों पर।।"

राष्ट्रकवि दिनकर ने स्वाधीनता-आंदोलन के अनुषांगिक कार्यक्रमों को भी अपनी वाणी दी है। स्वदेशी-आंदोलन जिसमें चरखा-तकली और खादी पर जोर था, भी भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का अभिन्न अंग था, दिनकर की लेखनी उस पर भी चली। जब गांधी जी का ध्यान राजनीतिक गतिविधियों से हटकर सामाजिक क्रिया-कलापों में बंट जाता है तो दिनकर जी को बड़ा आघात पहुँचता है। डॉ. विजेंद्र नारायण सिंह ने लिखा है- "युवावस्था में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए अधीर कवि को लगता है कि गांधीवाद के युधिष्ठिरपन से देश को स्वाधीनता नहीं मिलेगी, वरन स्वाधीनता का मार्ग सशस्त्र संघर्ष का ही मार्ग है, इस कारण हिमालय कविता में उन्होंने कहा है-

" रे रोक युधिष्ठिर को ना यहां
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।"

यह वह समय था जब जवाहरलाल, नरेंद्र देव, जय प्रकाश आदि युवा भारत में और नेताजी सुभाष चंद्र बोस विदेश से हुंकार भर रहे थे तथा साम्यवादी युवा वर्ग भी क्रोधाविष्ट था।भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ा कोई अंग, कोई भी पक्ष शांत नहीं था। भारतवर्ष एक विप्लवकारी अभियान के लिए सन्नद्ध था। करो या मरो'की भावना सर्वत्र व्याप्त रही थी।तभी दिनकर ने भी ललकार-

"गरजते शेर आये, सामने फिर भेड़िये आये।
नखों को तेज,दाँतो को बहुत तीखा किये आये।
मगर पवाह क्या? खड़ा हो जा तू उसको तानकर
छिपी हड्डियों में आग-सी तलवार है साथी।"

जैसे-जैसे दिनकर को आभास होता है कि स्वतंत्रता के क्षण सन्निकट है, वे उत्साह से भरते जाते हैं और स्वतंत्रता सेनानियों की हौसला-अफजाई में प्राण-पण से जुट जाते हैं।उनकी उत्कृष्ट आशा को दर्शाती है, ये पंक्तियाँ-

"वह प्रकाश जो दिख रहा है झील मील दूर नहीं है।
थककर बैठ गये क्या भाई, मंजिल दूर नहीं है।

दिशा दीप्त हो उठी प्राप्तकर पुण्य प्रकाश तुम्हारा लिखा जा चुका अनल-अक्षरों में इतिहास तुम्हारा

जिस मिटी ने लहू पिया, वह फूल खिलाएगी ही
अंबर पर घन बन छायेगा ही उच्छ्वास तुम्हारा
और अधिक ले जांच, देवता इतना क्रूर नहीं है।

थक कर बैठ गए क्या साथी मंजिल दूर नहीं है। 'अपने अपरिमित उत्साह के अतिरेक में दिनकर जी ने जयप्रकाश' शीर्षक वाली एक ऐसी कविता लिख डाली जो तत्काल तो लोकप्रिय हुई, लेकिन दिनकर के भविष्य के लिए कालांतर में भारी पड़ गई सन 1942 का आंदोलन कुचल दिया गया था सारे नेताओं को जेल में ठूंस दिया गया था।

डॉ. कुमार विमल का कहना है कि- विभाजन के पूर्व इस देश में जिन कवियों ने अपनी उग्र और उदग्र वणी में देश की पराधीनता के विरुद्ध क्रांति का आह्वान किया था, उनमें दिनकर के साथ नजरूल के अलावा जोश मलीहाबादी का उलेख किया जाता रहा है।जोश ने खुद एक बार अपने और दिनकर के बारे में कहा था-

“हिन्द में लाजवाब है दोनों, शायरे-इन्कलाब है दोंनों,
देखने में अगरचे जर्रे है, वाकई आफताब है दोनों।’[8]

दिनकर के सहपाठी रह चुके कवि कलक्टर सिंह केसरी’ ने अपने संस्मरण में लिखा है-

> *“दिनकर के शब्द उड़ते हैं मंडलाते हैं। अर्वाचीन हिंदी कवियों में निराला को छोड़कर ऐसी पद-पंखिलता अन्यत्र कहाँ मिलेगी, वह मुझे नहीं मालूम।’*[9]

इस प्रकार दिनकर ने अपनी रचनाओं को वाणी दी। ये कविताएँ अत्यंत आक्रामकता, तीव्र आक्रोश और उत्तेजन से परिपूर्ण होने के कारण स्वतंत्रता सेनानियों का मनोबल बढ़ाने वाली साबित हुई।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

1. सौहार्द, राष्ट्रीय संगोष्ठी, पृष्ठ 13
2. सक्सेना, डॉ. द्वारिका प्रसाद, दिनकर का काव्य, पृष्ठ 10
3. विमल कुमार, अर्धनारीश्वर दिनकर, पृष्ठ 11
4. वही पृष्ठ-12
5. गुप्त, मन्मथनाथ,लोकप्रिय कवि दिनकर, पृष्ठ 11
6. शर्मा, प्रोफेसर कामेश्वर, दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि, पृष्ठ 21
7. सिंह, डॉ. विजेंद्र नारायण, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 62
8. विमल कुमार, अर्धनारीश्वर दिनकर, पृष्ठ 32
9. केसरी, कलक्टर सिंह, मेरा सहपाठी राष्ट्रकवि पृष्ठ 83

डॉ० सिग्मंड फ्रायड के मूल प्रवृत्ति सिद्धांत का भारतीय परिप्रेक्ष्य में आलोचनात्मक अध्ययन

डॉ० सरिता शर्मा

Reader in CTE, Ex-Head, Department of Education, Ex-Dean Edu. IASE Deemed to be University, Gandhi Vidhya Mandir, Sardarshahar, Churu (Raj.)

रवीश कुमार

Research Scholar (Ph.D. Education), IASE Deemed to be University, Gandhi Vidhya Mandir, Sardarshahar, Churu (Raj.)

शोध सारांश

फ्रायड ने मनुष्य के सभी व्यवहारों के पीछे कारण मूल प्रवृत्ति को ही बताया है। फ्रायड के अनुसार मूल प्रवृत्तियाँ जैविक क्रियाओं की मानसिक रूप हैं तथा उनका स्थान मानसिक और भौतिक तथ्यों के बीच का है। "प्रवृत्तियाँ शारीरिक उत्तेजनाओं से उत्पन्न होती हैं।" जैसे – भूख, प्यास, आकर्षण, अनुराग, काम प्रवृत्ति इत्यादि। "काम प्रवृत्ति को फ्रायड ने मुख्य प्रवृत्ति माना है तथा उसे "लिबिडो" का नाम दिया है। फ्रायड का मानना था कि काम प्रवृत्ति से संबंधित बहुत सी स्वतंत्र वृत्तियाँ हैं जिनमें कुछ मानसिक तथा कुछ शारीरिक है जो समयानुसार दब जाती हैं और कुछ ऐसी हैं जो उभर आती हैं। फ्रायड का विचार था कि काम प्रवृत्ति में निहित उद्देश्य स्व-रक्षण (Self&Preservation) भी होता है। जब यह माना जायेगा कि कामुकता ही मनुष्य की प्रकृति की प्रेरणा और उत्साह उभारने के लिए आवश्यक है और यही मूल प्रवृत्ति है तो फिर उसकी पूर्ति के लिए मनुष्य जहाँ-तहाँ भटकने और झंझट बढ़ाने की क्यों सोचेगा परिवार में जो स्त्रियां रहती हैं जिन पर खरचा किया जाता है उन्हीं से इसकी तृप्ति का काम क्यों न चला लिया जाय? लेकिन ऐसा किसी भी सभ्य समाज में सम्भव नहीं दीखता। जिससे यह ज्ञात होता है कि मर्यादा, करुणा, दया, प्रेम, स्नेह, दायित्व जैसी भी प्रवृत्तियाँ मनुष्य के मूल में स्थित हैं जो उसे पशुओं से भिन्न बनाती हैं। डॉ. सिग्मंड फ्रायड का यह सिद्धांत उथला और उनकी तात्कालिक परिस्थितियों या अनुभवों की अभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं है। भारतीय ऋषि-मनीषी मानवी मूल प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में गहन और व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं जो मानव और मनोविज्ञान के लिए व्यावहारिक और सुलभ मार्ग प्रदत्त करते हैं। फ्रायड का मनोविज्ञान केवल दृश्य जगत के पहलुओं को छू कर लौट आया है उसने जैसे मनुष्य उस समय विचरण करते देखे उनका विश्लेषण करके अपने तथ्य सबके समक्ष प्रतिपादित कर दिए जिसपर चलकर एक शताब्दी का मनुष्य अधोपतन के मार्ग पर अग्रसर हुआ क्योंकि उसे अपनी असीम संभावनाओं के स्थान पर इन काम लिप्साओं और कुछ अधकचरी आदतों को उसकी मूल प्रवृत्तियाँ मानने को बाधित किया गया।

की वर्ड्स : मनोविज्ञान, मूल प्रवृत्ति, भारतीय संस्कृति, व्यक्तित्व, डॉ. सिग्मंड फ्रायड।

शोध पत्र

विश्व आज जिस दोराहे पर खड़ा है वहाँ से उसकी दो ही गति हैं। एक ओर तो यह संभावना दिखती है कि जिस प्रकार आज विश्व में एक देश दूसरे देश पर, एक समाज दूसरे समाज पर तथा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर आधिपत्य जमाकर अपने स्वार्थो को विस्तार देना चाहता है उससे कहीं विश्व का जनमानस पुनः तीसरे विश्व युद्ध की विभीषिका को साकार होता न देखे। दूसरी संभावना यह है कि विश्व के सभी देश, समाज और व्यक्ति अपनी निजी स्वार्थगत आकांक्षाओं को पीछे करने का साहस दिखाते हुए सर्वहित और जनकल्याण के सिद्धांतों को अपनाकर इस विश्व को स्वर्गीय वातावरण से ओत प्रोत करने में अपना योगदान देने लग जाएं। दोनों ही परिस्थितियों के पीछे जो तत्व मुख्य भूमिका में हैं वह है व्यक्ति और उनके समूह से मिलकर बना समाज। जिस मनोभूमि के व्यक्तियों की संख्या अधिक होगी वैसा ही वातावरण निर्मित होगा। प्राचीन काल में इसके असंख्य उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। एक महत्वपूर्ण घटना द्वितीय विश्वयुद्ध की की भी है, जिसमें देखते-देखते विश्व की जानी-मानी महाशक्तियों ने नवोदित शक्ति जर्मनी-सत्ता के समक्ष घुटने टेक दिए। विश्वयुद्ध पोलेंड में भेजे गए जर्मन सैनिकों द्वारा छल से प्रारंभ किये गए एक छोटे से छापामार आक्रमण से शुरू हुआ। लेकिन सारे विश्व ने कुछ ही दिनों में सुना कि 'ग्रेट ब्रिटेन' के बाद विश्व की सबसे बड़ी शक्ति माने जाना वाला राष्ट्र फ्रांस बिना किसी प्रतिरोध के आत्मसमर्पण कर रहा है। यूनाइटेड किंगडम के बाद फ्रांस ही था जिसके उपनिवेश सुदूर पूर्व में दक्षिण एशिया से उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका तक फैले हुए थे। नेपोलियन जिस देश में पैदा हुआ – जहाँ की राज्य क्राँति ने विश्व की राजनीति को एक नया मोड़ दे दिया था, उनका ऐसा बुरा हाल देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक ही था।

विद्वानों ने इसका निष्कर्ष निकाला तो पाया कि असंयम ने तो देश की जनशक्ति को खोखला बनाया और भोग प्रधान उच्श्रृंखल जीवनक्रम ने राष्ट्र को छुंछ बनाकर रख दिया। शराब की कोई कमी नहीं थी, जो राष्ट्र सारे विश्व की तीन चौथाई महंगी शराब की पूर्ति करता हो, वह स्वयं कैसे उससे बचा रहता। नैतिक मर्यादाएँ भंग हो जाने से जर्मनी को फ्रांस को पराजित करने में कोई संघर्ष नहीं करना पड़ा। असल में भोग-विलास में डूबे फ्रांस को शत्रु ने पराजित नहीं किया बल्कि स्वयं उसने अपने को निर्बल बनाकर आक्रांताओं को निमंत्रण दे दिया। भारतीय संस्कृति का युगों-युगों से यह शिक्षण रहा है कि मनुष्य यदि अदूरदर्शी क्षरण को रोक सके तो उस बचत से इतना भंडार जमा हो सकता है जिसके बलबूते पर मनुष्य विपुल विभूतियों का अधिपति बन सकता है। कहा भी गया है “वीर भोग्या वसुंधराष। मर्यादाओं का व्यतिरेक और उपयोग का असंयम ही समर्थों की समर्थता को दुर्गतिग्रस्त बना देता है। पिछली शताब्दी के अनेक मनोवैज्ञानिकों के दिये हुए प्रत्यय इन उच्च श्रृंखलाओं को बल देने में मुख्य रूप से कारगर हुए हैं। उन्होंने मनुष्य के पतन के लिए जिम्मेदार इन वृत्तियों को मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ बतलाकर प्रदर्शित किया जिससे मनुष्य के पास इनसे तालमेल बिठाने के सिवा कोई चारा ही नहीं रहा। मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तक डॉ. सिग्मंड फ्रायड ने भी ऐसी ही मूल प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त किया है।

डॉ. सिग्मंड फ्रायड का मूल प्रवृत्ति सिद्धांत

फ्रायड ने सभी व्यवहारों के पीछे कारण मूल प्रवृत्ति को ही बताया है। फ्रायड के अनुसार मूल प्रवृत्तियाँ जैविक क्रियाओं की मानसिक रूप हैं तथा उनका स्थान मानसिक और भौतिक तथ्यों के बीच का है। “प्रवृत्तियाँ शारीरिक उत्तेजनाओं से उत्पन्न होती हैं।” जैसे - भूख, प्यास, आकर्षण, अनुराग, काम प्रवृत्ति इत्यादि। “काम प्रवृत्ति को फ्रायड ने मुख्य प्रवृत्ति माना है तथा उसे “लिबिडो” का नाम दिया है। फ्रायड का मानना था कि काम प्रवृत्ति से संबंधित बहुत सी स्वतंत्र वृत्तियाँ हैं जिनमें कुछ मानसिक तथा कुछ शारीरिक है जो समयानुसार दब जाती हैं और कुछ ऐसी हैं जो उभर आती हैं। फ्रायड का विचार था कि काम प्रवृत्ति में निहित उद्देश्य स्व-रक्षण (Self&Preservation) भी होता है। फ्रायड ने सभी प्रकार की प्रवृत्ति को दो भागों में बाँटा है जिसमें काम प्रवृत्ति को जीवन प्रवृत्ति (Eros) तथा दूसरी घृणा प्रवृत्ति को मरण प्रवृत्ति (Thanatos) कहा है। फ्रायड के अनुसार इन दोनों मूल प्रवृत्तियों का वास इड में होता है। इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर फ्रायड ने मानव जीवन के विकास में निम्न मनोविज्ञानिक अवस्थाओं की व्याख्या की है।

डॉ. सिग्मंड फ्रायड ने जीवन का आधार मूल प्रवृत्तियों को बताते हुए कहा है कि काम प्रवृत्ति शिशु में जन्मजात विद्यमान होती है और उसका मुख्य उद्देश्य आनंद की प्राप्ति होता है। जन्म लेते ही शिशु माँ के स्तनों की खोज करता है इससे उसे आहार प्राप्त होता है और आनंद की भी प्राप्ति होती है। यह अवस्था उसने जन्म से लगभग 1 साल तक की आयु तक रहती है ऐसा बताया है। जबकि भारतीय ऋषियों ने इसके पीछे दूसरा कारण बताया है शिशु माँ से नाभि से जुड़ा रहता है और नाभि कमल से ही उसकी उत्त्पति आरम्भ होती है। जब शिशु का जन्म होता है तब नाभि से उसे काट कर अलग कर दिया जाता है जिससे शिशु का माँ से जो जुड़ाव था वो अचानक टूटता है जिस कारण शिशु उसी जुड़ाव को स्तन से जुड़कर पुन: प्राप्त करता है। इसके पीछे कोई वासना नहीं बल्कि भावनात्मक जुड़ाव कारण होता है। जैसे केवल मनुष्य ही नहीं बंदरिया, गाय और अन्य जानवर के बच्चे भी भागकर माँ से लिपटते देखे जा सकते हैं। फ्रायड ने व्यक्तित्व के विकास को “मनोलैंगिक विकास” की संज्ञा दी है तथा इसकी अवस्थाओं को पाँच चरणों में विभाजित किया है जो निम्न प्रकार से हैं -

मुखावस्था Oral Stage : मनोलैंगिक विकास की यह पहली अवस्था है। यह व्यक्ति के जन्म से लेकर लगभग 1 साल की आयु तक रहती है। फ्रायड के अनुसार इस चरण में बालक का व्यामुकता क्षेत्र मुख होता है अर्थात- मुँह के माध्यम से वह कामुक क्रियायें करता है। जैसे - चूसना, निगलना, जबड़े या दाँत निकल आने पर दबाना, काटना इत्यादि।

गुदावस्था Anal Stage : व्यक्तित्व विकास की यह दूसरी अवस्था 2 से 3 वर्ष की आयु के बीच होती है। इस अवस्था में व्यक्ति का कामुकता क्षेत्र गुदा होता है। इस उम्र में बच्चे को मल-मूत्र त्यागने में उसकी आंतें कामुक क्रियाओं का आनंद प्रदान करती है।

लिंग प्रधानावस्था Phallic Stage : यह व्यक्तित्व विकास की तीसरी अवस्था है, 4 से 5 साल की उम्र के बीच की अवस्था है। इसमें कामुकता का मुख्य स्थान जननेन्द्रिय होते हैं।

अव्यवक्तावस्था Latency Stage : यह अवस्था 6 से 7 साल की उम्र से आरंभ होकर 12 वर्ष की आयु तक बनी रहती है। यह अवस्था ऐसी है जिसमें कोई नया कामुकता क्षेत्र पैदा नहीं होता है बल्कि लैंगिक इच्छाएं सुप्त होकर अपनी अभिव्यक्ति बहुत सी अलैंगिक क्रियाओं के माध्यम से करती हैं। जैसे अभिनय करना, चित्र बनाना, डांस करना, खेलना आदि।

जननेन्द्रियावस्था Genital Stage : मनोलैंगिक विकास के इस चरण में किशोरावस्था एवं प्रौढ़ावस्था या वयस्यावास्था दोनों को ही शामिल किया गया है। यह 13 वर्ष की उम्र से प्रारंभ होती है और निरन्तर चलती ही रहती है। फ्रायड के अनुसार इस अवस्था में व्यक्ति के शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इनमें हार्मोन्स में परिवर्तन होना और इसके अनुसार शरीर में किशोरावस्था के बहुत से लक्षण दिखाई देने लग जाते हैं।

फ्रायड के अनुसार इस अवस्था के प्रारंभिक वर्षो में अर्थात् किशोरावस्था में व्यक्ति में अपने ही लिंग के व्यक्तियों के साथ सम्पर्क बनाये रखने की प्रवृत्ति अधिक होती है। जैसे लड़कियों में लड़कियों के साथ रहने की तथा लड़कों में लड़कों के साथ रहने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। किन्तु जब व्यक्ति किशोरावस्था से वयस्कावस्था में प्रवेश करता है तो उसमें ऐसी प्रवृत्ति विकसित होने लगती है जिसमें वह विपरीत लिंग के व्यक्तियों के साथ उठ-बैठने लगता है, बातचीत करने लगता है तथा समय गुजारने लगता है, इस अवस्था को विषमलिंगी कामुकता की प्रवृत्ति कहा जाता है। यह वो अवस्था है जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व हर दृष्टि से परिपक्व होता है। परन्तु उपरोक्त विवेचन के आधार पर काम वासना को ही मनुष्य के जीवन के आरम्भिक काल का आधार डॉ.

सिग्मंड फ्रायड ने माना जोकि उनके उथले अनुसन्धान से अधिक कुछ नहीं है इसके पीछे ऐसा हो सकता है की फ्रायड के निजी जीवन के अनुभव कुछ उपरोक्त से मिलते जुलते रहे हो। फ्रायड का मनोविज्ञान केवल दृश्य जगत के पहलुओं को छू कर लौट आया है उसने जैसे मनुष्य उस समय विचरण करते देखे उनका विश्लेषण करके अपने तथ्य सबके समक्ष प्रतिपादित कर दिए जिसपर चलकर एक शताब्दी का मनुष्य अधोपतन के मार्ग पर अग्रसर हुआ क्योंकि उसे अपनी असीम संभावनाओं के स्थान पर इन काम लिप्साओं और कुछ अधकचरी आदतों को उसकी मूल प्रवृत्तियाँ मानने को बाधित किया गया।

श्रीराम शर्मा आचार्य अपनी पुस्तक चेतन, अचेतन, सुपर चेतन मन में लिखते हैं कि "इस ब्रह्माण्ड में अविज्ञात शक्तियों की कितनी ही धाराएँ प्रकृति के गर्भ में अभी भी विधमान हैं। आज मनुष्य के हाथ जो सामर्थ्य के महत्वपूर्ण स्त्रोत्र हाथ लगे हैं, वे पिछले समय में काल्पनिक तथा असंभव ही प्रतीत होते थे। बिजली, भाप, चुम्बक, परमाणु ऊर्जा जैसी शक्तियां भी होंगी, ऐसी कल्पना प्रारम्भ में थोड़े से व्यक्तियों को रही होगी जो आज सर्वविदित है। ऐसे ही प्रकृति के जैसे मानवी काया भी अत्यंत रहस्यमय है। शारीरिक जानकारियों का एक बड़ा हिस्सा चिकित्सा जगत की पकड़ में आज आ पाया है, पर वह भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। नित नए प्रयोग और शोध पुरानी सोच को पलट देते हैं। मन तो और भी ज्यादा विलक्षण है। उस क्रियाकलाप, इच्छा-आकांशा एवं व्यक्तियों की विचारणा के रूप में जाप कुछ डीउखी पड़ता है वह गतिविधियों का कारण बनता है। आधुनिक मनोविज्ञान की जानकारी, अध्ययन, विश्लेषण यहीं तक सीमित है। चेतन, अचेतन मन की रचना तथा प्रकृति को समझने तक ही अभी मनोविज्ञान सीमित है छुपा हुआ चमत्कारी सुपर चेतन भी विद्यमान है, जो कि शक्ति और प्रेरणा का केंद्र बिंदु है। यह रहस्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में अभी उजागर होना बाकि है। आधुनिक मनोविज्ञान की मानवी सत्ता को भली-भांति समझने, सन्निहित सामर्थ्यों को करतलगत करने एवं प्रयोग में लाने के लिए एक छलाँग लगानी होगी। मन के अध्ययन के विश्लेषण के सीमित दायरे से निकलकर विस्तृत आत्मा क्षेत्र में प्रविष्ट करना होगा। अन्यथा प्रचलित फ्रायडवादी मनोविज्ञान मनुष्य को मूल प्रवृत्तियों का गुलाम ठहराता रहेगा और उसके आत्म-विकास की संभावनाओं को अवरुद्ध रखेगा।"

भारतीय परिपेक्ष्य में डॉ. सिग्मंड फ्रायड का मूल प्रवृत्ति सिद्धांत एक उथला अन्वेषण

मनुष्य के जीवन में दूसरे प्राणियों की तरह कुछ जन्मजात प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। वे उसके पूर्व के अनुभवों का एवं अभ्यासों का परिणाम है। विकास का क्रम लम्बा होता है और उसे पूर्ण करते-करते बहुत कुछ भूलना और सीखना मनुष्य को पड़ा है। इसी सीखने और भूलने के मंथन से जो कुछ मनुष्य के हाथ आता है उसे ही संचित प्रवृत्तियां कह सकते है। पिछली कुछ शताब्दियों के मनोवैज्ञानिकों ने इन प्रवृत्तियों को असाधारण महत्व दिया और लगभग पत्थरपर खींची अमिट लकीर जैसी मान बैठने की भूल की है। व्यक्ति प्रेरणाओं से प्रेरित होकर रूचि लेते है और कर्म करते हैं, उनके कर्म उनके व्यवहार से और उनके व्यवहार उनके कर्म तथा रुचियों से परिचालित होते हैं। अब हुआ यह कि पिछली कुछ शताब्दियों के डॉ. सिग्मंड फ्रायड और अन्य कुछ मनोवैज्ञानिकों को व्यक्तियों के प्रयवेक्षण से जिन अंत:प्रेरणाओं का पता चला, उन्होंने उन्हें मौलिक प्रवृत्तियां मान लिया और साथ में यह भी कहना और प्रचारित करना आरम्भ कर दिया कि वे अकाट्य हैं। इन्ही के समन्वय से मानवी व्यक्तित्व बना है। इसलिए इन्हे हटाने की अपेक्षा तुष्ट करना चाहिए। इनके इस प्रतिपादन का दुष्परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की स्थिति कठपुतली जैसी मानी गयी और सोचा गया कि जड़ पदार्थो की तरह मनुष्य की प्रकृति को भी बदलना असम्भव है। डॉ. सिग्मंड फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मूल प्रवृत्तियां भी इसी और इशारा करती हैं कि प्राणियों में अपनी इन उत्तेजनाओं से विभिन्न प्रकार की आकांक्षाएँ पैदा होती हैं और उन आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचने और प्रयत्न करने पड़ते हैं। आज की तुलना में कल अच्छी स्थिति प्राप्त करने में अपनी ऊर्जा लगानी और साधन बढ़ाने पड़ते हैं और दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा में उतरना पड़ता है। यह भी कहा जाता है कि यदि इन प्रवृत्तियों के रास्ते में अवरोध खड़े किये जायेंगे तो मानसिक कुंठाएं बढ़ेंगी और उनका शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और उन्नति क्रम में अवरोध होगा। यह प्रतिपादन अगर सही माना गया तो 'सर्वाइवल ऑफ फिटेस्ट' के सिद्धांत को भी सही मानना पड़ेगा जिसमें जंगल के कानून का समर्थन किया गया है। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली प्रवृत्ति मनुष्य और मनुष्यता के लिए कितनी घातक सिद्ध होगी। मध्यकाल के अन्धकारयुग में जिस प्रकार सारे निति-नियम उठाकर ताक पर रख दिए गए थे वह सर्वविदित है। खुली लूट, कत्लेआम, युवा-युवतियों का दास-दासियों के रूप में अपहरण अनेक राज्यों का नियम बना दिया था। उस समय के वृत्तचित्र जब आज सिनेमा के माध्यम से हम देखते हैं तो आज भी दहल जाते हैं। अगर कामुकता प्रकृति की मूल प्रेरणा है तो नैतिकता उस पर समाज में हावी होती क्यों दिखाई पड़ती है। जिस बहिन-बेटी को वर्षो घर में महंगा खर्च करके पालते हैं तो उसके विवाह के लिए जहाँ-तहाँ भटकने, झंझट बढ़ाने की क्या आवश्यकता है? बहिन बेटी का अन्यंत्र विवाह करने की क्या आवश्यकता? लेकिन फिर भी मनुष्य मर्यादा का ही वरण करता है, नीति को ही महत्व देता दिखाई देता है। कितना भी बुरा मनुष्य हो तब भी वह अपनी बहिन-बेटी और माँ के प्रति मर्यादाओं से आबद्ध रहता जो अन्यंत्र उसमें नहीं दिखती हैं। मूल प्रवृत्तियाँ यदि वही हैं जिन्हे फ्रायड प्रतिपादित करते हैं तो उनके साथ भारतीय संस्कृति द्वारा प्रतिपादित यह तथ्य भी हमें समझना चाहिए कि वह प्रगति-क्रम में मिली आ रही कुछ पुरानी आदतों से ज्यादा कुछ नहीं। आदतों की जड़ें यों तो होती तो गहरी है पर समयानुरूप वे बदलती भी रहती हैं। बचपन से लेकर यौवन काल तक पहुंचने में अनेकों आदतों में परिवर्तन हो जाता है। बच्चा एक ऊर्जा से ओतप्रोत है वह ऊर्जा उसे पड़े रहने की तुलना में खड़े होने या घूमने की इच्छा से माता-पिता की गोदी में चढ़ने का संकेत करने को प्रेरित करती है। दो-तीन वर्ष का होते ही उसकी आदत बदल जाती है तथा वह अपने पैरों पर चलने लगता है। इसी प्रकार असमर्थ रहने तक दूसरों का सहयोग पाकर काम चलने की प्रवृत्ति भी हट जाती है। बड़े होने पर बच्चा समय और स्थान की अनुकूलता होने पर ही मल मूत्र त्याग करता है। मूल प्रवृत्तियाँ भले ही कितनी गहरी हों तथा मनुष्य के अंत:करण में प्रेरणा उत्पन्न करने में उनकी मुख्य भूमिका भी हो तब ऐसा नहीं है कि उन्हें अपरिवर्तनीय कहा जाय।

भारतीय नैतिक सिद्धांत कहते हैं कि मूल प्रेरणा में सुविधा-संवर्धन, गौरव-संपादन, कामोपभोग जैसे तथ्य जुड़े हो सकते हैं पर वे इतने प्रबल नहीं कि नैतिक कर्तव्यों के साथ विग्रह खड़े करें या अनुशासन की सर्वथा उपेक्षा करने लगें। गत शताब्दियों में फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिकों ने लगता है ऊपरी अन्वेषणों

में संतोष कर लिया या लगता है ओछे स्तर के, नैतिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों को अपने अन्वेषण का निमित्त कारण चुना हो। यह भी हो सकता है कि शोधकाल की वर्तमान स्थिति को ही सब कुछ मान बैठने का भ्रम रहा हो। यदि ऐसा न होता तो उन्हें मूल प्रवृत्तियों में कुछ और ऐसी बातें भी मिल सकती थीं जो आदर्शवादी आदतों की पुष्टि करती और बताती कि वे भी अवसर पाते ही प्रकट और प्रखर हो सकती हैं। माँ का संतान के प्रति और संतान का माँ के प्रति जो भाव भरा अनुदान उभर के आता है उसे कहीं सीखने और सीखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और न ही उसके लिए कोई दबाब डालना पड़ता है। वह सबकुछ भीतर से ही उभरकर आता है। पीड़ितों के प्रति करुणा का, देश के प्रति प्राणों के बलिदान का, ईश्वर के प्रति वैराग्य की जो उमंगें अंतराल में उठती हैं उन्हें भी किसी मूल प्रवृति का कारण होना चाहिए। प्रवृत्तियों के विश्लेषण में जो निष्कर्ष निकले हैं, वे एकतरफा और एक ही परिस्थिति वालों को सामने रखकर तैयार किये गए प्रतीत होते हैं। अन्यथा आदर्शवादी जीवनयापन करने वालों की उच्चस्तरीय आदतों को भी शोध-क्षेत्र में डॉ. सिग्मंड फ्रायड ने शामिल किया होता और देखा गया होता कि जिन्हे आधारभूत प्रेरणा माना जा है, वे शाश्वत नहीं बल्कि परिस्थितिजन्य हैं। जब प्राणी के सामने कोई मृत्युतुल्य संकट सामने आता है तो वह भाग खड़ा होता है तब सैनिक क्यों निरंतर मौत से खिलवाड़ करने में रास लेता है और शत्रु के समक्ष डटा रहता है। वर्तमान में भी कोरोना जैसी मृत्युतुल्य बीमारी के सामने अनेक चिकित्सक भाग खड़े होने के स्थान पर हंस कर मृत्यु से खेल रहे हैं। नीति-निष्ठां थोपी हुई कोई वस्तु नहीं है बल्कि वह मानवी अंतराल में छुपी एक मूल प्रवृत्ति है। काम प्रवृत्ति यदि जन्मजात है और माता का स्तनपान करने में भी उसी कारण आनंद मिलता है तो समर्थ होने पर संतान अपनी माता के साथ रमण करने में उत्सुकता क्यों प्रकट नहीं करती? ऐसे कुछ प्रश्न फ्रायड की सूझ बुझ से शायद बाहर ही बने रहे होंगे। डॉ. कैनन अपनी पुस्तक 'इन विसिबिल इन्फ्लुएंसेस' में लिखते हैं कि "भारत हमको मनोविज्ञान एवं मन की क्रियाओं के सम्बन्ध में फ्रायड, एडलर तथा पश्चिमी विचारकों से कहीं अधिक ज्ञान दे सकता है। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि शाश्वत ज्ञान अनुभूतियों पर अवलम्बित होता है। भारतीय मनीषियों ने शरीर ही नहीं मन एवं बुद्धि से परे जाकर आत्मा के क्षेत्र में गहन मंथन किया। ध्यान की गहन अनुभूतियों में अनुभव किया कि शरीर एवं मन से भी समर्थ सत्ता आत्मा के रूप में मनुष्य के भीतर ही विद्यमान है, जिसके पतन अथवा विकास पर प्रगति अवलम्बित है। "समय आ गया है मनोविज्ञान के क्षेत्र में डॉ. सिग्मंड फ्रॉयड की अधूरी और अप्रासंगिक खोजों से आगे बढ़कर अनुसन्धान किये जाए जिससे भारतीय संस्कृति के ऋषियों द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान जो कि आत्मा का विज्ञान होने के साथ मानव व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू और प्रवृत्ति से भिज्ञ है जनमानस के समक्ष प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया जाय जिससे लाभ उठाकर संसार को एक सुन्दर उपवन में बदला जा सके जहाँ सभी प्राणी मिलजुलकर प्रेम से जीवनयापन कर सकें।

भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रवृत्तियों का शोधन-परिशोधन असम्भव नहीं

भारतीय ऋषितंत्र आरम्भ से ही मनोविज्ञान को 'आत्मा का विज्ञान' कहता आया और उसी को दृष्टिगत रखते हुए ऐसे शाश्वत सूत्र विकसित किये जो मानव जीवन को उसके उच्चतम स्तर को पाने में सहायता कर सकें। जहाँ तक मानवी मूल प्रवृत्तियों या वृत्तियों का सम्बन्ध है भारतीय मनीषा ने योग और वेदांत के बल पर इनके सकारात्मक पक्षों को जाग्रत करने तथा पतन के कारणों को नष्ट करने के लिए अनेक विधाएँ प्रस्तुत की जो केवल पुस्तकीय नहीं वरन सफलतापूर्वक जाँची और परखी हुई थीं। महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों के लिए सूत्र दिया 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात पतंजलि ने योग को 'चित्त वृत्ति निरोध' कहा है। इसका मतलब है कि अगर आप योग द्वारा मन की चंचलता या गतिविधियों को स्थिर कर सकते हैं, तो आप आंनद शांति को प्राप्त कर सकते हैं। चित्त 'अचेतन मन' को ही कहते हैं शरीर की स्वसंचालित क्रियाएँ भी अचेतन मन (चित्त) के आधार पर चलती है क्योंकि सामान्य चेतन तो विचार करने में ही लगा रहता है। मनुष्य का स्वभाव और व्यक्तित्व मध्यवर्ती अचेतन के अनुरूप ही ढलता है। मनोवैज्ञानिक परिभाषों के आधार पर हम पाते हैं कि चेतन (कल्पना और बुद्धि), अचेतन (आदतों और शरीर की स्वसंचालित क्रियाओं का तारतम्य), सुपर चेतन (भावनाओं और सूझ-बूझ का केंद्र) अपने-अपने काम करते रहते हैं और इन तीनों की सामर्थ्य से मनुष्य की गतिविधियों का सूत्र सञ्चालन होता है। ऋषियों ने इसी आधार पर सूत्र दिए हैं जिससे इन पाशविक वृत्तियों से छुटकारा पाया जा सकता है और ये स्थाई नहीं हैं जिससे अनिवार्य रूप से मनुष्य को तालमेल बिठाना पड़े जैसा फ्रायड अपने सिद्धांत में कहते हैं। चित्तवृत्ति को दो रूपों में समझा या देखा जा सकता है - एक तो अस्थिर चंचलता, दूसरे पाशविक कुसंस्कारों की ओर रुझान। इन दोनों ही अवांछनीयताओं पर काबू करने के लिए चित्त वृत्ति निरोध की योग साधना ऋषियों ने आवश्यक बताई है। फ्रायड से हजारों वर्षो पूर्व ही मनुष्य की वृत्तियों को समझकर उसका स्वरूप तथा समाधान भारतीय ऋषि संसार के समक्ष रख चुके थे लेकिन अपने को श्रेष्ठ तथा उपनिवेशवाद, पूंजीवाद जैसे अहंकारों के कारण सत्य को अपनाने की कला संसार से विलुप्त होती गई तथा अपना है तो सच्चा है का प्रचलन चल पड़ा जिससे अंत:करण के रहस्य जो वर्षों पहले भारतीय मनीषा ने सुलझा दिए थे उन्हें फिर से पाश्चात्य कथित विद्वानों ने उलझा दिया और इसका ही परिणाम है कि आज भी संसार अशांति से ग्रसित है क्यूंकि संसार की प्रथम कड़ी मनुष्य का अंत:करण अनसुलझा है। आज ये पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मानने लगे हैं कि जो यह जान पा रहे हैं वह वही है जो भारतीय ऋषि हजारों वर्षों पहले जान गए थे।

पॉल ब्रंटन ने अपनी पुस्तक विजडम ऑफ दी ओवरसेल्फ में लिखा है कि "भारत के पास उसके आध्यात्मिक ज्ञान की प्राचीन बातें हैं जिसकी गहराई और विस्तार की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। वैज्ञानिक क्षेत्रों में अब जो नई खोजें होती जा रही हैं, वे प्राचीन भारतीय खोजों का ही समर्थन करती देखी जाती हैं। भारतीय ऋषियों-मनीषियों ने जो कुछ भी लिखा अथवा उद्घोष किया वह सब मन:शास्त्र को भी दिशा देने में समर्थ है। "अगणित सामर्थ्यों का स्त्रोत्र मनुष्य की सत्ता में मौजूद है उन्हें जानने-समझने के लिए प्रचलित मनोविज्ञान से आगे बढ़कर योग मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। जो न केवल मनुष्य की मूल सत्ता की सर्वांग जानकारी देगा वरन उसके सर्वांगीण विकास का मार्ग भी प्रशस्त करेगा। मन की अल्प जानकारियों तक सीमित रहने वाले, आधुनिक मनोविज्ञान को जीवन की अनेकानेक समस्याओं का सही समाधान प्रस्तुत करने वाले और व्यक्तित्व परिष्कार का व्यावहारिक मार्गदर्शन करने वाले भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान का पक्षधर बनने की अत्यंत आवश्यकता है।

सन्दर्भ सूची

1. शर्मा, पण्डित श्रीराम (1995) साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान, जनजागरण प्रेस, मथुरा।
2. शर्मा, पण्डित श्रीराम (1995) चेतन अचेतन एवं सुपर चेतन मन, जनजागरण प्रेस, मथुरा।
3. Brunton, Paul (1952) The Wisdom of The OverSelf, Rider and Company, Hutchinson House, London.
4. पाण्डेय, देवी सहाय (2013) पतञ्जलयोगदर्शनम, चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस, 4697/2, गली नं. 21। दरियागंज, नई दिल्ली - 110002।
5. फ्रायड, सिग्मंड (2015) मनोविश्लेषण, राजपाल एंड संस, 1590 मदरसा रोड कश्मीरी गेट, दिल्ली - 110006।
6. Cannon, Alexander (1933) The Invisible Influence, Borderland Sciences Research Foundation P.O.Box 6250, Eureka, CA, USA 95502.
7. Dalal, A.S. (2004) The Yoga of Sleep and Sadhana, Sri Aurobindo Ashram Publication Pondicherry 605002.
8. शर्मा, पण्डित श्रीराम (2016) बुद्धि बढ़ाने की वैज्ञानिक विधि, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।
9. https://www.simplypsychology.org/Sigmund-Freud.html
10. www.awgp.org

पूर्वाञ्चल क्षेत्र के बाल श्रमिकों की शिक्षा : समस्या एवं समाधान के संदर्भ में एक अध्ययन

आलोक कुमार श्रीवास्तव

शोध अध्येता (शिक्षाशास्त्र) वीर बहादुर सिंह पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर (उत्तर प्रदेश)

डॉ० सुधांशु सिन्हा

एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक शिक्षा विभागतिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर (उत्तर प्रदेश)

बाल श्रम की निरंतरता गरीबी घटाने की मंद गति से पूरी तरह संबंधित है। अत्यधिक गरीबी ही बच्चों को श्रम करने को विवश करती है। यह दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है कि आज भी हमारे देश में बाल श्रमिक एक बड़ी विकट समस्या के रूप में खड़ी है। ताजे आँकड़े दर्शाते हैं कि भारत के उत्तर-प्रदेश में एक बड़ी तादाद में बाल श्रमिक हैं। पूरे देश का लगभग 20 प्रतिशत से उपर बाल श्रमिक उत्तर प्रदेश में हैं और लगभग दो तिहाई से अधिक बाल श्रमिक उत्तर प्रदेश के पूर्वाञ्चल क्षेत्र से आते हैं। पूर्वाञ्चल क्षेत्र में बाल श्रमिक ग्रामीण क्षेत्र से अधिक हैं और संगठित क्षेत्र के वनिस्पत असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं। 90 प्रतिशत से भी अधिक बच्चे ग्रामों में कृषि तथा इससे जुड़े कार्यों में लगे हैं। हालाकि ये बच्चे विद्यालय में भी नामांकित हैं और केवल कृषि कार्य के समय ही विद्यालय से अनुपस्थित हो जाते हैं। फिर भी इनके श्रम को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

बच्चे किसी भी राष्ट्र की परिसंपत्ति होती है, क्योंकि वे ही भावी नागरिक होते हैं। किसी भी देश की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि उस देश के बच्चों का पालन-पोशण, शिक्षा तथा उनकी देख-भाल कितनी अच्छी तरह हो रही है। यद्यपि हमारे संविधान में बच्चों के हितों की रक्षा हेतु सुनिश्चित प्रावधान हैं कि उन्हें शिक्षा मिले और उन्हें जीवन-यापन के लिए कार्य करने के लिए मजबूर नहीं किया जाये। किन्तु वंचित क्षेत्रों/समुदायों को अनदेखा करना, संसाधनों की कमी और यह भ्रामक धारणा कि बाल श्रमिक परिवार की आय को बढ़ाते हैं आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जो बाल श्रम करने और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम की असफलता के कारण हैं। भारत के संविधान में 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की संकल्पना है लेकिन विडम्बना यह है कि वास्तव में बड़ी संख्या में बच्चे इस मूल अधिकार से वंचित हैं और दयनीय हालत में कमरतोड़ मजदूरी करने पर विवश हैं। इसका नतीजा यह होता है कि निरक्षरता बढ़ती है जो बाल मजदूरी का अविभाज्य अंग है। बाल श्रम को दूर करने के लिए हमें बुनियादी स्कूली शिक्षा को व्यापक स्तर पर लाना होगा।

बाल श्रम उन्मूलन कोई असंभव कार्य नहीं है। आवश्यकता केवल सही दिशा में उपयुक्त कार्य करने की है। वर्शों से यह दायित्व धीरे-धीरे गैर-सरकारी संगठनों तथा निजी सामाजिक संगठनों पर आ गया है। कोई भी गैर-सरकारी संगठन व्यापक रूप में फैली इस सामाजिक-आर्थिक समस्या से निपटने के लिए पर्याप्त रूप से साधन सम्पन्न नहीं हैं, किन्तु यदि प्रतिष्ठित गैर-सरकारी संगठनों को सभी सरकारी विभाग समर्थन दें तो इसमें काफी हद तक सफलता पाई जा सकती हैं। इसके लिए शिक्षा, केन्द्र और राज्य सरकार की संयुक्त जिम्मेवारी बनती है। पूर्वाञ्चल क्षेत्र में भी कई ऐसे गैर-सरकारी संगठन हैं जो बाल श्रमिकों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। बाल मजदूरी की समस्या को दूर करना गैर-सरकारी संगठनों के लिए असम्भव कार्य नहीं है। यदि सरकारी स्तर पर इनका औचक निरीक्षण, बुनियादी सुविधाएँ तथा सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध करायी जाय तो यह काफी हद तक संभव हो सकता है कि हम बाल श्रमिक उन्मूलन के दिशा में सफलता प्राप्त कर लें। गैर-सरकारी संगठनों के कार्यों को देखते हुए डॉ. लक्ष्मीधर मिश्रा ने कहा कि "यह स्पष्ट है कि समाज के एजेन्ट के रूप में राज्य सरकार लाखों की संख्या में असुरक्षित बच्चों को कोई भी सुरक्षा देने में असफल हुई है जो कि उनके विकास की महत्वपूर्ण अवधि होती है। लेकिन कुछ मुट्ठी भर एनजीओ ने देश के कुछ हिस्सों में अत्यधिक नवप्रवर्तित, लागत प्रभावी और परिणामोन्मुखी कार्यक्रमों की शुरूआत की और जिसके आश्चर्यजनक परिणाम भी निकले, लेकिन क्षेत्र विस्तार (कवरेज) और इसके फैलाव के सम्बन्ध में यह तथ्य शून्य के बराबर है।"

बाल श्रम का मूल कारण है समाज में बाल श्रम के प्रति व्याप्त उपेक्षा। घर-घर छोटे-छोटे बच्चों का काम करना इसका सबूत है। आज समाज का प्रायः हर तबका वयस्कों के समान व किन्हीं परिस्थितियों में उनसे भी ज्यादा काम इन बच्चों से लेना चाहता है। बच्चों से कम वेतन पर अधिक काम लेना, उनसे

गुलामों की भांति व्यवहार करना, मामूली त्रुटियों पर मानसिक व शारीरिक उत्पीड़न आम बात है। अध्ययन से पता चलता है कि चयनित बच्चों को गैर-सरकारी संगठन से पंजीकृत होने के पूर्व कोई संतोशजनक स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध नहीं है। बस घरेलू बाल श्रमिकों पर उनके मालिक कुछ ध्यान देते हैं। इनकी शिक्षा-दीक्षा में किसी भी बाल श्रमिक के मालिकों की कोई रूचि नहीं है। अध्ययन से कुछ तथ्य सामने आये हैं, जो कई बातों की ओर ध्यान आकृष्ट कराते हैं :

- अध्ययन क्षेत्र से चयनित किये गये बाल श्रमिकों के बहुसंख्यक परिवार अनुसूचित जाति, अत्यंत पिछड़ी जाति और मुस्लिम समुदाय के निम्न आय वर्ग वाले हैं जो यह दर्शाता है कि बच्चों द्वारा श्रम करने के पीछे परिवार की दयनीय स्थिति ही जिम्मेवार है।
- इन बच्चों के परिवारों में औसत परिवार के सदस्यों की संख्या अधिक है। मुस्लिम परिवारों का आकार सबसे बड़ा है किन्तु अनुसूचित जाति और अत्यंत पिछड़ी जाति के बच्चों में भी परिवार की सदस्य संख्या औसतन 7-8 के बराबर है।
- अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि मुक्त कराये गये बाल श्रमिकों में अधिकांश प्रवासी हैं और प्रवास का मुख्य कारण गरीबी और बेरोजगारी है।
- इन बच्चों के परिवारों की जीवन दशा अत्यंत खराब है जिसमें किसी के पास शायद ही कोई बुनियादी सुविधा हो। हालाकि कुछ बच्चों के परिवार वालों ने बताया कि उनके स्वंय के मकान हैं किन्तु अधिकांश के मकान टूटे-फुटे ढ़ाँचों पर आधारित है।
- इन परिवारों के कमाई का एक अच्छा भाग भोजन, ईंधन और ऋण पर खर्च होता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, कपड़ा तथा मनोरंजन आदि को कम प्राथमिकता दी जाती है।
- अध्ययन क्षेत्र अर्थात् उत्तर प्रदेश के पूर्वाञ्चल क्षेत्र का साक्षरता दर भी बहुत कम है और महिलाओं की साक्षरता दर पुरुषों से और कम है। जिसके कारण इनमें जागरूकता का अभाव एवं अज्ञानता है।
- अधिकांश बच्चों ने शिक्षा बीच में छोड़ दी तथा पढ़ाई छोड़ने का दर लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में अधिक है। बच्चे वित्तीय समस्याओं और लगातार वर्ग में अनुपस्थित रहने के कारण शिक्षा में अरूचि के कारण पढ़ाई छोड़ देते हैं। हालाकि लड़कियों का विद्यालय में नामांकन अवश्य कराया जाता है किन्तु वे लम्बी अवधि तक अनुपस्थित रहती हैं। कुछ बच्चों ने पलायन, पारिवारिक आय में मदद तथा भाई बहनों की मदद आदि जैसे कारणों को महत्वपूर्ण बताया।
- राष्ट्रीय बाल श्रमिक परियोजना (एन.सी.एल.पी.) के तहत चलाये जाने वाले गैर-सरकारी संगठनों द्वारा विशेष विद्यालयों की संख्या काफी कम है। एक जिला में जितने अधिक विशेष स्कूल होंगे बाल श्रमिकों की संख्या में कमी आयेगी। दूसरी बात इन विद्यालयों में बाल श्रमिकों के लिए सीमित सीटें हैं और बाल श्रमिकों की संख्या इन सीटों के वनस्पित बहुत ही अधिक है।
- एक महत्वपूर्ण बात यह स्पष्ट होती है कि साथी बाल श्रमिक को कार्य करते देख दुसरे बाल श्रमिक इन विद्यालयों में पंजीकृत होने के बावजूद वहाँ से भागने का प्रयास करते हैं।
- एन.सी.एल.पी. द्वारा संचालित गैर-सरकारी संगठनों द्वारा विशेष विद्यालयों में संसाधनों का अभाव है। साथ ही अच्छे प्रशिक्षकों की कमी है और बाल श्रमिकों के प्रति इनका व्यवहार सामान्य है जिस कारण बच्चे शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण की मुख्य धारा से नहीं जुड़ पाते हैं।
- एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन विद्यालयों से निकलने वाले अधिकांश बच्चे पुन: बाल श्रमिक का कार्य करने लगते हैं व अन्य श्रम कार्य में लग जाते हैं शिक्षा से उनका कोई विशेष लगाव नहीं रह जाता है। इसके पीछे सबसे पहला कारण परिवार की दयनीय आर्थिक स्थिति और दूसरा कारण है स्वरोजगार अगर ये करना चाहते हैं तो न इनके पास कोई पूँजी है और न ही मार्केटिंग की व्यवस्था है। सरकार एवं गैर-सरकारी संगठन भी इस दिशा में उदासीन है इसलिए पुनर्वासन सही से नहीं हो पा रहा है। इनकी बात कोई सुनने वाला भी नहीं है।
- इन विशेष विद्यालयों में पंजीकृत बच्चों का कहना है कि जितनी व्यावसायिक प्रशिक्षण योजनाएँ व शैक्षिक गतिविधियाँ हैं, यदि उनका सही से परिचालन हो तो लाभ मिल सकता है। साथ ही कोई वरीय अधिकारी को निरन्तर इन केन्द्रों का दौरा करना पड़ेगा। हालाकि इस दिशा में भी उदासीनता है। साथ ही और अधिक परियोजना केन्द्र बढ़ाने की आवश्यकता है।

अध्ययन के दौरान हमारे कई जनप्रतिनिधि/प्रशासनिक अधिकारी तथा समाज के विभिन्न वर्गों के साथ वार्तालाप से पता चलता है कि बाल श्रम किसी के लिए भी आवश्यकता नहीं है यह निर्धन परिवारों के लिए एक मजबूरी है। ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं है जिसमें बाल श्रम एक अनिवार्य आवश्यकता हो। कुछ राष्ट्रीय स्तर के गैर-सरकारी संगठन हैं जो बाल श्रमिकों के पुनर्वासन हेतु केवल संगोष्ठी व प्रचार-प्रसार करते हैं। इन गैर-सरकारी संगठनों द्वारा बाल-श्रम की असल सच्चाईयों को नजरअंदाज कर विभिन्न संगोष्ठियों-सम्मेलनों द्वारा बाल-श्रम पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने पर जोर दिया जाता रहा है।

अत: स्पष्ट है कि जो भी गैर-सरकारी संगठन बाल श्रमिकों के लिए कार्य कर उन्हें बाल श्रमिकों के साथ कुशल व्यवहार अपनाना होगा और जो बाल श्रमिक व्यावसायिक प्रशिक्षण ले रहे हैं उनके पुनर्वासन हेतु कम-से-कम एक वर्ष तक गैर-सरकारी संगठन को उनके द्वारा किये जाने वाले स्वरोजगार की निगरानी व देख-रेख करना होगा। अर्थात् उन्हें बैंक से ऋण दिलाना, उचित मार्केट की व्यवस्था करनी होगी तभी इसका प्रभाव अन्य बाल श्रमिकों पर भी पड़ेगा। हालाकि अध्ययन क्षेत्र में बाल श्रमिकों का पुनर्वासन हुआ है किन्तु पुनर्वासन दर बहुत ही कम है। साथ ही आवश्यकता है कि सरकारी स्तर पर खानापूर्ति न की जाय बल्कि इसके प्रति थोड़ी तत्परता और निरन्तरता दोनों ही दिखाने की आवश्यकता है। प्रशासनिक अधिकारियों को विशेष विद्यालयों में

पंजीकृत बच्चों से कम-से-कम महीने में दो बार मिलने की आवश्यकता है और इनकी समस्याओं को सुनने की भी आवश्यकता है। साथ ही इन विशेष विद्यालयों में कार्यरत प्रशिक्षकों की गुणवत्ता की भी जाँच समय-समय पर की जानी चाहिए क्योंकि धन बचाने के लिए ये कम पैसे में ही कर्मचारियों को रख लेते हैं तथा एक ही कर्मचारी कई तरह के कार्यों को करते हैं जिसकी निरन्तर जाँच होनी चाहिए। बाल श्रमिकों के शिक्षा एवं पुनर्वासन के लिए कार्यरत गैर-सरकारी संगठन की योजनाएँ बहुत ही लाभकारी है। इनका क्रियान्वयन सही से होगा तभी बाल श्रम से मुक्ति मिल सकती है और सभी बच्चों का शिक्षा के क्षेत्र में भागीदारी होगा। अन्यथा एक तरफ पुनर्वास कार्यक्रम चलता रहेगा और दूसरी तरफ बाल श्रम पैदा होते रहेंगे।

भारत ही नहीं, दुनिया के उन तमाम देशों में जहाँ दरिद्रता, अशिक्षा और बेरोजगारी का साम्राज्य है, बच्चों को श्रम से वंचित करना उनकी जिन्दगी को दुश्वार बनाने तथा उन्हें अपराधें की ओर प्रवृत करने जैसा कृत्य के बराबर है। बाल श्रम समस्या की जड़ वस्तुत: गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी है। यदि इन तीनों पर नियंत्रण पा लिया गया तो समस्या का हल स्वत: निकल जायेगा। इसका ज्वलन्त उदाहरण यह है कि आजकल रिक्शा चलाने वाले व रोड किनारे चप्पल/जुता मरम्मत का कार्य करने वाले भी अपने बच्चों को सरकारी के बजाय निजी स्कूल में भेजना पसंद करते हैं यदि वे उनके विद्यालय के फीस की राशि अपनी जरूरत की सारी खर्चों को पूरा करने के बाद बचा लेते हैं। अर्थात् जब तक गरीबी नहीं मिटेगी, सभी वयस्कों को रोजगार उपलब्ध नहीं होगा तथा शिक्षा के प्रति रूझान नहीं बढ़ेगा और शिक्षा के लिए जागरूकता नहीं फैलाया जाएगा तब तक बाल श्रम उन्मूलन की बात करना व्यर्थ होगा।

बाल श्रम को प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक अपराध के रूप में स्वीकार करना चाहिए लेकिन बाल श्रम उन्मूलन के उन तरीकों का विरोध करना चाहिए जिसमें बाल श्रम रूपी वृक्ष की जड़ काटने के बजाय उसकी पत्तियाँ एवं डालें तोड़ने के प्रयास किये जा रहे हैं। इसके लिए गरीबी हटाने का सफल प्रयास करना होगा, पूर्ण साक्षरता प्राप्त करनी होगी, बूढ़े/अपंग/बीमार व लाचार अभिभावकों को जीवन-यापन की सहायता देनी होगी, जनसंख्या का अनुपात संतुलित करना होगा, शिक्षा की उचित व्यवस्था करके इस सामाजिक अपराध प्रति जाग्रति फैलानी होगी, रोजगारपरक नि:शुल्क शिक्ष की व्यवस्था करनी होगी, इसके लिए सभी संभव उपाय सरकारी स्तर पर करने होंगे तथा समाज का एक-एक व्यक्ति का दायित्व होगा कि बाल श्रम न करायेंगे न कराने देंगे तभी हम इस कुप्रथा को रोक सकते हैं।

सुझाव

बच्चों द्वारा किया जाने वाला कोई भी कार्य उनकी कठिन परिस्थितियों में जीवन निर्वाह करने की प्रवृति को दर्शाता है। हालाकि अधिकांश बच्चे श्रम करना नहीं चाहते हैं, शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं किन्तु परिस्थितिवश उन्हें कार्य करना पड़ता है। अधिकतर बच्चे निम्न जाति/समुदाय के गरीब परिवारों के हैं जहाँ उनके माता-पाता निरक्षर और दयनीय आर्थिक स्थिति में जीवन यापन करते हैं। इस कारण बच्चे स्कूल में दाखिला तो लेते हैं किन्तु अधिक समय तक अनुपस्थित रहते हैं और अंतत: शिक्षा छोड़ देते हैं। परिवार द्वारा बच्चों की शिक्षा को कम प्राथमिकता दी जाती है फलस्वरूप उनकी अज्ञानता और निरक्षरता का लाभ उठाकर कई लोग उनके बच्चों से श्रम करवाने लगते हैं। अध्ययन के आधार पर बाल श्रमिकों की समस्याओं को दूर करने के लिए कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं, जो इस प्रकार हैं :

- बच्चों के अधिकारों के बारे में आम जनता को जागरूकता किया जाना है। बच्चों के अधिकारों यथा शिक्षा आदि पर क्रियान्वयन किया जाना चाहए।
- उन परिवारों जिनके बच्चे बाल श्रम का कार्य करते हैं, की आर्थिक स्थिति में सुधार लाना अधिक महत्वपूर्ण है। विभिन्न विकास और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के तहत आय सृजित करने वाली परिसंपत्तियों के रूप में सहायता देने के प्रावधानों का लाभ इन परिवारों को दिए जाने की आवश्यकता है।
- नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा के साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण से इन बच्चों को बड़े होने पर लाभ हो, इस प्रकार के शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।
- बच्चों से संबंधित मुद्दों खासकर बाल श्रम के क्षेत्र में कार्य करने वाले गैर-सरकारी संगठनों को यह जबावदेही दी जाए उनके क्षेत्र में कोई भी कामगार चाहे वह संगठित क्षेत्र हों या असंगठित क्षेत्र या घरेलू कार्य कराने वाले ही क्यों न हों उन्हें चिन्हित कर स्थानीय प्रशासन से सम्पर्क स्थापित करते हुए बाल श्रमिकों को मुक्त कराकर उन्हें दण्डित कराने में सहयोग करें।
- गैर-सरकारी संगठन द्वारा संचालित सरकार द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय बाल श्रमिक परियोजना के तहत चलने वाले विशेष विद्यालयों के प्रति सकारात्मक रवैये प्रशासन के द्वारा अपनायी जाय तथा उन संस्थानों को विशेष सुविधाओं से लैस किया जाए तभी जाकर बाल श्रमिक वहीं रह पायेंगे और शिक्षा की मुख्य धारा से जुड़ सकेंगे।

यदि हम उपरोक्त सभी सुझावों को अमल करें तो हमें लगता है कि बच्चों के साथ ये बाल श्रम सा दुर्व्यवहार और उनका उत्पीड़न तत्काल समाप्त किया जा सकता है और बच्चों के अधिकार युद्धस्तर पर सुनिश्चित किया जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. छिल्लर, सुशील कुमार एवं मंजूलता; भारत में बाल श्रम, राहुल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 2013.
2. दशोरा, मनोज कुमार; बाल श्रमिक : समस्या एवं समाधान, हिमांशु पब्लिकेशन, उदयपुर, 2006.

3. देवी, एल.; चाइल्ड लेबर : इन्साइक्लोपीडिया ऑफ चाइल्ड एण्ड फैमिली वेलफेयर सीरीज, इंस्टीच्यूट ऑफ सस्टेनेवल डेवलपमेन्ट, अनमोल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1988.
4. भार्गव, प्रमिला एच.; द एलिमिनेशन ऑफ चाइल्ड लेबर : हूज रिस्पांसिबिलिटी, ए प्रैक्टिल वर्क बुक, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2003.
5. वर्मा, अंजना एवं सोमवंशी, रश्मि; भारत में बालश्रम : एक अभिशाप, साहित्य चन्द्रिका प्रकाशन, जयपुर, 2018.
6. शर्मा, सुभाष; भारत में बाल मजदूर, प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली, 2010.
7.
8. मिश्रा, लक्ष्मीधर; भारत में बाल श्रमिक, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ 321.
9. बाल श्रम उन्मूलन तथा किशोर श्रम निशेध एवं विनियमन हेतु राज्य कार्य योजना, श्रम संसाधन विभाग, उत्तर प्रदेश

तख्त श्री केसगढ़ साहिब: ऐतिहासिक प्रसंग

नवजोत सिंह

(खोजार्थी), गुरु नानक अध्ययन विभाग, गुरु नानक देव युनिवर्सिटी, अमृतसर (पंजाब)

सिक्ख धर्म मध्यकाल के दौरान पंजाब में पैदा हुआ एक ऐसा क्रान्तिकारी और इंकलाबी धर्म था जिसने सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक गुलामी की जंजीरों में जकड़े समाज को स्वतन्त्र, निडर तथा भाईचारिक एकता रखने वाली विचारधारा दी। संगत, लंगर, धर्मशाला, मंजी, मसन्द आदि सिक्ख धर्म के पहले दौर की प्रमुख संस्थाऐं थी जिन्होंने सामाजिक भाईचारे की नींव को मजबूत किया। इन संस्थाओं को कार्य जहां धार्मिक था वहीं राजनीतिक भी था। संगत के पिछोकड़ में राजनीतिक विचारधारा क्रियाशील थी जिसका मकसद बिखरी हुई लोक शक्ति को एक आदर्श बनाकर एक जगह एकत्रित करना था। गुरु अर्जुन देव जी की शहादत के पश्चात् गुरु हरगोबिन्द साहिब द्वारा पहले गुरु साहिबान की और से स्थापित राजनीतिक सिद्धांतों को सही रुप में साकार करते हुए श्री अकाल तख्त की स्थापना की। जिसका उद्देश्य दबे-कुचले जा रहे लोगों के सम्मान व हितों की आवाज को बुलंद करना था। अकाल तख्त साहिब सिक्ख धर्म और राजनीतिक हितों के लिए मार्ग से भटक चुके राज प्रबन्ध के विरुद्ध सैनिक संघर्ष का प्रतीक था। इस केन्द्रीय स्थान के अलावा चार और क्षेत्रीय तख्त साहिब स्थापित किए। तख्त श्री हरिमन्दिर साहिब (पटना साहिब) पूर्व की संगत, तख्त श्री केसगढ़ साहिब (आनंदपुर साहिब) पंजाब के पहाड़ी और निचले पहाड़ियों की संगत, तख्त श्री दमदमा साहिब (तलवंडी साबो) दक्षिणी पंजाब और राजपूत इलाके की संगत तथा तख्त श्री हजूर साहिब (नंदेड़) दक्षिण भारत में निवास कर रहे सिक्ख भाईचारे का केन्द्रीय स्थान है। खालसा पंथ के पांच तख्तों की स्थापना अलग-अलग समय पर हुई है, परन्तु पांचों तख्तों के निर्माण का उद्देश्य एक ही था सिक्खों को आत्मिक और राजनीतिक तौर पर मजबूत करना। इस प्रकार चारों तख्त साहिबान खालसा संगठन प्रणाली के क्षेत्रीय और श्री अकाल तख्त साहिब सिक्ख पंथ के केन्द्रीय स्थान है। इस खोज-पत्र में खालसा पंथ के तीसरे तख्त "तख्त श्री केसगढ़ साहिब" के इतिहासिक प्रसंग के विषय में चर्चा की जायेगी।

तख्त श्री केसगढ़ साहिब

तख्त श्री केसगढ़ साहिब खालसा पंथ का बहुत महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक स्थान है, जिसे पंथ का एक तख्त होने का बहुमूल्य स्थान प्रदान किया गया है। यह तख्त श्री आनंदपुर साहिब में स्थित है। आनंदपुर साहिब सतलुज नदी के किनारे तथा हिमालय पर्वत की छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरा खालसा पंथ का धार्मिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक नगर है। गुरु गोबिन्द सिंह ने इस पवित्र धरती पर खालसा पंथ की नींव रखकर अन्याये और जबर जुलम के खिलाफ डटकर पहरा देने की शिक्षा प्रदान की। खालसाई रीति-रिवाज के अनुसार समूह खालसा पंथ आनंदपुर साहिब का निवासी है क्योंकि यह नगर खालसे की जन्म भूमि है।

गुरु तेग बहादुर जी गुरुगद्दी पर विराजमान होने के पश्चात् बाबा बकाले से विभिन्न स्थानों पर सिक्खी का प्रचार प्रसार करते हुए 1665 ई. में कीरतपुर पहुंचे थे। यह नगर छेवें से आठवें गुरु साहिबानों के समय सिक्ख गतिविधियों का केन्द्रीय स्थान था। यह नगर कहिलूल राज्य की सीमां पर स्थित था। गुरु जी का कुछ समय ही अभी निवास करते हुए यहां व्यतीत हुआ ही था कि बिलासपुर की रानी चंपा देवी ने राजा दलीप चंद की अन्तिम रस्मों में शामिल होने के लिए उन्हें निमंत्रण भेजा। गुरु साहिब परिवार सहित बिलासपुर गए और कुछ दिन वहीं पर ठहरे। रानी चंपा देवी को जब पता चला कि गुरु साहिब कीरतपुर को छोड़कर कहीं ओर जाना चाहते हैं तो रानी चंपा ने माता नानकी से कहा कि वह कीरतपुर छोड़कर न जाएं बल्कि उनकी रियासत में जहां चाहें जमीन लेकर नयां नगर स्थापित कर लें। 'गुरु कीयां साखियां' अनुसार रानी ने सरोद माखोवाल नगर की जमीन गुरु साहिब को नगर बसाने के लिए भेंट की। गुरु साहिब ने 21 हाड संवत 1722 को नए नगर की स्थापना की नींव रखी।[1] जिसको बाद में आनंदपुर साहिब का नाम दिया गया।

नगर की स्थापना करने के पश्चात् गुरु साहिब ने भिन्न-भिन्न क्षेत्र के कारीगरों को यहां पर लाकर बसाया। संगत के ठहरने के लिये सुन्दर धर्मशाला तथा कई घरों का नव-निर्माण करवाया गया।[2] गुरु साहिब के हुक्मों का पालन करते हुए इस नगर में अति शीघ्र ही चहल-पहल हो गई तथा यह नगर सिक्खों के एक केन्द्रीय स्थान के तौर पर प्रचलित होने लगा। गुरु साहिब ने कुछ समय यहां ठहरने के पश्चात् सिक्खी के प्रचार-प्रसार के लिए अलग-अलग स्थानों की यात्रा करने का विचार बनाईया। उन्होंने बिहार, आसाम, बंगलादेश आदि स्थानों पर सिक्खी का प्रचार करते हुए वापसी के बाद पक्के तौर पर आनंदपुर साहिब में निवास किया।[3] इस स्थान पर आने के पश्चात् गुरु जी ने अपना परिवार पटना साहिब से बुला लिया। बालक गोबिन्द जी को शैक्षणिक तथा हथियारों की शिक्षा यहीं पर ही उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा यहीं पर ही दिलवाई गई।

दिल्ली के तख्त पर उस समय बादशाह औरंगजेब का शासन था जो एक सुन्नी मुस्लमान था। वह भारत की धरती को पूर्ण तौर पर इस्लामिक रंग में रंगना चाहता था। अपने मंसूबों की पूर्ती के लिये वह दूसरे धर्मों के लोगों को जबदस्ती इस्लाम धर्म कबूल करवा रहा था तथा जो इस्लाम धर्म कबूल नहीं करता उसका कत्ल कर दिया जाता था। हिन्दू धर्म के प्रचारकों पर बहुत अत्याचार हो रहे थे। कश्मीर से पंडितों का एक समूह पंडित कृपा दास की अगवाई

में गुरु तेग बहादुर जी के पास फरियाद लेकर आनंदपुर साहिब पहुँचा।[4] सिक्ख परम्परा के अनुसार उस समय दरबार लगा हुआ था। गुरु साहिब कश्मीरी समूह के साथ विचार विमर्श कर ही रहे थे कि बालक गोबिन्द जी भी आ गए तथा दरबार में पसरी खामोशी के माहौल का कारण पूछते हैं तब गुरु साहिब बताते हैं कि बादशाह औरंगजेब के जुल्मों पर नकेल कसने के लिये किसी एक महान पुरुष के बलिदान की आवश्यकता है। बालक अपने स्वभाव के अनुकूल कहते हैं कि इस समय दुनियां में आपसे बड़ा कौन महापुरुष हो सकता है। तत्पश्चात गुरु साहिब ने हिन्दू धर्म की रक्षा तथा मुगल हकूमत के जुल्मों के खिलाफ दिल्ली के चांदनी चौक में शहीदी दे दी।

गुरु तेग बहादुर जी की शहीदी के पश्चात् गुरु गोबिन्द सिंह ने धार्मिक गतिविधियों को आगे बढ़ाया। गुरु साहिब ने सिक्खों को धार्मिक कार्यों के साथ-साथ मानसिक तौर पर भी आने वाले भयानक समय के लिए तैयार करना शुरु कर दिया था। सिक्खों को घुड़ स्वारी, तीरंदाजी, तलवार आदि चलाने की शिक्षा दी जाने लगी। प्रतिदिन प्रातः और सांय को रणजीत नगारा बजाया जाने लगा।[5] आनंदपुर साहिब में गुरु साहिब जी द्वारा की जा रही गतिविधियों के कारण कहलूल के राजा भीम चंद के साथ संबंध बिगड़ने लगे।[6] गुरु साहिब किसी से संबंध बिगाड़ना नहीं चाहते थे जिस कारण वह नाहन के राजा मेदनी के आमंत्रण पर पंऊंटा साहिब चले गए।[7] पंऊंटा साहिब भी गुरु जी के लिये उचित न रहा। सिक्खों की बढ़ रही शक्ति पहाड़ी साम्राज्यों के लिये बर्दाशत करना मुश्किल हो रहा था। जिसके कारण 1688 ई. में भंगानी के स्थान पर सिक्ख तथा पहाड़ी राजाओं के बीच युद्ध हुआ तथा खालसा फौज को जीत प्राप्त हुई। युद्ध के पश्चात् गुरु साहिब सिक्ख फौज सहित वापिस आनंदपुर साहिब आ गए।[8]

आनंदपुर साहिब वापिस आने पर गुरु साहिब ने नगर को पुनः नए ढंग से स्थापित करना शुरु कर दिया। गुरु जी ने कारीगर बुलाकर शस्त्रों का कारखाना खोल दिया। जिसमें बंदूके, जंबूर, अनेक प्रकार के तीर-कमान बनाए जाने लगे, संजोअ, फौलादी तलवारें, कटारें आदि बनवाई जाने लगी, कई तोपे भी बनवाई गई।[9]

गुरु साहिब ने बाहरी हमलों से बचाव के लिए आनंदगढ़ साहिब किले का निर्माण करवाया तथा किले के साथ नहर बनाई जिसके पानी का उपयोग लंगर आदि तैयार करवाने के लिये किया जाता था। इस किले के निर्माण के पश्चात् आनंदपुर साहिब में और किलों का निर्माण करवाया, जिसमें किला लोहगढ़, किला फतहगढ़ साहिब, किला होलगढ़ साहिब, किला तारागढ़ साहिब, किला केसगढ़ साहिब हैं।[10]

गुरु साहिब की भंगाणी की जीत के बाद आनंदपुर साहिब में जंगी हथियारों और किलों के नव-निर्माण के कारण पहाड़ी राजाओं की मानसिकता पर गहरा प्रभाव पड़ा। जिसके कारण उन्होंने गुरु साहिब की मदद से अपने साम्राज्यों को मुगल हकूमत से आजाद करवाने का विचार बनाकर, मुगल हकूमत को दिया जा रहा वार्षिक शुल्क बंद कर दिया। जिसके कारण औरंगजेब ने अलफ खां की अगुवाई में फौज भेजकर पहाड़ी राज्यों के राजाओं से शुल्क लेने के लिए भेजा। 1690 ई. में नादौण के स्थान पर सिक्ख और पहाड़ी राजाओं की सांझी फौज ने अलफ खां के विरुद्ध जंग का मैदान फतेह किया। युद्ध में जीत के उपरान्त पहाड़ी राजे मुगल हकूमत के डर से मुक्त न हो सके। वह अलफ खां के साथ समझौता करके शुल्क देने को तैयार हो गए।[11]

गुरु साहिब जंग के बाद वापस आनंदपुर साहिब आ गए। उन्होंने किला केसगढ़ साहिब से सिक्ख पंथ के प्रचार-प्रसार की गतिविधियों को जारी रखा। किला केसगढ़ साहिब को बाद में खालसा पंथ की ओर से तख्त का दर्जा दिया गया। खालसा फौज की जंग में जीत होने पर सिक्ख फौज का मनोबल बढ़ गया। गुरु साहिब ने आनंदपुर में महला निकालने की परम्परा की शुरुआत की। जिसमें खालसा फौज को दो टुकड़ियों में बांट कर नकली युद्ध अभ्यास करवाया जाता था। इसमें जीत प्राप्त करने वाली फौज को विशेष ईनाम दिए जाते थे। सिक्ख इन गतिविधियों में बड़े उत्साह और हौंसले से भाग लेते थे। गुरु साहिब की इन गतिविधियों के द्वारा सिक्ख धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सक्रिय हुए।

गुरु साहिब ने 1699 ई. की वैसाखी में तख्त श्री केसगढ़ साहिब में खालसा की सृजना की। यहां पर संगतों का एक विशाल समूह एकत्रित किया गया। नित-नेम की बाणी और अरदास के उपरान्त गुरु साहिब ने म्यान में से तलवार निकालकर विशाल समूह से एक शीश की मांग की, जिससे संगत में डर का माहौल पैदा हो गया परन्तु लाहौर का एक सिक्ख दयाराम उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार गुरु जी ने पांच शीशों की मांग की। संगत की भीड़ में से दिल्ली से धर्म चंद, जगननाथपुरी से हिम्मत चंद, द्वारिका से मोहकम चंद, बिदर से साहिब चंद ने अपने-अपने शीश गुरु साहिब को भेंट किए। गुरु जी ने विशेष विधि के तहत अमृत तैयार करके पांच प्यारों को अमृत पिलाया और फिर स्वंय उनसे अमृत पीकर 'गुरु चेला चेला गुरु' के शब्दों को अमली रुप से साकार किया। इसके पश्चात् हजारों की संख्या में एकत्रित सिक्ख संगत ने तख्त साहिब के स्थान पर अमृत ग्रहण किया। सिक्ख नामों के पीछे सिंह और कौर का रुतबा गुरु साहिब ने इसी स्थान से दिया। एक ही बर्तन में प्रत्येक प्राणी को अमृतपान करवाया जाता था। जिसके फलस्वरुप ऊँच-नीच, जात-पात का भेदभाव जड़ से ही खत्म होने लगा।

तख्त साहिब से खालसे की सृजना ने जहां सदियों से लताड़ी जा रही जनता के मनोबल को ऊँचा करके, उनके हृदय में आजादी की ज्वाला को तेज कर दिया वहीं पहाड़ी राजाओं और मुगल हकूमत में डर की भावना पैदा हो गई क्योंकि हाकम से दुखी जनता अधिक गिणती में अमृतपान कर सिक्ख बनने लगी थी। पहाड़ी राजा खालसा के सिद्धांतों को अपने धर्म के विरुद्ध समझते थे क्योंकि वह सभी मूर्ती पूजक तथा जात-पात, ऊँच-नीच की भावना में उलझे हुए थे।[12]

गुरु जी की बढ़ती जा रही शक्ति के कारण पहाड़ी राजाओं ने अपने दूतों के माध्यम से गुरु जी को आनंदपुर का ईलाका छोड़ने या नजराना देने का संदेश भेजा।[13] परन्तु गुरु जी ने उनकी बात मानने से इन्कार कर दिया। गुरुजी एक दिन शिकार खेल रहे थे तो पहाड़ी राजा बली चंद और आलम चंद ने उन पर हमला कर दिया। सिक्ख फौज ने जवाबी कार्यवाही में बली चंद को मार गिराया तथा आलम चंद जख्मी होकर भाग गया।[14] इस हमले के बाद पहाड़ी राजाओं ने विचार-विमर्श किया कि गुरुजी की बढ़ रही शक्ति हमारे साम्राज्यों के लिए नुकसानदेह हो सकती है।[15] 1701 ई. से 1703 ई. तक गुरुजी और पहाड़ी राजाओं के बीच आपसी संबंध तनावपूर्वक ही रहे। खालसे की बढ़ती शक्ति राजाओं के गुस्से का कारण बनी रही। उन्होंने 1704 ई. में औरंगजेब के पास

मदद की गुहार लगाई जो उस समय दक्षिण की यात्रा पर गया हुआ था। उसने सरहिंद और लाहोर के सूबेदारों को पहाड़ी राजाओं का साथ देने का हुक्म दिया। पहाड़ी राजाओं और मुगल फौज की बड़ी गिणती ने आनंदपुर साहिब को घेर लिया तथा आने-जाने के रास्ते बंद कर दिए। राशन, पानी की सप्लाई बंद कर दी गई। राशन की कमी के कारण भी सिक्ख फौज आठ महीने तक दुशमन फौज के विरुद्ध मैदान पर डटी रही। कुछ सिक्खों ने गुरुजी से किला छोड़ने का निवेदन किया परन्तु गुरुजी नहीं माने। सिक्ख फौज के भूख और प्यास से बेहाल होने और हाकम पक्ष की ओर से झूठी कस्में खाने के कारण गुरुजी ने किला छोड़ने का मन बनाकर 21 दिसम्बर 1704 ई. को सिक्खों और अपने परिवार सहित आनंदपुर साहिब का किला छोड़ दिया।[16]

आनंदपुर साहिब छोड़ने के पश्चात् मुगल और पहाड़ी राजाओं की साझी फौज ने कस्मों को भुला कर गुरु साहिब पर हमला कर दिया। परन्तु गुरुजी और सिक्ख फौज बहादुरी से मुकाबला करते हुए सिरसा नदी पार कर गई। सिक्खों का बहुत जानी-माली नुकसान हुआ। गुरुजी का परिवार बिछड़ गया। छोटे साहिबजादे और माता गुजरी को सरहिंद में शहीद कर दिया गया तथा बड़े साहिबजादे चमकौर साहिब के युद्ध में शहीदी का जाम पी गए। गुरुजी सिक्खों के निवेदन पर माछीवाड़े के जंगलों से होते हुए तलवंडी साबो पहुंच गए।[17]

पहाड़ी राजाओं और मुगल फौज ने गुरु साहिब का पीछा करना छोड़ दिया और वापिस आनंदपुर में आकर बहुत तबाही मचाई। सभी किले, गुरुजी का स्थान, मकान गिरा दिए अर्थात् गुरु साहिब से संबंधित सभी निशानियों को खण्डहरों में तबदील कर दिया। इस समय नगर का बहुत जानी-माली नुकसान हकूमती फौज के द्वारा किया गया।[18] रतन सिंह भंगू ने तबाही के माहौल के बाद आनंदपुर के हालातों का ब्यान करते हुए 'प्राचीन ग्रंथ प्रकाश' में बताया है कि उस समय सिर्फ संत गुरुबख्श एक उदासी था जो गुरु तेग बहादुर जी के अस्थान की सेवा संभाल किया करता था। कुछ समय पश्चात् हालात कुछ ठीक हुए तो सोढ़ी गुलाब राए और श्याम सिंह, कहिलूल के राजा की सहमति से कुछ जमीन मूल्य खरीदकर आनंदपुर में रहने लगे। जिस जगह गुरु साहिब दरबार (तख्त साहिब) लगाया करते थे, उस जगह पर आसन लगाकर सोढ़ी गुलाब राए जो मन में आता करने लगा। उसकी हरकातों के कारण खालसा पंथ दुखी होता था। संत गुरुबख्श और कुछ सिक्खों ने उसे समझाने की कोशिश की परन्तु वह आगे से बोलता था कि मैंने यह जमीन मूल्य देकर खरीदी है। संत गुरुबख्श और गुलाब राए के पुत्रों में झगड़ा भी हुआ। जिसके फलस्वरुप संत गुरुबख्श ने श्राप दिया कि उनके पिता की औलाद नहीं रहेगी।[19] कुछ समय के पश्चात् गुलाब राए और श्याम सिंह की मृत्यु हो गई। गुलाब राए की विधवा पत्नी चढ़ावा एकत्रित करती रही। उसने अपनी मृत्यु से पहले श्याम सिंह के सुपुत्र सुरजन सिंह को यहां का मुख्य पुजारी नियुक्त कर दिया था।[20]

डॉ. सुखदयाल सिंह अनुसार अठारहवीं सदी के संघर्ष के दौरान सरबत खालसा ने 'होला मोहल्ला' के समय इस स्थान पर अनेक समागम करके गुरुमते पास किए थे।[21] सिक्ख मिस्ल के दौरान स. बघेल सिंह ने अमृतपान के उपरान्त गांव बढ़ढो का आधा मुआमला (1150 रु.) तख्त श्री केसगढ़ के नाम लगवाया था। स. मित सिंह ने जालंधर के गांव गंगन के मुआमले में से 400 रुपये सालाना, स. चड़त सिंह डल्लेवालीए ने थाना आनंदपुर के गांव मोठेवाल के मुआमले में से 1100 रुपये और गांव महेण के मुआमले में से 75 रुपये सालाना, रियासत पटियाला की ओर से 375 रुपये, रियासत नाभा की ओर से 169 रुपये आठ आने, राजा कलसियां की ओर से 371 रुपये सालाना जागीर लगाई थी। तख्त साहिब वाली जगह 33 घुमां जमीन के रकवे में बनी थी। इस प्रकार लगभग 3000 रुपये की सालाना जागीर तख्त साहिब के नाम पर थी। खालसा पंथ इस स्थान से भावनात्मक तौर पर बड़ी प्रतिष्ठा से जुड़ा हुआ है, क्योंकि यह खालसा पंथ की जन्म भूमि थी।[22]

सिक्ख राज्य की सांझ ढलने के उपरान्त और गुरुधामों की तरह यह तख्त साहिब भी हकूमत का पक्ष लेने वाले सोढ़ी पुजारियों के अधीन हो गया। जो इस स्थान की पंथक मर्यादा को भूलकर मन मर्जी के कार्य करने लगे। गुरुद्वारा ऐक्ट बनने के उपरान्त यह ऐतिहासिक स्थान भी शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के अधीन आ गया। पंथक प्रबंध में आने के बाद तख्त साहिब की मर्यादा को दोबारा से बहाल किया गया और तख्त साहिब की ईमारत का नव-निर्माण और मुरम्मत करवाई गई। शिरोमणी कमेटी की ओर से तख्त साहिब के जत्थेदार की नियुक्ति की जाने लगी।

तख्त श्री केसगढ़ साहिब में गुरु गोबिन्द सिंह से संबंधित शस्त्र और अन्य निशानियाँ आज भी सुशोभित हैं जिनके दर्शन हर रोज संगतों को करवाये जाते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण शस्त्र निम्नानुसार हैं :

- **नागनी बर्छा:** यह नागनी गुरुजी का निजी बर्छा था। जिसका अगला हिस्सा सांप की तरह बल खाता बना होने के कारण इसे नागनी बर्छा कहा जाता था।
- **खंडा:** वह खंडा जिसके द्वारा 1699 ई. की वैसाखी के समय गुरु साहिब ने खालसा की सृजना के समय 'खंडे सी पाहुल' तैयार की थी।
- **कटार:** यह गुरु साहिब के कमर कसे का शस्त्र था।
- **सैफ:** यह शस्त्र मुगल बादशाह बहादुर शाह ने गुरु साहिब को भेंट किया था।
- **बन्दूक:** यह बन्दूक लाहौर के एक सिक्ख ने गुरु गोबिन्द सिंह जी को भेंट की थी। यह लाहौर के शस्त्रखाने की बनी हुई है, जिस पर उर्दू भाषा में लिखा हुआ है।
- **करपा बर्छा:** यह करपा बर्छा गुरु गोबिन्द सिंह का है। लाहौर में पानी की कमी को दूर करने के लिए यही बर्छा जमीन में मारकर गुरु जी ने पानी का झरना बहा दिया था। भाई उदय सिंह ने केसरी चंद का सिर काटकर इसी बर्छे के ऊपर टांगकर गुरु चरणों में भेंट किया था।

इन शस्त्रों के अलावा गुरु साहिब जी से संबंधित कुछ शस्त्र इंगलैण्ड से वापिस लाए गए जो लार्ड डलहोजी सिक्ख राज्य को बर्तानीया शासन में मिलाने के पश्चात् अपने साथ ले गया था। इन शस्त्रों में बड़ा बर्छा, शमशीर-ए-तेग, दाहे-आहनी, सुनहरी चक्र, डाला आदि थे। इन शस्त्रों के आलावा गुरु साहिब से संबंधित कुछ निशानियां जैसे चोला (गुरु गोबिन्द साहिब जी का), दस्तार, कंघा, श्री साहिब आदि निशानियां तख्त साहिब की शोभा बढ़ा रही हैं।[23]

इस प्रकार सिक्ख धर्म के पांचों तख्तों में श्री केसगढ़ साहिब पंथ का धार्मिक और राजनीतिक स्थान है। गुरु गोबिन्द सिंह जी ने इस स्थान पर खालसा पंथ की सृजना करके मानव के लिए भाईचारक एकजुटता का नया अध्याय लिखा। मुगल हकूमत के जुल्मों से भयभीत हुए भारतीय लोगों को निडरता, स्वाभिमान और गैरतमंद जीवन व्यतीत करने की जांच सिखाई। खालसा पंथ की जन्म भूमि होने के कारण समूह पंथ इस स्थान से भावनात्मक तौर पर बड़ी निष्ठा के साथ जुड़ा हुआ है।

सन्दर्भ सूचि

1. कवि सरुप सिंह कोशिश, **गुरु कीयां साखीयां,** (सं.) प्यारा सिंह पदम, कलम मंदिर, पटियाला, 1986, पृष्ठ 66
2. भाई संतोख सिंह, **श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ,** (सं.) भाई वीर सिंह, भाषा विभाग, पटियाला, 2011, पृष्ठ 4081
3. इन्दु भूषण बैसन बैनर्जी, **खालसे दी उत्पत्ति,** जिल्द दूसरी, पंजाबी युनिवर्सिटी, पटियाला, 1979, पृष्ठ 171
4. कवि सेवा सिंह, **शहीद बिलास भाई मनी सिंह,** (सं.) गरजा सिंह, पंजाबी साहित्य अकादमी, लुधियाना, 1961, पृष्ठ 59
5. कवि सरुप सिंह कोशिश, **वही,** पृष्ठ 83
6. A.C. Banerjee, *Guru Nanak to Guru Gobind Singh,* Rajesh Publication, New Delhi, 1978, P. 199.
7. कवि सरुप सिंह कोशिश, **वही,** पृष्ठ 83
8. कवि सैनापति, **श्री गुरु शोभा,** (सं.) शमशेर सिंह अशोक, शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर, 2016, पृष्ठ 73
9. ज्ञानी ज्ञान सिंह, **त्वारीख गुरु खालसा,** भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला, 1970, पृष्ठ 841
10. भाई काहन सिंह नाभा, **गुरशब्द रत्नाकार महान कोष,** भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 2019, पृष्ठ 100-101
11. **शब्दार्थ दशम ग्रंथ साहिब,** पौथी-पहली (सं.) डॉ. तारण सिंह, पृष्ठ 80-81
12. जगजीत सिंह, **सिक्ख इनकलाब,** बाहरी पब्लीकेशनज प्रा. लि., नई दिल्ली, पृष्ठ 58
13. Teja Singh, Ganda Singh,A *short history of The Sikhs*, Orient Longmans, Bombay, 1950, P- 72.
14. प्रो. साहिब सिंह, **जीवन वृतांत गुरु गोबिन्द सिंह,** सिंह ब्रदर्ज, अमृतसर, 2012, पृष्ठ 143
15. वही, पृष्ठ 145
16. Teja Singh, Ganda Singh, *Op.cit*, P- 72.
17. Ibid, P- 75.
18. M.A. Macauliffe, *The Sikhs Religion : Its Gurus, Sacred Writings andA uthors*, S.Chand & Co. Ltd. Vol-5, New Delhi, 1978, P- 252.
19. भाई रतन सिंह भंगू, **श्री गुरु पंथ प्रकाश,** (सं.) जीत सिंह शीतल, शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर, 2000, पृष्ठ 240-41
20. M.A. Macauliffe, *Op.cit,* P. 257
21. डॉ. सुखदयाल सिंह, **खालसा पंथ दे पंज तख्त,** पंजाबी युनीवर्सिटी, पटियाला, 2002, पृष्ठ 142.
22. वही
23. स. दिलजीत सिंह बेदी, श्री आनंदपुर साहिब से संबंधित ऐतिहासिक स्थान तथा शस्त्र, **श्री आनंदपुर साहिब बहुपक्खी दर्शन,** शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर, 2015, पृष्ठ 177-179

जिद्दू कृष्णमूर्ति - एक महान शैक्षिक विचारक

डॉ० राघवेन्द्र कुमार हुरमाडे

सहायक प्राध्यापक, शिक्षा अध्ययनशाला, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर (मध्य प्रदेश)

सुशील कुमार

शोध छात्र, (पी. एच. डी. शिक्षाशास्त्र), शिक्षा अध्ययनशाला, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर (मध्य प्रदेश)

शोध सारांश

अपना सम्पूर्ण जीवन आत्म बोध के लिए, मानव कल्याण के लिए समर्पित करने वाले जिद्दू कृष्णमूर्ति आलौकिक प्रतिभासम्पन्न महामानव थे। उनका सम्पूर्ण शैक्षिक दर्शन समस्त मानव जगत के लिए उपयोगी एवं प्रासंगिक था। जे. कृष्णमूर्ति जी कहते थे कि पुस्तकों को कंठस्थ करना ही शिक्षा नहीं है अपितु जीवन को समझ लेना ही शिक्षा है। जे. कृष्णमूर्ति की विभिन्न पुस्तकों एवं उनके अन्य साहित्य से उनके शैक्षिक विचारों का पता चलता है, जो उन्हें महान बनाते हैं। जे. कृष्णमूर्ति मानव के समग्र जीवन और समग्र शिक्षा के लिए जीवन भर समर्पित रहे हैं इसीलिए जे. कृष्णमूर्ति को विश्व शिक्षक का सम्मान दिया गया है। कृष्णमूर्ति जी मानव को महत्वकांक्षी बनाने वाली शिक्षा, बुराइयों को जन्म देने वाली शिक्षा का विरोध करते थे। भयभीत व्यक्ति में प्रज्ञा का अभाव होता है अतः वे भय पर आधारित वर्तमान शिक्षा का विरोध करते थे। जे. कृष्णमूर्ति के अनुयायियों ने उनके विचारों को मूर्त रूप देने के लिए भारत, इंग्लैण्ड, कैलिफोर्निया में अनेक विद्यालयों की स्थापना की। जे. कृष्णमूर्ति अपनी शिक्षाओं के माध्यम से विशिष्ट संस्कृति की सीमाओं को तोड़ते हुए पूर्णतया उस नवीन मूल्य को स्थापित करते हैं जो एक नवीन सभ्यता एवं नवीन समाज का निर्माण कर सके। वास्तव में जिद्दू कृष्णमूर्ति के शिक्षा दर्शन की प्रासंगिकता भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए है।

की वर्ड्स: शिक्षा, दर्शन, सृजनशीलता, मुक्ति, आत्म बोध।

शोध पत्र

जिद्दू कृष्णमूर्ति अलौकिक प्रतिभा संपन्न महामानव थे। उनका संपूर्ण जीवन आत्मबोध के लिए, मानव कल्याण एवं सर्जन के लिए समर्पित था। उनका संपूर्ण शैक्षिक दर्शन समस्त मानव जगत के लिए उपयोगी एवं प्रासंगिक था। आधुनिक विश्व के मानव जीवन की समस्याओं पर सम्यक विचार करने वाले जिद्दू कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन न केवल व्यवहारिक अपितु प्रासंगिक भी है। जिद्दू कृष्णमूर्ति की जीवनी लेखक पुपुल जयकर ने कहा है- "वर्ष 1980 में जिद्दू कृष्णमूर्ति ने मुझसे कहा था कि जब वे बोलना बंद कर देंगे तब उनकी देह भी समाप्त हो जाएगी। देह के अस्तित्व का एक ही प्रयोजन है, शिक्षा की अभिव्यक्ति करना।" नवीन मानव, सभ्यता, संस्कृति और समाज का निर्माण करने वाले जिद्दू कृष्णमूर्ति का शैक्षिक दर्शन मौलिक, समसामयिक और आडंबर विहीन है। जिद्दू कृष्णमूर्ति कहते हैं- "मेरी चिंता सिर्फ मनुष्य को परम रूप से बिना किसी प्रतिबन्ध के मुक्त करने की है।" विश्व शिक्षक के रूप में प्रतिष्ठित जिद्दू कृष्णमूर्ति की गणना विश्व के विचारक और विरल दार्शनिक के रूप में की जाती है। जिद्दू कृष्णमूर्ति के शिक्षा दर्शन की उपयोगिता भारत ही नहीं अपितु समस्त आधुनिक विश्व के लिए है। जिद्दू कृष्णमूर्ति ने न तो स्वयं किसी दार्शनिक प्रणाली की स्थापना की और ना ही किसी भारतीय या पाश्चात्य दर्शन में आस्था प्रकट की। जिद्दू कृष्णमूर्ति समस्या का सामना करने में सक्षम धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों से मुक्त प्रज्ञा और आत्मबोध से सत्य का अन्वेषण करते थे। जिद्दू कृष्णमूर्ति का कथन है- "आशा मनुष्यों में है, समाज में अथवा विचार प्रणालियों में अथवा संगठित धार्मिक प्रणालीयों में नहीं, आशा केवल आप में और मुझ में है।" जिद्दू कृष्णमूर्ति को विश्व शिक्षक का सम्मान दिया गया है। मानव के समग्र प्रस्फुटन एवं समग्र शिक्षा के लिए जिद्दू कृष्णमूर्ति आजीवन समर्पित रहे हैं। जिद्दू कृष्णमूर्ति जीवन की मौलिक समस्याओं का समाधान करने वाली एक युवा पीढ़ी विकसित करना चाहते थे। जिद्दू कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं में समस्त मानव जाति के पुनरुत्थान के बीज प्रच्छन्न हैं। कृष्णमूर्ति के शैक्षिक विचार उनके दार्शनिक विचारों की उपज हैं। अपने स्वयं के अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया था। उनके दार्शनिक विचारों की निष्पत्ति हैं उनके शैक्षिक विचार। उनका विश्वास था कि यदि इन विचारों के अनुरूप शिक्षा दी जाए तो वास्तविक रूप में एक नवीन संस्कृतियुक्त विश्व का निर्माण हो सकता है।

जे कृष्णमूर्ति का मानना है कि विश्व की समस्त समस्याओं - आतंकवाद, जनसंख्या पर्यावरण, भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता का मूल वर्तमान दोषपूर्ण शिक्षा व्यवस्था है। मानव को उसकी प्रकृति के अनुरूप विकसित करने में सहायक उत्तम शिक्षा ही समस्त समस्याओं का समाधान कर सकती है। शिक्षा के विषय में जिद्दू कृष्णमूर्ति कहते थे- "शिक्षा का उद्देश्य है सही रिश्तों की स्थापना केवल व्यक्तियों के मध्य ही नहीं अपितु व्यक्ति एवं समाज के मध्य भी। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा सबसे पहले अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझने में व्यक्ति की सहायता करें।" जे कृष्णमूर्ति के शैक्षिक विचार किसी एक

देश की सीमा में नहीं बांधें हैं, अपितु वे सार्वभौमिक हैं। उनकी शिक्षा का लक्ष्य संपूर्ण मानव जाति के लिए है। कृष्णमूर्ति के शब्दों में- "मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है लोगों को उस मुक्ति और आनंद को प्राप्त करने में सहायता करना, जिन्हें मैं स्वयं प्राप्त कर चुका हूं और जो संपूर्ण मानवता के लिए अंतिम लक्ष्य हैं।" जे कृष्णमूर्ति के शैक्षिक विचार सिद्धांतों की नीरस व्याख्या और कल्पना से परे जाकर एक नूतन संस्कृतियुक्त समाज का निर्माण करता है। इस संबंध में जे. कृष्णमूर्ति का कथन है- "मेरी शिक्षाएं न रहस्यपूर्ण हैं न गुहा हैं क्योंकि मेरी समझ में रहस्यवाद एवं गुहा विधा दोनों ही मनुष्य द्वारा सत्य पर सीमाओं के आरोपण हैं। धार्मिक मत विश्वासों से जीवन कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। आप जीवन को विश्वास, परंपरा एवं प्रमाण्य से मुक्त कर दें। परंतु जो लोग इन चीजों से बंधे हैं उन्हें सत्य को समझने में कठिनाई होगी।" जे कृष्णमूर्ति जी कहते थे कि पुस्तकों से कंठस्थ करना ही शिक्षा नहीं है अपितु जीवन को समग्र रूप में समझ लेना ही शिक्षा है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं- "जीवन को समझने का अर्थ अपने को समझना है और यही शिक्षा का आरंभ और अंत है।" जिद्दू कृष्णमूर्ति की विभिन्न पुस्तकों एवं उनके अन्य साहित्य से उनके शैक्षिक विचारों का पता चलता है, जो उन्हें महान बनाते हैं। सन 1969 में प्रकाशित 'फ्रीडम फ्रॉम द नोन' जीवन की अनंत समस्याओं और मानवीय त्रासदीयों पर जे कृष्णमूर्ति की शिक्षा को समझने में एक महत्वपूर्ण पुस्तक समझी जाती है, जो मैरी लट्यंस द्वारा रचित है। सन 1973 में प्रकाशित 'बियोंड वॉयलंस' में कृष्णमूर्ति कहते हैं- "जब तक किसी रूप में 'मैं' का अस्तित्व है- स्थूल रूप में या अत्यंत सूक्ष्म रूप में- तब तक हिंसा विद्यमान रहेगी।" इस पुस्तक में भय, अस्तित्व, हिंसा, ध्यान, आंतरिक क्रांति, मुक्ति, जैसे बुनियादी विषयों को समाहित किया गया है। सन 1971 में प्रकाशित 'द फ्लाइट ऑफ द ईगल' में जे कृष्णमूर्ति कहते हैं- "गरुड़ अपनी उड़ान में कोई भी चिह्न नहीं छोड़ता है। स्वतंत्रता के प्रश्न को गहराई से समझने के लिए दोनों जरूरी हैं- एक वैज्ञानिक परीक्षण और दूसरी ओर गरुड़ की उड़ान। एक ऐसी उड़ान जो अपने पीछे कोई चिह्न ना छोड़े।" कृष्णमूर्ति की सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक 'द फर्स्ट एंड लास्ट फ्रीडम' जो 1954 में प्रकाशित हुई थी, में विख्यात दार्शनिक आल्डस हक्सले ने लिखा था- "इस पुस्तक में पाठकों को मूलभूत मानवीय समस्याओं से सम्बंधित एक स्पष्ट एवं अद्यतन दृष्टिकोण मिलेगा और साथ ही इसका समाधान जिस मात्र एक तरीके से हो सकता है, अर्थात स्वयं के लिए और स्वयं के द्वारा उसका एक निमंत्रण मिलेगा।" 'अर्जेंसी ऑफ चेंज" नामक पुस्तक में कृष्णमूर्ति ने ईश्वर, जगत, सम्बन्ध, आत्महत्या, काम और प्रेम जैसे गम्भीर विषयों पर गहन चिन्तन किया है। 'शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य' नामक पुस्तक में जे. कृष्णमूर्ति लिखते हैं- "हम शिक्षक ही यदि स्वयं को गहराई से नहीं समझते तथा बच्चे के साथ अपने रिश्ते को ही मौलिक रूप से नहीं समझते और उसे केवल जानकारियों से भरने एवं परीक्षा पास करवाने में लगे रहते हैं तो हम कैसे नए ढंग की शिक्षा ला सकते है? यदि मार्गदर्शक स्वयं ही भ्रांत हो, संकीर्ण हो, राष्ट्रवादी तथा मतान्ध हो तो स्वाभाविक है कि उसका शिष्य भी वैसा ही होगा। सबसे पहले स्वयं को नए तरीके से शिक्षित करने की चिंता करना बच्चे के भविष्य के कल्याण और उसकी सुरक्षा की चिंता से कहीं अधिक है।" कृष्णमूर्ति जी के अनुसार शिक्षा और विकास में अधिगम प्रक्रिया बहुत महत्व रखती है। वो सीखने को एक कला मानते थे। कृष्णमूर्ति जी युवा वर्ग की शिक्षा एवं जीवन के विषय में एक गहन एवं क्रमबद्ध दृष्टि रखते थे। आपको अपने जीवन के विषय में क्या करना है? इस विषय पर श्री कृष्णमूर्ति जी कहते हैं- "जब आप असाधारण रूप से सुंदर कुछ ऐसा देखें जो जीवन और सौंदर्य से परिपूर्ण हो तब आप विचार को कभी न आने दें, क्योंकि ज्यों ही विचार उसे स्पर्श करेगा त्यों ही पुरातन होने के कारण वह उसे मनोसुख में बदल देगा और तब इस सुख की मांग उठने लगेगी- अधिक और अधिक मात्रा में। और जब वह प्राप्त नहीं हो सकेगा तब द्वंद कूद पड़ेगा पड़ेगा, भय आ डटेगा।" कृष्णमूर्ति के क्रांतिकारी शैक्षिक विचारों के कारण एनी बेसेंट और सी. डब्ल्यू लेडबीटर ने कृष्णमूर्ति जी को आधुनिक विश्व का मसीहा घोषित किया। जिद्दू कृष्णमूर्ति के शैक्षिक विचारों को सार रूप में निम्न प्रकार समझा जा सकता है-

1. पाठ्यपुस्तक बाल मनोविज्ञान के अनुसार बच्चों की शिक्षा स्वाभाविक रुचियों पर आधारित होनी चाहिए। जीविकोपार्जन हेतु व्यवसायिक शिक्षा का प्रावधान हो। सृजनशीलता के विकास हेतु पाठ्यपुस्तक में कला, कविता एवं संगीत का स्थान होना चाहिए। शिक्षा में बच्चों को स्व अधिगम गतिविधि आधारित अधिगम हेतु प्रेरित करना चाहिए।
2. शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आत्मबोध एवं आत्म विश्लेषण के माध्यम से आध्यात्मिकता का विकास होना चाहिए।
3. तकनीकी शिक्षा का प्रयोग मानव कल्याण के लिए होना चाहिए।
4. शिक्षा जगत में स्वतंत्र एवं भयमुक्त वातावरण का निर्माण कर बच्चों को सृजनशीलता के अवसर प्रदान करने चाहिए।
5. शिक्षा का उद्देश्य मानवीय मूल्यों का विकास होना चाहिए। "विविधता की भावना शक्ति के रूप में है, कमजोरी के रूप में नहीं है" की अवधारणा को बच्चों के मस्तिष्क में विकसित करने की आवश्यकता है।
6. शिक्षक का स्थान एक मित्र, दार्शनिक, पथ प्रदर्शक की भांति होना चाहिए। उसे संपूर्ण मानव होना चाहिए।
7. शिक्षार्थी में आत्मानुशासन, दया, प्रेम, सेवा, स्वाध्याय, एकाग्रता जैसे मानवीय गुण होने चाहिए।

जिद्दू कृष्णमूर्ति अद्वित्य प्रतिभा संपन्न महामानव थे, उनका संपूर्ण जीवन कल्याण हेतु, मुक्ति हेतु, मानव सर्जन हेतु, आत्मबोध हेतु, था। जिद्दू कृष्णमूर्ति का संपूर्ण शैक्षिक दर्शन संपूर्ण विश्व के लिए प्रासंगिक, प्रायोगिक, महत्वपूर्ण एवं सार्थकता था। जिद्दू कृष्णमूर्ति का शैक्षिक दर्शन मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से व्यावहारिक है। जिद्दू कृष्णमूर्ति ने आधुनिक विश्व के मानवीय जीवन की अनेक समस्याओं पर गहन अन्वेषण किया है। उनका शिक्षा दर्शन वह अंतर्दृष्टि जागृत करता है जो जीवन की प्रत्येक समस्या का सामना कर सकें। जिद्दू कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन सतत सीखने को, स्वयं को जानने को, सत्य खोजने को एवं विमुक्त समग्र मानव के विकास पर बल देते हैं। नवीन मानव, सभ्यता, संस्कृति और समाज का निर्माण करने वाला जे कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन आडम्बर विहीन, मौलिक और समसामयिक है। जिद्दू कृष्णमूर्ति का यह विश्वास था कि मानव अपने प्रति सर्जनशील अवबोध के द्वारा शांतिपूर्ण विश्व का निर्माण कर सकता है। विश्व शिक्षक सम्मान से सम्मानित जिद्दू कृष्णमूर्ति मानव के समग्र प्रस्फुटन और समग्र शिक्षा के लिए सदैव समर्पित रहे।

जे कृष्णमूर्ति ने भारत सहित विश्व के अनेक देशों में स्वतंत्र शिक्षण संस्थाएं स्थापित की। जिद्दू कृष्णमूर्ति जीवन के मौलिक प्रश्नों को उठाने, समझने और समाधान करने की क्षमता रखने वाले युवकों की पीढ़ी विकसित करना चाहते थे। जे कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं में समस्त मानव जाति और समाज के पुनरुत्थान के बीज प्रच्छन्न हैं। 'इंग्लैंड के ब्रॉकवुड पार्क' को जे कृष्णमूर्ति ने एक ऐसे परिवेश के लिए स्थापित किया था जहां जीवन के मौलिक प्रश्नों की छानबीन हो सके एवं मानव आंतरिक रूप से प्रस्फुटित हो सके।

जिद्दू कृष्णमूर्ति की शैक्षिक विचारधारा सामान्य शैक्षिक दर्शन से बहुत भिन्न है। कृष्णमूर्ति जी कि शैक्षिक विचारधारा उनकी उन दार्शनिक विचारधाराओं के उत्पाद हैं जिनको उन्होंने स्वयं जिया है। उन्होंने अपने स्वयं के अनुभव के आधार पर ही अपने दर्शन का प्रतिपादन किया है। उनके दर्शन की निष्पत्ति उनकी शिक्षा के रूप में है। जे कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन जीवंत है। जे कृष्णमूर्ति का मानना है कि विचारों के अनुरूप बच्चों को शिक्षित किया जाए तो निश्चित रूप से एक नूतन संस्कृति एवं नूतन विश्व का निर्माण संभव है। कृष्णमूर्ति जी की शिक्षाओं के आधार पर शिक्षित किए गए नूतन समाज में बाह्य एवं आभ्यंतर की समस्त मानवीय समस्याओं का सहजता से निदान किया जा सकता है।

सन्दर्भ

- जयकर, पुपुल (1988) जे. कृष्णमूर्ति की जीवनी, पेंग्विन पब्लिशर, हार्पर एंड रो।
- कृष्णमूर्ति, जे. (1996) सत्य एक पथहीन भूमि, कृष्णमूर्ति परिषद, वाराणसी।
- कृष्णमूर्ति, जे. (1998) शिक्षा संवाद, कृष्णमूर्ति फाऊंडेशन इंडिया, राजघाट कोर्ट, वाराणसी।
- टिकेकर, इन्दु (2001) जे. कृष्णमूर्ति जीवन और दर्शन, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- कृष्णमूर्ति, जे. (2004) ज्ञात से मुक्ति, कृष्णमूर्ति फाऊंडेशन, वाराणसी, इंडिया।
- कृष्णमूर्ति, जे. (2005) शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य, कृष्णमूर्ति फाऊंडेशन इंडिया, राजघाट कोर्ट, वाराणसी।
- अग्रवाल, सरस्वती (2008) जिद्दू कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन, परिपेक्ष्य वर्ष 15, अंक-2.
- कृष्णमूर्ति, जे. (2014) शिक्षा क्या है? राजपाल एंड संस, दिल्ली।

आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त शासकीय सुविधाओं के प्रति जागरूकता का अध्ययन

डॉ० रिया तिवारी

सहायक प्राध्यापिका, प. रविशंकर वि.वि., रायपुर

दीपक कुमार धनगर

पीएचडी स्कॉलर, हेमचंद विश्वविद्यालय, दुर्ग

प्रस्तावना

शिक्षा एवं जागरूकता की प्रक्रिया का मानव जीवन के विकास में सर्वाधिक महत्व है। वस्तुत: सभ्य व सुसंस्कृत विश्व का जो भी स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित करने में जागरूकता का विशेष योगदान है। व्यक्ति के जीवन में जब-जब किसी भी प्रकार की समस्या उत्पन्न होती है, उसे जागरूकता की आवश्यकता की अनुभूति हुई है जागस्कता के माध्यम से व्यक्ति की समस्याओ के समाधान हेतु सहायता प्राप्त हो जाने का ही यह परिणाम है कि व्यक्ति एवं समाज का निरतंर विकास होता रहता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो कह सकते है कि जागरूकता का उद्गम तभी से माना जा सकता है, जब से मानव सभ्यता का उदय हुआ है भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि हमारे देश में अति प्राचीन काल से ही जागरूकता प्रदान करने का उत्तरदायित्व का निर्वाह किया जाता था।

समस्या

"आवश्यकता की संतुष्टि के साधन या मार्ग में बाधा ही समस्या है।"

जिस प्रकार समस्या समाधान के साधन खोज लिए जाते है। आवश्यकता की संतुष्टि हो जाता है तथा समस्या का अंत हो जाता है, उसी प्रकार समस्या की गंभीरता आवश्यकता की गहनता और साधनों की उपलब्धि पर निर्भर होती है।

उद्देश्य

1. आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों की प्राप्त शिक्षा संबंधित शासकीय सुविधाओं का अध्ययन करना।
2. आदिवासी क्षेत्र मे अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त व्यवसाय संबंधित शासकीय सुविधाओं का अध्ययन करना।
3. आदिवासी क्षेत्र मे अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त आर्थिक सहायता संबंधित शासकीय सुविधाओं का अध्ययन करना।
4. आदिवासी क्षेत्र मे अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त स्वास्थ्य संबंधित शासकीय सुविधाओं का अध्ययन करना।

अध्ययन के शोध प्रश्न

1. क्या आदिवासी क्षेत्र मे अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त शिक्षा संबंधे शासकीय सुविधाओं की जानकारी है?
2. क्या आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को व्यवसाय संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारी है?
3. क्या आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारी है?
4. क्या आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को स्वास्थ्य संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारी है?

विधि

प्रस्तुत शोध के लिए आंकड़ों को एकत्र करने के लिए सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है तथा प्रश्नावली उपकरण का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत लघु शोध "आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त शासकीय सुविधाओं के प्रति जागरूकता का अध्ययन "में शोधकर्ता द्वारा प्रश्नावली का प्रयोग किया गया है जिसमें 28 प्रश्नों का समावेश किया गया है जिसे शिक्षा, व्यवसाय, आर्थिक सहायता एवं स्वास्थ्य संबंधी चार भागों में

विभाजित किया गया है जिसमें उत्तरदाताओं को प्रश्नों के उत्तर हॉ या नही में देना है। प्रत्येक सही उत्तर पर 1 अंक तथा गलत उत्तर पर 0 अंक प्रदान किये गये।

निष्कर्ष: विद्यार्थियों के लिए

1. शोध प्रश्न: आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त शिक्षा संबंधी शासकीय सुविधाओं के प्रति जागरूकता का अध्ययन।

विश्लेषण

सारणी क्रमांक 4.1: शिक्षा संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारी

विषय	हाँ	नही
शिक्षा संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारीका प्रतिशत	37.5%	62.5%

निष्कर्ष: आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त शिक्षा संबंधी शासकीय सुविधाओं की 37.5 प्रतिशत में जागरूकता की जानकारी है।

व्याख्या: उपरोक्त सारणी द्वारा शिक्षा संबंधी शासकीय सुविधाओं की जागरूकता

इस कथन हेतु 100 प्रतिशत अत्तर दाताओं 37.5 प्रतिशत में अपना मत हाँ मे दिया और 62.5 प्रतिशत उत्तर दाताओं ने अपना मत नहीं में दिया हैं चुकि वे उत्तर दताओं द्वारा नहीं कहने का कारण यह है कि वे शिक्षा संबंधी शासकिय सुविधाओं में जानकारी से अतिरिखत है और जागरूकता के लिए प्रोत्तसाहन की कमी है।

रेखाचित्र क्रमांक-1

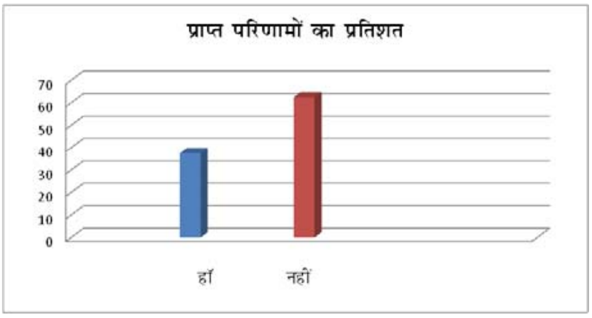

2. शोध प्रश्न: आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त व्यवसाय संबंधी शासकीय सुविधाओं के प्रति जागरूकता का अध्ययन।

विश्लेषण:

सारणी क्रमांक 4.2: व्यवसाय संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारी

विषय	हाँ	नही
व्यवसाय संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारी का प्रतिशत	40.35%	59.45%

निष्कर्ष: आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यााथिर्यों को प्रप्त व्यवसाय संबंधी शासकीय सुविधाओं की 40.55 प्रतिशत में जरगरूकता की जानकारी है।

व्याख्या: अपरोक्त सारणी द्वारा स्पष्ट है कि व्यवसाय संबंधी शासकी सुविधाओं की जागरूकता के जानकारी अस कथन हेतु 100 प्रतिशत उत्तर दातओं 40.55 प्रतिशत में अपना मत हाँ में दिया और 59.45 प्रतिशत उत्तर दाताओं ने अपना मत नहीं में दिया है चूकि ये उत्तर दाताओं द्वारा नही कहने का कारण यह है कि वे व्यवसाय संबंधि शासकिय सुविधाओ की जानकारी से अपरिचित है और पूर्ण रूप से जागरूकता की आवश्यकता है।

रेखाचित्र क्रमांक-2

3. शोध प्रश्न: आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्त आर्थिक सहायता संबंधी शासकिय सुविधाओं के प्रति जागरूकता का अध्ययन।

विश्लेषण:

सारणी क्रमांक 4.3: आर्थिक सहायता संबंधी शासकिय सुविधाओं की जानकारी

विषय	हाँ	नही
आर्थिक सहायता संबंधी शासकिय सुविधाओं की जानकारीका प्रतिशत	60.79%	39.29%

निष्कर्ष: आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्राप्तप्राप्त आर्थिक सहायता संबंधी शासकिय सुविधाओं 60.79 प्रतिशत में जागरूकता की जानकारी है।

व्याख्या: अपरोक्त सारणी द्वारा स्पष्ट है कि आर्थिक सहायता संबंधी शासकिय सुविधाओं की जागरूकता जानकारी इस कथन हेतु 100 प्रतिशत उत्तर दाताओं 60.79 प्रतिशत में उपना मत हाँ में दिया है और 39.29 प्रतिशत उत्तर दाताओं ने अपना मत नहीं में दिया हैं चूकि ये उत्तर दाताओं द्वारा हाँ कहने को कारण यह है कि वे आर्थिक सहायता संबंधी शासकिय सुविधाओं की जानकारी समान्य रूप से परिचित है।

रेखाचित्र क्रमांक-3

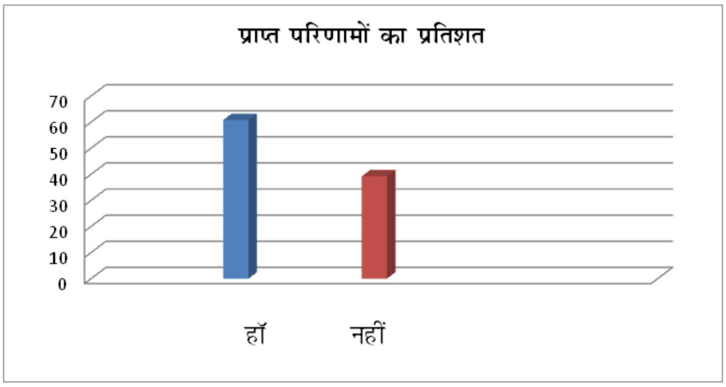

4. शोध प्रश्न: आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत विद्यार्थियों को स्वास्थ्य संबंधी शासकीय सुविधाओं के प्रति जागरूकता का अध्ययन।

विश्लेषण:

सारणी क्रमांक 4.4: स्वास्थ्य संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारी

विषय	हाँ	नही
स्वास्थ्य संबंधी शासकीय सुविधाओं की जानकारी का प्रतिशत	76.75%	23.25%

निष्कर्ष: आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियो को प्राप्त स्वास्थ्य संबंधी शासकीय सुविधाओं की 76.75 प्रतिशत जागरूकता की जानकारी है।

व्याख्या: उपरोक्त सारणी द्वारा, स्पष्ट है कि स्वस्थ्य संबंधी शासकी सुविधाओं जानकारी इस कथन हेतु 100 प्रतिशत उत्तर दाताओं 76.75 प्रतिशत में अपना मत हाँ में दिया है और 23.25 प्रतिशत उत्तर दाताओं ने अपना मत नहीं मं दिया है चूकि ये उत्तर दाताओं द्वारा हाँ कहने का कारण यह है कि वे स्वस्थ्य संबंधी शासकिय सुविधाओं की जानकारी से परिचित है।

रेखाचित्र क्रमांक-4

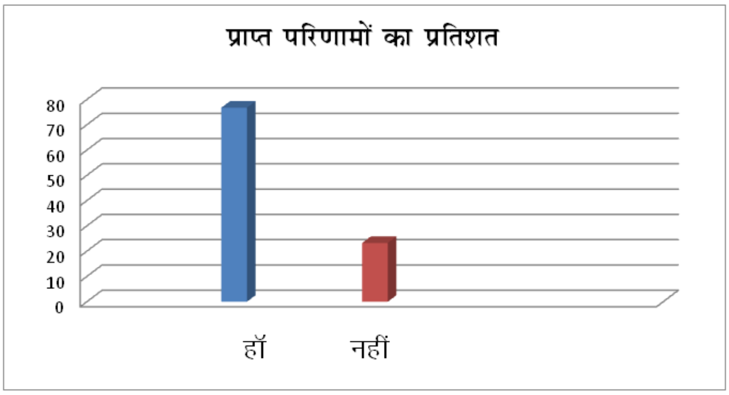

सुझाव

आदिवासी क्षेत्र मे अध्ययनरत् विद्यार्थियों व अन्य विद्यार्थियों तथा उनके पालकों के सर्वांगीण विकास के लिए जागरूकता की अति आवश्यक है, अत: विद्यालय को समय-समय पर आवश्यकतानुसार जागरूकता प्रदान करते रहना चाहिए।

इन विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत है-

1. अधिकांश आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को शिक्षा संबंधी शासकीय सुविधाओं के प्रति सही जागरूकता न मिल पाने के कारण सही दिशा में अध्ययन नही कर पाते है और रास्ते से वह रास्ते से भटक जाते है, अतः इन विद्यार्थियों को शासकीय सुविधाओं संबंधी उपयोगी एवं उचित जागरूकता प्रदान कर इनकी सहायता की जानी चाहिए।
2. आज हमारे भारत देश में विद्यलयों की संख्या कम है जिसके कारण सभी बालक शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते हैं और शिक्षा से वंचित हो जाते है साथ साथ ही अधिकांश विद्यालयों में व्यावससायिक जागरूकता भी प्रदान नही किया जाता है
3. आज के आधुनिक युग में परिवारों में कलह, द्वेश, जलन, आपसी मतभेद की भावना बढ़ती जा रही है, अतः आज के छात्रों को आर्थिक सहायता संबंधी उचित एवं आवश्यक जागरूकता समय-समय पर प्रदान करना चाहिए
4. वर्तमान समय में सभी छात्रों को अपने पूरे जीवन काल में विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिससे छात्र की अधिकांश सम्स्याएं स्वयं अपने आप से या व्यक्तिगत समस्याएं होती है जिससे असके शैक्षिक जीवन मं बुरा प्रभाव पड़ता है।
5. आदिवासी क्षेत्र में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को प्रापत शासकीय सुविधाओं के प्रति पालको को जागरूकता की जानकारी नही होती है इस कारण वे शासकीय सुविधाओं को प्राप्त करने से वंचित हो जाते है और अपने जीवन में अचित सफलता प्राप्त नही कर पाते है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वत्ज़लागक्क, मधु सिंह- फनवजय आधिकारिक प्रवचन, पेडोगोगिक प्रैक्टिस और आदिवासी समुदायः ए विरोधाभास में केस स्टडी।-फनवजय शिक्षा के समाजशास्त्र के ब्रिटिश जर्नल 5, नहीं। 3 (1 9 84): 227-45 Http:èèwww.jstor.orgèstableè1392687
2. मॉजे, एलिजाबेथ बिर, कैथरीन मैकिंटोश सिओनोवॉस्की, कैथरीन क्रेमर, लिंडसे एलिस, रोजरियोकैरिलो, और तेहानी कोलाजो -फनवजय कंटेंट एरिया साक्षरता में तीसरे स्थान पर कार्य करना' एक परीक्षाज्ञान और व्याख्यान के हर दिन के निधियों का (त्राबजांडा हॉसा एलियार एस्पैसियो एनअल्फाबाटिजियाटोन एन लास अर्स उे कंटेनोडोः संयुक्त राष्ट्र एस्टोनियो डी लॉसोनको वाई अल एला) हिन्विरकेनज्रम ड्रिटन राम इम्फेछेजबिएट्जेजेनन लेसन एंड श्रेबिनः एइन अनटेर्शनुग उबेर विसेंसाउफ्नहे एंड डिस्कर्स इट अल्र्अगस्लेबेब एंड इम क्लासेत्रकमट्रॉसीएमेम आयाम कमेटी डे लिटरेट्रेटः एन एपॅशन डेस कॉनैसूस ऐट ड्यू डिस्कोर्स क्वाटिडियन) (डेविसेन क्ली मेटिव एंड इजेयर अम्बायली ऑफ द रिटेल ग्रोथः इसास्डियन -फनवजयपढ़ना अनुसंधान तिमाही 39, नहीं 1 (2004): 38-70 Http:èèwww.jstor.orgèstableè4151759
3. अम्बुगुडिया, जगाानथ जातीय अधिकार, विसंगति और उडीसा में राज्य। आर्थिक औरारजनीतिक साप्ताहिक, वॉल्यूम 45, नहीं 33, 2010 पीपी 60767 www.jstor.orgèstableè25741972
4. पांडा, बी (2011) जनजातीय समूहों में लडकियां की शिक्षा भारतीयमानवविश्रानी, 41 (2), 15-32 Http:èèwww.jstor.orgèstableè41921988 से पुनर्प्रापत
5. स्ट्रामर, जी &Amp ओसबोर्न, एस (2014)। इतिहास, स्थिति, और त्रिशूल स्यं का भविष्य-भारतीय स्वयं-निदान और शिक्षा सहायता के तहत सरकार अधिनियम अमेंरिकी भीतीय कानून की समीक्षा, 39 (1), 1-75
   Http:èèwww.jstor.orgèstableè24367638ls iquizkZir
6. अमागुउडिया, जे (2006) बढत पर राकः प्रतिनिधित्व और चुनाव के लिए आरक्षणउडौसा में अनुसूचित जनजाति द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, 67 (2), 285-294। से लिया गया गया
7. घोश ए (2007)। अनुसूचित जनजातियों के बीच साक्षरता और शिक्षा में लिंग अंतरझारखंड और पश्चिम बंगाल सामजिक बुलेटिन, 56 (1), 109-125 से लिया गया Http:èèwww.jstor.orgèstableè23620707
8. सरीन एवं सरीन (2012)- शैक्षिक अनुसंधान की विधियाॅ अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
9. कपीलख एच. के. (2012)- अनुसंधान विधियाॅ, एच.पी. भार्गव बुक हाऊस आगरा

वैश्वीकरण और हिंदी का स्वरूप

डॉ० मौहम्मद अबीरउददीन

पी0जी0टी0 (हिंदी), ए0एम0यू0, अलीगढ़

साहित्य बहता नीर है। अर्थात् देशकाल और वातावरण के अनुसार साहित्य की प्रवृत्तियों में परिवर्तन आते हैं। इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "साहित्य जनता के चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब है।" इसी प्रकार बालकृष्ण भट्ट ने भी साहित्य के सम्बन्ध में कहा है कि "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।" अर्थात साहित्य जनता के चित्तवृत्ति के अनुसार परिवर्तित होता रहा है।

आज का युग संचार व प्रौद्यौगिकी का युग है। जहाँ पर एल.पी.जी. (उदारीकरण, निजीकरण, ग्लोबलाइजेशन) की हवा बह रही है। एल.पी.जी. की इसी हवा में ग्लोबलाइजेशन अपनी पूरी सक्रियता के साथ पूरे विश्व में विस्तारित होता जा रहा है और इसी ग्लोबलाइजेशन के कारण आज पूरा विश्व एक छोटी सी दुनिया में सिमट गया है। ग्लोबलाइजेशन के कारण हम एक दूसरे के नजदीक आ गये हैं और राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में हम एक दूसरे से परिचित हुए हैं। इसी परिचय की वजह से आर्थिक क्रियाओं में परस्पर निर्भरता बढ़ी है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला है।

वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं का समन्वय किया जाता है, जिससे वस्तुओं और सेवाओं, प्रौद्योगिकी, पूँजी तथा श्रम का इनके मध्य प्रवाह हो सके। अर्थात् राष्ट्रीय घरेलू अर्थव्यवस्थाओं का विश्व अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ना।

भूमण्डलीकरण के तीन चरणों की चर्चा की जाती है। भूमण्डलीकरण की पहली अवस्था 1870, आरम्भ होती है। इस दौर में महाजनी, पूँजीवाद विकसित होता है। भूमण्डलीकरण की दूसरी अवस्था का आरम्भ बीसवीं सदी के सत्तर के दशक के आरम्भ से हुआ। आज हम जिस भूमण्डलीकरण की बात करते हैं, वह भूमण्डलीकरण का तीसरा दौर है। यह नया भूमण्डलीकरण है। यह भूमण्डलीकरण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों (निगमों) की देन है। भूमण्डलीकरण पूँजी विज्ञान और तकनीक के मेल और सहयोग से शक्ति-संपन्न बना है।

क्षेत्र प्रदेश एवं राष्ट्र की सीमाओं को पार करते हुए, विश्व समुदाय के साथ आर्थिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में सहभागिता एवं आदान-प्रदान करना ही वैश्वीकरण (ग्लोबलाइजेशन) है। इसमें राष्ट्रवाद की संकुचित विचारधारा से ऊपर उठकर अपनी पहचान बनाए रखते हुए, विश्व बिरादरी में सम्मिलित होने और एक दूसरे को सहयोग करने की भावना सन्निहित है। इसका मुख्य उद्देश्य विकसित एवं विकासशील देशों का आर्थिक, बौद्धिक एवं वैज्ञानिक विकास करना है। इसी की कड़ी के रूप में विश्वबाजार अर्थव्यवस्था का विचार सामने आया, जिसमें पूरा विश्व एक बाजार के रूप में परिणत हो गया। इसी के परिणामस्वरूप भारत में भी आर्थिक सुधारों के लिए आर्थिक उदारीकरण की नीति को अपनाया गया, जिसके कारण पब्लिक सेक्टर के क्षेत्र में निजीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ और औद्योगिक क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए दरवाजे खोल दिए गए।

आर्थिक उदारीकरण के पीछे मुख्य उद्देश्य यह था कि जहाँ एक ओर सब्सिडी एवं घाटे में चल रही पब्लिक सेक्टर की कंपनियों एवं कलकारखानों से सरकार को निजात मिलेगी, वहीं दूसरी ओर विदेशी पूँजी निवेश भी बढ़ेगा, जिसकी समय-समय पर कमी महसूस की जा रही थी। विदेशी पूँजी निवेश का भंडार समृद्ध करने का मुख्य कारण यह था कि एक ओर पेट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस के आयात में बड़ी मात्रा में विदेशी पूँजी यानी कि 'डालर' की आवश्यकता थी तो दूसरी ओर रक्षा जरूरतों को पूरा करने, वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं तकनीकि क्षेत्र में मशीनों तथा उपकरणों के आयात में भी विदेशी पूँजी की आवश्यकता थी। एक उद्देश्य यह भी था कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आने से औद्योगिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी तथा चीजों की गुणवत्ता में बढ़ोत्तरी होगी और दाम सस्ते होंगे, जिसका लाभ जनता को मिलेगा जो भी हो, आर्थिक उदारीकरण के इस दौर में भारत आज भी विश्व बिरादरी का अभिन्न अंग बन चुका है।

वैश्वीकरण अथवा भूमंडलीकरण के संबंध में सबसे बड़ी चिंता यह व्यक्त की जा रही है कि जब पूरा विश्व ही 'एक बाजार' बन गया है, और जहाँ प्रत्येक वस्तु एक 'कमोडिटी' यानी की उपभोग की वस्तु बन गई है तो ऐसे में हर देश की अपनी सांस्कृतिक पहचान एवं अस्मिता ही खतरे में पड़ जाएगी तथा भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का संकट खड़ा हो जाएगा। विशेषकर 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के पक्षधर एवं आर्थिक उदारीकरण का विरोध करने वाले लोग इसे सांस्कृतिक हमला भी मान रहे हैं। इस संदर्भ में गिरीश मिश्र का कथन द्रष्टव्य है-"यह भूमंडलीकरण का जमाना है। दावा किया जा रहा है कि उसके बढ़ते कदम राष्ट्रीय सीमाओं को मिटा देंगे दुनिया को एकीकृत बाजार में बदलकर क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय संस्कृतियों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों और मिथकों को निष्प्राण कर देंगे। फिर किसी भी देश या क्षेत्र की अपनी कोई अलग पहचान नहीं की जाएगी। इतना ही नहीं, उसका साहित्य, उसकी विभिन्न विधाएँ और शैलियाँ गंभीर रूप से प्रभावित होंगी।"[1]

यह सच है कि युगीन परिस्थितियों का प्रभाव उस देश के समाज, साहित्य एवं संस्कृति पर पड़ता है, परंतु इतिहास गवाह है कि जिस देश की सांस्कृतिक जड़ें गहरी होती हैं, उसे कोई विदेशी आर्थिक-सांस्कृतिक झंझावत अपनी जड़ों से पृथक नहीं कर सकता। भारत इस बात का प्रमाण है। सैकड़ों वर्शों तक विदेशियों का गुलाम रहने पर भी उसने अपनी सांस्कृतिक पहचान को मिटने नहीं दिया, वरन और भी सशक्त होकर एकीकृत रूप में उभरकर सामने आया।

उत्तर आधुनिकता के इस युग में भी जब समाज का बौद्धिक एवं उच्च वर्ग बंद समाज की बेड़ियों को तोड़कर अत्याधुनिक परिधान, जीवनशैली एवं सुखोपभोग के उन्मुक्त गगन में मुक्त विहार कर रहा है, उनके सांस्कृतिक सरोकारों एवं धार्मिक मान्यताओं में कोई मूलभूत अंतर नहीं आया है। देश का लगभग तीस फीसदी मध्यवर्ग भी नई बोतल में पुरानी शराब की तरह अपने अतीत का रूपान्तरण नहीं कर पाया है। बाहर से भारतीय समाज बदला-बदला सा लग रहा है, परंतु भीतर से और अधिक परम्परावादी, रूढ़िवादी एवं धर्मभीरू होता जा रहा है। जिस अनुपात में बाह्य रूपांतरण हो रहा है, उस अनुपात में आभ्यंतर अर्थात् वैचारिक भावनात्मक रूपान्तरण नहीं हो रहा है। यही कारण है कि धार्मिक स्थलों की संख्या में न केवल अभूतपूर्व वृद्धि हो रही है, वरन् शिक्षित, नौकरीपेशा, साधन सम्पन्न, पूँजीपति एवं तथाकथित बौद्धिक श्रद्धालुओं की भीड़ में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। सांस्कृतिक चूलें हिलने के बजाय और अधिक मजबूत हो रही हैं। आजादी के तेहत्तर साल बीत जाने के बाद आर्थिक उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस युग में 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के पक्षधर दक्षिण पंथियों का केन्द्र में पहली बार सत्तासीन होना भी इस बात का प्रमाण है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया से जिन खतरों की आशंका व्यक्त की जा रही है अथवा सांस्कृतिक पहचान के लुप्त ही जाने का दावा किया जा रहा है, वह मात्र काल्पनिक भय है। आज भी समाज के छोटे-बड़े घरों में होने वाले शादी-ब्याह के निमंत्रण-कार्ड में, कार्य के निर्विघ्न रूप में सम्पन्न होने के लिए गणेश-वंदना का "लोक लिखा मिलेगा अथवा उसका आरम्भ धार्मिक आस्था के साथ हुआ होगा।

यद्यपि वैश्वीकरण अर्थात् 'ग्लोबलाइजेशन' या भूमंडलीकरण शब्द आधुनिक औद्योगिक युग के व्यापार जगत की देन है, परन्तु वैश्वीकरण की प्रक्रिया अति प्राचीन है। विश्व के तमाम देशों में समय-समय पर, अलग-अलग क्षेत्रो में वैश्वीकरण की प्रक्रिया एक सीमा तक आगे बढ़ी है, हालाँकि मीडिया या दूरसंचार क्रांति के फलस्वरूप आधुनिक युग में वैश्वीकरण का हल्ला बोल कार्यक्रम कुछ अधिक जोर-शोर से सुनाई दे रहा है, परंतु अपने सीमित रूप में अतीत में भी वैश्वीकरण की प्रक्रिया चलती रही है। इस संदर्भ में अशोक केलकर का कथन प्रासंगिक है, वे लिखते हैं-"मनुष्य के अंदर बहुत आरसे से जो वैश्वीकरण की आस है, उसे व्यापार उद्यम के कारण बल मिला है। मनुष्य के इतिहास में जिस जगह जब-जब उद्यम, व्यापार, राजकरण, समाज-व्यवहार और सभ्यता एक प्रगाढ़ और परिपक्व स्थिति तक पहुँची, उन सभी जगहों पर तब-तब मनुष्य की दृष्टि सिर्फ स्वजन, स्वदेश, स्वविद्या, स्वधर्म, स्वभाषा इनमें सीमित नहीं ठहरी। वह परकीय, परदेस, परविद्या, परधर्म, परभाषा इन तक जा पहुँची। विशाल बनी और तुलना करने लगी, आदान-प्रदान की सोच करने लगी।"[2] अर्थात् अतीत में राज्य व्यवस्था, धर्म, साहित्य, भाषा, आंदोलन, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, मुद्रण, संचार माध्यमों एवं कला आदि का वैश्वीकरण होता रहा है।

भारत के लिए वैश्वीकरण की अवधारणा कोई नई बात नहीं है। भारतीय धर्म-दर्शन की 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना में यह अवधारणा पहले से ही निहित है। संस्कृत भाषा-साहित्य तथा बौद्ध धर्म स्वदेश तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् परदेश में भी जा पहुँचा। जर्मनी में संस्कृत के तथा भारत में अंग्रेजी के कई प्रकाण्ड विद्वान हुए हैं। जहाँ वर्तमान में भारतवर्ष में बौद्धधर्म अपनी अंतिम साँसे गिन रहा है, वहीं चीन, जापान, तिब्बत, श्रीलंका, म्यांमार, थाईलैण्ड आदि अनेक दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों में फल-फूल रहा है। भारत ने भी धार्मिक उदारता का परिचय दिया है और यहाँ इस्लाम तथा इसाई धर्म सदियों से फल-फूल रहा है। यहाँ का समाज एक दूसरे के धर्मो का हमेशा से सम्मान करता रहा है। यही कारण है कि भारत एक बहुधर्मी, बहुभाषी एवं इंद्रधनुशी संस्कृति का देश है। अध्यात्म के क्षेत्र में भारत विश्व गुरू माना जाता है, जबकि विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिमी देश अग्रणी रहे हैं। हमने आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी आदि को उदारता से ग्रहण किया है। कहने का आशय यह है कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विश्व के देशो में अतीत से लेकर वर्तमान तक आदान-प्रदान चलता रहा है, बिना इसके दुनिया आगे नहीं बढ़ सकती।

जब-जब भारत में शुद्धता के नाम पर स्वयं को बंद समाज के रूप में स्थापित करने की कोशिश की अथवा बाहरी दुनिया से परहेज किया, तब-तब विदेशी सभ्यता, संस्कृति एवं भाषा, एक तूफान की तरह हमारे खिड़की-दरवाजे को तोड़ती हुई, हमारे घर के अंदर तक आ पहुँची। तुर्को, मुगलों एवं अंग्रजों वगैरह के आक्रमण एवं उनका यहाँ स्थायी साम्राज्य स्थापित करना, इसका प्रमाण है। हमें विदेशी धर्म, विद्या, सभ्यता, संस्कृति एवं भाषा को स्वीकार करना पड़ा। अतः स्वेच्छा से, सीमित क्षेत्र या विस्तृत क्षेत्र में, वैश्वीकरण की प्रक्रिया चलती रही है।

वर्तमान में वैश्वीकरण की प्रक्रिया औद्योगिक एवं व्यापार जगत से होते हुए जीवन के अन्य क्षेत्रो में भी अपना जाल फैला रही है। वैश्वीकरण के फलस्वरूप विश्व की बिरादरी में जब परस्पर संपर्क की बात आती है तो उसे संपर्क या पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए एक भाषा की जरूरत होती है। वर्तमान संदर्भो में अंग्रेजी ही विश्व की प्रमुख संपर्क भाषा होने से वैश्विक भाषाओं में पहले स्थान पर है अशोक केलकर के अनुसार- "सिनेमा, बैंक, रेल, फुटबाल, रेनेसांस, ग्लास्नोस्त, सत्याग्रह ये शब्द जितने वैश्विक बन गए है, उतने ही नौकरशाही, विभाग की धुलाई, आविष्कार, स्वातंत्र्य, वैश्वीकरण-इन शब्दों का उद्‌गम वैश्विक है। जिस तरह शब्द वैश्विक बनते हैं, वैसे ही भाषाएँ भी वैश्विक बन सकती हैं। फ्रेंच, अंग्रेजी, स्पैनिश ये पहली वैश्विक भाषाएँ थीं। संयुक्त राष्ट्र संगठन ने इस तालिका में चीनी और रशियन को भी समाविष्ट किया। यथावकाश अरबी, हिंदी, शायद जापानी भी उनमें बैठेगी।"[3]

अंग्रेजी भाषा के वैश्वीकरण का एक प्रमुख कारण अतीत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विस्तार रहा है, जिसके कारण विश्व के अधिकांश ब्रिटिश औपनिवेशिक देशों में अंग्रेजी भाषा का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। दूसरा कारण, वर्तमान में विश्व व्यापार संगठन का आर्थिक उदारीकरण रहा है, जिसमें विश्व के विकसित देश संपूर्ण विश्व में अपना व्यापार फैलाने के लिए अंग्रेजी को संपर्क भाषा के रूप में अपनाना सर्वाधिक सुविधाजनक मानते हैं।

वैश्वीकरण के संदर्भ में भारत की स्थिति पर विचार करें तो आज सरकार बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधारों के नाम पर सरकारी मिलों, कंपनियों, कल-कारखानों एवं उद्योग-धंधों का भी सस्ते दामों में बेचकर निजीकरण किया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत में पूँजी निवेश कर रही हैं। मुक्त व्यापार प्रणाली के कारण विश्व के अनेक देशों के लिए भारत एक लाभदायी बाजार के रूप में विकसित हो रहा है। इसे कुछ भारतीय आर्थिक चिंतक आर्थिक गुलामी की दृष्टि से भी देख रहे हैं। जिस तरह से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रारंभ में थोड़े से भाग में अपना व्यापार प्रारंभ किया तथा धीरे-धीरे पूरे देश में अपनी जड़ें इस तरह से जमा लीं कि भारत की राजनीतिक सत्ता भी हथिया ली। कमोवेश ऐसी ही स्थिति भविष्य में भी आ सकती है क्योंकि आर्थिक गुलामी अंततः राजनीतिक गुलामी का भी मार्ग प्रशस्त करती है और इतिहास इस बात का साक्षी है।

गुलाम भारत में अंग्रेजी का जितना बोलबाला नहीं था, आज उससेकहीं अधिक उसका प्रचार-प्रसार हो रहा है। पूरे देश में जिस तरह अंग्रेजी माध्यम के पब्लिक स्कूलों की बाढ़ सी आ गई है और प्रत्येक साधन-सम्पन्न माँ-बाप अपने बच्चों को इन स्कूलों में पढ़ाना चाहते हैं, वह निश्चित रूप से न केवल हिंदी के लिए, वरन, अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी चिंता का विषय हो सकता है, परंतु यदि हम समस्या के दूसरे पहलू को देखें और भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में गहराई से विचार करें तो चिंता की विशेष बात नजर नहीं आती।

संस्कृत भाषा अपने सर्वोच्च साहित्यिक अवदान के बावजूद, ऐतिहासिक विकासक्रम में, प्राकृत एवं अपभ्रंश के रूप में विभिन्न जनपदीय बोलियों के रूप में बिखर गई। कभी राष्ट्रभाषा, जनभाषा एवं साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित संस्कृत भाषा का यह हश्र क्यों हुआ? एक वैज्ञानिक व्याकरण के साँचे में ढली, देवनागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि में निबद्ध यह भाषा कैसे जनसामान्य से कटकर अपने अवसान को पहुँच गई, यह विचारणीय बिंदु है। क्या इसी तरह वर्तमान खड़ीबोली हिंदी भी अपने विकास के चरमोत्कर्श पर पहुँचकर अवसान को प्राप्त हो जाएगी? समृद्ध साहित्य से भरपूर अंग्रेजी के साथ ऐसा क्यों नहीं हुआ? हर दृष्टि से समृद्ध संस्कृत के पतन और अंग्रेजी के उत्थान के कारणों की पड़ताल करें तो शुद्धता के अतिवादी आग्रह ने जहाँ संस्कृत को आम आदमी की पहुँच से दूर कर दिया, वहीं अंग्रेजों की विस्तारवादी नीति ने उसे पूरे विश्व में विस्तारित कर दिया। कोई भी भाषा जनसामान्य के प्रयोग पर ही जिन्दा रह सकती है। प्रयोग में न आने से भाषा प्रचलन से बाहर हो जाती है और वही उसके अवसान का कारण बनता है। संस्कृत के साथ भी यही हुआ।

जिस समय संस्कृत अपने अवशेश रूप अपभ्रंश के रूप में जनमानस के बीच प्रचलित हो रही थी तथा काव्यभाषा के रूप में राजदरबारों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही थी, ठीक उसी समय भारत में विदेशी आक्रमणों का सिलसिला शुरू हुआ। उल्लेखनीय है कि विदेशी शासनकाल की दीर्घावधि में जनपदीय बोलियों (राजस्थानी, मैथिली, ब्रज, अवधी आदि) के रूप में हिंदी भाषा-साहित्य की जितनी श्रीवृद्धि हुई, उतनी इससे पूर्व कभी नहीं हुई। इसीलिए मध्यकाल को हिंदी साहित्य का 'स्वर्णयुग' कहा गया। परंतु स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में जिस तरह से एकाएक खड़ीबोली हिंदी पूरे देश की सम्पर्क भाषा के रूप में उभरकर सामने आयी, उससे अशोक केलकर के उस कथन की पुष्टि होती है कि, "वैश्वीकरण केवल वैश्विक भाषाओं का ही नहीं, कम या ज्यादा मात्रा में सभी सम्पर्क भाषाओं का भी होता रहता है।"[4]

वैश्वीकरण के संदर्भ में जहाँ तक हिंदी भाषा का संबंध है, हिंदी न केवल भारत की राजभाषा एवं सम्पर्क भाषा है, वरन् विश्व में बोली जाने वाली दूसरी सबसे बड़ी भाषा है, जिसका प्रयोग लगभग 22 देशों में 80 करोड़ से भी अधिक लोगों द्वारा किया जाता है, "विश्व स्तर पर हिंदी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से 5 जून से 9 जून 2003 तक सूरीनाम के पारामारिबो शहर में सातवाँ 'विश्व हिंदी सम्मेलन' आयोजित हुआ, जिसमें हिंदी की वैश्विक स्थिति पर विचार किया गया तथा कैसे हिंदी को विश्व स्तर पर और आगे बढ़ाया जाये और उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में मान्यता दिलायी जाये इस संबंध में कई प्रस्ताव पारित किए गये।"[5] इस तरह हिंदी बड़ी तेजी से वैश्विक भाषा के रूप में उभरी है, जिसमें उसे विश्वस्तर पर प्रचारित-प्रसारित करने में हिंदी फिल्मों का बहुत बड़ा योगदान रहा है, हालांकि हिंदी फिल्मों के अभिनेता-अभिनेत्री फिल्मों के अलावा अन्यत्र अंग्रेजी में ही वार्तालाप करते हैं। अत: कहा जा सकता है कि हिंदी वैश्विक भाषा है। आर्थिक उदारीकरण तथा मुक्त विश्व व्यापार प्रणाली के कारण उसका वैश्वीकरण हो रहा है। वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया में उसमें वैश्विक भाषाओं के शब्दों का मिश्रण होना स्वाभाविक है। हिंदी इस मामले में काफी उदार है। उसने पहले से ही कई विदेशी भाषाओं-अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि के हजारों शब्दों को अपनाया हुआ है और अपनी जरूरतों के अनुरूप यह प्रक्रिया निरंतर जारी है। अत: परकीय साहित्य, परभाषा या परविद्या आदि से परहेज न रखने के कारण हिंदी निरंतर विकास की ओर अग्रसर है।

भारत एक विकासशील देश है। विकसित देशों के लिए वह एक बहुत बड़ा बाजार है। हमारे देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का जाल बिछ रहा है। विश्व बैंक द्वारा जो करोड़ो रूपया हमारे राष्ट्रीय राजमार्गो तथा ग्रामीण सड़क योजना के लिए दिया जा रहा है, उसका मुख्य उद्देश्य यही है कि भारत का प्रत्येक गाँव शहरों में जुड़ जाये, ताकि विकसित देशों का उत्पाद शहरों तक ही सीमित न रहकर, गाँव-गाँव तक पहुँच जाये और गाँवों की जरूरतों को ध्यान में रखकर ही माल तैयार किया जाये। इस तरह वैश्वीकरण की प्रक्रिया शहरों तक ही सीमित न रखकर, भारत के गाँव-गाँव तक पहुँचाने की प्रक्रिया चल रही है। इसमें सड़कें, परिवहन, दूरसंचार के विविध माध्यम, प्रिंट मीडिया एवं इलैक्ट्रॉनिक मीडिया आदि अपनी अहम भूमिका निभा रहे हैं। उद्यम, व्यापार, सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा तमाम क्षेत्रों में वैश्वीकरण के फलस्वरूप हिंदी का विस्तार होगा, क्योंकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कर्मचारियों को यहाँ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए संपर्क भाषा के रूप में हिंदी को अपनाया होगा, साथ ही इन कम्पनियों में कार्यरत हिंदी भाषी भारतियों को विदेशो में जाने का अवसर मिलेगा और वे भी अपने साथ वहाँ हिंदी भाषा ले जाएँगे। इस तरह हिंदी-अंग्रेजी दोनों भाषाओं का परस्पर आदान-प्रदान चलता रहेगा। भारतीय उपमहाद्वीप के लगभग पचास करोड़ हिंदी मातृभाषी लोंगों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए विश्व के विकसित देशों को हिंदी का सहारा लेना ही पड़ेगा।

आज हिंदी में, साहित्य की लगभग सभी विधाओं में साहित्य सृजन हो रहा है। न केवल हिन्दीतर भारतीय भाषाओं में, वरन् विश्व की अनेक भाषाओं में हिंदी की श्रेष्ठ रचनाओं का अनुवाद हो रहा है। साथ ही विश्व की अन्य भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का अनुवाद भी हिंदी में हो रहा है। इस तरह सृजनात्मक साहित्यके आदान-प्रदान के माध्यम के रूप में भी हिंदी का वैश्वीकरण हो रहा है।

हाल के वर्शो में परम्परागत लोक ज्ञान-विज्ञान की ओर विकसित देशों का रूझान तेजी से बढ़ा है, जिसमें लोकवार्ता साहित्य, लोकनृत्य, लोकसंगीत, लोक विज्ञान वगैरह सभी कुछ सम्मिलित हैं। विदेशी अध्येता गाँव-गाँव जाकर न केवल इस दिशा में अध्ययन कर रहे हैं, वरन् तत्सम्बन्धी सामग्री का संग्रह भी कर रहे हैं। इस कार्य के लिए वे कहीं-कहीं स्थानीय बोलियों को न केवल हिंदी के माध्यम से सीख रहे हैं, वरन् उनमें अपने धर्मग्रंथ बाइबिल वगैरह का अनुवाद भी करवा रहे हैं। इस तरह हिंदी भाषा विश्व स्तर पर विस्तार पा रहे हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया जिस दिशा में आगे बढ़ रही है। उसे अब रोका नहीं जा सकता। हमें अपनी पहचान बनाए रखते हुए, उसमें सहभागिता करनी पड़ेगी क्योंकि हम विश्व समुदाय से कटकर अलग-थलग नहीं रह सकते। यह आदान-प्रदान एवं परस्पर सहअस्तित्व बनाए रखने का युग है। इसमें विश्व बिरादरी से हम कुछ लेते भी हैं और बदले में कुछ देते भी हैं। इसी कारण विभिन्न क्षेत्रो में विकास को गति मिलती है। इस लेनदेन की प्रक्रिया में कई तरह के समझौते भी करने पड़ते हैं। कभी-कभी कुछ पाने के लिए कुछ खोना भी पड़ता है। दिक्कत तब आती है जब हम दूसरों से केवल ग्रहण करते रहें और

बदले में कुछ देने की स्थिति में न हों। ऐसे में अपनी अस्मिता एवं पहचान बनाए रखना कठिन होता है और हम परजीवी होकर रह जाते हैं। इस तरह वैश्वीकरण के कुछ फायदे हैं तो कुछ नुकसान भी। वैश्वीकरण की प्रक्रिया एक संयुक्त परिवार की तरह है, जिसमें परिवार के प्रत्येक सदस्य को घुल-मिलकर रहना पड़ता है। वैश्वीकरण के कारण आज 'विश्व' ग्राम में तब्दील हो गया है। ऐसे में भाषा को भी परकीय प्रभावों से नहीं बचाया जा सकता। भाषा के मूलरूप की शुद्धता की बात करना बेईमानी एवं आत्मघाती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि दूसरी भाषाओं से आगत शब्द अपनी भाषा के व्याकरण में इस तरह से रच-बस जाएं कि वे अपने भाषा परिवार के ही सदस्य लगें।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया उद्योग एवं व्यापार क्षेत्र से ज्यों-ज्यों जीवन के सामाजिक एंव सांस्कृतिक क्षेत्रों में विस्तार पाएगी, त्यों-त्यों भाषा का स्वरूप भी बदलता जायेगा। यही कारण है कि जन संचार माध्यमों की हिंदी, आजकल 'हिंगलिश' (हिंदी+इंग्लिश) का रूप ले रही है। वर्तमान में विभिन्न क्षेत्रो में हिंदी जिन रूपों में उभरकर सामने आ रही है, उनमें प्रमुख है-1, साहित्यिक (सृजनात्मक) हिंदी, 2. राजकाज संबंधी कार्यालयी हिंदी, 3. संपर्क भाषा के रूप में बोलचाल की हिंदी, 4. वैज्ञानिक लेखन की हिंदी, 5. पत्रकारिता एवं संचार माध्यमों (प्रिंट मीडिया एवं इलैक्ट्रॉनिक मीडिया) की हिंदी, 6. वैश्वीकरण (उद्योग-व्यापार) की हिंदी। इस तरह हिंदी भाषा का बहुआयामी विकास हो रहा है, परन्तु उसका व्याकरण एक है। व्याकरण ही वह केन्द्रीय धुरी है जो भाषा को एक सूत्र में बाँधे रखती है और उसे बिखरने नहीं देती।

निष्कर्षत

हम कह सकते हैं कि हिंदी भारतीय संस्कृति की संवाहक है। विश्व के देशों ने जब सांस्कृतिक आदान-प्रदान की नीति को स्वीकार कर लिया है तो भाषा भी उसी का एक अंग है। हिंदी के माध्यम से विश्व बिरादरी को भारतीय संस्कृति से परिचित होने का अवसर मिल रहा है। सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा बसुधैव कुटुम्बकम् भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं। भारत जियो और जीने दो की भाषा पर विश्वास करता है। भारतीय संस्कृति के इन मूलभूत संदेशों का हिंदी के माध्यम से जिस दिन वैश्वीकरण हो जाएगा,उस दिन विश्व का नक्शा ही बदल जाएगा और वैश्वीकरण की दिशा में विश्व को भारत का वह सबसे बड़ा योगदान होगा।

संदर्भ

1. आलोचना (त्रैमासिक), प्रधान सम्पादक : नामवर सिंह, अप्रैल-जून 2002, पृष्ठ-82 (भूमंडलीकरण के युग में जादूई यथार्थवाद)।
2. वही, पृष्ठ 90 (भाषा का वैश्विकीकरण और वैश्विकीकरण की भाषा, अनुवाद: सुप्रिया सहस्रबु (s)।
3. वही, पृष्ठ 87
4. वही, पृष्ठ 88
5. साहित्य अमृत (मासिक), संपादक' विद्यानिवास मिश्र, जून 2003, पृष्ठ-23-31

कबीर की सामाजिक चेतना में मानवाधिकार

डॉ० रविश कुमार सिंह

चौहानडीह, जमुई (बिहार)

परिचय

समाज व्यापक मानव-समूह का नाम है जहाँ लगातार विभिन्न प्रकार की परम्पराएँ और विचारधाराएँ जन्म लेती हैं, विकसित होती हैं और अन्ततः समाप्त हो जाती हैं। इनमें किसी तरह का बदलाव लाना काफी मुश्किल है। इसका मतलब यह नहीं है कि समाज जड़ सत्ता का प्रतीक है। समय की यात्रा में समाज जब अपने ही साधनों के बीच उलझकर बिखरने लगता है तो उस संक्रमणकाल में कोई प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति लोगों में नयी चेतना का संचार करता है। यद्यपि उसे गहरे विरोधों के बीच संघर्ष करना पड़ता है। किन्तु कुछ समय बाद एक बड़ा समुदाय उसका अनुयायी बन जाता है और अनेक लोग उसके साथ खड़े हो कर सामाजिक उत्थान के कार्य में गति और उर्जा का संचार करते हैं। मध्यकालीन भारतीय समाज में कबीर का प्रादुर्भाव इसी रूप में हुआ।

कबीर के जन्म के समय समाज अनेक बुराइयों से ग्रस्त था। समाज में चारों ओर छुआछूत, ऊँच-नीच, रूढ़िवादिता, मिथ्याचार और पाखण्ड का बोलबाला व्याप्त था। हिन्दू-मुसलमान आपस में झगड़ते रहते थे। धर्म के ठेकेदार अपने स्वार्थ की रोटियाँ धार्मिक कट्टरता एवं उन्माद के चूल्हे पर सेंक रहे थे। कबीर ने इनका दृढ़ता से विरोध किया। उन्होंने सभी सामाजिक बुराइयों को निर्भीकता से दूर करने का प्रयास किया और इसमें काफी हद तक सफल भी रहे हैं।

कबीर को भरोषा था कि हिन्दू और मुसलमान में एकता और भाईचारा आये बिना किसी तरह का सामाजिक सुधार संभव नहीं हो पायेगा। ये दोनों धर्मानुयायी भयंकर दकियानूस थे। तमाम विरोधों और अवरोधों के बावजूद कबीर ने दोनों की कड़ी आलोचना की। सामाजिक चेतना के जागरण हेतु कबीर ने निरक्षर रहते हुए भी अपने शब्दों में जो क्रांति की ज्वाला जलाई थी, वह आज भी प्रेरणादायक है।

"हिन्दू अपने करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।
वैष्या के पावन त सोवे, यह देखो हिन्दुआई।।
मुसलमान के पीर-औलिया मुर्गी-मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै घरहि में करे सगाई"।।

कबीर ने सामाजिक-जीवन की विसंगतियों और कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य छोड़े हैं, जिनका परिणाम केवल तिलमिलाहट में व्यक्त होता है। वर्तमान समय में भी यह स्थिति है। समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो अच्छाई का मुखौटा ओढ़कर अत्याचार और अनाचार करते हैं। "कबीर का सारा साहित्य समाज सुधार का ही सशक्त प्रयास है"।

कबीर ने अपने समय में चल रही मूर्तिपूजा की आलोचना की थी। वे लोगों को समझाते थे कि मूर्ति की प्रतीकात्मकता को भूलाकर उसे ही सही ईश्वर समझ लेना पाखंड है। मूर्ति या तस्वीर एक साधन मात्र है। कबीर ने इस प्रकार की मूर्ति पूजा का खंडन करके उसके व्यापक रूप को अनुभव करने का सन्देश दिया है।

कबीर ने इसी प्रकार अन्य सामाजिक कुरीतियों और दुर्गणों का खण्डन किया है। हिन्दी साहित्य में कबीर जैसा दूसरा क्रान्तिकारी व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ता।

आज के समाज की अनेक समस्याओं में से सबसे बड़ी और प्रमुख समस्या है धार्मिक कट्टरपन। इसी धार्मिक कट्टरता या साम्प्रदायिकता के कारण एक आदमी दूसरे आदमी के खून का प्यासा बन जाता है जिससे व्यक्तियों का सहअस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है जो सामाजिक संगठन की मूलभूत आवश्यकता है।

जहाँ तक कबीर के समाज सुधारक होने का प्रश्न है, यह निर्विवाद सत्य है कि वे बुद्ध, गाँधी, अम्बेडकर इत्यादि क्रांतिकारी समाज सुधारकों की परम्परा में शामिल होते हैं। एक महान समाज सुधारक की मूल पहचान यह है कि वह अपने युग की विसंगतियों को पहचाने, एक समयानुकूल मौलिक जीवनदृष्टि निर्मित करें, और इस जीवन दृष्टि को स्थापित करने के लिए हर प्रकार के भय और लालच से मुक्त होकर दृढ़तापूर्वक संघर्ष करें। कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण कर हम समझ सकते हैं कि वे जिस सामंतवादी युग में थे, वह सामाजिक पतन का काल था। विलासिता जैसे मूल्य समाज में फैले हुए थे। नारी को भोग की वस्तु माना जाता था। वर्णव्यवस्था और साम्प्रदायिकता ने मानव समाज को विखंडित कर दिया था। धर्म का आडम्बरकारी रूप वास्तविक धार्मिकता को निगल चुका था और भाषा से लेकर जीवनशैली तक आभिजात्य उच्च वर्गों की गुलाम हो चुकी थी। ऐसे समय में कबीर ने मानवमात्र की एकता का सवाल उठाया और स्पष्ट घोषणा की कि "साई के सब जीव हैं, कीरी-कुंजर दोय।" वे समाज के प्रति अति संवेदनशीलता से भरे रहे, क्योंकि 'सुखिया' संसार खाता और सोता रहा जबकि संसार की वास्तविकता समझकर 'दुखिया' कबीर जागते और रोते रहे। यह निम्नलिखित पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है-

"सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।"

यह संवेदनशीलता निष्क्रिय नहीं थी, बल्कि इतनी ज्यादा दृढ़ता और आत्मविश्वास से भरी थी कि बेहतर समाज के निर्माण के लिए कबीर अपना घर फूँकने को पूरी तरह तैयार थे-

"हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारौं तासु का, जो चलै हमारे साथ।।"

वर्णव्यवस्था, साम्प्रदायिकता, भाषाई आभिजात्य और धार्मिक आडम्बरों के कठोर खंडन में कबीर का समाज के प्रति यही दृष्टिकोण साफ दिखाई पड़ता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था को धार्मिक व्यवस्था से बहुत अलग करके नहीं देखा जा सकता है। इसमें जाति-भेद, वर्ण-भेद धार्मिक व्यवस्था का ही परिणाम है, पति-पत्नी का सम्बन्ध आध्यात्मिक बन्धन है। अत: जहाँ व्यक्ति, परिवार और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का मूलाधार धर्म है, वहाँ सामाजिकता धार्मिकता से अलग नहीं हो सकती है।

कबीर के राम

कबीर के राम निर्गुण-सगुण के भेद से परे हैं। वास्तव में उन्होंने अपने राम को शास्त्र-प्रतिपादित अवतारी, सगुण, वर्चस्वशील वर्णाश्रम व्यवस्था के संरक्षक राम से अलग करने के लिए ही 'निर्गुण राम' शब्द का प्रयोग किया– 'निर्गुण राम जपहु रे भाई।' इस 'निर्गुण' शब्द को लेकर भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। कबीर का आशय इस शब्द से सिर्फ इतना है कि ईश्वर को किसी नाम, रूप, गुण, काल आदि की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। जो सारी सीमाओं से परे हैं और फिर भी सर्वत्र हैं, वही कबीर के निर्गुण राम हैं। इसे उन्होंने 'रमता राम' नाम दिया है।

कबीर राम की किसी खास रूपाकृति की कल्पना नहीं करते, क्योंकि रूपाकृति की कल्पना करते ही राम किसी खास ढांचे (फ्रेम) में बंध जाते, जो कबीर को किसी भी हालत में मंजूर नहीं।

कबीर नाम में विश्वास रखते हैं, रूप में नहीं। हालांकि भक्ति-संवेदना के सिद्धांतों में यह बात सामान्य रूप से प्रतिष्ठित है कि 'नाम रूप से बढ़कर है', लेकिन कबीर ने इस सामान्य सिद्धांत का क्रांतिधर्मी उपयोग किया। कबीर ने राम-नाम के साथ लोकमानस में शताब्दियों से रचे-बसे संकीर्ण भावों को उदात्त एवं व्यापक स्वरूप देकर उसे पुराण-प्रतिपादित ब्राह्मणवादी विचारधारा के खांचे में बांधे जाने से रोकने का प्रयास किया।

सामाजिक और धार्मिक जागरण

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे- 'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ'। उन्होंने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, उनके मुंह से निकले शब्दों को उनके शिष्यों ने लिख लिया था।

साधु संतों का तो उनके घर में जमावड़ा बना ही रहता था। वे एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। "अवतार, मूर्त्तिपूजा, रोजा, ईद, मस्जिद, मंदिर आदि को वे नहीं मानते थे।

वो हिंदू और इस्लाम दोनों के आलोचक थे। उन्होंने यज्ञोपवीत और खष्तना को बेमतलब करार दिया। उनकी बातों से उस समय हिंदू और मुसलमानों में काफी नाराजगी भी फैली. उन्हें कई बार धमकियां मिलीं।

कबीर की दृढ़ मान्यता थी कि कर्मों के अनुसार ही गति मिलती है स्थान विशेष के कारण नहीं। अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए अंत समय में वह मगहर चले गए, क्योंकि लोगों में मान्यता थी कि काशी में मरने पर स्वर्ग और मगहर में मरने पर नरक मिलता है। मगहर में उन्होंने अंतिम साँस ली। आज भी वहां उनकी मजार और समाधि है।

कबीर पंथ

उस समय जनता पर धार्मिक भेदभाव और गुटबाजी का आतंक छाया हुआ था। कबीर जी निर्गुट विचारधारा को मानते थे. उनकी रचनाओं का सामान्य जनता पर काफी असर पड़ा। कबीर के शिष्यों ने फिर उनकी विचारधारा पर एक पंथ की शुरुआत की, जिसे कबीर पंथ कहा जाता है।

कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से सुनियोजित किया, जिससे धार्मिक कट्टरता और जातिगत भेदभाव से त्रस्त जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुबोध रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुंच सके। इससे सभी सम्प्रदायों और जातियों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे।

माना जाता है कि देशभर में करीब एक करोड़ लोग इस पंथ से जुड़े हुए हैं। हालांकि ये पंथ भी अब कई धाराओं में बंट चुका है।

इनमें मुसलमान कम और हिन्दू बड़ी संख्या में हैं। साथ ही बौद्ध और जैन समेत कई अन्य धर्मो के लोग भी कबीर पंथ से जुड़े हैं। कबीरपंथी कण्ठी पहनते हैं, बीजक, रमैनी आदि ग्रन्थों के प्रति पूज्य भाव रखते हैं। गुरु को सबसे ऊपर मानते हैं। शुरू में दार्शनिक और नैतिक शिक्षा पर आधारित यह पंथ बाद में जाकर धार्मिक संप्रदाय में बदल गया।

कबीर पंथ की शाखाएं

कबीरपंथ दो प्रमुख शाखाएं बताई गई हैं। पहली शाखा का केंद्र 'कबीरचौरा' (काशी) है। जिसकी एक उपशाखा मगहर में है। दूसरा बड़ा केंद्र छत्तीसगढ़ के तहत आता है, जिसकी स्थापना धर्मदास ने की थी। हालांकि इनकी भी कई शाखाएं और उपशाखाएं बताई गई हैं। बाद में छत्तीसगढ़ी शाखा भी कई शाखाओं में बंट गई। जिसमें कबीरचौरा जगदीशपुरी, हरकेसर मठ, कबीर-निर्णय-मंदिर (बुरहानपुर) और लक्ष्मीपुर मठ शामिल है।

भाषा और लेखनी

कबीर की भाषा सधुक्कड़ी एवं पंचमेल खिचड़ी हैं। इनकी भाषा में हिंदी भाषा की सभी बोलियों के शब्द सम्मिलित हैं। राजस्थानी, हरयाणवी, पंजाबी, खड़ी बोली, अवधी, ब्रजभाषा के शब्दों की बहुलता है।

कृतियां

धर्मदास ने उनकी वाणियों का संग्रह "बीजक" नाम के ग्रंथ मे किया जिसके तीन मुख्य भाग हैं : साखी, सबद (पद), रमैनी

- साखी: संस्कृत 'साक्षी, शब्द का विकृत रूप है और धर्मोपदेश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अधिकांश साखियां दोहों में लिखी गयी हैं पर उसमें सोरठे का भी प्रयोग मिलता है। कबीर की शिक्षाओं और सिद्धांतों का निरूपण अधिकतर साखी में हुआ है।
- सबद गेय पद है जिसमें पूरी तरह संगीतात्मकता विद्यमान है। इनमें उपदेशात्मकता के स्थान पर भावावेश की प्रधानता है; क्योंकि इनमें कबीर के प्रेम और अंतरंग साधना की अभिव्यक्ति हुई है।
- रमैनी चौपाई छंद में लिखी गयी है इनमें कबीर के रहस्यवादी और दार्शनिक विचारों को प्रकट किया गया है।

निष्कर्ष

कबीर या संत कबीर 15वीं सदी के भारतीय रहस्यवादी कवि संत और समाज सुधारक थे। वे हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन युग में ज्ञानाश्रयी-निर्गुण शाखा की काव्यधारा के प्रवर्तक थे। इनकी रचनाओं ने हिन्दी प्रदेश के भक्ति आंदोलन को गहरे स्तर तक प्रभावित किया। उनका लेखन सिखों के आदि ग्रंथ में भी देखने को मिलता है।

कबीर युग में सर्वाधिक हाहाकार सामाजिक क्षेत्र में मचा था। समाज अनेक सम्प्रदायों, जाति-उपजाति समूह एवं वर्गों में बटा हुआ था। पण्डित पुरोहितों, मुल्ला मौलवियों के धार्मिक बाह्याडम्बर, पाखण्ड चरम अवस्था पर थे। हिन्दू और मुसलमानों में आपसी वैमनस्य अन्दर ही अन्दर उग्र रूप ले रहा था। सामाजिक जीवन में द्वेष, ईर्ष्या, अविश्वास, हिंसा-प्रतिहिंसा की भावना का प्रसार हो रहा था। जात-पात, ऊँच-नीच की भावना समाज में चहुँ ओर विद्यमान थी। मध्यकालीन भारतीय समाज में व्याप्त विषमताओं का प्रभाव सामान्यजन पर ज्यादा था।

कबीर भक्त और कवि बाद में थे, वे सही अर्थो में समाज-सुधारक पहले थे। उनकी कविता का उद्देश्य जनता को सही रास्ता दिखाना है। अनुभूति की सच्चाई और अभिव्यक्ति की ईमानदारी कबीर की सबसे बड़ी विषेषता है।

वे हिन्दू धर्म व इस्लाम को न मानते हुए धर्म निरपेक्ष थे। उन्होंने सामाज में फैली कुरीतियों, कर्मकांड, अंधविश्वास की निंदा की और सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की थी।

कबीर ने समाज में व्याप्त जाति-प्रथा, छुआछूत एवं ऊँच-नीच की भावना पर कड़ा प्रहार किया। ज्ञानी कबीर की धारणा है कि संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक मानव समान हैं ऊँच-नीच की भावना रखना व्यर्थ है। उनके जीवनकाल के दौरान हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपने विचार के लिए धमकी दी थी।

कबीर पंथ नामक धार्मिक सम्प्रदाय इनकी शिक्षाओं के अनुयायी हैं। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका समादर हो रहा है।

सन्दर्भ

- कबीर और कबीर पंथ, डॉ. केदार नाथ द्विवेदी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९६५, पृष्ठ-१६२
- "भारत में कबीर पंथ की प्रमुख शाखाएँ", मूल से 15 अगस्त 2013 को पुरालेखित, अभिगमन तिथि 27 अप्रैल 2013.
- एल.बी. राय, अनन्त, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ 66
- डॉ. भगीरथ मिश्र, कबीर वानी, खण्ड-2, पृष्ठ 14
- वही, खण्ड-2, पृष्ठ 20
- विचार दास, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृष्ठ 166
- कबीर के दोहे- भारतकोष, ज्ञान का हिन्दी महासागर
- किरणनन्दा, संतकाल में विद्रोह का स्वर, पृष्ठ 7
- डॉ. युगेश्वर, कबीर समग्र द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 1279
- आचार्य गंगाशरण शास्त्री, बीजक टीका मनोरमा, पृष्ठ 778
- डॉ. युगेश्वर, कबीर समग्र द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 1273
- सं. श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ 45
- डा. रघुवन्श, कबीर एक नई दृष्टि, पृष्ठ 110

पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी के विकास की संभावित दिशाएँ

डॉ० रीतामणि वैश्य

सहयोगी अध्यापक एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय

हमारे देश के उत्तर पूर्व के आठ राज्यों से बना है पूर्वोत्तर भारत। पूर्वोत्तर में असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मणिपुर, नागालैंड, मिजोराम और त्रिपुरा– ये सात राज्य आते हैं। इन सात राज्यों को एकसाथ सात बहनें कहा जाता है। अब पूर्वोत्तर में सिक्किम की भी गिनती होने लगी है। यह अहिंदी भाषी क्षेत्र है और यहाँ सैकड़ों जाति–जनजातियाँ निवास करती हैं। इन जातियों और जनजातियों की सैकड़ों भाषाएँ और बोलियाँ हैं,जिनमें से बहुसंख्यकों की लिपि नहीं है। भारतवर्ष के उत्तर–पूर्व का क्षेत्र अपनी विविधता के कारण जाना जाता है। भाषाई विविधता भारतवर्ष की एकप्रमुख विशेषता है और पूर्वोत्तर में यह विविधता कुछ अधिक देखी जाती है। "पूर्वोत्तर क्षेत्र के 8 राज्यों में 150 विभिन्न भाषाएँ एवं बोलियाँ प्रचलित हैं। खासी, असमीया, बांग्ला भाषाओं को छोड़कर अधिकांश भाषाएँ तिब्बती–बर्मी परिवार की भाषाएँ हैं (देवी 2011:128–129)। देउरी, ककबरक, तिवा, दिमाछा कछारी, बरो, मेच, गारो, आतंग, रुगा, कोच, राभा, टांगचा, नक्टे, वाञ्चु, कन्याक, फोम,छांग, खियाम्ङान्, चक, काडु, आन्द्रो, चेंगमाइ, जिंगपउ, चिंगफो, याछाम–टेंगचा, आओ–छुंगलि, आओ–मंगचेन, चांगटाम, यिमछुंगरु, लोथा, रेंगमा(उ), पछुरि, रेंगमा, चिमि, आंगामि, छोकरि, खेजा, माओ, न्रुवांगमेइ, पुइरन, खइराओ, जेमे, म्जिमे, लियांगमाइ, माराम, तांगखुल, मरिंग, कार्बी, मेइथेइ, मिजो, कुकि, छिन आदि उत्तर पूर्वी भारत की तिव्वत–बर्मी भाषाएँ हैं (हाकाचाम 2011:23–24)। असम की प्रमुख भाषा असमीया है। इसके साथ यहाँ बांग्ला, बड़ो और हिन्दी भाषा का व्यापक प्रयोग होता है। मेघालय की प्रमुख भाषा खासी, गारो और अंग्रेजी हैं। अरुणाचल में निशि, आदि, मोनपा, वाञ्चु, बांग्ला, नेपाली, हिन्दी, असमीया आदि भाषाएँ चलती हैं। मणिपुरी मणिपुर की प्रमुख भाषा है। साथ ही हिन्दी, असमीया, बांग्ला और अंग्रेजी भी यहाँ चलती हैं। नागालैंड में अंग्रेजी और नागामिस भाषाओं का प्रचलन है। मिजोरम की प्रधान भाषाएँ मिजो और अंग्रेजी हैं। बांग्ला त्रिपुरा की प्रधान भाषा है।साथ ही मणिपुरी और ककबरक भाषा का भी प्रचलन वहाँ होता है। सिक्किम की प्रधान भाषाएँ हैं–नेपाली, लेप्चा और भूटिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वोत्तर भारत अहिंदी प्रांत हैं और पूर्वोत्तर का परिवेश भाषिक एवं भौगोलिक–दोनों दृष्टियों से हिन्दी के लिए प्रतिकूल है। पूर्वोत्तर का क्षेत्र दुर्गम इलाकों से भरा हुआ है। पहाड़ों, पर्वतों, नदियों, झरनों, समभूमियों, मालभूमियों की विविधता से सम्पन्न है यह क्षेत्र। विविध जनजातियों के समाहार से विशिष्ट पूर्वोत्तर भारत के लोगों की जीवन शैली भी बहुरंगी है। पहाड़ों के टीलों में जनजातियाँ बसती हैं। इन इलाकों में आपदाएँ आती रहती हैं। भू–स्खलन और अन्य आपदाओं के साथ बाढ़ आदि के दौरान खासतौर पर मानसून में काफी दिक्कतें आती हैं। इस जटिल भौगोलिक स्थिति के कारण इस क्षेत्र के लोगों के साथ इनकी भाषा, संकृति सभी एक ही जगह स्थिर से रहने को विवश होती हैं। उनके लिए दूर दराज का रास्ता तय कर पाना चुनौती से भरा होता है। इसीलिए यहाँ मानो कोस–कोस पर अलग–अलग भाषाओं का विकास हुआ है।

पूर्वोत्तर के सरकारी कार्यालयों में हिन्दी उपेक्षित है। यहाँ जितने भी सरकारी कार्यालय हैं, वहाँ कार्यालयी कामकाज प्रायः अंग्रेजी में ही होते हैं। बैंक, रेल्वे, हवाई अड्डा, इंसोरेंस आदि कार्यालयों में नियमित रूप से अंग्रेजी में काम होते हैं। हिन्दी दिवस के समय कर्मचारी दो–चार दिनों के लिए हिन्दी के प्रति समर्पित–से दिखाई पड़ते हैं। इन कार्यालयों में हिन्दी दिवस, हिन्दी सप्ताह या हिन्दी पखवाड़े में दो–एक प्रतियोगिता या भाषण से हिन्दी के प्रति कर्तव्य सम्पन्न किया जाता है।।

इतनी चुनौतियों के होते हुए भी पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी के विकास की संभावना है। भारतवर्ष की तरह ही पूर्वोत्तर भी सैकड़ों जाति–उपजातियों एवं संप्रदायों के समन्वय की भूमि है। इस अनेकता को एकता के सूत्र में बांधने के लिए यहाँ एक संपर्क भाषा की जरूरत है। साथ ही मातृभाषा के साथ–साथ सामाजिक स्तर पर पूरक के रूप में प्रयुक्त होनेवाली एक भाषा की भी यहाँ जरूरत है। पूर्वोत्तर भारत में संपर्क एवं परिपूरक भाषा की जिम्मेवारी हिन्दी बखूबी उठा रही है और आगे भी यह काम हिन्दी ही कर सकती है।

उत्तर–पूर्व की भाषाओं और बोलियों में अपनी लिपि का अभाव है। असमीया, टाइ, तानी, मैतै या मैतै मायेक आदि दो–एक भाषाओं को छोड़कर बाकी भाषाओं एवं बोलियों की अपनी लिपि नहीं है। कुछेक भाषाओं को छोड़कर बाकी भाषाओं का औपचारिक रूप से अध्ययन करने की सुविधा नहीं है। लिपिहीन भाषाओं और बोलियों के साहित्य, संस्कृति, समाज को पूर्वोत्तर की सीमा से निकालकर वैश्विक स्तर पर ले जाने की जिम्मेवारी देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा ही कर सकती है।

पूर्वोत्तर भारत में कई संस्थाएँ हिन्दी का प्रचार और प्रसार करती आयी हैं। उनमें असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी; राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की जोरहाट जोरहाट; केन्द्रीय हिन्दी संस्थान की गुवाहाटी,शिलांग आदि क्षेत्रीय शाखाएँ, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की क्षेत्रीय शाखाओं का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पूर्वोत्तर भारत के शिक्षानुष्ठानों में प्राथमिक स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक हिन्दी का पठन-पाठन होता है। विद्यालयों में हिंदी पाठ्यक्रम आधुनिक भारतीय भाषा और वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ायी जाती है। अब महाविद्यालयों,विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी का नियमित रूप से पठन-पाठन होता है।

पूर्वोत्तर में कुछ दूसरे माध्यम ऐसे भी हैं, जिनसे हिन्दी की सेवा होती रही है। इनमें से समाचार पत्र एवं पत्र-पत्रिकाएँ अन्यतम हैं। असम में चार हिन्दी समाचार पत्र उपलब्ध हैं– दैनिक पूर्वोदय, पूर्वांचल प्रहरी, प्रातःकाल और सेंटीनेल। इन चार समाचार पत्रों के माध्यम से हिंदी का व्यापक प्रसार हो रहा है। इनके साथ-साथ अनेक पत्रिकाओं से हिन्दी का विकास हो रहा है।

भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र के राज्यों को प्रकृति का प्रचुर वरदान प्राप्त है। यहाँ में दार्जिलिंग, शिलांग, मौसिनराम, चेरापुंजी, कामाख्या, माजुली, उमानंद जैसे विश्वविख्यात पर्यटन स्थल और काजीरंगा तथा मानस जैसे राष्ट्रीय अभयारण्य भी हैं। गुवाहाटी, जोरहाट, शिवसागर, बोमडिला, गंगटोक, हाफलंग, औरंग, जातिंगा, तवांग तथा चेरापूंजी जैसे इलाके पर्यटकों की खास पसन्द हैं।वन्य जन्तु तथा समृद्ध हस्तशिल्प भी यहाँ देश-दुनिया को अपनी ओर खींचती है। विश्व भर के इन पर्यटकों की जरूरतें हिन्दी के जरिये पूरी की जाती हैं।

उत्तरपूर्वीय क्षेत्र की अवस्थिति कई अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं के बीच में है। नेपाल, चीन, भूटान, म्यांमार, बांग्लादेश की सीमाएं पूर्वोत्तर भारत के राज्यों से लगती हैं। अतः इन इलाकों का सामरिक महत्व भी है। इस भूखंड में एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है,जो यहाँ के लोगों को शीघ्रता से संदेश वहन करने में क्षमता रखती हो। सैकड़ों भाषाओं के लाखों लोगों को जोड़ने का यहा काम सिर्फ हिन्दी ही कर सकती है।

पूर्वोत्तर भारत की जनजातियाँ अपने उत्तरण में लग गए हैं। वर्तमान का समय जनजातियों के विमर्श का समय है, जनजातियों के उत्थान का समय है। अतः उनमें जातीय चेतना का उदय हुआ है। विविध साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक संस्थाओं की स्थापना से वे अपनी जाति को आगे बढ़ाने में सतत प्रयत्नशील हैं। इसी चेतना के चलते वे अपनी भाषा,साहित्य लोगों को देश की मूल धारा से जोड़ने के लिए तत्पर हैं। उनकी भावनाओं को देश के कोने-कोने तक ले जाने के लिए एक सर्वमान्य भाषा की जरूरत है। उनका यह अभाव पूरा करने का काम हिन्दी ने शुरू कर दिया है।

भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं समाज के साथ हिन्दी भाषा का अनोन्याश्रित संबंध है। अतीत से लेकर वर्तमान तक हमारे देश की प्रगति में हिन्दी ने विविध रूपों में महती भूमिका अदा की है। हमारे मनोगत भावों एवं विचारों को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अभिव्यक्ति की सुविधा प्रदान कर हमें एक मर्यादित जीवनशैली का उपहार दिया है। हिन्दी को विश्व की प्रमुख आंतर्राष्ट्रीय भाषा का गौरव प्राप्त है। पूर्वोत्तर भारत में में यह धीरे ही सही, पर दृढ़ता से निरंतर प्रगति के पाठ पर अग्रसर है। यहाँ के विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पठन-पाठन की व्यवस्था है,विविध संस्थाएँ यहाँ हिन्दी की सेवा कर रही हैं। अहिंदी भाषी क्षेत्र होने के कारण यहाँ के लोगों के लिए हिन्दी को हिन्दी भाषी प्रान्तों के लोगों की तरह ग्रहण करना कठिन हो जाता है। इस समस्या का सामना करने के लिए कोई उपाय ग्रहण किए जा सकते हैं। विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में हिन्दी के बोलने का अभ्यास होना आवश्यक है। इस क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं में हिन्दी व्याकरण की पुस्तकें उपलब्ध कराना भी इस समस्या का एक उपाय हो सकता है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी की प्रयोगशाला की व्यवस्था हो। इस क्षेत्र के सरकारी,अर्द्ध-सरकारी एवं व्यक्तिगत कार्यालयों में कार्यरत कर्मचारियों के लिए कार्यालय में हिन्दी शिक्षण की व्यवस्था हो और निश्चित समय में उनकी परीक्षा ली जाय। जो कर्मचारी परीक्षा में सफल होते हैं,उनके वेतन वृद्धि की व्यवस्था हो। सरकारी, अर्द्ध-सरकारी कार्यालयों में हिन्दी सेल हो। विश्वविद्यालयों में एक हिन्दी अधिकारी हो। इसतरह से कई उपायों के सहारे पूर्वोत्तर में हिन्दी का विकास किया जा सकता है।

ग्रंथ-सूची

अंग्रेजी ग्रंथः

Boro Anil Kumar-A History of Bodo Literature-First-Delhi-Sahitya Academy, 2010

असमीया ग्रंथः

हाकासाम उपेन राभा, असमीया आरु असमर तिब्बत-बर्मीय भाषा, चौथा, गुवाहाटीः भवानी प्रिंट एंड पब्लिकेशन्स, असम, 2011

हाकासाम उपेन राभा, एहोरा जनजातीय सुटि गल्प, प्रथम, गुवाहाटीः असम प्रकाशन परिषद, असम, 2012

पत्रिकाः

हिन्दीः

देवी एल. डिम्पल. "पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी", समन्वय पूर्वोत्तर (अंक 13, वर्ष 2011)

शोध-पत्र

अंग्रेजीः (पी.एच.डी)

फुकन निभा रानी, Rabha Literateurs And Their Literary Contribution: A Critical Study, असमीया विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय, 2008

असमीयाः (लघु शोध परियोजना)

हाजरिका ज्योतिरेखा, असमर कार्बी, तिवा आरु देउरी जनगोष्ठीर लिखित साहित्यः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, 2015

बच्चों के साथ घर और नौकरी संभालती महिलाएं और उनकी परेशानियाँ

डॉ० कुमारी पूजा

शिक्षिका, +2 उच्च विद्यालय, खैरा जमुई (बिहार)

परिचय

शिक्षा और रोजगार सहित हर क्षेत्र में महिलाएं पुरुषों का एकाधिकार को तोड़ रही हैं; विशेषरूप से व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त महिलाओं के काम का दायरा बहुत बढ़ा है। लेकिन इस सफलता के बाद भी जो सहयोग उन्हें घर-परिवार से मिलना चाहिए, वह नहीं मिल रहा।

आज महिलाएं शिक्षा, पत्रकारिता, कानून, चिकित्सा, इंजीनियरिंग आदि सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। पुलिस और सेना में भी वे बड़ी जिम्मेदारी निभा रही रही हैं। लेकिन अधिकतर महिलाओं को पेशेवर जिम्मेदारियों के साथ ही घर की भी दोहरी जिघ्मेदारी उठानी पड़ती है, जिसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

दो नावों पर सवारी

बदलते वक्त ने महिलाओं को आर्थिक, शैक्षिक और सामाजिक रूप से सशक्त किया है, जिससे उनकी हैसियत एवं सम्मान में वृद्धि हुई है। इसके बावजूद अगर कुछ नहीं बदला तो वह है महिलाओं की घरेलू जिघ्मेदारी। खाना बनाना और बच्चों की देखभाल अभी भी महिलाओं का ही काम माना जाता है। घरेलू महिलाओं की तुलना में कामकाजी महिलाओं पर काम का बोझ ज्यादा है। इन महिलाओं को अपने कार्यक्षेत्र और घर, दोनों को संभालने के लिए ज्यादा मेहनत करनी पड़ रही है। घर और ऑफिस के बीच सामंजस्य बिठाने में हुई दिक्कत के बाद नौकरी छोड़ने वाली महिलाएं कहती हैं, "8 घंटे ऑफिस में, 3 घंटे ट्रेन-ऑटो में और इसके बाद घर के कामकाज के बीच तालमेल बिठाना मुश्किल होता है"।

बच्चों को संभालने का मामला महिलाओं के लिए ज्यादा संवेदनशील होता है। अगर उन्हें दफ्तर में बच्चों की चिंता सताती है तो बच्चे भी उनकी दूरी को तीव्रता से महसूस करते हैं। बदलते समय तथा माहौल को देखते हुए अब बच्चे भी पहले से ज्यादा और जल्दी समझदार होने लगे हैं, तथा परिस्थितियों से सामंजस्य भी बैठाने लगे हैं।

गृहस्थी की गाड़ी सुचारु रूप से चल सके, बच्चे आर्थिक अभाव महसूस किए बिना ऊँची शिक्षा प्राप्त कर अपना भविष्य उज्ज्वल बना सकें, इस कारण से भी महिलाएँ घर से बाहर कदम रखती हैं।

लेकिन इसके साथ ही एक अपराध-बोध भी उन्हें कचोटता रहता है कि, कहीं वे अपने बच्चों को सारा दिन घर पर अकेला छोड़कर उनके साथ अन्याय तो नहीं कर रही हैं? उनके भविष्य को सँवारने के सपने देखते-देखते कहीं उनसे दूर तो नहीं होती जा रही हैं।

कामकाजी माताओं के मन में इन सब सवालों का उठना स्वाभाविक भी है, क्योंकि बच्चे जितने माँ से जुड़े होते हैं उतने पिता से नहीं। अक्सर बच्चे पिता का ऑफिस जाना तो पसंद करते हैं पर माँ का नहीं।

कारोबारी संगठन एसोचौम द्वारा किए गए एक सर्वे से पता चलता है कि मां बनने के बाद कई महिलाएं नौकरी छोड़ देती हैं। सर्वे के मुताबिक 40 प्रतिशत महिलाएं अपने बच्चों को पालने के लिए यह फैसला लेती हैं। कामकाजी महिलाओं की स्थिति 'दो नावों में सवार' व्यक्ति के समान होती है, क्योंकि एक ओर उसे 'ऑक्यूपेशनल स्ट्रेस' या कामकाज का तनाव झेलना पड़ता है तो दूसरी ओर उसे घरेलू मोर्चे पर भी परिवार को खुश रखने की जिम्मेदारी निभानी पड़ती है।

सेहत पर असर

स्वास्थ्य विशेषज्ञ कहते हैं कि, 'ऑफिस और घर संभालने की दोहरी जिम्मेदारी के कारण तनाव बढ़ता है और बीमारियां पैदा होती हैं'। अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने के चक्कर में महिलाएं अक्सर अपनी सेहत की अनदेखी करती हैं। एसोचौम के सर्वे के अनुसार 78 फीसदी कामकाजी महिलाओं को कोई ना कोई लाइफस्टाइल से सम्बंधित रोग है। 42 फीसदी को पीठदर्द, मोटापा, अवसाद, मधुमेह, उच्च रक्तचाप आदि की शिकायत है।

इसी सर्वे के अनुसार कामकाजी महिलाओं में दिल की बीमारी का जोखिम भी तेजी से बढ़ रहा है। 60 प्रतिशत महिलाओं को 35 साल की उम्र तक दिल की बीमारी होने का खतरा है। 32 से 58 वर्ष उम्र की महिलाओं के बीच हुए इस सर्वे के अनुसार 83 प्रतिशत महिलाएं किसी तरह का व्यायाम नहीं करती और 57 फीसदी महिलाएं खाने में फल-सब्जी का कम उपयोग करती हैं।

पुरुषवादी पूर्वाग्रह

'मातृ-शक्ति' के बारे में क्या कहा जाए, इन दो शब्दों के भार से दबकर, महिलाओं का जीवन तबाह हो गया है। कुछ साल पहले एक मशहूर सामाजिक संगठन के दिल्ली स्थित समर कैंप में 50 लड़कियों को सिखाया गया कि उन्हें कैसे बर्ताव करना चाहिए। उन्हें बताया गया कि उनकी आदर्श शिवाजी का

मां जीजा बाई होनी चाहिए, जिसने शिवाजी जैसा बेटा पैदा किया। शिवाजी, यानी देश के सच्चे सपूत। जाहिर सी बात है, माता का दायित्व अपने बच्चों को देश का बेहतर नागरिक बनाना है। उनसे कहा गया कि औरतों को अपने-अपने घर में लघु भारत (मिनी इंडिया) बनाने की कोशिश करनी चाहिए। यही उनकी समाज सेवा है। देश के विकास में उनकी भागीदारी का सर्वोत्तम उदाहरण- 'मातृ-शक्ति' देश का रूप बदल सकती है।

घर-परिवार और नौकरी के बीच संतुलन की मुसीबत

एसोचैम का 2015 का एक सर्वे दिखता है कि पढ़ी-लिखी शहरी औरतें, ज्यादा से ज्यादा संख्या में फुलटाइम माता बनने के लिए अपनी प्रोफेशन लाइफ छोड़ रही हैं। बच्चों को पालने के साथ करियर संभालना मुश्किल काम होता है। तभी 2013 में विश्व बैंक की एक स्टडी में कहा गया था कि, 'भारत में 15 साल से ऊपर की सिर्फ 27% औरतें काम करती हैं'। यह ब्रिक्स देशों में सबसे कम दर है। यह भी कम दिलचस्प नहीं है कि 2017 में मिस वर्ल्ड बनी मानुषी छिल्लर ने सार्वजानिक मंच पर कहा था, 'मातृत्व (Motherhood) ऐसा प्रोफेशन है जिसमें सबसे ज्यादा सैलरी मिलनी चाहिए'। मतलब हम बलिदान को मातृत्व (Motherhood) से जोड़कर एक गलत परिभाषा गढ़ते हैं। करियर और अपने चुनाव को छोड़ने वाली मां को अधिक सम्मान देकर हम यह भी बताना चाहते हैं कि, जो स्त्री ऐसे बलिदान नहीं करती वह अच्छी मां नहीं हो सकती।

अच्छी मां वही है जो सब कुछ संभाल सके। कभी संतुलन बनाए- कभी संतुलन को छोड़कर एक किनारा धर ले। माँ बनना हमारे यहां विकल्प नहीं, अनिवार्यता है। जन्म के बाद बच्चे की देखभाल पूरी तरह से मां की जिम्मेदारी मानी जाती है। मेटरनिटी बेनेफिट कानून 2017, कामकाजी माताओं के लिए तो छुट्टी का समय 26 हफ्ते करता है, लेकिन पिता की छुट्टी की कोई बात नहीं करता। तो बच्चे पालते-संभालते औरत का करियर का कब बर्बाद हो जाता है, यह कोई सेरेना विलियम्स जैसी मशहूर टेनिस स्टार के केस से समझ सकता है। बच्ची पैदा करने से पहले उनकी वर्ल्ड रैंकिंग 1 थी जो मेटरनिटी लीव से लौटकर आने के बाद 491 पर आ गिरी। यहाँ ये ध्यान देना जरुरी है कि, आठ हफ्ते की प्रेग्नेंसी के साथ सेरेना ऑस्ट्रेलियन ओपन जीत चुकी थीं। तब कोई जानता भी नहीं था कि वह गर्भवती हैं।

विकल्प

'मातृशक्ति' का उदाहरण देने की बजाय कुछ दूसरे विकल्प सोचे जाने चाहिए। यूपी पुलिस ने एक पहल के तहत सभी पुलिस स्टेशनों में क्रेच की सुविधा देने करने की घोषणा की है। महिला एवं बाल विकास मंत्री मेनका गांधी ने नेशनल क्रेच स्कीम में इस संबंध में दिशानिर्देश जारी करने की बात कही है। जैसा कि मेटरनिटी बेनेफिट कानून कहता है, मेनका ने 50 या 50 से अधिक कर्मचारियों वाले औद्योगिक समूह/कंपनी में क्रेच शुरू करने की बात भी दोहराई है। वैसे राजीव गांधी राष्ट्रीय क्रेच योजना जैसे कुछ कार्यक्रम कुछ जिलों में चलाए गए हैं, लेकिन इस सिलसिले में अलग से कोई कानून नहीं है। 2006 में इस पर एक ड्राफ्ट बिल का प्रस्ताव रखा गया था लेकिन इस पर कोई काम नहीं किया गया। मेटरनिटी बेनेफिट कानून 2017 में क्रेच वाला प्रावधान इसलिए बहुत प्रभावी नहीं है, क्योंकि मेटरनिटी की छुट्टी का पैसा देने में कतराने वाली प्राइवेट कंपनियां क्रेच का खर्चा उठाने को तैयार नहीं हैं। इस कानून का सबसे बड़ा पेंच भी यही है कि छुट्टी और बाकी सुविधाओं का खर्च कौन उठाएगा। ऑस्ट्रेलिया, ब्राजील, सिंगापुर जैसे कई देशों में इसकी फंडिंग का बड़ा स्रोत सरकारी होता है। इसके अलावा सरकार को ऐसी व्यवस्था भी करना चाहिए कि, काम करने की जगहों या सार्वजानिक स्थानों में औरतों की ब्रेस्टफीडिंग के लिए सही तरह का इंफ्रास्ट्रक्चर मौजूद हो।

एक विकल्प यह भी है कि, घर की आर्थिक जिम्मेदारी संभालने वाली औरत के बच्चे को पूरा परिवार (पति, ससुराली, मायके वाले) संभाले। इंटरनेशनल लेबर ऑर्गेनाइजेशन की 2018 की स्टडी कहती है, 'केयर वर्क और केयर जॉब्स औरतों को रोजगार बाजार से बाहर करते हैं'। यह स्टडी बताती है कि पांच साल से कम उम्र के बच्चों की माताओं की रोजगार की दर 47.6% है, जबकि इस उम्र के बच्चों के पिताओं की 87.9%। यह वैश्विक तथ्य है, क्योंकि संगठन ने ये निष्कर्ष 90 देशों में की गयी स्टडी से प्राप्त किया है। तो पिता और बाकी परिवारीक सदस्यों को भी बेहतर संतुलन बनाने पर विचार करना चाहिए। अगर 'मातृशक्ति' की पूजा करने की सामाजिक और संस्कृति अनिवार्यता है, तो इसका सुख पूरा परिवार भी उठाएं और प्रशासन भी।

निष्कर्ष

शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में कामयाबी के बावजूद कामकाजी महिलाओं को परिवार से जो सहयोग उन्हें मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पा रहा है।

कामकाजी पुरुषों और कामकाजी महिलाओं को देखने के सामाजिक नजरिये में बहुत पूर्वाग्रह और असमानता है। पुरुषों ने हमेशा सार्वजनिक क्षेत्र में काम किया है। उनके परिवार के प्रति जिम्मेदारी की भावना भोजन और सुख सुविधायें जुटाने वाले की भूमिका तक सीमित है, जबकि महिलायें घर और बच्चों को संभालने वाली समझी जाती हैं। इस कारण एक बार जब औरतें पेशेवर दुनिया में कदम रखती हैं, तो परिवारों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता की भावना पर अक्सर सवाल उठाए जाते हैं।

कामकाजी महिलाओं के सामने एक और चुनौती, सुपर-वुमन बन कर घर-बाहर की जिम्मेदारी उठाने की भी होती है। परिवार और समाज उनसे अपेक्षा रखता है की, वे कार्यालय के साथ घर परिवार की भी जिम्मेदारी उठाये और दोनों जगहों में संतुलन बनाये।

सन्दर्भ

- Kinnear, Karen L. (2011). Women in Developing Countries: a Reference Handbook. ABC-Clio. p. 184. ISBN 9781598844252.
- "Women in informal employment as share of female employment". Our World in Data. Retrieved 5 March 2020.
- Women in Business and Commerce in Asia, Asian Development Bank
- *Altonji, Joseph G.; Blank, Rebecca (1999). "Chapter 48: Race and gender in the labor market". Handbook of Labor Economics. **3** (C): 3143–3259. doi:10.1016/S1573-4463(99)30039-0. ISSN 1573-4463.*
- *Brown, Anna; Patten, Eileen (3 April 2017). "The Narrowing, But Persistent, Gender Gap in Pay". Washington, D.C.: Pew Research Center.*

भारतीय संस्कृति एवं स्त्री विमर्श

सरिता शर्मा

Reader in CTE, Ex-Head, Department of Education, Ex-Dean Edu. IASE Deemed to be University, Gandhi VidhyaMandir, Sardarshahar, Churu (Rajasthan)

संदीप कुमार

Research Scholar, (Ph.D. Education), IASE Deemed to be University, Gandhi VidhyaMandir, Sardarshahar, Churu (Rajasthan)

शोध सारांश

स्त्रियां किसी भी समाज का आधा अंग होती हैं। वे माता, पत्नी, बहन और बेटी की भूमिका में रहकर सामाजिक व्यवस्थाओं को गति प्रदान करती हैं। स्त्रियों की अनुपस्थिति में किसी भी समाज के कुशल संचालन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्त्रियों के इसी महत्व को समझते हुए भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही ऋषियों-मुनियों ने स्त्री को पूजनीय बताया है। हालांकि भारत सहित संपूर्ण विश्व में पुरुष प्रधान समाज की विचारधारा कार्य कर रही है। लेकिन फिर भी भारतीय संस्कृति स्त्री को पुरुष की अपेक्षा श्रेष्ठ मानती है। भारत में पारिवारिक व्यवस्था का चलन है जिसमें स्त्रियां कई प्रकार के रिश्तो का निर्वाह करती हैं। जबकि विश्व की दूसरी संस्कृतियों में पारिवारिक व्यवस्था कम ही देखने को मिलती है। यही कारण है कि भारत में पारिवार, समाज एवं समुदाय सभी अपेक्षाकृत अधिक संगठित पाए जाते हैं। भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के प्रति अपराध, शोषण या किसी प्रकार की हीनता का कोई स्थान नहीं है। हम सनातन संस्कृति में पूजनीय देवताओं और महापुरुषों की बात करें तो पता चलता है कि यहां पर देवीयां देवताओं से अधिक सम्मानित हैं। शास्त्रों और धर्म ग्रंथों की बात करें तो वहां भी बिना स्त्री के पुरुष का कोई कार्य सिद्ध होता हुआ नहीं दिखाई देता तथा स्त्रियों का समाज पर बराबर का अधिकार दिखाई देता है। शास्त्रों से लेकर वैदिक कालीन घटनाओं तक, आधुनिक इतिहास से लेकर वर्तमान समय तक सदैव ही महिलाओं ने अपनी योग्यताओं और क्षमताओं से न केवल भारतीयों को बल्कि संपूर्ण विश्व को भी आश्चर्यचकित किया है। विदेशी आक्रमणों और सैकड़ों वर्षो की गुलामी के कारण महिलाओं की दशा अत्यंत सोचनीय हो गई थी। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संस्कृति को पुनः संरक्षण और संवर्धन प्राप्त हुआ और महिला सशक्तिकरण का दौर प्रारंभ हुआ। आज स्थिति यह है कि भारतीय महिलाएं न केवल भारत का अपितु विश्व के कई बड़े देशों का राजनीतिक नेतृत्व कर रही हैं। आज ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहां भारतीय महिलाओं ने अपने कदमों की छाप नहीं छोड़ी हो। यही वह भारतीय संस्कृति है जिसने विश्व गुरु बन कर दुनिया को जीने की राह दिखाई, शिक्षा का महत्व समझाया एवं विश्व को नारी समानता का मूल-मंत्र दिया।

की वर्ड्स : भारतीय संस्कृति, स्त्री विमर्श, महिला सशक्तिकरण, वैदिक कालीन शिक्षा,स्त्री समानता, आधुनिक भारतीय नारी।

शोध-पत्र

'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता'

यह उक्ति भारतीय संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। भारतीय संस्कृति ने सदैव ही स्त्रियों को पूजनीय माना है। उन्हें देवी का स्वरूप कहा है और ऐसी मान्यता विकसित की है कि जहां स्त्रियों को पूजनीय माना जाता है वहां देवता निवास करते हैं। यह केवल भारतीय शास्त्रों में लिखा हुआ कोई तथ्य मात्र नहीं है अपितु यह विचार भारतीय परंपराओं का भी अभिन्न अंग है। वर्तमान में भारतवर्ष में ऐसे कई व्रत एवं त्यौहार मनाए जाते हैं जिनमें देवी की उपासना की जाती है। लोग श्रद्धापूर्वक देवी का व्रत रखते हैं और छोटी-छोटी बच्चियों को देवी का स्वरूप मानकर उनकी पूजा करते हैं। देश के प्रत्येक प्रांत और प्रत्येक समाज में नारी को सदैव ही सम्मान प्राप्त हुआ है। हालांकि कुछ विदेशी संस्कृतियों के अतिक्रमण के कारण भारतीय संस्कृति की मूल विशेषताओं पर प्रतिकूल प्रभाव तो पड़ा है है जिससे स्त्रियों की दशा और दिशा में भी नकारात्मक परिवर्तन देखने को मिले हैं। लेकिन यदि भारतीय संस्कृति की आत्मा की बात करें तो प्राचीन धर्म ग्रंथों में हमें ऐसे अनेक साक्ष्य मिलेंगे जिनसे आदिकाल से ही स्त्रियों की गरिमामयी स्थिति का स्पष्ट आकलन किया जा सकता है।

यदि सबसे पहले 'स्त्री' शब्द की बात करें और शास्त्रों में इसकी व्याख्या खोजें तो पता चलेगा कि स्त्री अर्थ का बोधक 'ग्ना' शब्द ऋग्वेद में आया है, जो देव पत्नियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि "स्त्यास्यति अस्यां गर्भ इति स्त्री" अर्थात उसके भीतर गर्भ की स्थिति होने के

कारण उसे स्त्री कहा गया है।

महिला शब्द की बात करें तो मह+इलच+आ = महिला। मह का अर्थ श्रेष्ठ या पूजा है। अर्थात जो श्रेष्ठ या पूजनीय है वही महिला है।

लौकिक संस्कृति में आदर देने के लिए स्त्रियों के लिए मान्या शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह वस्तुत: वैदिक संस्कृत के 'मेना' शब्द से बना है। ऋग्वेद में 'मेना' शब्द नारी अर्थ का वाचक है।

जहां तक नारी शब्द का प्रश्न है वह नर की ही तरह 'नृ' शब्द से बना है और इसका सामान्य अर्थ है क्रियाशील रहने वाला। अर्थात जो गति करे, हलचल करे वह नर एवं नारी है। किंतु ऋग्वेद में 'नृ' का प्रयोग नेतृत्व करने, दान देने और वीरता के अर्थ में किया गया है। उस दृष्टि से नर और नारी में यही तीनों विशेषताएं होनी चाहिए।

'सुन्दरी' शब्द ऋग्वेद में 'सुनरी' का विकसित रूप है। सूनरी ऊषा को कहा गया है अर्थात् शोभावाली।

'ललना' और 'मानिनी' शब्द तो स्पष्ट ही हैं। जिसकी इच्छाशक्ति प्रबल हो वह ललना और जिसमें स्वाभिमान हो, वह मानिनी।

ये तो हुए शब्द। अब यदि प्राचीन ग्रन्थों में नारी के प्रति व्यक्त उद्‌गार देखें, तो स्पष्ट हो जाता है कि नारी के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान का भाव उनमें है और उसे सदैव एक स्वतन्त्र चेतन सत्ता के रूप में ही स्मरण किया गया है। जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं। ऐसा कहने वाली मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि-स्त्री की प्रसन्नता से ही घर-भर में उल्लास मुखरित होता है, यदि वह विषण्ण, उदास रही तो चतुर्दिक अवसाद घिर आता है। पप्रपुराण में कहा गया है।

नास्ति भार्या समो तीर्थ, नास्ति भार्या समं सुखम्। नास्ति भार्या समो पुण्य, तारणाय, हिताय च अर्थात्-पत्नी के समान हितकारी और दु:खों से उबारने वाला न तो कोई पुण्य है, न तीर्थ है और न ही सुख।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है- 'गहा: वै पल्ये प्रतिष्ठा:' अर्थात पत्नी से ही घर की प्रतिष्ठा है।

वृहत्संहिता में कहा गया है- 'पुरुषाणां सहस्त्रं च सती स्त्री समुद्धरेत्' अर्थात् सती स्त्री अपने पति का ही नहीं, अपने उत्कृष्ट आचरण की प्रत्यक्ष प्रेरणा से सहस्रों पुरुषों का उद्धार यानी श्रेष्ठता की दिशा का मार्ग-दर्शन करती है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में उपाख्यान है कि– 'स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्तत:। पतिश्च पत्नी चाभवताम्'।। अर्थात जब परम सत्ता को अकेले अच्छा नहीं लगा तो उसने अपने को दो भागों में विभक्त किया। यही दो भाग पति-पत्नी बने।

व्यास संहिता में कहा है कि- 'यावन्न विदन्ते जायां, तावदर्धो भवेत् पुमात्' अर्थात पत्नी के प्राप्त होने के पूर्व तक पुरुष अधूरा है।

तन्त्रशास्त्र में अर्द्धनारीश्वर का ध्यान-विधान है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि- 'स्त्रिय: श्रियश्र गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्रन (कश्चन) अर्थात स्त्री और श्री में कोई भेद नहीं है। मनुस्मृति मे उल्लिखित ऐसे ही कुछ सूत्र इस प्रकार हैं -

पितृभिर्भ्रातृभिश्चौता: पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणं ईप्सुभि:।।

बहुत कल्याण के इच्छुक पिता, भाई, पति और देवर भूपण (गहने) और वस्त्रों से स्त्री की पूजा करें अर्थात् स्त्री को प्रसन्न रखें। - अध्याय 3 श्लोक 55

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा।।

अर्थात जिस कुल में स्त्रियों को कष्ट होता है वह कुल शीघ्र ही नाश हो जाता है। और जहाँ नारियों को कोई कष्ट नहीं है वह कुल सदैव फलता फूलता है। - अध्याय 3 श्लोक 57

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वं एव न रोचते।।

अर्थात स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता है उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दु:खदायक हो जाता है। - अध्याय 3 श्लोक 62

प्रजनार्थं स्त्रिय: सृष्टा: संतानार्थं च मानव:।
तस्मात्साधारणो धर्म: श्रुतौ पत्न्या सहोदित:।।

अर्थात जनने के लिये स्त्रियाँ बनाई गई, और सन्तान के लिये पुरुष। इसलिये वेद में स्त्री पुरुष दोनों का समान धर्म कहा। अर्थात् स्त्री और पुरुष का पद बराबर है। - अध्याय 9 श्लोक 96

यथैवात्मा तथा पुत्र: पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यां आत्मनि तिष्ठन्त्यां कथं अन्यो धनं हरेत्।।

जैसी अपनी आत्मा है वैसा ही पुत्र होता है, और पुत्र जैसी ही पुत्री होती है। उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुये कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है? अर्थात् पुत्र के अभाव में पुत्री ही धन की अधिकारिणी होती है। – अध्याय 9 श्लोक 130

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः।।

माता के मर जाने पर सब सगे भाई और सब सगी बहनें माता के धन को बराबर-बराबर बांट लें। – अध्याय 9 श्लोक 192

मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।।

गृहस्थ को चाहिए कि वह ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, बालक, बृद्ध, रोगी, वैद्य, स्वगोत्र (पितृपक्ष) वा स्ववर्णस्थ, श्वसुर आदि सम्बन्धी, मित्र तथा मातृपक्ष, माता, पिता, बहिन, भाई, पुत्र, भार्या, पुत्री और सेवकवर्ग से कभी विवाद न करे। – अध्याय 4 श्लोक 180

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता।।

विवाह की अवस्था में कन्या को न देने वाला अर्थात् विवाह न करने वाला पिता निन्दनीय होता है और विवाह-पश्चात् संगम न करने वाला पति निन्दनीय होता है। पति की मृत्यु होने के बाद माता की रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय होता है। – अध्याय 9 श्लोक 04

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहं आत्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले।।

कन्या या स्त्री को चाहिए कि वह पिता, पति व पुत्रों से पृथक् रहने की इच्छा न करे। क्योंकि इनसे पृथक् रहने से स्त्री पितृकुल व पतिकुल, दोनों कुलों को कलङ्कित कर सकती है। – अध्याय 5 श्लोक 149

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकं आवहेयुररक्षिताः।।

सूक्ष्म कुसंगों से भी स्त्रियों की विशेष रक्षा करनी चाहिये। यदि उनकी रक्षा न की जायेगी तो वे दोनों कुलों के शोक का कारण हो जायेंगी। – अध्याय 9 श्लोक 05

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्मं उत्तमम्।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि।।

सब वर्णों के इस श्रेष्ठ धर्म को देखते हुए दुर्बल पति भी अपनी स्त्री की रक्षा करने के लिए यत्न करते हैं। – अध्याय 9 श्लोक 06

यजुर्वेद में लिखा है कि

मंहीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूची सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।।

हे नारी! तू महाशक्तिमती है। तू सुव्रती पुत्रों की माता है। तू सत्यशील पति की पत्नी है। तू भरपूर क्षात्रबल से युक्त है। तू मुसीबतों के आक्रमण से जीर्ण न होनेवाली अतिशय कर्मशील है। तू शुभ कल्याण करनेवाली है। तू शुभ-प्रकृष्ट नीति का अनुसरण करनेवाली है। -यजु० 21/5

श्रीमद्भागवत के अनुसार वैवस्वत मनु की धर्मपत्नी ने पुत्रेष्टि यज्ञ के समय कन्या उत्पन्न होने की याचना की और इसी यज्ञ से इला की उत्पत्ति हुई। 'तत्र श्रद्धा मनोः पत्नीहोतारं समयाचत। दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता'।।-श्रीमद्भागवत 9/1/14

इस प्रकार स्पष्ट है कि नारी के प्रति अपने प्राचीन पूर्वजों के मन में सम्मान और समता की भावना थी। उसके प्रति हीन-भाव रखने का कोई उदाहरण मात्र भी दिखायी नहीं देता।

प्राचीन भारत की प्रगति एवं स्त्री की भूमिका

एक पाश्चात्य इतिहासकार ने भारतीय संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान औरविद्याओं का वर्णन करते हुये लिखा है कि- 'आज के उन्नत और विकसित सभ्य कहे जाने वाले देशों के लोग जिस समय नदियों और तालाबों, झरनों से घुटने के बल झुककर जानवरों की तरह पानी पीते थे तब भारतवासियों ने भूगोल, खगोल विज्ञान, चिकित्सा, यंत्र-विद्या के साथ गुप्त विद्याओं का भी असाधारण विकास कर लिया था। आज का मानव चन्द्रमा पर पहुँचने में विज्ञान के बल पर अब समर्थ हुआ है, लेकिन भारत के प्राचीन महर्षि अपने योगबल में लोक-लोकान्तरों का भ्रमण कर आते थे।' प्रश्न उठता है इतिहास में तो इसका विवरण मिलता नहीं। इसका उत्तर उक्त इतिहासकार ने इस प्रकार दिया-भारतीय महर्षियों ने इतिहास लेखन को कभी महत्व नहीं दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में भौतिक घटनाओं से भी अधिक मूल्यवान दूसरी उपलब्धियाँ थीं और उन उपलब्धियों के बल पर ही हजारों वर्ष पूर्व भारत ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में असाधारण प्रगति कर दिखाई। क्या यह प्रगति अकेले पुरुष ने की? नारी ने इसमें कोई योगदान नहीं दिया? यदि ऐसा होता तो फिर प्रगति की चाल कछुए के समान रही होती और

आज हम सब कदम से कदम मिलाकर चलने में असमर्थ होते। प्राचीनकाल में नारियों ने पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर सहयोग किया और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विकास के साथ-साथ समाज, राजनीति, धर्म, कानून, संगठन आदि सर्वांगीण उन्नति में पुरुष की सच्ची सहचरी बनकर रही। उसे प्रेरणा देती रही, बल प्रदान करती रही, क्यों? इसलिए कि उसकी प्रतिभा, क्षमता और योग्यता पुरुष की प्रतिभा, क्षमता तथा योग्यता से मिल कर अनन्त गुना प्रभावशाली हो जाती है। वेदानुशासन में जब चला जाता था, तब महिलाओं ने ऐसे-ऐसे महान् कार्य करके दिखाये भी हैं कि उनकी भूमिका को हटा दें, तो इतिहास का स्वरूप ही बदल जाता है और 'छूंछ मात्र' रह जाता है। रामायण में से सीता के चरित्र को निकाल दिया जाय तो रामायण में बाकी कुछ नहीं रहता। द्रौपदी, कुन्ती, गान्धारी आदि का चरित्र निकाल देने पर महाभारत की महत्ता ही क्या रह जाएगी। पाण्डवों का सारा जीवनसंग्राम ही अधूरा रह जाएगा। इसी प्रकार भागवत में से देवकी, यशोदा और गोपियों का चरित्र हटा दिया जाय तो कृष्ण एक साधारण पुरुष बनकर रह जाएंगे। शिवजी के साथ पार्वती, राम के साथ सीता, विष्णु के साथ लक्ष्मी का नाम हटा दिया जाय तो इनके चरित्र आधे अधूरे रह जाएंगे। आसुरी उत्पातों के कारण देवतागण जब घबड़ा उठे तो असुरों का संहार करने में मातृ-शक्ति दुर्गा ही समर्थ हुई थी। यह तो हुई शक्ति-संगठन सम्बन्धी बात, पर समाज के अन्य क्षेत्रों में भी नारी ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निबाही हैं। जब पृथ्वी पर भागवत शक्ति के अवतरण की आवश्यकता हुई तो मनु तप करने लगे। उनका अकेले का तप सफल नहीं हुआ तो मनु-पत्नी शतरूपा भी तपश्चर्या में लगी। फलतः तप सफल हुआ और शतरूपा ने कौशल्या के रूप में राम को अपनी गोदी में खिलाया।

इसी प्रकार से भगवान के अवतरण हेतु द्वापर में पुनः आवश्यकता अनुभव हुई। प्राचीन उदाहरणों से सीख ग्रहण कर महर्षि कश्यप ने अपनी धर्मपत्नी अदिति के साथ तप किया। अदिति यशोदा बनीं और उन्हें पूर्ण कला के अवतार कृष्ण को जन्म देने का श्रेय मिला। राम और कृष्ण भगवान हैं लेकिन अवतार सिद्धान्त के विरोधी भी उन्हें महापुरुष मानते हैं। पर जिनकी कोख से उन्होंने जन्म लिया और जिनकी गोदी में पैर पसारे, जिनका दूध पिया और जिनका संरक्षण व दुलार पाया, उन माताओं का गौरव राम और कृष्ण से बढ़कर ही है, कम नहीं।

अगर साक्ष्यों की बात करें तो सनातन संस्कृति में सभी देवताओं के नाम उनकी पत्नियों के साथ लिए जाते हैं। जैसे शिव के साथ पार्वती, विष्णु के साथ लक्ष्मी, ब्रह्मा के साथ सरस्वती। इतना ही नहीं कुछ देवताओं और पुरुषों के नाम से पहले उनकी पत्नी का नाम लिया जाता है, जैसे - सीता-राम, राधे-कृष्ण आदि। भारतीय संस्कृति बिना स्त्री के पुरुष के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करती इसलिए अर्धनारीश्वर का विचार भी भारतीय संस्कृति की ही देन है। अर्थात स्त्री पुरुष का आधा अंग है। बिना स्त्री पुरुष कभी पूर्ण नहीं हो सकता। उपरोक्त तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि भारतीय संस्कृति में स्त्रियों का स्थान आदि काल से ही शीर्ष पर रहा है। लेकिन कुछ लोग देवी-देवताओं को काल्पनिक मानते हैं इसलिए आगे हम वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति पर बात करेंगे।

वैदिक काल और महिला सम्मान

हिंदू शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जिनसे महिलाओं के सामाजिक सम्मान, प्रतिष्ठा और लौकिक कार्यों में उनकी सक्रिय भूमिका का प्रमाण प्राप्त होता है। ऐसा ही एक उदाहरण ऋग्वेद में हमें प्राप्त होता है जिसमें लोपमुद्रा नाम की महिला का वर्णन किया गया है। वह एक राजकुमारी थी, जो कि शिक्षित, ज्ञानी एवं उच्च कोटि की विद्वान महिला थी। उन्हें शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था एवं वह शास्त्रार्थ में निपुण थी। उन्होंने ऋषि अगस्त के साथ प्रेम-विवाह किया था। उनके पिता ने न तो उन्हें शिक्षा ग्रहण करने से रोका और न ही प्रेम-विवाह से। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में महिलाओं पर किसी प्रकार का बंधन या दबाव नहीं था। वे स्वेच्छा से अपने जीवन से संबंधित निर्णय ले सकती थी। ऋग्वेद में ही एक और उदाहरण मैत्रेयी का आता है जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया तथा विदुषी महिला कहलायीं। बाद में उन्होंने याज्ञवल्क्य ऋषि से विवाह कर लिया। एक बार जब ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी सारी संपत्ति त्याग कर वानप्रस्थ को वानप्रस्थ को जाने लगे तब मैत्रेयी ने अपने पति से कहा कि जरूर वन की तपस्या में कुछ ऐसा है जो इस सब संपत्ति से अधिक मूल्यवान है, अतः मुझे यह सब संपत्ति नहीं चाहिए बल्कि वही मूल्यवान वस्तु चाहिए जो आप तपस्या के द्वारा प्राप्त करने जा रहे हो। इस पर ऋषि याज्ञवल्क्य बहुत खुश हुए और फिर दोनों ने एक साथ वन में तपस्या की। वैदिक काल में महिलाओं के पठन-पाठन, भ्रमण और स्वैच्छिक विवाह का इससे अच्छा उदाहरण कोई दूसरा नहीं मिलेगा। इसी तरह वेदों में गार्गी, घोष आदि महिलाओं का वर्णन देखने को मिलता है। जिससे ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति ने सदैव ही स्त्रियों को बराबरी का दर्जा दिया है, तथा उन्हें पढ़ने, लिखने, बाहर जाने एवं विवाह करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की।

रामायण जैसे ग्रंथ को पढ़ने पर पता चलता है कि सीता ने स्वयंवर के द्वारा अपना वर स्वयं चुना था। राजा दशरथ की पत्नी कैकयी राजा दशरथ के साथ मिलकर राक्षसों से लड़ी थी। महाभारत पढ़ने पर पता चलता है कि द्रोपदी के अपमान का बदला लेने के लिए कौरवों का नाश कर दिया गया था। गांधारी पूरी समाना से अपने पति के साथ सिंहासन पर बैठती थी। भगवान कृष्ण की बहन सुभद्रा ने अर्जुन के साथ प्रेम-विवाह किया था। वहीं रुकमणी ने भी भगवान श्री कृष्ण के साथ प्रेम-विवाह किया था। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में भी महिलाओं को वे सभी अधिकार प्राप्त थे जो पुरुषों को प्राप्त थे। स्त्री के प्रति किसी तरह की कोई संकीर्णता अथवा कुप्रथा समाज में व्याप्त नहीं थी।

ऐतिहासिक तथ्य एवं महिलाओं की स्थिति

इतिहास की बात करें तो रानी लक्ष्मीबाई किसी परिचय की मोहताज नहीं है। वह झांसी की रानी होने के साथ-साथ एक वीरांगना भी थी। साथ ही उन्होंने एक कुशल शासक के रूप में अपने समाज का नेतृत्व किया। शिवाजी को एक महान राजा बनाने में उनकी माता जीजाबाई का सबसे बड़ा हाथ था। जीजाबाई की महानता शिवाजी महाराज से कहीं अधिक है। भारतीय संस्कृति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय महिलाएं अपने पति को उसकी अकाल मृत्यु से भी वापस लाने में सक्षम रही हैं। सावित्री और सत्यवान की कहानी तो हम सब ने सुनी ही है जिसमें सावित्री अपने पति सत्यवान को पुनर्जीवित

करने के लिए यमराज को विवश कर देती है और यमराज भी सावित्री को दिए गए आशीर्वाद को पूरा करते हैं। यहां पर इस घटना का वर्णन इसलिए किया गया है क्योंकि सावित्री को सती के नाम से जाना जाता है। सती का अर्थ होता है सत्य का आचरण करने वाली। अब यहां पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विदेशी लुटेरों ने और मुगल शासकों ने जब भारतीय रियासतों और सम्राटों पर आक्रमण किए तो उनकी महिलाएं अपने सम्मान की रक्षा के लिए या तो सामूहिक चिता में जलकर जौहर कर लेती थीं या फिर अपने पति के शव के साथ ही चिता में जल जाती थीं। यही सत्य का आचरण था जिसे मुगलों ने सती प्रथा और जौहर प्रथा कहकर हिंदू धर्म की कुरीति बताना शुरू कर दिया। यदि उस समय महिलाएं ऐसा नहीं करती तो विदेशी आक्रांता और मुगल उनकी दशा मृत्यु से भी बदतर कर देते थे और उनके सम्मान को भी नष्ट कर दिया जाता था। अतः बाहरी संस्कृतियों ने भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप को बिगाड़ने का कार्य किया है। कालांतर में प्रचलित सती प्रथा, जौहर प्रथा और बाल विवाह जैसी प्रथाएं भारतीय संस्कृति की मूल परंपराएं नहीं थी अपितु यह विदेशी लुटेरों और मुगलों के आतंक से अपनी स्त्रियों की रक्षा एवं उनके सम्मान की सुरक्षा का एक उपाय थी जिसे हम तत्कालीन समाज की विवशता भी कह सकते हैं। ऐसी घटनाओं को भारतीय समाज की कुप्रथायें बताकर प्रचारित करने में अंग्रेजों ने भी कोई कमी नहीं छोड़ी। इस सबके बावजूद भी महिलाओं ने स्वतन्त्रता आंदोलन मे अपनी सक्रिय भूमिका निभायी। जहाँ कस्तूरबा गांधी ने महात्मा गांधी का उनके सभी आंदोलनों मे पूरा साथ दिया वहीं कल्पना दत्ता और राजकुमारी अमृत कौर जैसी कुशल राजनीतिज्ञ और क्रांतिकारी महिलाओं ने सड़क से लेकर सदन तक प्रत्येक मोर्चे पर अंग्रेजों के दांत खट्टे किए थे। इनके अतिरिक्त अनुसूइया बाई काले, सरोजिनी नायडू, सुचेता कृपलानी, ऊषा मेहता, कमला देवी जैसी अनेकों महिलाओं ने आजादी की लड़ाई मे अंग्रेजों का डट कर सामना किया।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि प्राचीन काल एवं वैदिक काल से ही भारतीय संस्कृति में महिलाओं का बराबरी का एवं सम्मानजनक स्थान रहा है, इसीलिए पिता की संपत्ति पर पुत्र एवं पुत्री दोनों का बराबरी का अधिकार होता था। पिता अपनी संपत्ति से बराबर का हिस्सा अपनी पुत्री को उसके विवाह के समय दे दिया करता था जिसे स्त्रीधन कहा जाता था। लेकिन अंग्रेजों ने भारतीय समाज को लूट-लूट कर इतना कंगाल बना दिया कि लोग स्वार्थी एवं लालची होने लगे और विवाह के समय वर पक्ष के लोग कन्या पक्ष से अनुचित धन मांगने लगे, जिसे अंग्रेजों ने दहेज प्रथा कहकर प्रचारित करना प्रारंभ कर दिया। परन्तु इसका मूल स्वरूप अलग था, जिसमें पुत्री को बराबर का अधिकार प्रदान किया जाता था। आज भी भारत के कई दूरदराज के क्षेत्रों में ऐसी परंपराएं हैं जिनमें विवाह के समय वर-पक्ष वधु-पक्ष को बहुत सी भेंट देता है तथा वधु के सम्मान में उसे श्रद्धानुसार धन भी दिया जाता है। कुछ क्षेत्रों में तो कन्यायें बारात लेकर जाती हैं और वर विदा होकर वधु के घर जाता है। उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि उक्त कोई भी कुप्रथा न तो भारतीय संस्कृति का हिस्सा रही है और न ही स्त्रियों के दमन का साधन रही हैं, उन्हें तो विदेशी आक्रांताओं ने, मुगलों ने और अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति को नीचा दिखाने के लिए आरोपित किया है।

स्वतंत्र भारत में नारी दशा

मध्यकालीन मुस्लिम शासन और अंग्रेजी शासन काल के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के हजारों वर्ष के उन्नत एवं समृद्ध काल में कहीं भी स्त्री को न तो शोषित किया गया न ही उसके अधिकारों का हनन किया गया। उसे सदैव ही बराबरी का दर्जा प्राप्त हुआ और समाज के आर्थिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक एवं राजनीतिक उत्थान में स्त्री की सक्रिय भागीदारी रही। केवल मध्यकालीन मुस्लिम शासन काल में और ब्रिटिश शासन काल में विदेशी संस्कृतियों का अतिक्रमण होने के कारण भारतीय संस्कृति की मूल भावना को ठेस पहुंची लेकिन लगभग 1000 वर्ष के इस संक्रमण काल से आजादी प्राप्त करने के उपरांत भारतीय संस्कृति अपने मूल गुणों को पुनः धारण करने लगी और स्वतंत्रता के बाद हमने देखा कि महिला सशक्तिकरण को समाज का पूरा सहयोग मिला। महिलाएं प्रधानमंत्री एवं राष्ट्रपति के पदों से लेकर गृहमंत्री, रक्षामंत्री और विदेश मंत्री के पदों पर आसीन हो चुकी हैं। आजादी के पश्चात प्रायः देश के सभी सर्वोच्च पदों पर पहुंचकर महिलाओं ने देश का कुशल नेतृत्व किया है। आज जमीन से लेकर अंतरिक्ष तक भारतीय नारी अपना परचम लहरा चुकी है। सुनीता विलियम और कल्पना चावला इस बात का साक्ष्य हैं कि भारतीय संस्कृति ने अपनी बेटियों को सदैव आगे बढ़ने और अपनी कल्पनाओं को साकार करने के अवसर प्रदान किए हैं। आज भारतीय महिलाएं ओलंपिक जैसे अंतर्राष्ट्रीय खेलों में संपूर्ण विश्व को टक्कर दे रही हैं। साक्षी मलिक, साइना नेहवाल, कर्णम मल्लेश्वरी, मैरी कॉम, पीवी सिंधु, सानिया मिर्जा, हिमा दास और पीटी ऊषा आदि महिला खिलाड़ियों ने स्वयं को पूरे देश के लिए एक प्रेरणा के रूप में स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त अंतरराष्ट्रीय सौंदर्य प्रतियोगिताएं हों या लड़ाकू विमान उड़ाना हो, कंप्यूटर इंजीनियर बनना हो या सीमा पर दुश्मन का सामना करना हो, आज भारतीय महिलाएं प्रत्येक क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभा रही हैं। महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए सरकारी स्तर पर भी बड़े अभियान चलाये जा रहे हैं। आज सरकार ने बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ, सुकन्या समृद्धि योजना, लाड़ली लक्ष्मी योजना, बालिका समृद्धि योजना, नन्दा देवी कन्या योजना, मुख्यमंत्री कन्या सुरक्षा योजना जैसी अनेक योजनाएँ चलाकर देश की बेटियों को सुरक्षा एवं सम्मान दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि देश के जिन राज्यों मे पिछले कई दशकों से महिलाओं के लिंगानुपात मे कमी आ रही थी, उनमे महिलाओं कि संख्या आज पुरुषों के बराबर आ गयी है।

जहां भारतीय संस्कृति महिलाओं के लिए अपार संभावनाओं के द्वार खोले खड़ी है। वहीं अगर इस्लामिक सभ्यता की बात करें तो वहां महिलाएं आज भी पर्दे में रहने को विवश हैं। उनका मस्जिदों में जाना आज भी मना है। जहां प्राचीन काल में स्त्रियों को शिक्षा ग्रहण करने का पूर्ण अधिकार था, वहीं स्वतन्त्रता के बाद महिला साक्षरता में फिर से तेजी से वृद्धि हुई। लेकिन विश्व की कई संस्कृतियों में महिला शिक्षा की स्थिति आज भी बुरे हालात में है। पाश्चात्य संस्कृति की बात करें तो वहाँचर्च में पुरुष पादरी एवं पॉप तो होते हैं लेकिन महिलाओं को पादरी एवं पॉप नहीं बनाया जाता।विच-हंटिंग के नाम पर अनेक महिलाओं की जान ली जा चुकी है। अमेरिका सहित यूरोप के कई देशों में बलात्कार की घटनाएं लगातार बढ़ रही हैं। आज भारत के भी कुछ युवा इसी पाश्चात्य संस्कृति कि ओर आकर्षित हो रहे हैं और अपनी जीवन शैली को भी उसी के अनुसार ढाल रहे है। इसी का परिणाम है कि आज हमारे

देश मे भी महिलाओं के प्रति अपराध की घटनाएँ सामने आती रहती हैं। अगर पाश्चात्य संस्कृति के इस अतिक्रमण को रोक दिया जाये तो भारतीय संस्कृति मे इस प्रकार के अपराधें के लिए कोई स्थान नहीं है। भारतीय संस्कृति में स्त्रियों की दशा और दिशा विश्व की अन्य संस्कृतियों की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ है। सनातन संस्कृति द्वारा दिए गए संस्कार एवं जीवन-मूल्य आज भी लोगों में जीवित हैं। वेदों, पुराणों, शास्त्रों एवं धर्म-ग्रंथों से प्राप्त शिक्षा आज भी भारतीय समाज का मार्ग प्रशस्त करती है। भारतीय संस्कृति की यही वह विशेषता है जिसके कारण स्त्रियों को सदैव ही सम्मान प्राप्त हुआ है, आज भी हो रहा है और अनंत काल तक होता रहेगा।

सन्दर्भ सूची

1. शर्मा, पण्डित श्रीराम (2011) भारतीय संस्कृति एक जीवन दर्शन, युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।
2. श्रीमदभगवदगीता– गीताप्रेस, गोरखपुर।
3. शर्मा, पण्डित श्रीराम (1998) इक्कीसवीं सदी : नारी सदी, वांगमय संख्या-62, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
4. शर्मा, पण्डित श्रीराम (1998) यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता, वांगमय संख्या-47, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
5. शर्मा, पण्डित श्रीराम (1998) भारतीय संस्कृति के आधार भूततत्व, वांग्मय संख्या-34, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
6. विवेकानंद, स्वामी (2005) जाति, संस्कृति और समाजवाद, रामकृष्ण प्रकाशन विभाग, धंतोली, नागपुर - 440012
7. आचार्य, श्रीराम शर्मा (1997) वेदों का दिव्य संदेश, युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।
8. ऋग्वेद
9. यजुर्वेद
10. मनुस्मृति
11. श्रीमदभगवदगीता– गीताप्रेस, गोरखपुर।
12. https://www.awgp.org

महिला सशक्तिकरणः सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर होने वाले भेदभाव के कुपरिणाम

सुकन्या

शोधार्थी, गृह विज्ञान विभाग (फूड एंड न्यूट्रीशन), टी.एम.बी.यू., भागलपुर

डॉ० अंजु सिंह

एच.ओ.डी., गृह विज्ञान विभाग (फूड एंड न्यूट्रीशन), टी.एम.बी.यू., भागलपुर

परिचय

महिलाओं की जिंदगी में बहुत उलझनें हैं। रोजमर्रा की भाग-दौड़ भरी जिंदगी में जब औरत सिर्फ गृहिणी न होकर अपने साथ और कई जिम्मेदारियाँ ढोए तथा रोज आने वाली हर छोटी-बड़ी समस्याओं को बिना निपटाएँ आगे न बढ़ सके; ऐसे समय उसकी सबसे कठिन परीक्षा होती है।

पहले घर, फिर ऑफिस, बाजार और फिर सामाजिक; इन सब जिम्मेदारियों को निभाते-निभाते वह थक भी जाती है। हर कामकाजी स्त्री करीब-करीब इसी तरह की समस्याओं में घिरी होती है। फिर भी उसके मन में कुछ करने की लगन, और हमेश कुछ नया-नया करने की चाह बनी रहती है। और होना भी यही चाहिए। क्योंकि हमें अपने आपको ऊर्जावान बनाए रखने के लिए यह सब बहुत जरूरी है।

लेकिन इतना सब करने के बाद भी परिवार और समाज नारी का महत्व नहीं समझ पाए हैं। भले ही हम साल के किसी एक दिन को अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में घोषित कर दें, नारी जाति कितने ही मैडल कमा लें, समाज और परिवार में आज भी नारी के खिलाफ होने वाले भेदभाव, अत्याचार, साजिश लगातार जारी हैं।

आज भी महिलायें पारिवारिक, सामाजिक और धार्मिक वर्जनाओं की बेडियो में जकड़ी हुई हैं। नारी भले कितनी ही पढ़-लिख जाए, थोड़े समय के लिए समाज का नजरिया उसके प्रति बदल भी जाएँ, तब भी वह अत्याचारों के कैदखाने में बंद है। ऐसे कई उदाहरण रोजाना हमारी आँखों के सामने से गुजरते दिखते हैं, फिर भी हम कुछ नहीं कर पातें।

भारत की कामकाजी महिलाएं

ग्रामीण इलाकों में संयुक्त परिवारों की कामकाजी महिला अपने बच्चों की जिम्मेदारी घर की दूसरी महिलाओं को सौंप कर काम पर निकल सकती है; लेकिन शहर में रहने वाली महिलाओं के पास यह अवसर नहीं होता।

कई महिलाओं ने अपनी मां/सास के आदर, प्रेम और परिवार की जिम्मेदारियों की वजह से कैरियर त्यागकर घर-गृहस्थी को अपनाया होगा। ऐसी कई माताओं से जब आप बात करेंगे तो उनका यह भी कहना होगा कि उन्हें अवसर खोने का कोई खेद या दुख नहीं है, तथा नौकरी छोड़ घर पर रहने का फैसला उनका अपना है। लेकिन हमें नहीं भूलना चाहिए कि महिलाओं के इस चुनाव के पीछे भी हमारे समाज की अर्थव्यवस्था और कई सच्चाइयां छुपी हैं।

जैसे औरतों के लिए उपयुक्त रोजगार का अभाव, मातृत्व लाभ की कमी, प्राइवेट डे-केयर सेवाओं पर अविश्वास, शिशु-पालन में घर से सहयोग न मिलना, या कार्यस्थल पर असुरक्षित महसूस करना। यह भी संभव है कि काम करने की इच्छुक बहुत सी महिलाओं को घर-ससुराल से काम करने की इजाजत नही मिलती।

नौकरियों में महिलाओं की लगातार घटती भागीदारी

यद्यपि विगत कुछ वर्षों में औरतों ने उच्च शिक्षा प्राप्त कर महिला वर्ग से संबंधित रूढ़िवादी मान्यताओं को चुनौती दी है, फिर भी महिलाओं की श्रम बल में भागीदारी 1994 से लगातार घटी है। औरतों की सामान्य गतिविधियों की स्थिति के आंकड़े जोड़कर राष्ट्रीय सांख्यिकीय कार्यालय ने श्रम बल में महिला भागीदारी के अनुमान जारी किये हैं (आकृति-1), जिस में उन महिलाओं को शामिल किया गया है जो या तो कार्यरत थीं या जो (काम और पारिश्रमिक की मौजूदा स्थितियों में) सक्रिय रूप से काम तलाश रही थीं।

कामकाजी महिलाएं समाजशास्त्रियों के लिए बनीं पहेली

समाज का अध्ययन करने वालों की यह सोच थी कि जैसे औरतें शिक्षा हासिल करेंगी, वैसे ही वे स्वतंत्र निर्णय लेते हुए घर से बाहर निकलेंगी। साथ ही फैक्टरीयों का वातावरण औरतों को काम पे देखने के लिए परिपक्व होगा। परन्तु भारत के आंकड़े एक पहेली बन समाजशास्त्रियों को सता रहे हैं. यहां महिलाओं की भागीदारी का ट्रेंड इस धारणा के विपरीत घटा है.

पड़ोसी देशों में भी भारत का अनुभव अलग रहा है। जनसांख्यकीय और स्वास्थ्य सर्वेक्षण (डी. एच. एस.) से ये मालूम पड़ता है कि 2014 में जहां बांग्लादेश में 25-39 उम्र की लगभग 40% औरतें कार्यरत थीं, वहीं पश्चिम बंगाल में इस आयु वर्ग की 28.6% महिलाएं 2015 में कार्यरत थीं। देश की आधी आबादी में से अधिकतर औरतों को मनचाहा काम न मिलना, समाज में लिंग आधारित असमानता का प्रमाण है. ऐसी परिस्थिति में 'सबका विकास' होना असंभव है।

दूसरे डेटा स्रोत से यह सत्यापित किया जा सकता है कि शिक्षा की निचली सीढ़ी पर खड़ी महिलाएं घरेलू आय की पूर्ति हेतु काम तलाशतीं हैं। सारिणी-1 में प्रस्तुत 2011-12 के भारत मानव विकास सर्वेक्षण (आई. एच. डी. एस.- II) में शिक्षा प्राप्ति अनुसार 25-39 आयु वर्ग की महिलाओं की कार्य बल में भागीदारी भी यही कहानी बतलाते हैं, निरक्षर औरतें ही सब से अधिक कार्यरत नजर आती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में मनरेगा ने भी औरतों को कार्य बल में लाने की भूमिका निभाई है क्योंकि 2015-16 महिलाओं की मनरेगा में भागीदारी 55% रही।

जबकि कॉलेज स्नातक होने पर ही औरतों को नौकरी के आकर्षक अवसर मिल पाते हैं। और 10-11 वर्ष (माध्यमिक शिक्षा) पढ़ाई पूरी करने वाली महिलाओं की कार्यबल में भागीदारी अन्य शिक्षा-समूहों के मुकाबले सब से कम नजर आती है।

सवाल ये उठता है कि, माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने पर औरतों को उपयुक्त रोजगार क्यों नहीं मिल रहा है? फ्लेचर, पांडे और मूर (2017) राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (एन. एस. एस.) 68वां दौर, 2011-12 का प्रयोग कर यह दावा करते हैं कि, कई महिलाओं को उपलब्ध काम की शर्तें मंजूर नहीं हैं। 73% सर्वेक्षण में शामिल होने वाली, 15-70 आयु की महिलाओं (जो स्कूल में नामांकित नहीं थी) का कहना था कि वे अंशकालिक काम करना पसंद करती, लेकिन केवल 17% महिलाएं ही इस तरह का काम करती पाई गई। क्लासेन और पिएटर्स (2015) अपने शोध में इस बात पर जोर देते हैं कि शहरी महिलाओं का इच्छानुसार नौकरी मिलना कठिन हो गया है।

महिलाओं के लिए सीमित क्षेत्र

श्रम बाजार में मांग और आपूर्ति के असंतुलन का एक कारण यह भी हो सकता है कि औरतें अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में रहना पसंद करती हैं, जैसे- शिक्षा, वस्त्र उद्योग, मनरेगा और घरेलू सेवाएं। यहां के नियोजन के निबंधन को परिवारजन महिलाओं के अनुकूल समझते हैं, और अन्य महिलाओं की मौजूदगी में माहौल भी सुरक्षित जान पड़ सकता है। सरकार को इन क्षेत्रों में रोजगार तो उपलब्ध करना ही होगा, साथ ही यह विचार भी करना होगा कि अन्य क्षेत्रों को महिलाओं के अनुकूल कैसे बनाया जा सकता है।

अफरीदी, डिंकलमन और महाजन (2016) के शोध में ये पाया गया कि 1987-2009 के बीच जब ग्रामीण औरतों की श्रम बल में भागीदारी घटी, तब घरेलू काम को प्राथमिक गतिविधि बताने वाली विवाहित महिलाओं की दर भी बढ़ी। इस समय स्कूल दाखिलों में महिलाओं की संख्या काफी बढ़ी। ऐसा संभवत: 'विवाह के बाजार' में पढ़ी-लिखी दुल्हन की मांग बढ़ने की सामाजिक सोच बनने से हुआ। निश्चित रूप से एक शिक्षित मां अपने बच्चों की प्रगति पर बेहतर निगरानी रख सकती है, और यही बच्चे पढ़ कर, विकासशील अर्थव्यवस्था का लाभ उठाते हुए परिवार का सहारा बनेंगे। किन्तु इन आंकड़ों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि औरतें स्वयं घरेलू काम का चयन कर रही हैं। घर-परिवार और समाज का दबाव औरतों के निर्णयों को प्रभावित करता है।

परिवार की प्रतिष्ठा का बोझ महिलाओं पर

भारतीय समाज में परिवार की प्रतिष्ठा का बोझ घर में बच्चियों और औरतों पर है।

उन्हें यह बचपन से ही बताया जाता है कि अच्छे घर की लड़कियां घर की मान-मर्यादाओं का पालन करती हैं।

हम सारिणी-1 में माध्यमिक स्तर तक पढ़ी महिलाओं का पुन: विश्लेषण करते हैं, जिनके परिवार की आर्थिक स्थिति निरक्षर और पांचवीं कक्षा तक पढ़ीं औरतों के परिवार से बेहतर है।

यह एक कारण हो सकता है कि जब पति की आय घर चलाने के लिए पर्याप्त होती है, ये औरतें लक्ष्मण रेखा नहीं लांघती हैं।

यह प्रमेय आज भी प्रासंगिक हो तो सकता है लेकिन इस तर्क से गुत्थी पूरी तरह से नहीं सुलझती।

यह स्पष्ट नहीं है कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाली, उच्च आय वर्ग और उच्च जाति की महिलाएं अपने घरों की प्रतिष्ठा को चोट पहुंचाते हुए रसोई से कैसे निकल रही हैं, जब माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने वाली गृहणियां परिवार की प्रतिष्ठा के लिए सबकुछ कुर्बान कर रही हैं।

विवाहित स्त्री से पति, सास, ससुर और समाज द्वारा सर्वाधिक पूछा जाने वाला सवाल है: 'तुम काम करने निकलोगी, तो घर और बच्चे कौन संभालेगा'? स्नातक महिलाओं के पास शायद इस सवाल का जवाब है, 'वे इतना कमाने योग्य हो सकती हैं कि किसी अन्य महिला को घरेलू सहायिका के रूप में नियुक्त करें'। लेकिन यदि मैट्रिक पास कर किसी महिला की अनुमानित आय घरेलू सहायिका के वेतन के लिए पर्याप्त न हो, तो वह न चाहते हुए भी घर और रसोई संभालेगी।

निष्कर्ष

ये ध्यान देनेवाली बात है कि प्रत्येक शिक्षा वर्ग की ग्रामीण महिलाओं की कार्य बल में भागीदारी शहरी महिलाओं के अनुपात में ज्यादा है। यह कहना ठीक होगा कि गांव में संयुक्त परिवारों की कामकाजी महिलायें अपने बच्चों की जिम्मेदारी घर की अन्य महिलाओं को सौंप सकती है। यह विकल्प एकल परिवारों की शहरी महिलाओं के पास अक्सर नहीं होता, और यदि उनकी क्वालिफिकेशन पर लाभप्रद रोजगार दुर्लभ हो, या कार्य-स्थल पर डे-केयर जैसी सुविधाएं उपलब्ध न हो, तो वे घर के काम को ही उचित विकल्प समझती हैं।

हालांकि मातृत्व लाभ (संशोधन) अधिनयम ने 50 से अधिक कर्मचारी रखने वाले संस्थानों के लिए क्रेश सुविधा अनिवार्य की है, इस अधिनियम के दायरे में केवल औपचारिक क्षेत्र में काम करने वाली महिलाएं आती हैं, जो महिला कार्य बल में 5.9% की हिस्सेदारी रखती हैं (आई.एल.ओ., 2018)। जिन महिलाओं के लिए रोजगार की संभावनाएं अनौपचारिक क्षेत्र में ही मिल सकती हैं, उनके लिए सरकारी मातृत्व सेवाएं और घर के सदस्यों का सहयोग, वह कड़ी बन सकती जो रसोई और फैक्ट्री के बीच एक मजबूत पुल बांध दे। वैशिकरण के दौर में, विभिन्न क्षेत्रों में लिंग पर आधारित आरक्षण से औरतें अर्थव्यवस्था के 'मर्दाना कक्ष' में भी प्रवेश कर सकती हैं. इससे औरतों को रोजगार के अवसर तो मिलेंगे ही, अपरंपरागत कार्य स्थलों पर जब औरतें पाई जाएंगी तो 'महिला रोजगार' की परिभाषा भी धीरे-धीरे बदलेगी.

संदर्भ

- *Basu, Aparna (1991), "Women's History in India: An Historiographical Survey", in Offen, Karen; Pierson, Ruth Roach; Rendall, Jane (eds.), Writing Women's History: International Perspectives, Indiana University Press, p. 181, doi:10.1007/978-1-349-21512-6_10, hdl:2027/heb.03316.0001.001.*
- *Forbes, Geraldine Hancock (Spring 2003). "Reflections on South Asian Women's/Gender History: Past and Future". Journal of Colonialism and Colonial History.* ***4*** *(1). doi:10.1353/cch.2003.0012. S2CID 144912833.*
- *Pande, Rekha (1999), "Women's History: India", in Boyd, Kelly (ed.), Encyclopedia of Historians and Historical Writing vol 2, Taylor & Francis, pp. 1318–1321, ISBN 9781884964336.*
- *Ramusack, Barbara N. (1999), "Women in South Asia", in Ramusack, Barbara N.; Sievers, Sharon L. (eds.), Women in Asia: restoring women to history, Bloomington, Indiana: Indiana University Press, ISBN 9780253212672.*
- Choudhary, Renu (June 2013). "Women in Indian society: a historical perspective". Madhya Pradesh Journal of Social Sciences. **18** (1): 41–53.
- Majumdar, R. C. (2014). Great women of India. Kolkata : 2014. Editors : Swami Madhavananda, Ramesh Chandra Majumdar
- डाँ. जे. पी. सिंह, (1 April 2015)- आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन PHI Learning Pvt- Ltd- आई.घ्स.बी.घ्न. 978-81-203-5232-2.

विवाह संस्था और स्त्री प्रश्न (विशेष संदर्भ समकालीन हिन्दी उपन्यास)

रेणु चौधरी

स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों की शुरूआत मानव जीवन के शुरुआत के साथ ही हुआ। प्राचीन युग में स्त्री-पुरुष बिना किसी बंधन के साथ रहते थे। समय के साथ इन संबंधों का स्वरूप बदला। जब समाज और परिवार की परिकल्पना अस्तित्व में आई तो स्त्री-पुरुष संबंधों को एक बंधन का रूप देने के लिए विवाह संस्था को मान्यता दी गई। हजारों वर्षों के बाद आज भी विवाह का स्वरूप अलग-अलग जातियों, देश से लेकर विदेशों में भिन्न-भिन्न हैं। भारत जैसे विशाल देश में यह भिन्नता और अधिक दिखाई देती है। दरअसल भारतीय परिप्रेक्ष्य में तो आज भी स्त्री-पुरुष संबंधों को सामाजिक मान्यता तभी दी जाती है जब विवाह संस्था द्वारा स्त्री-पुरुष संबंध को मंजूरी मिली हो। यह रूढ़िवादी परंपरा आज भी समाज में अपनी जड़ें जमाए बैठा है। वस्तुत: भारतीय समाज में विवाह एक ऐसी संस्था है जहाँ स्त्री की स्थिति और अधिक दयनीय है। स्त्री परिवार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के बावजूद वह सुखमय जीवन नहीं जीती है और ना ही उसे निर्णय लेने का अधिकार होताहै। वह कई बंधनों से जकड़ी हुइ है। प्रागैतिहासिक काल में मातृसत्तात्मक समाज होने के कारण स्त्री स्वतंत्र थी, स्वावलंबी थी और उसे निर्णय लेने का अधिकार भी था क्योंकि उस समय वर्चस्ववादी संस्कृति स्त्रियों के ऊपर हावी नहीं थी इसलिए स्त्रियाँ पूर्ण रूप से स्वतंत्र थीं। लेकिन पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री पुरुष की सम्पत्ति बन गई। उसका रूप सहचरी, सहभागिनी के बदले पुरुष की अनुचरी और अबला जैसी हो गयी। वह पुरुष द्वारा खरीद-फरोख्त की जाने लगी और विवाह संस्था ने इसे और ज्यादा मजबूत किया। रमणिका गुप्ता का कथन है "विवाह की प्रथा भी सभ्यता और संस्कृति के विकास के इतिहास में औरत को संपत्ति बनाने की तरफ और उस पर अंकुश लगाने के लिए बढ़ाया गया एक नियमित, योजनाबद्ध कदम था। विवाह औरत की गुलामी का प्रथम दस्तावेज था।" रमणिका गुप्ता का कहना विचारणीय है क्योंकि यह सच है कि पितृसत्तात्मक समाज में विवाह संस्था स्त्री को गुलाम बनाती है। इस संस्था में वह स्वतंत्र नहीं होती है ज्यादातर स्त्रियां घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं तथा उसे पुरुषों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है।

विवाह एक ऐसी संस्था है जो वैधानिक अधिकार प्राप्त कर, स्त्री का हर तरह से शोषण करता है। इस संबंध में स्त्री को सिर्फ संबंधों का बोझ ही ढोना पड़ता है जिसे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के त्याग और बलिदान का नाम दिया गया है। विवाह एक ऐसा संस्कार है जिससे बंधने के बाद स्त्री को अपनी जड़ों (घर) को छोड़ कर पति के घर जाना पड़ता है और वहां उसके नाम का दूसरा नामकरण होता है। बहुत बार विवाह के बाद स्त्री को उसके गाँव के नाम के साथ पुकारा जाता है जैसे माधोपुरवाली, मोड़वाली आदि। यानी इस संस्था में स्त्री का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं होता। दरअसल इस संस्था में स्त्री को संरक्षण तो मिलता है लेकिन रोटी, कपड़ा और मकान के एवज में स्त्री जीवन भर के लिए पुरुष (पति) की बंधुआ मजदूर बन जाती है। भारतीय समाज में यह जगजाहिर है कि विवाह के बाद कितने प्रतिशत स्त्रियां सुखमय जीवन जीती हैं। आकड़े उठाकर अवलोकन करें तो बहुत कम संख्या खुश रहने वाली स्त्रियों की मिलेंगी।

यह अलग बात है कि समय के साथ चीजें बदल रही हैं। बदलाव मानव जीवन के लिए जरूरी भी है। इसी बदलाव का परिणाम समाज में दिख रहा है कि आज इस गुलामी के मकड़जाल को तोड़ने की बात की जा रही है। रमणिका गुप्ता का इस संदर्भ में कहना हैं "विवाह नाम की संस्था को टूटना चाहिए। मैं परिवार और विवाह को स्त्री के लिए पिंजरा मानती हूं। वह स्त्री को पिंजरा में कैद करता है।" इसके अतिरिक्त मैत्रेयी पुष्पा कहती हैं "मेरी तीव्र इच्छा है, हजारों साल से चला आ रहा सिलसिला टूटना चाहिए। अपने हक के लिए लड़ना चाहिए। संरक्षण और सुरक्षा स्त्री के लिए खतरनाक और बर्बर शब्द है, भरोसा देकर उसे नष्ट करते हैं। बात वही है कि जो अपने प्रति न्याय की बात नहीं सोचता, उसे न्याय देने की मूर्खता कौन करेगा?" अत: स्त्रीवादी चिंतक स्त्री को अपने भले के बारे में सोचने को प्रेरित करती हैं। वर्तमान समय में स्त्रियां चेतनाशीलहो रही हैं, वह पुरुषवादी व्यवस्था के साजिश को समझने लगी है। आजविवाह का स्वरूप बदलता हुआ दिख रहा है। आज लिव-इन-रिलेशनसिप का कंसेप्ट आ गया है। महानगरों में ज्यादातर युवा वर्ग शादी से पहले साथ में रहते हैं। एक दूसरे के सुख-दु:ख के भागेदारी होते हैं। यह अलग बात है कि हर विचार का अपना सकरात्मक और नकरात्मक प्रभाव होता है। उसी तरह लिव-इन-रिलेशनसिप का भी है। विवाह संस्था में बदलाव काएक बड़ा कारण आर्थिक आधार भी है। वर्तमान समय में स्त्रियां शिक्षित होकर आर्थिक रूप से मजबूत हो रही हैं। वह पुरुषों के साथ कंधे से कधा मिलाकर काम कर रही है। स्त्रियों को घर के बाहर पुरुषओं के साथ काम करना कहीं न कहीं विवाह संस्था से जुड़ी परंपरागत व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा होना है जो कि वर्तमान समय में दिख रहा है। यह मानसिकता बनी हुई थी कि स्त्री है तो घर का काम करेगी, पुरुष बाहर का। यही से स्त्री की गुलामी शुरू हुई थी। अब इस मानसिकता में बदलाव आ रहा है लेकिन अभी भी भारतीय समाज में ज्यादार लोगों की मानसिकता स्त्री को गुलाम बनाकर रखने की है। सिमोन का कहना है "आर्थिक विकास के कारण औरत की समकालीन स्थिति में आए भारी परिवर्तनों ने विवाह संस्था को भी हिला दिया है। विवाह अब दो स्वत्रंत व्यक्तियों के बीच एक पारस्परिक समझौता से उत्पन्न बंधन है, जो व्यक्तिगत और पारस्परिक होता है।"

आज स्त्री प्रश्न कर रही है? वह सवाल उठा रही है, क्या है यह विवाह संस्था? क्यों एक स्त्री के अस्तित्व की पहचान उसके पति से संबंधित है? स्त्री-पुरुष के संबंध को क्यों विवाह संस्था द्वारा ही मान्य माना जाता है? क्या यही है स्त्री की नियति? न जाने कितनी स्त्रियाँ वैवाहिक संबंधों में यौन शोषण का शिकार होती हैं। पुरुष को विवाह के नाम पर सामाजिक अधिकार मिल जाता है। प्रभा खेतान भी विवाह को स्त्री के लिए अनिवार्य नहीं मानती हैं उनका कहना है "विवाह एवं पति बच्चे ही सब कुछ नहीं हैं। अगर पुरुष स्त्री का शोषण करें तो पत्नी को इसका प्रतिकार करना सीखना चाहिए। विवाह, पति, बच्चों से अलग हटकर भी स्त्री का अपना सा अस्तित्व होता है। जिसके आधार पर वह अपनी अलग स्वतंत्र पहचान बना सकती है।" विवाह संस्था में स्त्री की जो स्थिति होती है उसके लिए सिमोन का यह कथन विचारणीय है। फलत: अब स्त्री भी अपने अधिकारों को समझ रही है, इसकी झलक समाज में दिखने लगा है और साहित्य में भी, क्योंकि साहित्य और समाज का गहरा संबध होता है। तभी तो कृष्णा सोबती मित्रो जैसी स्त्री चरित्र को गढ़ी। इस उपन्यास में मित्रो का चित्रण परंपरागत स्त्री की छवि से हटकर है। मित्रो के व्यक्तित्व में एक नैसर्गिक खुलापन दिखाई देता है। वह अपनी हर भावनाओं को बेबाक तरीके से अभिव्यक्त करती है। मित्रो मां नहीं बन पाती है तो अपनी सास को करारा जबाव देते हुए कहती है "मेरा बस चले तो सौ-सौ कौरव जन के रख दूँ। पर अम्मा अपने लाडले बेट का...। निगोड़े उस पत्थर की बुत में भी कोई हरकत तो हो।" इस तरह की बात परंपरा से जकड़ी हुई स्त्री नहीं कर सकती थीं बल्कि मित्रो जैसी बोल्ड स्त्री ही कर सकती हैं। स्त्री बिना विवाह के मां बनने की जहमत उठाती है तो उसे कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। प्रभा खेतान का मानना है "व्यापक परिप्रेक्ष्य में विवाह व्यवस्था इसलिए दमनकारी है क्योंकि यह पितृसत्तात्मक समाज की अभिव्यक्ति है। परिणामस्वरूप समाज स्त्री की देह पर नियंत्रण चाहता है, जबकि आज वह अपनी देह पर अपना नियंत्रण चाहती है। भूमण्डलीकृत समाज में स्त्री अपनी देह की मालकिन स्वयं होती जा रही है।" गौरतलब है कि चित्रा मुद्‌गल का 'आवां', मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब', प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता' मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' आदि इन प्रमुख उपन्यासों में विवाह संस्था के सवाल को उठाया गया है। 'चाक' उपन्यास में विधवा रेशम का अवैध गर्व धारण करना कहीं न कहीं विवाह जैसी संस्था को चुनौती देना है।

सदियों से सामाजिक धारणा बनी हुई है कि विवाह एक ऐसा बंधन हैजहाँ स्त्री और पुरुष दोनों इस संबंध को निभाने की कसमें खाते हैं। विवाह के बाद स्त्री पर पूरा अधिकार पुरुष का होता है। वह जैसे चाहे, जब चाहे स्त्री का उपभोग कर सकता है। प्रभा खेतान कृत उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में प्रिया की मां कस्तूरी राधे से कहती हैं "हमलोगों का भी कोई जिंदगी है? जब से शादी हुआ, हर दसवें महीने बच्चा पर बच्चा। एक लड़का तो मरा हुआ पैदा हुआ। पहली लड़की आठ बरस की उम्र में मर गई। चार बार तो गर्भपात हो गया। शरीर में कोई दम रहता है क्या? और सुमित्राबाई को देखों, चौदह साल में शादी किया, पंद्रह बरस में तो बुल्ली हो गया।" प्रिया की मां भारतीय समाज के यथार्थ को बयां कर रही हैं। इस संदर्भ मेंसिमोन दा बोउवार काकहना है कि "पुरुष के जीवन में विवाह का अर्थ सिर्फ वही नहीं होता जो औरत के लिए। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के लिए अनिवार्य होते हुए भी समानता के स्तर पर पारस्परिक नहीं होते क्योंकि औरत जाति ने कभी समानता के स्तर पर पुरुष जाति से कोई अनुबंध विनिमय किया ही नहीं।" ज्यादातर पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे अपनी पत्नी के शरीर पर अपना अधिकार जताता आया है। इसमें पत्नी की हां या ना की कोई गुंजाइश नहीं होती यानी बहुत बार पुरुष स्त्री के मन के खिलाफ उसके साथ जबरदस्ती संबंध बनाता है और तर्क यह देता है कि यह तो पति का अधिकार है। विवाहको भारतीय समाज में पवित्र बंधन माना जाता है लेकिन इस बंधन में सबसे ज्यादा स्त्रियाँ शोषित होती हैं। प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में फिलिप अपने जीवन की कहानी प्रिया को बताता है और प्रिया से कहता है "नरेन्द्र तुम्हारे प्रति मालिकाना भाव रखता था। वास्तव में विवाह की सारी व्यवस्था ही इस भाव पर आधारित है और जहाँ स्त्री की चेतना विकसित होने लगती है, वहीं यह व्यवस्था चरमराने लगती है।" फिलिप का यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है कि विवाह व्यवस्था में पुरुष का अपने स्त्री पर मालिकाना भाव रहता है। वह मालिक की तरह अपने पत्नी के साथ पेश आता है। विवाह का अर्थ ही स्त्री पर पुरुष काएकाअधिकार का है। यही स्त्री की नियति बन कर रह गई है। पुरुष दिन हो या रात नहीं देखता और न स्त्री की पीड़ा को समझता है। वह बस अपनी तृप्ति की पूर्ती करता है। इस तरह के दृश्य को 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में नरेन्द्र के हवाले से देख सकते हैं। नरेन्द्र जिस तरह से अपनी पत्नी प्रिया के साथ जानवर की तरह पेश आता है। भारतीय समाज में इसी तरह के पुरुषों की तदाद हैं।

समाजशास्त्री शब्दावली मेंलड़की की शादी के बाद पति का घर ही उसका अपना घर होता है। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में हुकूमत तो नरेन्द्र की चलती है प्रिया का नहीं। आखिर घर तो दोनों का है और घर में रहने का अधिकार दोनों के पास होना चाहिए चूंकि समाज में पुरुषों की सत्ता है इसलिए नरेन्द्र का पलड़ा भारी है और वह प्रिया को धमकी देता है। धमकी से प्रिया रूकती नहीं बल्कि नरेन्द्र की धमकी की अवहेलना कर लंदन चली जाती है। प्रभा खेतान प्रिया के हवाले से समाज का यथार्थपूर्ण चित्रण की है। प्रिया जब अपने मन का काम करने लगती है तो उसकी इच्छाओं को अस्वीकार किया जाता है। अगर कोई स्त्री अपने व्यवसाय में व्यस्त हो और अपने घर-परिवार को समय नहीं देती है।साथ ही पति के इच्छा को पूरा नहीं करती है। ऐसे में स्त्री के व्यवसाय करने का कोई महत्व नहीं होता है क्योंकि समाज का एक ढांचा बना हुआ है कि स्त्री है तो पहले अपने पति को देखेंगी, पति की इच्छा को पूरा करेंगी। चाहे पत्नी की इच्छा हो या न हो। ऐसी स्त्री भारतीय सामाजिक ढ़ांचे में फिट नहीं होती जो न करती हो। परंपरा से विद्रोह करती हुई स्त्री को न घर-परिवार स्वीकार करता है और न ही समाज। भारतीय समाज में स्त्री का पालन-पोषण विवाह के लिए ही किया जाता है। जैसे ही लड़की बड़ी होती है मां-बाप उसकी शादी के लिए चिंतित होने लगते हैं। प्रिया का कैरियर बनाने की किसी को चिंता नहीं है। प्रिया का काला रंग मां के लिए चिंता का विषय है। कैसे होगी प्रिया की शादी? कौन करेगा इससे विवाह? सरोज के लिए कोई दिक्कत नहीं होगी, क्योंकि सरोज का रंग गोरा है। भारतीय समाज में विवाह के लिए गोरी चमड़ी महत्व रखती है। प्रिया अपने घर के लिए एक अनचाही बेटी है। वह बचपन से अपने घर में ही उपेक्षित जीवन जीती है। उसका पालन पोषण उसकी मां नहीं करती है बल्कि उसकी दाई मां करती है। वह अपने दाई मां की बेटी कहलाती है। वह अपने ही घर में अपने बड़े भाई के द्वारा यौन शोषण का शिकार भी होती है जिसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है।

अनामिका द्वारा रचित उपन्यास 'तिनका तिनके पास' में अनामिका विवाह संस्था पर करारा चोट करती हैं। अनामिका लिखती हैं "कॉल गर्ल हर औरत होती है ब्याहता गृहस्थिन भी। कॉल गर्ल को तो यह छूट भी होती होगी कि हर कॉल पर वह प्रस्तुत न हो, पर गृहस्थिन की क्या मजाल।" विवाहित स्त्रियों के पास न कहने का अधिकार ही नहीं होता, क्योंकि सामाजिक रूप से उस स्त्री पर उसके पति का हक होता है। कई ऐसी स्त्रियाँ है जो अपने पति के मार के डर से चुप रहती हैं और वह पति के सामने बिना इच्छा के प्रस्तुत होती रहती हैं।समाज में यह विसंगतियां सदियों से बनी हुई है और आज भी है। यह तब तक बनी रहेगी जब तक स्त्रियां अपने अधिकारों के प्रति चेतनशील नहीं होगी। अत: विवाह संस्था जिस तरह से स्त्री को सुरक्षा देता है उसी तरह उसका दमन भी करता है।बेहतर समाज की निर्मिति तभी होगी जब स्त्री-पुरुष का संबंध बराबरी का होगा तथा पुरुष अपनी जीवनसंगिनी को साथी का दर्जा देना शुरु करेंगा।

संदर्भ

1. रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्श कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या-21
2. अनिता भारती, स्त्रीकाल, अंक: दलित स्त्रीवाद, (सं)- पृष्ठ संख्या-66
3. मैत्रेयी पुष्पा, सुनो मालिक सुनो, पृष्ठ संख्या-23
4. सिमोन द बोउवार, स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ संख्या-144
5. प्रभा खेतान, अपने-अपने चेहरे, पृष्ठ संख्या -94
6. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृष्ठ संख्या -84
7. कथादेश, जुलाई 2003, पृष्ठ संख्या - 65
8. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या-102
9. सिमोन द बोउवार, स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ संख्या -178
10. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या - 174
11. अनामिका, तिनका तिनके पास, पृष्ठ संख्या-64

साहित्य इतिहास-लेखन में भक्त स्त्रियाँ

डॉ० कविता राजन

एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी साहित्येतिहास परम्परा के आरम्भिक दौर से ही छिटपुट परिवर्तनों के साथ केवल मीराबाई के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को ही चित्रित किया गया है। सुमन राजे अपने 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' में लिखती हैं कि "*इतिहास लेखन अपने प्रकृति में सामंती होता है।*"[1] हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में स्त्री-लेखन को जगह न मिलने का एक कारण वे यह बताती हैं कि चूँकि स्त्रियों का साहित्य वाचिक परंपरा का होता है इसलिए वह इतिहास में अपनी जगह नहीं बना पाता है। सावित्री सिन्हा ने लिखा है कि "*अधिकांश निर्गुण पंथों में प्रचलित नारी के प्रति घृणा, भर्त्सना व उपेक्षा भाव के बरक्स इन निर्गुण उपासिकाओं की स्थिति अपने आप में महत्त्वपूर्ण एवं सुंदर है। निर्गुण मत में दीक्षित नारियों की वाणी हमें मुस्कुराने का अवसर देती है। उन संतों के लिए इन स्त्रियों की उपस्थिति ही उनकी भर्त्सना को चुनौती देती है। काव्य की इस धारा में स्त्रियों की वाणी तथा ज्ञानात्मक विवेचनाएँ मानों अपने गुरुओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करती प्रतीत होती है कि नारी में केवल आकर्षण ही नहीं है।*"[2] इन साधिकाओं में सहजों बाई, फूली बाई, राना बाई, गवरी बाई, आंमा बाई, सुखी देवी, स्वरूपाबाई, बावरी साहिबा आदि प्रमुख है।

'भक्तमाल' में उल्लेखित स्त्री भक्तों की सूची दी गयी है। लेकिन इनमें से बहुत से स्त्री रचनाकार की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं इसलिए इस बारे में अनुमान लगाना भी कठिन है कि कौन सी रचनाकार सगुण हैं और कौन सी निर्गुण। इनमें से बहुत से स्त्री भक्तों के जीवन आदि के विषय में भी स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है।

संत परंपरा में बावरी साहिबा का नाम प्रमुख है इन्होंने बावरी संप्रदाय का प्रवर्तन किया है। परशुराम चतुर्वेदी इनका समय 1599 ई. से 1662 ई. के आस-पास मानते हैं। ये अकबर, संत दादूदयाल और हरिदास निरंजनी के समकालीन है। इनकी साधना पद्धति तथा व्यक्तिगत जीवन के बारे में कोई खास जानकारी नहीं प्राप्त थी। आचार्य द्विवेदी का मत है कि भगवत प्रेम में मस्त रहने के कारण इनका नाम बावरी पड़ा होगा। बावरी साहिबा निर्गुण ब्रह्म की उपासिका थीं। उनकी साधना उच्चकोटि की थी, इसलिए उन्हें 'साहिबा' कहकर आदर से संबोधित किया जाता था। जो साधना-पद्धति उन्होंने चलाई, उसे बीरू साहब, यारी साहब, बुल्ला साहब, गुलाल साहब, जगजीवन साब, भीखा साहब, पल्टू साहब जैसे संतों ने आगे बढ़ाया।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में स्त्री भक्तों की एक लम्बी कतार है- तुलसी, पारवती, रातो क्षत्राणी, रुकमीणी, अम्मा क्षत्राणी, वीर बाई, भवानी, बिरसो, कृष्णदासी, कला मिश्र आदि की वार्ताएँ संकलित है।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में स्त्री भक्तों की सुदीर्घ परंपरा दृष्टिगोचर होती है। इसके प्रथम खंड में उल्लेखित भक्त स्त्रियों के नाम हैं- एक सेठ की बेटी लाहौर की, पीरजादी (अलीखान पठान की बेटी), एक ब्राह्मणी उज्जैन की, एक साहुकार की बेटा की बहु (गुजरात की), एक क्षत्रणी गुजरात की, पाथो गुजरी, गंगाबाई, क्षत्रणी माहवन की, एक कुंजरी, एक वेश्या की छोरी, बीरबल की बेटी व एक स्त्री (क्षत्रणी)।

द्वितीय खंड में एक गुर्जर के बेटे की बहु, अजब कुँवरि बाई, एक वैष्णव बनिया की बेटी, एक ब्राह्मणी उपरावादी, एक क्षत्राणी आगरे की, एक डोकरी, सीताबाई और अचलाबाई की वार्ताएँ हैं। तृतीय खंड में कान्ह बाई, किशोरी बाई, एक क्षत्राणी की बेटी, लाडबाई, धराबाई व रूपमंजरी के चरित्र वर्णित है। इन वार्ताओं में स्त्री भक्तों के द्वारा वर्ण, वर्ग, जाति एवं धर्म के बंदिशों से परे भक्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है साथ ही स्त्रियों के उपासना के निजी व्यक्तित्व का प्रकाशन किया गया है।

कहना न होगा की यह स्त्री भक्त भक्ति की अवधारणा के एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण आयाम प्रस्तुत करती हैं। स्त्री भक्तों के साहित्य के व्यापक मूल्यांकन का आधार प्रदान करती है। भक्ति आंदोलन में स्त्रियों ने अपनी रचनाधर्मिता से उस सांस्कृतिक परंपरा को मूल्यांकित करने का प्रयास किया तथा अपनी सृजनात्मक वृत्ति से अस्तित्व एवं अस्मिता की बात भी की है। उनकी कविताओं में जहाँ एक तरफ पूरी स्पष्टता से जीजिविशा परिलक्षित होती है वहीं मध्यकालीन प्रभुता के विरुद्ध आवाश भी है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि उनकी कविताओं में पितृसत्ता से विरोध है साथ ही उस शास्त्र रचित सांस्कृतिक परंपराओं से भी।

उमा और पार्वती को भक्ति की कवित्रियों में शामिल करते हुए सावित्री सिन्हा उनके बारे में लिखती हैं कि "*ये निर्गुण काव्य की लेखिका थी इनकी कविता में पुरुष कवियों से भिन्न (सईयाँ) और सद्‌गुरु के स्वरूप का वर्णन है इनकी अपरिपक्व काव्य भाषा में ग्राम्य शब्दों की बहुलता है। विलक्षण बात यह है कि इनकी कविता में राम की धारणा सगुण रूप में न होकर निर्गुण ब्रह्म के रूप में व्यक्त हुई है।*"[3] जहाँ तक भाषा में अपरिपक्वता का सवाल है कि इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि "*हमारे देश में लोक-भाषाओं को बनाने, उसे विकसित करने में योगदान स्त्रियों ने ही दिया है यदि हमें ब्रज, अवधी आदि लोक-भाषा और संस्कृति पर बात करनी है तो इस दिशा में ग्रामीण स्त्रियाँ ही मददगार होंगी। साथ ही मातृभाषा में कविता की शुरुआत*

होने के कारण जितनी स्त्रियाँ भक्ति आंदोलन के दैरान कविता क्षेत्र में आई वैसी न उसके पहले आई न उसके बाद। कइओं से तो वह भाषा ही उत्पन्न हुई है इसी कारण स्त्रियों ने इतने बड़े व क्रांतिकारी स्तर पर काव्य रचा।"[4] पुरुष प्रभुता की सामाजिक संरचना से जिरह करने के लिए ही इन्होंने अपनी भाषा विकसित की।

सहजो बाई और दया बाई दोनों ही निर्गुण रचनाकार हैं। सहजो बाई ने स्त्री की अभिलाषाओं को कविता का विषय बनाया है। भक्त कवियों की तरह गुरु महिमा और गुरु को ज्ञान और बुद्धि के निर्माता के रूप में स्वीकार किया है। कर्म फल के सिद्धांत के विरुद्ध लिखने वाली सहजो बाई प्रथम कवियत्री हैं। वह पुनर्जन्म की धारणा का तिरस्कार भी करती हैं सहजो बाई की तरह दया बाई भी गुरु की महत्ता को स्वीकार करती हैं। उन्होंने सहज अनुभव के बजाय सुमिरन की भावना को अधिक महत्त्व दिया। दया बाई के यहाँ निर्गुण परंपरा का भाव परिलक्षित होता है। निर्गुण परंपरा के अरूप को ज्ञान एवं ध्यान के द्वारा प्राप्त करना उनका लक्ष्य था, जबकि सहजो बाई भी परंब्रह्म के अवतारी एवं निर्गुण रूप के मध्य समरसता बैठाने की कोशिश करती है। दोनों की कविताओं में भावनाओं एवं अनुभूतियों के अतिरिक्त दार्शनिक विषयों के विवेचन यौगिक एवं ज्ञान संबंधी गुणत्तम विषयों को भी प्रतिपादित किया गया है।

स्त्री भक्तों के साहित्य के व्यापक मूल्याँकन एवं विवेचन की दिशा में हिंदी साहित्येतिहास ग्रंथ प्रायः उदासीन ही हैं। शायद, साहित्येतिहासलेखन तथा प्रतिमान स्थापन क्रम में उनकी उपस्थिति ही महत्त्वपूर्ण न जान पड़ी। इस संदर्भ में 'हिंदी-नवरत्न' की भूमिका का यह कथन उल्लेखनीय है कि, "*बहुत दिनों से हमारा यह विचार था कि हिंदी-साहित्य का एक अच्छा इतिहास लिखा जाए, और उसमें प्रसिद्ध तथा अच्छे कवियों की रचनाओं पर कुछ विस्तार के साथ समालोचना लिखी जाए।"*[5] इस प्रकार यहाँ 'प्रसिद्ध' और 'अच्छे कवियों' के इस निर्धारित प्रतिमान में कोई भी भक्त-कवयित्री अथवा उनका रचना-संसार वर्णन के उपयुक्त ही नहीं जान पड़े।

'मिश्र बंधु विनोद' में प्रताप कुँवरीबाई की संक्षिप्त चर्चा मिलती है। यहाँ उनके काव्य को '*भक्तिपूर्ण*' और '*मनोहर*'[6] बताते हुए, उनके कृतित्व पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। बात संत काव्यधारा की हो, तो इनमें 'बावरी साहिबा' का संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन 'हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास' भाग-4 (परशुराम चतुर्वेदी) तथा 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) ने किया है। बाकी साहित्येतिहासों में भक्ति साहित्य के वर्णन के दरम्यान आम ढर्रे में मीरा के अलावा कोई अन्य स्त्री भक्त को समाहित नहीं किया गया है।

इस प्रकार भक्त-कवयित्रियों कीशृंखला में एकमात्र कवयित्री-मीरा को साहित्येतिहास में शामिल करने का जो सिलसिला चला, वह परवर्ती साहित्येतिहासों- 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (संपा. - नगेन्द्र), 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' (बच्चन सिंह), 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' (रामस्वरूप चतुर्वेदी), 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (विजयेन्द्र स्नातक), 'हिंदी साहित्य का सरल इतिहास' (विश्वनाथ त्रिपाठी) आदि तक आते-आते भी वैसा ही बरकरार रहा।

स्त्री साहित्य से संबद्ध शोध एवं अध्ययन के नए मुकाम तय करने की दिशा में सुमन राजे कृत 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः स्त्री भक्तों की परंपरा को भी इसमें विस्तारपूर्वक उल्लिखित किया गया है। लेखिका ने बड़ी बेबाकी से यह स्पष्ट किया है कि हिंदी साहित्येतिहास की पीठिका युगविभाजन, नामकरण, एवं पूर्वापरसम्बन्ध-निर्धारण पर आधारित है। परंतु, इस अनन्तनाम-रूपा तक साहित्येतिहास परम्परा में केवल महिला लेखन को ही अध्ययन की स्वतंत्र इकाई नहीं स्वीकारा गया।[7] उल्लेखनीय है कि सुमन राजे ने भक्ति आंदोलन के देशव्यापी प्रसार में बिखरे महिला लेखन के सूत्र भी खोज निकाले हैं। आपने भक्ति की पूर्व-पीठिका स्वरूप, वेदों, उपनिषदों, बौद्ध थेरीगाथाओं, जैनों से होते हुए संपूर्ण देश की स्त्री-भक्तों का विस्तृत उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में कई तथ्यात्मक त्रुटियाँ भी हैं, परंतु पुरुषों के बरक्स भक्ति-साहित्य में 'स्त्री-पक्ष' के रेखांकन की दिशा में यह ग्रंथ बेहद उपयोगी है। अतः यह स्पष्ट है कि उद्देश्य महज 'आधाार इतिहास' प्रस्तुत करना भर नहीं है परंतु उस उपेक्षित आधे भाग के द्वारा साहित्येतिहास के स्वरूप को संपूर्णता प्रदान करना है।

अस्मिताओं की अभिव्यक्ति की दावेदारी वर्तमान समय का नियामक परिदृष्य गढ़ रही है। ये साहित्य इतिहास में पहली बार अपने भागीदारी का प्रश्न उठा रहे हैं। यहाँ 'अनुभूति की ईमानदारी' या 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का प्रश्न केन्द्र में है। भक्ति काल में कबीर, रैदास जैसे कवि अपनी 'अनुभूति की दावेदारी' का प्रश्न उठा रहे थे। इस दावेदारी में उनका अनुभव सच ही 'अनभै साँचा' हो गया। भयरहित सहज अनुभूतियाँ इतिहास में अपनी जगह बनाने में नाकाम रही, नाकाम रही या नाकाम कर दिया गया। ये समकालीन इतिहास का एक बड़ा सवाल है। इन्होंने खुद एक ज्ञानमीमांसा विकसित की है, जिसे नामवर सिंह अनुभव सम्मत विवेकवाद कहते हैं। यह अनभै साँचा इतिहास में अपनी परंपरा को तलाश रहा है। भक्ति काव्य के सन्दर्भ में यह और जरूरी इसलिए भी हो जाता है क्योंकि साहित्येतिहास और आलोचना में जिस भक्ति काव्य का इतना अदम्य आकर्षण है वैसे में इस बात की पड़ताल होनी चाहिए कि उस साहित्य इतिहास में स्त्री की जगह कहाँ और कितनी है? *सामूहिक रूप से एक जबदी हुई* स्तब्धा मनोवृत्ति के शिकार सामाजिक संरचना में स्त्री के लिए जगह थी या नहीं थी यह शोध का विषय हो सकता है लेकिन हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन में स्त्री के लिए बहुत कम जगह है यह साहित्येतिहासों को पढ़ने से स्पष्ट है।

'स्त्री विमर्श' स्त्री की अस्मिता को रसोई और संतति के गणित से परे स्थापित करने का एक आन्दोलन है। स्त्री अस्मिता आन्दोलन में देह की उपस्थिति एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय की तरह है। देह और देह से जुड़ी पीड़ाओं को अभिव्यक्त करना एक बड़ी जरूरत थी जो साहित्य में पहले कभी इतना प्रासंगिक बन कर सामने नहीं आया। आजकल देह से मुक्ति की बात करते ही लोग स्त्रियों को चरित्र प्रमाण-पत्र निर्गत करने लगते हैं।

स्त्री-शोषण की शुरूआत उसके देह से उत्पन्न होती है। इस देह की पीड़ा पितृसत्ता जनित है इसलिए पितृसत्ता से मुक्ति का पहला चरण इस उपनिवेशित स्त्री-देह से मुक्ति ही है। देह पितृसत्ता के लिए शक्ति की जोर आजमाइश का प्राथमिक आधार है। भक्ति काव्य में मीरा के सन्दर्भ में भी यह बात विख्यात है कि किस तरह से उन्हें प्रताड़ित किया गया। इसलिए रचना में देह की उपस्थिति मुक्ति का आख्यान है और इतिहास लेखन में स्त्रियों की उपस्थिति उस

पूरे शोषण से मुक्ति की दावेदारी के बतौर है। रचना में मुक्ति के सवाल से इतिहास लेखन एवं साहित्य-इतिहास लेखन में मुक्ति के सवाल तक की यात्र में अभिव्यक्ति के तरीके में कुछ कठिनाइयाँ हों सकती है लेकिन इतिहास का एक नया पाठ अब निहायत ही जरूरी हो गया है। साहित्य इतिहास लेखन में उनकी जगह तलाशना परंपरा निर्माण में सहयोगी प्रयास होगा? साथ ही भक्ति साहित्य भी अपना पूर्ण एवं मुकम्मल आकार तभी ग्रहण कर पाएगा। यह साहित्य इतिहास को एक बेहतर दिशा दे सकता है।

संदर्भ

1. सुमन राजे - हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पृष्ठ 55
2. सावित्री सिन्हा - मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ 46
3. वही, पृष्ठ 46
4. भक्तिकाल पर संगोष्ठी 2012, जे.एन.यू., नई दिल्ली में. मैनेजर पाण्डेय द्वारा दिए गए व्याख्यान से साभार।
5. मिश्र बन्धु (गणेश बिहारी, श्याम बिहारी व शुकदेव बिहारी मिश्र) - हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ 11
6. मिश्र बन्धु (गणेश बिहारी, श्याम बिहारी व शुकदेव बिहारी मिश्र) - मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ 57
7. सुमन राजे - हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पृष्ठ 18

नारी-संवेदना (झांसी की रानी के आधार पर)

डॉ० विजय शंकर मिश्र

हिन्दी विभाग, सत्यवती कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोधसार

हिन्दी की ऐतिहासिक उपन्यास-परम्परा के महानतम् हस्ताक्षर स्वर्गीय वृन्दावनलाल वर्मा के तीन सर्वश्रेष्ठ उपन्यास झांसी की रानी, मृगनयनी और बिराटा की पद्मिनी अपने शीर्षक से लेकर विषय तक नारी-प्रधान है। नारियाँ इनके केन्द्रीय चरित्र हैं। वर्मा जी के प्रायः समस्त उपन्यासों में स्त्रियों के मूल्यांकन का आधार उनके विचार, कर्म, चारित्रिक प्रवृत्तियाँ एवं स्वभावगत् विशेषताएँ हैं। प्रस्तुत लेख में उनके इसी मूल्यांकन का अनुसंधान करने का विनम्र प्रयत्न किया गया है।

Keyword: वृन्दावनलाल वर्मा, ऐतिहासिक उपन्यास, नारी, प्रथम स्वतंत्रता संग्राम

स्वर्गीय वृन्दावनलाल वर्मा के तीनों सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'झांसी की रानी' (लक्ष्मीबाई और उनकी सहेलियाँ) 'मृगनयनी' (मृगनयनी तथा लाखी) तथा 'बिराटा की पद्मिनी (कुमुद और भिन्न रूपों में छोटी रानी और गोमती) शीर्षक, कथा, चरित्र इत्यादि प्रत्येक दृष्टि से नारी-प्रधान है। उनका नारी-संवेदन इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है। 'गढ़ कुंडार' में यद्यपि नारियों की कोई विशेष भूमिका नहीं है क्योंकि कर्म और निर्णय के अधिकारी वहाँ अंततः पुरुष ही हैं तथापि नारी को आधुनिक दृष्टि अथवा सर्वथा नूतन रूप में देखने का जो प्रयास उपर्युक्त तीन उपन्यासों में दिखलाई देता है उसकी झलक तारा और हेमवती पर भी पड़ी है। यह आधुनिक दृष्टिकोण या नूतनता नारी के "सबल सौन्दर्य' और "भीमकर्मा" रूपों में दिखलाई देता है। जहाँ सौन्दर्य कोमल है, वहाँ भी चारित्रिक, वैचारिक, आत्मिक एवं कर्म-आधारित वज्रदृढ़ता विद्यमान है। प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम की अजर-अमर नायिका रानी लक्ष्मीबाई, इस संग्राम में अपने प्राणों की आहुति देने वाली सुंदर, मुंदर, काशीबाई, मोतीबाई, जूही, बख्शिन जैसी चिरस्मरणीय विभूतियाँ, बल और रूप की महान् समन्वय एवं अद्वितीय कला विशारद प्रतिभा मृगनयनी, राई की गढ़ी को अपने महान् रणकौशल एवं वीरता से बचा कर वीरगति प्राप्त करती लाखी, बुन्देलखण्डी अस्मिता की खोज करती हेमवती, अपूर्व बौद्धिक, चारित्रिक एवं बलाधारित कौशल से विपरीत स्थितियों पर विजय प्राप्त करके अपने आराध्य प्रेमी दिवाकर को मुक्त कराती निष्कलुष तारा, दिव्य सौन्दर्य की आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करने वाली कुमुद आदि वे नारी चरित्र हैं, जो समग्र हिन्दी-उपन्यास-परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

वर्मा जी ने नारी के मूल्यांकन का आधार शारीरिक सौन्दर्य के स्थान पर उसका कर्म और विचार बनाया हैं। यहीं नारी 'वस्तु' होने की त्रासक स्थिति से उबर कर सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक स्तरों पर जीवंत इकाई बनती है।

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की चिर जीवंत नायिका 'झांसी की रानी' लक्ष्मीबाई के जीवन के अनेक अविस्मरणीय चित्र भारतीय इतिहास की आत्मा में अंकित है। स्वर्गीय वृन्दावनलाल वर्मा ने पूरी संवेदना के साथ इन चित्रों को अपने पाठकों के समक्ष रखा है। एक चित्र उस सद्यः किशोरी मनु का है जो घुड़सवारी की कला में निष्णात् होने की सूचना दे रही है, जो शस्त्र-विद्या, मलखंभ तथा कुश्ती में रुचि रखती है, जो (नाना साहब की) चोट देख कर घबराती नहीं है, जो सीता, ताराबाई, जीजाबाई तथा अर्जुन, भीम, शिवाजी, ताना जी आदि पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्रों से प्रेरणा ग्रहण करती है, जो अंग्रेजों के शासन को उनके किसी विलक्षण कौशल अथवा भारतीयों के दुर्भाग्य का परिणाम न मान कर इस देश की अकर्मण्यता एवं राष्ट्रवाद शून्य मानसिकता का प्रतिफलन मानती है, जो चोट से घबराए नाना साहब को चिढ़ाती है, जो आकर्षक सौन्दर्य के कारण मिले नाम 'छबीली' को तनिक भी पसंद नहीं करती, जो हाथी पर सवारी करने के लिए रूठती-मचलती और क्षुब्ध होती है, जो तात्या टोपे से अपने भावी पति के राज्य झांसी के बारे में बड़े सहज ढंग से प्रश्न करती है। एक अन्य चित्र रानी बनने वाली उस मनु का है जो दासियों को सहेली के रूप में स्वीकार करके उन्हें मिट्टी से सम्बन्ध तोड़े बिना फूलों से नाता बनाए रखने का परामर्श देती है, जो भाँवर पड़ते समय पुरोहित के कम्पित हाथों की शिथिलता को लक्ष्य करके स्वयं गांठ बांधने की इच्छा रखती है और फिर इस इच्छा को नियन्त्रित करके कभी न छूटने वाली गांठ बाँधने का आग्रह करती है। एक अन्य चित्र वह है जिसमें मनु रानी लक्ष्मीबाई हो कर अपने पति राजा गंगाधर राव के पराधीनता के वातावरण में "अतिरिक्त कला-प्रेम एवं शृंगारिक-काव्य-मोह पर कटाक्ष तथा व्यंग्य करती है।" अब इन चित्रों का लोमहर्षक विस्तार करने वाले उन कुछ अविस्मरणीय चित्रों को देखने का अवसर है जिन्हें भारतीय जनमानस कभी भुला नहीं सकता-प्रथम चित्र में झांसी के किले वाले महल के दीवाने खास में पर्दे के पीछे आसीन रानी ने राज्य को हस्तगत करने की अंग्रेज-घोषणा को ऊँचे किन्तु मधुर शब्दों में अस्वीकृत करते हुए सिंहनाद किया, "मैं अपनी झांसी नहीं दूँगी।" "इन शब्दों से दीवानेखास गूंज गया। वायुमण्डल ने उनको अपने भीतर निहित कर लिया। भारत के इतिहास में वे शब्द दिए गए। झांसी की कलगी में वे शब्द मणि मुक्ता बन कर चिपक गए।" दूसरे चित्र में सैन्य-सामग्री जुटाने के लिए समय प्राप्त करने और उचित अवसर की खोज में राजनीति के तहत लक्ष्मीबाई अपने दत्तक पुत्र दामोदरराव से अर्जियाँ भिजवा रही है। तीसरे चित्र में अंग्रेजी सेना से लोहा लेती रानी प्रधान सेनापति के रूप में दिखलाई देती है। चतुर्थ चित्र में अद्वितीय वीरांगना अपने दत्तक शिशु को पीठ पर बांधे तलवार चलाती हुई अंग्रेज नायक लेफ्टीडेन्ट बोकर को

विलक्षण चतुरता के साथ वार करके घायल कर रही है। पंचम चित्र को बहुत सहज कर रखने की आवश्यकता है-पीठ पर शिशु बँधा है, हाथ खटाखट तलवार चला रहा है। अगला चित्र उदास करता है, जिसमें राव साहब और उनके सलाहकार रानी की सलाह को अनसुनी कर रहे हैं। इसके बाद के चित्र जातीय-राष्ट्रीय गौरव की भावना को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा कर स्तब्धता की अवस्था तक ले आते हैं-रानी लक्ष्मीबाई “अंग्रेजों की ओर तलवार की नोंक” से संकेत करके प्रचण्ड संहार करने का आह्वान करती है। अब उस अंतिम चित्र की बारी है-रानी ने दांतों में लगाम थामी हुई है, दोनों हाथ तलवार चला रहे हैं, सामने सोनरेखा नाला है, सीने के नीचे प्रथम घातक वार हुआ है, आक्रमणकारी को घायल वीरांगना की तलवार ने समाप्त किया, “स्वराज्य की नींव” बनने के क्षण का साक्षात्कार हुआ, घोड़ा अड़ गया, आक्रमणकारी की गोली “बाई जंघा” को बेध गई, उसको परलोक पहुँचाया, “खून के फव्वारे पेट और जांघ के घाव से छूट रहे थे”, फिर तलवार का अंतिम घातक वार हुआ और ‘सिर’ के “दाई ओर” का “हिस्सा कट गया ओर दाई आँख बाहर निकल पड़ी” लेकिन इस पर भी उन्होंने अपने घातक पर तलवार चलाई और उसका कंधा काट दिया, इसके पश्चात् “हर हर महादेव”, ओउम् वासुदेवाय नमः और “द...ह...ति...नै...नं......पावकः”, प्रदीप्त मुखमण्डल। निश्चित तौर पर साक्षात् दुर्गावतार लक्ष्मीबाई समाप्त नहीं हुई-बिलखते हुए रामचन्द्र देशमुख के वक्तव्य “झांसी का सूर्य अस्त है। वह कण-कण को प्रदीप्त कर रहा है। फिर उदय होगा, फिर प्रत्येक कण मुखरित होगा।” क्या कोई भारतवासी अथवा स्वतंत्रता एवं समता के प्रति पक्षधर मनुष्य रानी को दी गई इस श्रद्धांजलि से इंकार कर सकता है? उत्तर केवल और केवल ‘नहीं’ है। वीरों का वसंत यही है।

ये सनातन रूप से जीवित चित्र रानी लक्ष्मीबाई को परंपराओं और इतिहास में एक सर्वथा नूतन एवं सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं। पराधीनता के काल में ‘स्वराज्य’ की कामना से चालित हो कर कैसा नागरिक बनना चाहिए- “झांसी की रानी” लक्ष्मीबाई इसका प्रतीक है।

उपन्यास में रानी के चरित्र के अनेकानेक पहलुओं को उभारा गया है, जिससे वर्मा जी के इतिहासज्ञ और साहित्यमर्मज्ञ दोनों रूपों का परिचय मिलता है:

(क) ‘स्वराज्य’ की दुर्दमनीय कामना करने वाला महासेनानी रूप, जिसमें वे स्वतंत्रता के लिए होने वाले संघर्षों को एक दीर्घ प्रक्रिय मानती है।

(ख) शक्ति का अवतार-रूपा वह रूप, जो नारी की परम्परागत् गृहस्थिन और एकांततः कोमल-कमनीय छवि का खण्डन करता है। इस रूप में रानी का साहस, वीरता, धैर्य, निर्भीकता, मुखरता देखते ही बनती है।

(ग) सामाजिक नेता का रूप, जिसमें लक्ष्मीबाई के नेतृत्व में झांसी का समाज जाति, धर्म, संप्रदाय एवं लिंग इत्यादि पृथकतावादी क्षुद्र भावनाओं से ऊपर उठ कर विदेशी सत्ता का दुर्दान्त विरोध करता है। व्यक्ति और समाज की यही पहचान सागरसिंह जैसे डाकू को स्वतंत्रता-समर का योद्धा और शहीद होने का गौरव प्रदान करती है।

(घ) बौद्धिक कौशल, जिसके द्वारा यह “आधुनिक दुर्गा” युद्ध की रणनीति बनाती है। यहाँ वे रणनीतिज्ञ के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

(ङ.) भावुक-संवेदनशील रूप जो पुत्र-अवसान, पति की मृत्यु, वसंत में गौर-पूजन, अंग्रेजों के झांसी-विध्वंस, दत्तक पुत्र दामोदरराव की सुरक्षा-कामना आदि अवसरों पर दिखलाई देता है।

यद्यपि डॉ. ताराचंद श्री रमेशचन्द्र मजुमदार जैसे इतिहासकारों ने 1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम को एक “सैनिक-विद्रोह” अथवा निजी स्वार्थों से प्रेरित नाराजगी भरा संघर्ष सिद्ध करने का प्रयास किया है, तथापि भारतीय जनता, उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा (‘झांसी की रानी’ के परिचय में) तथा सावरकर, एस.बी. चौधरी जैसे इतिहासकारों तथा विद्वानों ने इसे स्वराज्य प्राप्ति के लिए होने वाला रण यज्ञ सिद्ध किया और माना है। ‘झांसी की रानी’ में लक्ष्मीबाई बालपने से ही (जब वे ‘मनु’ थी) स्वराज्य का स्वप्न देखती है और उसे चरितार्थ करने की प्रचण्ड इच्छा रखती है। शिवाजी जैसे संघर्षशील इतिहास-पुरुषों की प्रेरणापूर्ण स्मृति करती है। यही प्रवृत्ति उचित अवसर पर उन्हें विकट संघर्ष के लिए प्रेरित करती है। यद्यपि एक अवसर पर वे आत्मघात की बात करती है, तथापि यह भावना क्षणिक है और वृद्ध भोपटकर के आह्वान पर तुरंत समाप्त हो जाती है।

रानी लक्ष्मीबाई की स्त्री-सेना भारतीय इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। क्या आश्चर्य कि मनु ‘छबीली’ जैसे रूप व्यंजक शब्द से ‘घृणा करती थी। घुड़सवारी, शस्त्र-प्रयोग, मलखंभ, कुश्ती जैसी स्त्रियों के लिए प्रायः निषिद्ध विद्याओं के प्रति उनका आकर्षण शतशः उपयुक्त था क्योंकि गुलामी के समय हर नागरिक को योद्धा बनना चाहिए।

लक्ष्मीबाई एक महान् सामाजिक नेता एवं कुशल प्रशासिका थी। उनके नेतृत्व में सभी धर्मों, वर्णों, वर्गों ने संघर्ष किया। सुंदर, मुंदर और काशीबाई जैसी साधारण सेविकाओं, मोतीबाई और जूही जैसी नर्त्तकियों (शायद वेश्याओं), सागर सिंह जैसे डाकू इस पारस; लक्ष्मीबाई) का स्पर्श पा कर महान् एवं अमर हो गए। गुलाम गौस खाँ और बहारामुद्दीन उनकी प्रेरणा से स्वतंत्रता की बलिवेदी पर चढ़कर हमेशा के लिए ‘जीवित’ हो उठे। निम्न वर्ण की झलकारी विकट निर्भयता की सीमा छूने लगी। आनन्दमय जैसे छोटे जागीरदारों ने अपना जीवन एवं सर्वस्व होम कर दिया। सचमुच वे ‘पीर’ थी, “बौत बड़ा वली” थी।

पति गंगाधर की मृत्यु के उपरांत उन्होंने झांसी का प्रशासन अद्भुत कौशल से चलाया।

यद्यपि रानी बहरामुद्दीन की सूचना के बावजूद भी पीर अली की देशद्रोहिता पर विश्वास न कर सकी तथापि उनका रणकौशल विस्मयाभिभूत करता है। अंग्रेज-सेनापति तक उनकी चतुरता और कार्यकुशलता के प्रशंसक थे।

सैन्य-संग्रह के लिए समय एवं उचित अवसर आने तक वे अंग्रेजों को भुलावे में रखने के लिए दामोदरराव की तरफ से कंपनी और विक्टोरिया तक को अर्जियाँ लिखवाती रहीं।

ग्वालियर की पराजय का कारण राव साहब आदि का विलासादि में लिप्त हो जाना और रानी की सलाह पर ध्यान न देना था।

ऐसा नहीं है कि लक्ष्मीबाई का भावुक-मानुषी रूप दब गया था। उचित अवसर पर वह प्रकट होता था। वे ग्राम एवं नगर की सामान्य स्त्रियों से हास-विनोद करती थी, उनसे आत्मीयता रखती थी। गौर-पूजन के अवसर पर युक्तिपूर्वक पति का नाम पूछने आदि के वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है। पति की मृत्यु

पर उनका चीत्कार हृदयविदारक है। दत्तक पुत्र दामोदरराव की कुशलता के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रही लेकिन उनकी चिन्ता, प्रयत्न, हास-विनोद, रुदन-विलाप स्वराज्य-कामना को व्यवहृत करने के प्रयत्न के क्षणों में विलुप्त हो जाते थे।

निस्सन्देह वर्मा जी ने अपने पाठकों के समक्ष भारत की जोन ऑफ आर्क के चरित्र को पूरी संवेदनशीलता एवं इतिहास-सम्मत रूप में प्रकट करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। 1857 ई. की क्रान्ति की इस "सर्वाधिक वीर एवं चतुर सेनानी" (स्वयं अंग्रेज जनरल रोज़ ने कहा था) का जीवन युगों-युगों तक भारतवासियों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहेगा और इसके लिए साहित्य के विद्यार्थी वृन्दावनलाल वर्मा के ऋणी रहेंगे।

संदर्भ

1. झांसी की रानी, वृंदावनलाल वर्मा।
2. मृगनयनी, वृंदावनलाल वर्मा।
3. बिराटा की पद्मिनी, वृंदावनलाल वर्मा।
4. गढ़ कुण्डार, वृंदावनलाल वर्मा।
5. डॉ. ताराचंद के 1857 ई. की क्रान्ति से संबंधित मान्यता।
6. डॉ. रमेश चन्द्र मजुमदार की 1857 ई. की क्रान्ति से संबंधित मान्यता।
7. अमर स्वतंत्रता सेनानी सावरकर की 1857 ई. की क्रान्ति से संबंधित मान्यता।
8. डॉ. एस.बी. चौधरी की 1857 ई. की क्रान्ति से संबंधित मान्यता।
9. जनरल रोज़ की रानी लक्ष्मीबाई के व्यक्तित्व से संबंधित कथन।
10. अमर शहीर गणेश शंकर विद्यार्थी का स्वर्गीय वृंदावनलाल वर्मा से संबंधित कथन।
11. सुभद्राकुमारी चौहान की "वीरों का कैसा हो वसंत" शीर्षक कविता।

स्वातंत्रोत्तर हिंदी नाटक : बदलते नैतिक मूल्य

ज्ञानेश पाण्डेय

शोधार्थी, हिंदी एवं भाषा विज्ञान विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

शोधसार

समाज को प्रगति सुरक्षा और शान्ति की ओर अग्रसर करने वाले मूल सिद्धांत है 'नैतिक मूल्य'। किसी भी समाज की सुरक्षा एवं प्रगति श्रेष्ठ मानवमूल्य पर आश्रित होती है। मानव समाज में नैतिक मूल्य परस्पर व्यवहार के मापक स्वीकार्य किए गये है जो हमारे जीवन उन्नयन के प्रधान कारक होते है। हमारे नैतिक मूल्य शास्वत है जिनके अस्तित्व की अनिवार्यता निरंतर बनी रहेगी क्योंकि व्यावहारिक जीवन में परिभाषाएँ बदलती है परन्तु मूल्य शास्वत बने रहते है। हमारे साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हमारे नैतिक मूल्य जो जिस काल में, जिस रूप में समाज में विद्यमान रहे है उन पर यथार्थपरक दृष्टि डालते हुए आदर्श नैतिक मूल्यों के उत्तरोत्तर उन्नयन का प्रयास करते रहे है।

की वर्डसः स्नातंत्रोत्तर हिंदी नाटक, नैतिक मूल्य, यथार्थ विवेचन।

उपलब्ध सामग्रीः हिंदी के प्राथमिक के नाटक, स्वातंत्रोत्तर के कुछ विशिष्ट नाटक, विभिन्न शोध प्रबन्ध, हिंदी गद्य साहित्य का इतिहास, एवं विभिन्न आलोचनात्मक पुस्तकें (नाटक भाग) इंटरनेट से प्राप्त द्वितीयक एवं तृतीयक स्रोत।

शोध पद्धतिः शोध पत्र लेखन में विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है।

विमर्श

नाटक एक ऐसा माध्यम है जिसके माध्यम से हम अपने समाज के सभी वर्ग में जो भाव सम्प्रेषित करना चाहते है, जिस भाव में करना चाहते है। वह बहुत ही सहजता के साथ कर सकते है और शायद यही कुछ कारण रहे होंगे जो हिंदी साहित्य में गद्य का प्रादुर्भाव नाटक के माध्यम से हुआ है। आलोचक शिरोमणि आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन है "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।"[1]

तब यहाँ पर उपरोक्त कथन नाटक के महत्व को और भी सारगर्भित कर देता है। अगर हम नाटक परंपरा की बात करें तो स्वतंत्रता संग्राम या स्वातंत्रोत्तर का जो समय था वह तो बहुत आगे का समय है हिंदी साहित्य में तो बहुत ही उत्तम कोटि के नाटक प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 1857 ई. के कुछ वर्ष पश्चात् ही लिखे जाने लगे थे जिनके प्रस्तोता बने लब्धप्रतिष्ठ नाटककार भारतेन्दु हरिशचन्द्र जी। भारतेन्दु जी का प्रथम नाटक जो कि बांग्ला नाटक का अनुवाद था 'विद्यासुन्दर' 1868 ई.[2] में आ गया और मौलिक रूप से प्रथम नाटक 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' 1873[3] में आया। तत्पष्चात् तो जैसे नाटकों की धूम ही निकल पड़ी जिसमें भारतेन्दु जी, प्रतापनारायण मिश्र जी, लाला श्री निवासदास जी, राधेचरण गोस्वामीजी, प्रसाद जी, लक्ष्मीनारायण मिश्र जी आदि अनेक साहित्यकारों ने बहुत ही उत्तम कोटि के नाटकों का लेखन कार्य किया। इसमें कहना न होगा कि इस सभी नाटककारों का मुख्य उद्देश्य मानव एवं समाज को जागृत करते हुए नैतिक मूल्यों की स्थापना करने के साथ ही वर्तमान समय में बदलते नैतिक मूल्यों का यथार्थ चित्रण था। जिससे वर्तमान समाज और आने वाली भावी पीढ़ियाँ अपने नैतिक मूल्यों पर चलते हुए उच्च आदर्ष को प्राप्त कर सके।

कुछ एक उदाहरण द्रष्ट्रव्य है-

1. भारतेन्दु ने अपने नाटक 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' में सामाजिक पाखण्डों पर तीव्र प्रहार करते हुए एक मर्यादित नैतिक मूल्य स्थापित किया है।[4]
2. प्रसाद जी ने अपने सज्जन नाटक में युधिष्टिर के माध्यम से नैतिक मूल्य स्थापित किए है। साथ ही अनैतिकता पर नैतिकता की विजय दिखायी है।[5]

इस प्रकार से हम देखते है कि एक ऐसी परम्परा नाटककारों की चल पड़ी जो समाज सुधारोन्मुखी होने के साथ-साथ एक आदर्ष नैतिक मूल्य के उदाहरण प्रस्तुत कर रही थी। यह तो हुई नाटक के प्रारंभ से ही चलने वाली परम्परा के नाटकों एवं नाटककारों की परन्तु जब हमारा देश 1947 में स्वतंत्र हुआ तो वह समय हमारे देश का पुनर्जन्म कहा जा सकता है। हमारा देश तमाम विसंगतियों के बावजूद एक नये कलेवर में हमारे सामने प्रस्तुत हुआ बहुत सारे सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिवर्तन स्वतंत्रता के उपरान्त हमारे सामने दृष्टिगोचर हुए।

"जबकि साहित्य हमारे चितवृत्त का संचित प्रतिबिम्ब होता है और जैसे-जैसे मनुष्य की चितवृत्तियों में परिवर्तन होता है साहित्य में भी परिवर्तन होता चला जाता है"[6] तो इस परम्परा में हमारे नाटककार कहाँ पीछे रहते।

यह विदित सत्य है कि राष्ट्र का चिंतन जब-जब परिवर्तित हुआ है, राष्ट्र का वैचारिक आधार जब-जब खण्डित हुआ है, अथवा जब की हमारे जीवन मूल्यों का हास हुआ, उसमें परिवर्तन हुआ है तब साहित्यकार ने अपने साहित्य सृजन, में सकारात्मक परिवर्तन लाते हुए जीवन मूल्यों को संरक्षित किया है। और समाज को उसकी मूल्य प्रकृति से जोड़ने का कार्य किया है।

1947 में हम स्वतंत्र तो हो गये पर अंग्रेज जातें-जातें हमारे समाज में ढेर सारी अराजकता का बीज बोते हुए गये। जिससे हमारे समाज का नैतिक मूल्य खतरे में पड़ने लगा। पारिवारिक संबंध बदलने लगे, आर्थिक रूप से लोग एक दूसरे से वैमनश्य रखने लगे और राजनीति का स्तर भी अपना नैतिक मूल्य खोने लगा था ऐसी परिस्थिति में हमारे स्वातंत्रोत्तर युग के नाटककारों ने अपने नाटक के माध्यम उस क्षींण होती नैतिक मूल्य की स्थिति को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते हुए, उनमें व्याप्त बुराइयों को उजागर किया साथ ही समाज का आदर्शोन्मुखी विकास करते रहें हैं।

बदलते पारिवारिक संबंध

समाज के सदस्यों के आपसी संबंध के अनुसार ही हम उनके जीवन की अस्थिरता या सुस्थिरता के बारे में समझ सकते है। परिवार समाज की लघु इकाई है जहाँ समान संस्कृति रखने वाले माँ, पिता, पुत्र, पुत्री एक साथ रहते है परिवार के सदस्यों का आपसी मेल एकता एवं सुखी जीवन के लिए आवष्यक होता है।

चूंकि परिवार का प्रारंभ विवाह से ही माना जाता है तो इस संदर्भ में लक्ष्मीनारायण लाल जी ने अपने नाटक 'रात-रानी' के माध्यम से विवाह में दहेज प्रथा किस प्रकार से हमारे समाज के नैतिक मूल्य का ह्रास कर रही है दिखाते है नाटक के नायक कुन्तल और निरंजन की शादी रूपये के अभाव में नहीं होती तो कुन्तल कहती है "पति के घर वालों ने आठ हजार पूछे, पिता पांच हजार से ज्यादा न देने वाले थे, इसी कारण शादी का स्वप्न टूट गया।"[7]

उपरोक्त कथन में किस तरह का विषाद भरा है। कैसे एक अनैतिक मूल्य के अनुसरण में किसी की भावनाएँ खण्डित हो रही है। ऐसी ही तमाम विसंगतियाँ उस समय के नाटककारों द्वारा नाटकों में उजागर की जाती रही हैं।

नारी शोशण

नारी शोशण भी हमारे समाज का एक अनैतिक मूल्य ही रहा है जिसके आधार बनाकर हमारे नाटककारों ने इस समस्या को समाज के सामने रखा है। फिर चाहे वह लक्ष्मीनारायण लाल जी हो, उपेन्द्रनाथ अष्क जी हो या फिर मोहनराकेश जी। मोहनराकेश जी अपने नाटक 'आधे अधूरे' में सावित्री के जीवन का सजीव चित्रण किया है। सावित्री घर का सारा काम भी करती है और आफिस भी जाती है वह खिन्न रहती है वह कहती है "यहाँ पर सब लोग समझते क्या है मुझे? एक मशीन, जो सब के लिए आटा पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है और किसी के मन में जरा भी ख्याल नहीं है इस चीज के लिए कि कैसे मैं......"[8]

प्राप्त के प्रति ऊब और अप्राप्त के प्रति आकर्शण

आज का मानव वर्तमान में जीवन जीने के बजाय भविष्योन्मुखी बना रहता है जो यथार्थ है उसको ना मानते हुए आने वाले की प्रतीक्षा में सागर तट पर बैठा रहता हैं। और हम यह कह सकते है कि इसी चाह ने भारतवर्ष को गुलाम बनाया।

'वामाचार' नाटक का पुरुश पात्र पॉजिटिव विकृत आदत से ग्रस्त है। समाज की सभी मान्यताओं के विरुद्ध आचरण करने के लिए शायद उसकी सृष्टि हुई होगी वह विवाहित है परन्तु पत्नी के अतिरिक्त भी अनेक लड़कियों से यौन सम्पर्क रखता है। पॉजिटिव की पत्नी आकर पति से कहती है "तुम्हे एक औरत में एक ही परमानन्द मिलता है दूसरे परमानन्द के लिए किसी दूसरे के पास जाना पड़ता है।"[9]

महानगरीय परिवेश : मानवीय रिश्तों का ह्रास

स्वतंत्र भारत में उच्च शिक्षा प्राप्त युवक युवतियाँ नौकरी की तलाश में शहरों में बसने लगे तो नई समस्याएँ उत्पन्न होने लगी बेकारी से उत्पन्न समस्या युवक एवं युवतियों के गलत मार्ग पर ले जाने लगे चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपने नाटक 'न्याय की रात' में नायिका कमला के अनुभव को स्पष्ट किया है कि नौकरी प्राप्त करने के लिए कमला को हेमन्त नामक दुष्ट व्यक्ति के जाल में फंसना पड़ा।

आर्थिक धरातल पर मूल्य का विघटन

"रूपये का लोभ सब प्रकार की बुराईयों की जड़ है"[10]

स्वतंत्र भारत में आर्थिक असमानता व्याप्त थी मुट्ठी भर धनवान के पास में भारत की अधिकांशतः सम्पत्ति रहती थी करोड़ों लोग भूखे प्यासे मर रहे है यही आर्थिक असमानता हमारे नैतिक मूल्यों का भी हास करती है। देश की गरीबी और अभावग्रस्तता से उत्पन्न विसंगतियों पर लक्ष्मीकान्त वर्मा जी ने तीखा व्यंग्य किया है आप ने अपने नाटक 'रोशनी एक नदी' में नायिका 'कुंकुम' जो कि गरीबी और अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रही है। वह अपनी विवशता निम्न शब्दों में व्यक्त करती है "मैं आज घर में बच्चों को भूखा सुला देती हूँ, उन्हें समझा देती हूँ कि तेरा बाप इंकलाब करने गया है लेकिन जब तुम रात को लौटते थे तो तुम्हारे हाथ में इंकलाब नहीं एक टूटा हुआ काला डिब्बा होता है।"[11]

राजनैतिक मूल्यों का विघटन

भारत के संविधान में प्रत्येक नागरिक कर्त्तव्यों में बताया गया है वह भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे परंतु स्वातंत्रोत्तर कालीन राजनैतिक परिवेश एकदम विशाक्त हो गया था और कहीं न कहीं समूचे राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता पर प्रश्न चिन्ह बन रहा था उसका प्रमुख कारण था वर्तमान के राजनीतिज्ञों का सत्ता लोलुप होना वह बस सत्ता के भूखे थे परन्तु उनसे कार्य कुछ भी नहीं होता था इस सब उपरोक्त बातों पर टिप्पणी करते हुए महीपसिंह जी ने कहा "हमने देखा कि कल तक त्याग और बलिदान की दुहाई देने वाले और देशभक्ति के तराने गाने वाले नेतागण सत्ता मिलते ही भूखे भेड़िये की तरह धन और यश कमाने पर टूट पड़ा है चारो तरफ एक अजीब सी अफरा तफरी है। कोई भी मौका चूकना नहीं चाहता समय रहते इतना एकत्र कर लेना चाहते है कि गद्दी न रहने पर भी किसी प्रकार की चिंता न रहे।"[12] ऐसे ही विषय को लेकर के श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जी ने 'बकरी' नाटक की रचना की। गांव के तीन डाकू कर्मवीर, सत्यवीर, एवं दुर्जनसिंह को नेता बनते हुए दिखाकर उस समय के राजनीति का मुखौटा उतार कर रख दिया सक्सेना जी ने लिखा है कि "बकरी हमारी स्वाधीनता की तलहट का चित्रण है वह तिलछट जो समय बीतने के साथ-साथ गहरी होती चली गई है।[13]

ऐसे ही स्वार्थी नेताओं का चित्रण लक्ष्मीनारायण लाल जी ने अपने नाटक अब्दुल्ला दीवाना में किया है। अब्दुल्ला दीवाना का चपरासी कहता है "जी हाँ पहले वह तिरंगे कपड़े पहनता था फिर लाल, सफेद, काला फिर लाल, फिर पीला, फिर गेरुआ फिर आए राम, गये राम। कहने लगा। एक ही रंग के कपड़े में 'रोज नहीं पहनूँगा, फिर वह हर रोज रंग बदलने लगा जी हाँ' रोज।।[14]

इस प्रकार हम देखते है कि स्वतंत्रोत्तर कालीन नाटककारों ने अपने नाटक के माध्यम से समाज के नैतिक मूल्यों में जो परिवर्तन आ रहा था। जो ह्रास हो रहा था उन तमाम पहलुओं को उस समय के नाटककारों ने अपने नाटकों के माध्यम से समाज के समक्ष यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। उस तमाम मूल्यों को दिखाया है। उससे उपजने वाले विशाद को दिखाया है, साथ ही हम किस तरह से अपने नैतिक मूल्योांं का संवर्धन कर सकें उनको भी समझाने का प्रयास किया है। यह प्रयास कालगति के साथ-साथ साहित्य में भी निरंतर चलता रहा है। साहित्य निश्चित रूप से हमारे समाज को एक दर्पण दिखाने जैसा रहा है।

उपसंहार

व्यक्ति एवं समाज को प्रगति पथ पर सुरक्षा एवं शान्ति की ओर अग्रसर करने वाले नैतिक मूल्यों की महती आवश्यकता है। नैतिक मूल्यों की रिक्तता किसी भी समाज को खोखला कर देती है। क्योंकि नैतिक मूल्यों के अभाव में समाज अमानवीय रास्तों पर भटकता है इस प्रयास में डॉ. कैलाश वाजपेयी जी का विचार बहुत ही समीचीन ही प्रतीत होता है आप कहते है "एक बार जब मूल्यों में विघटन प्रारंभ हो जाता है तो उनका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र में पड़ने लगता है। यह प्रभाव कुछ इतना सर्वागीण होता है कि आने वाली पीढ़ी इन्हें संस्कार के रूप में स्वत: ही ग्रहण करती चली जाती है।[15]

सच तो यह है कि मूल्यों, मान्यताओं, आदर्शों और चारित्रिक गुणों को न तो खरीदा जा सकता है न ही उधार लिया जा सकता है राष्ट्र के चरित्र का निर्माण बिना साधना तपस्या और सांस्कृतिक परिष्कार के संभव नहीं है। नाटककारों ने तत्कालीन समय में समाज में व्याप्त हर दृष्टिकोण का बहुत ही बारीकी से अध्ययन किया और अपने नाटक के माध्यम से उन समस्त विसंगतियों को उजागर किया जो हमारे समाज के नैतिक मूल्य का अनवरत उत्तरोत्तर ह्रास करती चल रही थी।

स्वातंत्रोत्तर युग के हिंदी नाटककारों ने मूल्यों के प्रति इस उदासीनता को, सामाजिक संबंधों की विछिन्नता को और व्यक्ति के मन की अकुलाहट को भली-भांति महसूस किया है और उसे अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की। लेखक की विशिष्टता समाज के अंदर पाए जाने वाले अंतर्विरोध को पहचानने में और उनके कारण मानव जीवन में होने वाली कठिनाईयों को महसूस करने में है।

स्वतंत्रोत्तर हिंदी नाटककारों ने वर्तमान समाज की सारी विषयताओं, विद्रपताओं की पहचान करने की भरसक कोशिश भी है इस कोशिश में वह बहुत हद तक सफल भी रहे है आप साहित्यकारों ने प्रत्यक्ष रूप में हर एक क्षेत्र में पनपने वाले मुख्य विघटन का चित्रण करते हुए उससे आने वाली विपत्तियों से अवगत कराया और मूल्यों` प्रति अपने श्रद्धा भाव को भी व्यक्त किया है। आप साहित्यकारों का यह प्रयास निश्चित रूप से सराहनीय है क्योंकि लेखक का बड़ा दायित्व यह है कि मनुष्य को उसकी मनुष्यता वापस कराये मनुष्य की जो मनुष्यता, जो नैतिक मूल्य लुप्त हो रहे है वह वापस आ जाए और मनुष्य अपने का आधुनिक करते हुए भी अपने नैतिक मूल्य का ह्रास न होने दें।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिंदी साहित्य इतिहास लोक भारती प्रकाशन दसवां संस्करण 2014
2. हिंदी गद्य साहित्य, डॉ. रामचन्द्र त्रिपाठी, नवम् संस्करण-2014, विश्वविद्यालय प्रकाशन
3. रात-रानी, लक्ष्मीनारायण
4. आधे अधूरे, मोक्षराकेश
5. वामाचार, रमेश बख्शी, 1977
6. The Bible, I Jimothy 6:10, Revised Studied Versun 1952

7. रोशनी एक नदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, 1974
8. विद्रोह और साहित्य, सम्पादक नरेन्द्र मोहन, 1974
9. बकरी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना भूमिका
10. अब्दुल्ला दीवाना, लक्ष्मीनारायण लाल, 1973
11. आज का मनुष्य और यांत्रिक सभ्यता, डॉ. कैलाश वाजपेयी, ज्ञानोदय, 1963-64

(Footnotes)

1. हिंदी साहित्य इतिहास लोक भारती प्रकाशन दसवां संस्करण 2014
2. संस्कृत कृषि चौर के विद्यासुन्दर का हिंदी अनुवाद, हिंदी गद्य साहित्य, डॉ. रामचन्द्र त्रिपाठी, नवम् संस्करण-2014, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृष्ठ 350

4,5. हिंदी गद्य साहित्य, डॉ. रामचन्द्र त्रिपाठी, नवम् संस्करण-2014, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृष्ठ 469

5. रामचन्द्र हिन्दी-570
6. हिंदी साहित्य इतिहास लोक भारती प्रकाशन दसवां संस्करण 2014
7. रात-रानी लक्ष्मीनारायण, पृष्ठ 40
8. आधे अधूरे मोक्षराकेश, पृष्ठ 49
9. वामाचार, रमेश बख्शी, 1977 पृष्ठ 42
10. The Bible, I Jimothy 6:10, Revised Studied Versun 1952, pp 197
11. रोशनी एक नदी लक्ष्मीकान्त वर्मा, 1974, पृष्ठ 59
12. विद्रोह और साहित्य सम्पादक नरेन्द्र मोहन, 1974, पृष्ठ 35
13. बकरी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना भूमिका, 1974, पृष्ठ 14
14. अब्दुल्ला दीवाना, लक्ष्मीनारायण लाल, 1973, पृष्ठ 86
15. आज का मनुष्य और यांत्रिक सभ्यता, डॉ. कैलाश वाजपेयी, ज्ञानोदय, 1963-64, पृष्ठ 19

रमेशचन्द्र शाह के ललित निबंधों का आलोचनात्मक चिंतन

कृपा शंकर

शोध छात्र- हिन्दी, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (मध्य प्रदेश)

शोध-सार

रमेश जी समय के प्रवाह के साथ है पर प्रवाह में बहने वाले नहीं है। प्रवाह को अपनी तरफ कुछ मोड़ने वाले हैं। उसे कुछ ऐसे किनारों की ओर ले जाने वाले हैं जिससे टकराने पर प्रवाह कुछ तीव्रतर हो सकें। विषयों की दृष्टि से निबन्धों में बड़ा वैविध्य है पर इन सबमें एक समान भाव-भूमि है। यह भावभूमि विचारों से कतराती नहीं। विचारों को आलोड़न करती है और हिन्दी के मन से अर्थात् एक व्यापक देश, काल चिन्तन के मन से इन्हें क्या रंगत मिल सकती है, वह रंगत देने की कोशिश करती है। मैं विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ कि श्री रमेश चन्द्र जी ने हिन्दी के स्वभाव को अच्छी तरह समझा है और उस समझ के आलोक में भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सॉस्कृतिक पूरे परिदृश्य को जांचा है। एक औपनिवेशिक मनोभाव के अजगर के मुँह से जीवित और साबुत निकलने पर भी कुछ त्रास घेरे रहते हैं। उस त्रास से घेरे में काटने में समय लगेगा। रमेश जी ने उसकी अच्छी शुरूआत की है। इसी दृष्टि से इस श्रृंखला की सबसे बड़ी प्रासंगिकता है।

शोध-प्रपत्र

हिन्दी के आधुनिक परिदृश्य से ऐसे निबन्ध लगभग विलुप्त हुए जा रहे हैं, जो अनुभव की गहराई को टटोलने के उपरान्त रचे गये हों, जिनमें विचारों की पर्याप्त ऊर्जा हो और जिनमें निबन्धकार की रचना दृष्टि की गहनता भी हो। संभव है यह बात बहुतों को अत्युकितपूर्ण या चौंकाने वाली लगे, लेकिन यह वास्तविकता एक दिन सभी के सामने खुलेगी ही। खोजने पर हिन्दी में अच्छी कविताएँ, अच्छी कहानियाँ, अच्छे उपन्यास मिल जायेंगे, लेकिन अनुभव की गहराई से उपजे कलापूर्ण निबन्ध कहाँ हैं, एक समय हमारे साहित्य में प्रमुखता से प्रतिष्ठित रही साहित्य की यह प्राणवान् विधा अब सारहीन होती प्रतीत हो रही है।

ऐसी स्थिति में भी कुछेक लेखक हैं, जो अपनी गहन साधना अनुभव व लगन से इस विधा को लुप्त होने से बचाने में जुटे हुए हैं। हिन्दी के कुछ गिने-चुने निबन्धकारों की रचनाओं में आज भी विचारों के नव-नवोन्मेशशाली प्रवाह के साथ अनुभूति का आस्वाद मिलता है। ऐसे लेखकों में रमेश चन्द्र शाह ने निश्चित अपना स्थान बनाया है, जिन्होंने इस विधा के माध्यम से पाठकों को निबन्धकार की सही रचना दृष्टि का आभास कराया है। वह दृष्टि, जो निबन्ध की विधा से ही प्रगट हो सकती है, कथा या विशुद्ध दार्शनिक चिन्तन के जरिए नहीं। अन्य विधाओं की ही भाँति इस विधा में भी इस लेखक ने विपुल सर्जन क्षमता प्रदर्शित की है।

निबन्धकार के रूप में शाह की रचना-दृष्टि पर स्व. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने उनके पहले ही संग्रह की समीक्षा करते हुए 1970 में 'दिनमान' के माध्यम से अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था- "एक विषय के चारों ओर अनेक स्तरों पर मन:स्थितियों की अनेक करवटों के साथ, अनुभव और अध्ययन, भाव व विचार का गुम्फन आसान काम नहीं। सफल निबन्ध आपके अनुभव जगत् को तो उद्वेलित करते ही हैं, आपके ज्ञान-क्षेत्र का भी विकास करते हैं। कुट्टिचातन् (यज्ञेय) और विद्या निवास मिश्र के बाद रमेश चन्द्र शाह को इस शैली में सफलता मिली है।

रमेश चन्द्र शाह के निबन्धों के बारे में प्रसिद्ध समाजवादी विचारक एवं पत्रकार श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज' 'इतवारी पत्रिका' में कहते हैं- शाह के निबन्ध पढ़ते हुए हम एक ऐसे सृजनशील, अति संवेदनशील और पर्याप्त संयमी लेखक के व्यक्तिगत-रूपों के सामने होते हैं जो समकालीन विश्व कस सजग भारतीय सहभागी है: स्वधर्म की खोज कर रहा और स्वधर्म में प्रवृत्त भारतीय। जिसके अनुभूति रूप एक साथ सुपरिचित से भी गलते हैं और अनूठे-अद्वितीय भी, और जो निश्चय ही पाठक की संवेदना के श्रेयस्कर तत्वों को प्रतिसंवेदित करते हैं।

शाह के निबन्धों में विषय वस्तु का फलक काफी विस्तृत और गुंफन शक्ति बड़ी सहज है, जिससे इन निबन्धों की शैली प्रवाहमय बन गई है, लेकिन कुछ निबन्धों की भाषा में तत्सम शब्दों के आधिक्य के कारण पंडिताऊपन व बोझिलता बढ़ गई है। प्राय: कहा जाता है कि बोलचाल में प्रयुक्त होने वाली भाषा ही ललित निबन्ध की भाषा-प्रवाह को सजीव और स्वाभाविक बनाती है। इस दृष्टि से व्यंग्य लेखकों के निबन्ध अधिक सफल माने जाते हैं। शाह भी व्यंजनापूर्ण भाषा-सामर्थ्य के कारण सार्थक और प्रभावशाली निबन्ध लेखन में सफल हो सके हैं।

पहला ही निबन्ध-संग्रह होने के कारण अभी भाषा में वह परिपक्वता नहीं आ सकी है जो बाद के इनके नैबन्धिक विकास-क्रम में दृष्टिगोचर हुई। किन्तु सभी गुण बीज रूप में यहाँ विद्यमान अवश्य हैं। ताजगी और निर्मल स्फूर्ति और उत्साह इनमें पहाड़ी झरनों जैसा है जिन्हें आगे चलकर नदी के रूप में थिराना है धीरे-धीरे।

लेखक अपने इस साहित्यिक निबंध में पाठन की महत्ता बताते हैं किताबो की दनिया और सहज जीवन के मध्य भेद या विभिन्नता को बताते हैं। किताबों की दुनिया जो ऊँचे विचारों और कल्पनाओं की मोहक दुनिया है उससे कठोर गलाजत भरी यथार्थ दुनिया से कैसे साम्य बिठायें। पाठन की महत्ता बताते हुए लेखक कहते हैं “किताबों के साथ आदमी के रिश्ते का जिसमें किताबें जहाँ एक ओर संस्कारी जीवन के सौन्दर्य के प्रति आकर्षित करती है अपनी जहालत से खुद उबरने और अपने जैसे दूसरों को भी उबारने की प्रेरणा देती है वही वे बिच्छू की तरह डंग भी मारती हैं महत्त्वाकांक्षा जगा कर अपने परिवेश से काट भी देती हैं।”[1] यह भी मुमकिन है कि वे इस तरह का नशा जगा दे वास्तविक जीवन का सामना करने के लिए हमें अयोग्य बना दे। परन्तु फिर भी हम यह तो कह ही सकते हैं “न सही मरणोपरान्त जीवन काल मेंही साक्षात् जीवन के स्वर्ग अज्ञैर नरक दोनों का अनुभव करने और रचने की प्रेरणा तो पुस्तकों से मिल ही जाती है।”[2] हमारी सभ्यता की कई सारी बुराइयों इस लिखा पढ़ी की क्षमता उजागर होने के बाद ही पनपी होंगी निरक्षरों के भोलेपन का नाजायज फायदा उड़ाना पढ़े लिखों के लिए आसान होता है। साथ ही यदि “पुस्तकें न होती तो केवल मानव संस्कृति और सभ्यता का विकास कुंठित हो जाता बल्कि पृथ्वी तल पर इधर उधर बिखरे हुए मानव समुदाय भी कभी एक दूसरे के निकट न आ पाते”[3] जिस विश्व संस्कृति का स्वप्न हम देखते हैं, उसकी कभ्ज्ञी नौबत ही नहीं आती। पुस्तकें जीवन से निकलती हैं और वे ही हमें जीवन से दूर भी ले जा सकती हैं और ले भी जाती हैं जीवन को समझाने और स्वायत्त करने के लिए हमें पुस्तकों की मदद लेनी पड़ती है। “मानवीय बुद्धि ने पोथियाँ रच रच कर अपने सृष्टि ज्ञान और आत्मज्ञान का विस्तार किया है वही उसने जीवन को त्रस्त करने वाली समस्याएँ और उलझनें भी अंधाधुंध खड़ी कर दी हैं पर इन समस्याओं, उलझनों का क्या कोई निर्बुद्धि समाधान संभव है।”[4] बुद्धि ही बुद्धि की सीमाओं को भी उजागर कर देती है वह भी बुद्धि ही है जो मनुष्य को स्वयं बुद्ध की दासता से मुक्त करती हुई भक्तिमार्गी या ज्ञानमार्गी बनाती है और मोक्ष के चरम पुरूषार्थ की ओर धकेलती है “पुस्तकें मनुष्य की इसी चतुर्मुखी सांस्कृतिक मनीषा की उपज है।”[5] सचमुच पढ़ाके दिमाग एक रणक्षेत्र की तरह होता है जहाँ अनेक महारथी प्रतिभाएँ आ आकर टकराती रहती हैं ऐसा दिमाग इतना पुखता और गहरा हो जाता है कि आसानी से किसी की धौंस में नहीं आता। वह विचारों की दुनिया में हर विचार को उसकी सही जगह में और उसके उचित स्थान पर पहचान और रख सकता है। पुस्तक पन्थियों की बात ही निराली है वे न पोथी के पुजारी होते हैं, न अहम्मन्य सर्वेसर्वा। यह आनंद, यह ज्ञान औश्र यह जादू क्या किसी दूसरे माध्यम से संभव हो सकता है। कदापि नहीं पाठन विधा का अपना अलग ही महत्त्व है यह किसी भी युग में देश में कम नहीं हो सकता पाठन विधा से ही हम किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति और इतिहास की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं शब्द भाषा और लिखित सामग्री का लाभ हम केवल पढ़ने की आदत से ही उठा सकते हैं।

शैतान के बहाने निबन्ध संग्रह के बारे में स्वयं शाह कहते हैं कि ये निबन्ध शुद्ध व्यक्तित्व-रस वाले निबन्ध हैं, साथ ही ‘आत्म निबन्ध भी। इन्हें ‘अस्मिता-व्यंजक निबन्ध कहना भी शायद अधिक उपयुक्त लगे। ऐसा इसलिए, कि दृष्ठा और दृश्य के सम्बन्ध भाव को अस्मिता कहा जाता है। ये निबन्ध उस चित्तभूमि की अभिव्यक्ति है, जो दृष्टा और दृश्य दोनों के प्रति जाग्रत और जिज्ञासु हैं।

“शैतान के बहाने’ संग्रह का अन्तिम और सबसे लम्बा निबन्ध है। निबन्ध की प्रकृति मूलतः बौद्धिक है और इस भारी विचारात्मक बोझ को वहन करने की असमर्थता में निबन्धकार की निजी शैली के नाजुक गुण प्रखर तार्किकता के लिए एरीना छोड़कर दीवार से लगे दर्शक की हैसियत में खड़े रहे गये हैं। निबन्ध में भारतीय और पश्चिमी मनीषा के द्वन्द्व और उनके पारस्परिक प्रभावों का अच्छा विश्लेषण है। समन्वयवादी प्रकृति के लिए प्रसिद्ध हिन्दू संस्कृति ने ईसाई संस्कृति के अनुकूल तत्वों को फिर अपने ढंग से अपने भीतर समाहित किया है। राममोहन राय, रामकृष्ण विवेकानन्द, गाँधी और अरविन्द जो भारतीय चिन्तन के प्रतिनिधि ऋषि हैं, ‘जातीय अस्मिता की दिशा...आत्म-विस्तार की, प्रकृति नियन्त्रण की, जिजीविषा और महत्वाकांक्षा की है”, “पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति बुद्धिसम्मत और बुद्धिप्रेरित है जिसकी परिणति ‘निहिलिज्म’ में होना स्वाभाविक है।”[6]

‘शैतान के बहाने’ निबन्ध-संग्रह के कई निबन्ध समसामयिक विचार प्रवाहों, घटनाओं या उनकी व्याख्याओं से सँजोकर रचे गए हैं। इन निबन्धों की अर्थवत्ता केवल विचार सूत्रों को फैलाने या सुलझाने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सूत्रों की आधुनिक संवेदना के अनुकूल कुशल संयोजन इनमें अधिक महत्वपूर्ण है। शाह इनके माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन को निरन्तर वाणी देते हैं। उन्हें भीतर तक इस बात का अहसास है कि गद्य को कवियों का निकष कहा गया है। आज भी निबन्ध गद्य की कसौटी है। ‘गद्य कवीनाम् निकर्ष वदन्ति’ कहा गया है, तो गद्य की विविध विधाओं में भी निबन्ध लेखन में सफला सबसे बड़ी कसौटी है।

जहाँ एक ओर कवि अपनी संवेदना सघनता को लय में ढाल कर निढाल हो जाता है, वहीं दूसरी ओर निबन्धकार विचारों की सघनता को व्यक्तित्व की स्वतंत्रता से मुक्त कर देता है। पिछले वर्षो में यह कार्य रामचन्द्रशुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों ने बखूबी निभाया है। विचारों की संवेद-सघनता में बँधना, फिर बीच-बीच में उनसे अपने को अलग करना, नियंत्रण में रहना-यह चुनौतीपूर्ण अपेक्षा निबन्धकार से की जाती है। इसी कारण अच्छे निबन्ध बहुत कम लिखे जाते हैं। जो निबन्ध यह चुनौती स्वीकार कर लिखे जा सके हैं, उनका अपना अलग ही इतिहास रहा है। शाह इसी निबन्ध-परम्परा को दृढ़ता के साथ आगे बढ़ाते प्रतीत होते हैं। उनके इस संकल्प की प्रतीति उनके इन निबन्धों के भीतर से गुजरने पर बार-बार होती है।

शाह के निबन्धों में अपनी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं जो भारतीय निबन्ध की प्रकृति के स्वतंत्र विकास की दिशा सूचित करती हैं। भारतीय तथा विदेशों की विभिन्न भाषाओं के पठन-अध्ययन की प्रवृत्ति के कारण इस निबन्धकार की शैली में नवीनता आयी है। ‘शैतान के बहाने’ निबन्ध में वे देश-विदेश के आर पार जाते हैं- ‘यह एकिलीज की एड़ी थी जो गाँधी की आँखों के आगे नंगी हो गयी थी। दुखती रग तो वह यूरोप की तब बनी जब गाँधी की उस भर्त्सना के दस-बारह साल बाद उस शाप सरीखों स्वभावोबित को चरितार्थ करने को ही मानो यूरोप के हृदय में हिटलर का उदय हुआ।

व्यक्ति के अंतरंगता स्थापित कराने के साथ अन्दर के आमदी से मिला देना ही इन निबन्धों की शक्ति है। इनका लक्ष्य लालित्य नहीं, चिन्तन का गहरे स्तर पर संस्कार है। इन व्यक्ति-व्यंजक निबन्धों में व्यक्ति सतह पर मौजूद नहीं रहता, सतह के नीचे रहता है। ये वे अनुभव हैं जो व्यक्तिबद्धता के घेरे को तोड़कर पाठक से आत्मीय संवाद करते हैं। यह दुर्निवार्य साझेदारी ही इनकी विस्तृत होती सामूहिकता है। निबन्धकार का 'मैं' अनुभवी कथाकार और कथानक दोनों बनकर आता है। यह 'मैं' कभी भी 'हम' का विरोधी नहीं है और यही पश्चिम के व्यक्तिव्यंजक निबन्धों से इन ललित निबन्धों का मूल भेद है।

हिन्दी में विजय देव नारायण साही, रघुवंश और निर्मल वर्मा के कुछ निबन्धों में शुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण और मुक्त चिंतन की प्रखर तेजस्विता की पहल दिखी है। यदि यह आत्ममन्थन सच्चा और ईमानदार है तो हमें भीतर से बदलेगा भी। एक दायित्वबोध भी देगा। श्री शाह लिखते हैं-

> *"अपने समूचे व्यक्तित्व की एकाग्र प्रतिश्रुति के बिना जो*
> *कुछ सोचा, कहा, जिया, महसूसा जाता है, वह सब झूठा और*
> *जूठा है और इस विराट झूठ के अनन्त छन्द में लिपटे ही चुकते*
> *जाने की विवशता को ढोते हुए भी उसे तद्रूप जानना, उसमें गर्क*
> *हो जाने की अश्लीलता से इन्कार करना ही बोध है, जो चाहे*
> *भले ही निरन्तर और निश्चयात्मक न हो, विरल और क्षणिक*
> *हो तो भी हर प्रकार से वरेण्य है।"*

सही मायने में शाह का 'मैं' समस्त जातीय चेतना का वाहक, बल्कि नायक है। इन निबन्धों की बात चाहे सामान्य अनुभव की हो, साहित्य की हो, तत्व-चिन्तन की हो, कला मिथक की हो, दर्शन के लीलाभाव की हो, लोकवार्ता की हो-वे इन सभी को पाठक की जातीय-स्मृति में अंकित करना चाहते हैं। इसलिए निबन्धकार का परिवेश, जानी-पहचानी कहानियाँ सभी को एक सूत्र में पिरो देता है और पूरा निबन्ध एक तराशी हुई सौन्दर्य संवेदना का सृजन कम बन जाता है।

संदर्भ सूची

1. शाह रमेशचन्द्र, पढ़ते-पढ़ते, पृष्ठ 10
2. शाह रमेशचन्द्र, पढ़ते-पढ़ते, पृष्ठ 11
3. शाह रमेशचन्द्र, पढ़ते-पढ़ते, पृष्ठ 11
4. शाह रमेशचन्द्र, पढ़ते-पढ़ते, पृष्ठ 12
5. शाह रमेशचन्द्र, पढ़ते-पढ़ते, पृष्ठ 12
6. शाह रमेशचन्द्र, शैतान के बहाने, पृष्ठ 102
7. शाह रमेशचन्द्र, शैतान के बहाने, पृष्ठ 109

‘गुरू ग्रंथ साहिब’ में कुदरत की अवधारणा

जसप्रीत कौर

शोधार्थी (पीएच.डी) , हिन्दी विभाग, देश भगत विश्वविद्यालय,
मंडी गोबिंदगढ़, पंजाब

डॉ० अजयपाल सिंह

(शोध-निर्देशक) हिन्दी अध्यक्ष, देश भगत विश्वविद्यालय, मंडी गोबिंदगढ़, पंजाब

कुदरत का अर्थ

‘कुदरत’ अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है- शक्ति, समर्था, ताकत। ईश्वरीय शक्ति, प्रकृति, रचना, महिमा माया।[1] तुर्की (तुरकश) भाषा में इसको अकालपुरख की शक्ति अथवा सृष्टि के लिए भी प्रयोग किया गया है। ‘कुदरत’ को ‘प्रख्नति’ भी कहा गया है। ‘प्रख्नति शब्द लैटिन भाषा के शब्द ‘नटुरा’ या ‘छनजनतं’ से बना है अर्थात् आवश्यक गुणों, जन्मजात स्वभाव। प्राचीन काल में इसका अर्थ है- जन्म। प्रख्नति को भिन्न-भिन्न नामों से भी पुकारा जाता है- कुदरत, निर्सग और वेदान्त में इसको महामाया कहा गया है।

कादिर का अर्थ

‘गुरू ग्रंथ साहिब’ के अनुसार, ‘कादिर’ शब्द अरबी भाषा से लिया गया है जिसका अर्थ है- कुदरत वाला, शक्तिवर, समर्थवान।[2] इसलिए इसे गुरबाणी में करतार, परमात्मा के लिए प्रयोग किया गया है।

कुदरत की अवधारणा

‘गुरू ग्रंथ साहिब’ में कुदरत की अवधारणा पहले से ही मौजूद है। गुरमति के अनुसार कुदरत ‘अकालपुरख’ की सृजना है और वह स्वयं निवास कर रहा है। कुदरत या प्रख्नति अत्यंत व्यापक है। इसके कलावे में कादिर को छोड़ और सब कुछ इसमें समा जाता है। जो मनुष्य अपने आस पास देखता है, सुनता है, सब कादिर की कुदरत है। प्रथम पातशाह श्री गुरू नानक देव जी ने ‘आसा दी वार’ में लिखा है, “सो करता कादर करीमु दे जीआ रिजकु संबाहि।।“ अर्थात् वह स्वयं ही सृजनहार है, स्वयं ही कुदरत का मालिक है, वह स्वयं ही बख़्शिश करने वाला है और स्वयं ही जीवों को रिज़क देने वाला है। यह भऊ सुखों का मूल है, यह भी उसकी ही कुदरत है। यह सारा आकार अर्थात् यह सारा जगत् जो दिख रहा है, सब कुदरत का खेल है। वेद, पुराण तथा और सभी धार्मिक पुस्तकें और इनमें अंकित सभी विचार कुदरत है। मनुष्य के खान-पान, पहनावा और जगत् में सारा प्यारा सब कुदरत की देन है। ‘आसा दी वार’ में प्रथम पातशाह गुरू नानक देव जी फरमाते हैं:

कुदरति दिसै कुदरति सुणीयै कुदरति भऊ सुख सारु।।
कुदरति पाताली आकासी कुदरति सरब आकारु।।
कुदरति खाना पीणा पैनण् कुदरत सरब पिआरु।।[3]

(वार आसा महला 1, अंग 464)

जाति, वस्तुएँ, रंगों में, सृष्टि के जीव सभी कुदरत का फल है। जगत् में कहीं भलाई के काम हो रहे हैं, कहीं विकार है, तो कहीं किसी का आदर हो रहा है, कहीं अहंकार प्रधान है। यह सब कुदरत का खेल है। पवन, पानी, अग्नि, धरती आदि तत्व यह सब कुदरत की देन है अर्थात् सब उसका ही खेल है। सब उसकी ही कला है। वह इस खेल का रचयिता है। उसकी बडियाई सच्ची और सुची है, वह स्वयं पवित्र है।

कुदरति जाती जिनसी रंगी कुदरति जीअ जहान।।
कुदरति नेकीआ कुदरति बदीआ कुदरति मानु अभिमानु।।
कुदरति पऊणु पानी बैसंतरु कुदरति धरती खाकु।।
सब कुदरति तुं कादिरु करता पाकी नाई पाकु।।[4]

(वार आसा, महला 1, अंग 464)

अर्थात् यह सारी कुदरत को वह अकालपुरख अपने हुक्म में रखकर सभी की देखभाल कर रहा है। अकालपुरख ही सृष्टि का कर्ता व जगत् का निर्माता है। दूसरे पातशाह गुरू अंगद देव जी का फरमान है:

इहु जगु सचै की है कोठड़ी सचे का विचि वासु।।
इकन्हा हुकमि समाइ लये इकन्हा हुकमे करे विणासु।।
इकन्हा भाणै कढ़ि लये इकन्हा माइआ विचि निवासु।।[5]

(वार आसा महला 2, अंग 463)

अर्थात् यह जगत् ईश्वर के रहने की जगह है और ईश्वर ही इसमें निवास कर रहा है। वह कई जीवों को अपने हुक्म अनुसार अर्थात् इस संसार से बचाकर अपने चरणों में जोड़ लेता है और जब वह चाहे कई जीवों को अपने हुकम अनुसार ही इसमें डुबो देता है। कई जीवों को अपनी रज़ा अनुसार माया के मोह से निकाल लेता है और बहुतों को माया के मोह में फँसाई रखता है। उस अकालपुरख की कुदरत ब्यान नहीं की जा सकती।

सृष्टि सत्य, मिथ्या नहीं

गुरबाणी के अनुसार यह सृष्टि सत्य है, कुछ भी मिथ्या नहीं है। उस अकालपुरख के पैदा किये हुए यह खण्ड और ब्रह्माण्ड भी सच्चे हैं, वह जगत् का पालनहार और सारी सृष्टि का कर्ता धरता है। 'आसा दी वार' में पहले पातशाह गुरू नानक देव जी का फरमान है:

सचे तेरे खण्ड सचे ब्रह्मंड।।
सचे तेरे लोअ सचे आकार।।[6]

(वार आसा महला 1, अंग 463)

अर्थात् गुरू नानक देव जी कहते हैं कि परमात्मा के बनाए हुए खण्ड, ब्रह्माण्ड, लोक, आकार, जीव-जंतु का क्रम भ्रम रूप नहीं है, बल्कि यह सत्य परमात्मा की सत्य रचना है। मोटे रूप से सृष्टि का यह क्रम अनादि और शाश्वत नियम है।

प्रकृति भी सत्य है

गुरबाणी में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि प्रकृति में निवास करने वाले अकालपुरख की कुदरत भी सच्ची है और यह कभी समाप्त न होने वाली क्रिया है। जो जीव उस सच्चे और अविनासी ईश्वर का स्मरण करते हैं वे भी सत्य हैं। प्रथम पातशाह गुरू नानक देव जी कहते हैं:

सची तेरी कुदरति सचे पातिसाह।।[7]

(वार आसा महला 1, अंग 463)

प्रकृति का विधान अटल है। मनुष्य को प्रकृति बहुत कुछ देती है पर जब वह प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ करता है तो वह विनाश का रूप धारण कर लेती है।

सृष्टि का निर्माण

सृष्टि का निर्माण अकालपुरख के द्वारा हुआ है वह स्वयं कुदरत में निवास करता है। अकालपुरख ने पेड़-पौधों, फूलों में रंग भरे और प्रकृति को सुंदर बनाया है। हवा भी उसके हुक्म में चलती है जो मनुष्य को प्राण वायु देती है। उसने अपने जगत् महल में चांद और सूरज दो दीये रखे हैं। चंद्रमा के घर में सूरज समाया हुआ है जिसकी किरणें चंद्रमा पर पड़कर पूरे जगत् को रोशनी देती है। प्रथम पातशाह गुरू नानक देव जी का कथन है:

भार अठारह मालणि तेरी।।
चउरु ढुलै पवणै लै फेरी।।
चंदु सूरजु दुइ दीपक राखे
ससि घरि सूरु समाइदा।।[8]

(मारू महला 1, अंग 1033-34)

अर्थात् वह ईश्वर जगत् का पालनहार है। सृष्टि का निर्माता है जो भी काम हो रहा है वह उसके हुक्म में रहकर हो रहा है।

प्रकृतिः अनश्वर एवं नाश रहित

जहां तक ईश्वर की अनश्वरता और प्रकृति की नश्वरता का सवाल है, इसके बारे में यही कहा जा सकता है। प्रकृति का रूप भले ही परिवर्तित होता रहता है लेकिन

प्रकृति के पाँचों तत्व अर्थात् पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल और आकाश भी अनश्वर अर्थात् नाश रहित है। पाँचवें पातशाह गुरू अरजन देव जी ने कहा है:

धरती आकासु पातालु है चंदु सूरु बिनासी।।[9]

(मारू महला 5, अंग 1100)

उपर्युक्त सलोक में पाँचवें पातशाह ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि धरती, आकाश पाताल चांद और सूरज-यह भी नाश रहित है। जब अधिकांश मनुष्य सृष्टि और जीव सृष्टि नष्ट हो जाती है, तब भी पृथ्वी रहती है वायु तो रहती ही है और आकाश भी नाश नहीं होता।

कुदरतः अकालपुरख की सृजना

गुरबाणी के अनुसार कुदरत का सृजनहार स्वयं अकालपुरख है। प्रकृति ने मनुष्य को इतना कुछ दिया है कि वह सोच भी नहीं सकता। धरती पर जीवन भी

प्रकृति के कारण ही संभव है। ब्रह्माण्ड में और भी ऐसे कई ग्रह हैं, प्रकृति के बिना जीवन संभव नहीं है। स्थान के अनुसार कुदरत अपना रंग रूप बदलती रहती है। प्रथम पातशाह गुरू नानक देव जी अकालपुरख की कुदरत को देखकर स्वयं विस्मय-विमुग्ध हैं:

पुरखां बिरखां तीरथां वटां मेघां खेतांह।।
दीपां लोआं मडलां खंडा वरभंडांह।।
अंडज जेरज ऊतभुजां खाणी सेतजांह।।
सो मिति जाणै नानका सरां मेरां जंताह।।
नानक जंत ऊपाइ कै संभाले सभनाह।।
जिनि करतै करणा कीआ चिंता भि करणी ताह।।
सो करता चिंता करे जिनि ऊपाइआ जगु।।
तिसु जोहारी सुअसति तिसु तिसु दीबाणु अभगु।।[10]

(सलोक महला 1, अंग 467)

गुरबाणी कहती है कि उस अकालपुरख के ही यह सारे जीव-जंतु पैदा किये हुए हैं। वही जगत् का निर्माता है, वही दिन रात उसकी देखभाल कर रहा है वृक्ष, तीर्थ, तट, बादल, खेत, दीप, लोक, मंडल, खंड, ब्रह्माण्ड आदि कोई भी उसकी शक्ति का अंदाजा नहीं लगा सकता है।

सृष्टि का सृजनहार

अकालपुरख अपनी रची सष्टि में पूर्ण तौर पर व्यापक है। पूरी सृष्टि पर वह अपना ही हुक्म चला रहा है। कोई भी जीव उस अकालपुरख की ताकत का अंदाजा नहीं लगा सकता। वह अपने पैदा किये हुए जीवों पर अपना ही हुक्म चला रहा है और उनको सहारा देता है। प्रथम पातशाह गुरू नानक देव जी का फरमान है:

कुदरति करनैहार अपारा।।
कीते का नाही किहु चारा।।
जीअ ऊपाइ रिजकु दे आपे
सिरि सिरि हुकमु चलाइआ।।[11]

(मारू महला 1, अंग 1042-43)

अर्थात् उस अकालपुरख की ताकतों का कोई भी प्राणी अंदाजा नहीं लगा सकता। कोई जीव उसकी ताकत के आगे टिक नहीं सकता। उसके पैदा किये हुए जीव की पेश नहीं जा सकती।

कुदरत में कादिर

कादिर स्वयं कुदरत में बसा हुआ है। वह अकालपुरख हर जगह व्यापक है। वह इतना बड़ा है कि उसका अंत नहीं पाया जा सकता। प्रथम पातशाह श्री गुरू नानक देव जी अकालपुरख द्वारा सिरजी गई कुदरत को देखकर स्वयं हैरान है।

प्रकृति के महत्त्वपूर्ण तत्वों का निर्माण- पवन, पानी, अग्नि, धरती

प्रकृति के महत्त्वपूर्ण तत्वों- धरती, पवन, पानी, अग्नि का निर्माण अकालपुरख ने स्वयं किया है। मनुष्य शरीर का निर्माण भी इन्हीं पाँच तत्वों से मिलकर हुआ है। प्रथम पातशाह गुरू नानक देव जी कहते हैं:

पवणै पाणी जाणै जाति।।
काइआं अगिन कारे निभरांति।।
जंमहि जीअ जाणै जे थाऊ।।
सुरता पंडितु ता का नाऊ।।[12]

(मलार महला 1, घरु 2, अंग 1256)

उपर्युक्त श्लोक में गुरू साहिब कहते हैं कि यदि मनुष्य हवा, पानी इत्यादि तत्वों के मूल अकालपुरख को जान ले अर्थात् जिसने इसका निर्माण किया है, वह उसके साथ गहरी सांझ पा सकता है। अपने शरीर की तृष्णा-आग को शांत कर ले, उसके साथ जान पहचान कर ले जिससे यह सारे जीव पैदा हुए हैं, उस मनुष्य का नाम सियाना पंडित रखा जा सकता है।

संसार उद्यान के समान

गुरबाणी में कहा गया है कि यह संसार एक बगीचा है जिसमें सृजनहार ने अनेक प्रकार के पौधे लगाये हुए हैं। भिन्न-भिन्न रंगों के जीव पैदा किये हुए हैं और इनके अंदर से आत्मिक जीवन देने वाला नाम जल सिंचा जा रहा है। वह अकालपुरख सिरजनहार हर एक पौधे के पत्ते-पत्ते और डाली-डाली की देखभाल करता है। पाँचवें पातशाह श्री गुरू अरजन देव जी फरमाते हैं:

ऐकु बगीचा पेड घन करिया।।
अंम्रित नामु तहा महि फलिया।।[13]

(आसा महला 5, अंग 385)

पाँचवें पातशाह गुरू अरजन देव जी आगे फरमाते हैं:

सिंचनहारे ऐकौ माली।।
खबरि करतु है पात पात डाली।।
सगल बनस्पति आणि जडाई।।
सगली फूली निफल न काई।।[14]

(आसा महला 5, अंग 385)

अर्थात् उस सृजनहार माली ने इस जगत् रूपी बगीचे में सारी वनस्पति लाकर सजा दी है। रंग-बिरंगे जीव पैदा कर इस संसार रूपी बगीचे को सुंदर और मनमोहक बना दिया है।

कुदरतः अकालपुरख का नियंत्रण

ऋषि-मुनियों का सदियों से ही प्रख्रति के साथ गहरा लगाव रहा है। वह अपना ज्यादा से ज्यादा समय प्रख्रति के साथ बिताते थे। क्योंकि वह जानते थे कि प्रख्रति ईश्वर की देन है।

अकालपुरख के नियंत्रण में है प्रकृति

'अकालपुरख' प्रकृति अथवा कुदरत का सिरजक ही नहीं है बल्कि इसके समस्त क्रियाकलाप पर नियंत्रण भी 'अकालपुरख' (अकालपुरख का अर्थ है-गुरमति में परमात्मा को 'अकालमूरति' और 'करता-पुरख' माना गया है) का ही है अर्थात् गुरबाणी में अकालपुरख को निर्मल कहा गया है। 'आसा दी वार' में प्रथम पातशाह फरमाते हैं कि वायु 'अकालपुरख' के भय (नियंत्रण) में बहती है। लाखों दरिया उसके भय में बहते हैं। अग्नि, धरती, सूरज, चंद्रमा आदि सब उसके नियंत्रण में काम कर रहे हैं:

भै विचि पवणु वहै सदवाऊ।।
भै विचि चलहि लख दरिआऊ।।
भै विचि अगनि कढै वैगारि।।
भै विचि धरती दबी भारि।।
भै विचि इंदु फिरै सिर भारि।।
मैं विचि राजा धरम दुआरु।।
भै विचि सूरजु भै विचि चंदु।।
कोह करोड़ी चलत न अंतु।।
भै विचि सिध बुध सुर नाथ।।
भै विचि आडाणे आकास।।[15]

(वार आसा महला 1, अंग 464)

परमात्मा के भय में ही आग बेगार कर रही है। सिध, बुद्ध, नाथ, देवते सारे अकालपुरख के भय में हैं। समस्त पृथ्वी परमात्मा के भय के भार के कारण दबी है अर्थात् अपनी मर्यादा में स्थित है।

गुरबाणी में प्रकृति का महत्त्व

गुरबाणी का स्पष्ट आशय है कि धरती 'अकालपुरख' के नियंत्रण में काम कर रही है। आकाश भी उसके नियंत्रण में है। चांद और सूरज उस गुणों के खजाने 'अकालपुरख' के नियंत्रण में कार्य कर रहे हैं। वायु, पानी, आग आदि तत्व भी 'अकालपुरख' के नियंत्रण में काम कर रहे हैं। सारी सृष्टि ही

'अकालपुरख' की 'रज़ा' में चल रही है। 'रज़ा' अर्थात् 'रज़ा' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है- परमात्मा की प्रसन्नता, खुशबूदी, भाणा या इच्छा।[16] 'गुरू ग्रंथ साहिब' में इसका प्रयोग ईश्वरीय इच्छा या भाणे के लिए हुआ है- "रब्ब की रजाइ मंने सिर ऊपरि करता मंने आप गवावै।।" (ग.ग्र.सा. अंग 141)। सारे खण्ड, दीप मंडल, पाताल सारे उसके नियंत्रण में रहकर काम कर रहे हैं। सारे पशु, पक्षी आदि जीव, जंगल और अडोल टिके हुए पहाड़, बेलें, वृक्ष की शाखाएँ सभी अकालपुरख के 'हुक्म' में काम कर रहे हैं। 'हुक्म' अर्थात् गुरबाणी में हर जगह पर 'हुक्म' को मानने की बात की गई है। 'हुक्म' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है- आज्ञा, फरमान, आदेश।[17] गुरमति में 'हुक्म' से सारी सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है, "हुकमी होवनि आकार हुकम न कहिआ जाई।।" पाँचवें पातशाह श्री गुरू अरजन देव जी का कथन है:

सिमरै धरती अरु आकासा।।
सिमरहि चंद सूरज गुणतासा।।
पऊण पाणी बैसंतर सिमरहि सिमरै सगल ऊपारजना।।
सिमरहि खंड दीप सभि लोआ।।
सिमरहि पाताल पुरीआ सचु सोआ।।
सिमरहि खाणी सिमरहि बाणी सिमरहि सगले हरि जना।।[18]

(मारू सोलहे महला 5, अंग 1078-79)

इसलिए बड़ी साफ सी बात है कि प्रक्नति या कुदरत की रक्षा करना, उसका संरक्षण करना दरअसल 'अकालपुरख' की 'रज़ा' और 'हुक्म' का सम्मान करना है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि 'गुरू ग्रंथ साहिब' में कुदरत की अवधारणा बहुत पहले से ही मौजूद रही है। जिस पर्यावरण चेतना की बात आज विकसित देश कर रहे हैं वह वैदिक काल से ही भारतीय मनीषा का मूल आधर रही है। यहां तक कि कुरान, भगवद्गीता में भी प्रक्नति अर्थात् कुदरत की ईश्वर के रूप में मान्यता दी गई है। 'गुरू ग्रंथ साहिब' में 'कुदरत' को 'अकालपुरख' की सृजना माना गया है। गुरमति के अनुसार, 'अकालपुरख ने स्वयं सारी सृष्टि की रचना की है और वह स्वयं उसमें निवास कर रहा है और सब जीवों की सम्भाल करता है। उस अकालपुरख की कुदरत अनंत है जिसका कोई भी प्राणी उसकी ताकत का अंदाजा नहीं लगा सकता। कुदरत के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्वों- वायु, पानी, आग, धरती, पाताल, आकाश आदि की रचना अकालपुरख ने की है। वायु अकालपुरख के भय में बहती है, लाखों दरिया उसके भय में बहते हैं। अग्नि, धरती, सूरज, चंद्रमा सब उसके नियंत्रण में हैं। अकालपुरख ने भिन्न-भिन्न रंगों और नस्लों के जीव-जंतु पैदा कर उस कुदरत को सुंदर बनाया है और उसकी सम्भाल भी वह स्वयं करता है और सारे जीव उसके हुक्म में काम कर रहे हैं। वही उनको रिज़्क देने वाला है। उसकी कुदरत सच्ची है, वह अकालपुरख स्वयं सच्चा है जिसका अंत नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार 'गुरू ग्रंथ साहिब' मनुष्य को सम्पूर्ण दृष्टि प्रदान करने वाला एक महान् पवित्र ग्रंथ है। हमारे जीवन का कोई पक्ष, कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिससे संबंधित दिशा निर्देश और मार्गदर्शन हमें 'गुरू ग्रंथ साहिब' में न मिलता हो। इस प्रकार 'कुदरत' से संबंधित स्पष्ट धारणाएँ 'गुरू ग्रंथ साहिब' में पहले से ही मौजूद हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. रतन सिंह जग्गी, 'गुरू ग्रंथ साहिब विश्वकोश' भाग-1, (पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाबी युनिवर्सिटी, पटियाला, 2002), पृष्ठ 344
2. वही, पृष्ठ 324
3. गुरू नानक देव, 'वार आसा महला 1, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 464
4. वही, अंग 464
5. गुरू अंगद देव, 'वार आसा महला 2, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 463
6. वही, अंग 463
7. वही, अंग 463
8. गुरू नानक देव, 'मारू महला 1, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 1033-34
9. गुरू अरजन देव, 'मारू महला 5, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 1100
10. गुरू नानक देव, 'सलोक महला 1, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 467
11. गुरू नानक देव, 'मारू महला 1, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 1042-43
12. गुरू नानक देव, 'मलार महला 1, घरु 2, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 1256
13. गुरू अरजन देव, 'आसा महला 5, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 385
14. वही, अंग 385
15. गुरू नानक देव, 'वार आसा महला 1, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 464
16. डॉ. रतन सिंह जग्गी, 'गुरू ग्रंथ साहिब विश्वकोश' भाग-1, (पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाबी युनिवर्सिटी, पटियाला, 2002), पृष्ठ 412
17. वही, पृष्ठ 287
18. गुरू अरजन देव, 'मारू सोलहे महला 5, गुरू ग्रंथ साहिब', अंग 1078-79

आदिवासियों में अंधविश्वास की समस्या और उसका औपन्यासिक प्रतिफलन

डॉ० उमेश कुमार पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक हिन्दी, शासकीय महाविद्यालय बलरामपुर, जिला-बलरामपुर-रामानुजगंज (छ०ग०)

शोध-सारांश

भारत की प्राय: सभी जनजातियों में अंधविश्वास की समस्या पायी जाती है। उनके दैनिक जीवन के बहुत से क्रियाकलाप अंधविश्वासों से संचालित होते हैं। आदिवासियों का विश्वास है कि उनकी छोटी-छोटी गलतियों से देवता नाराज होते हैं और प्राकृतिक प्रकोप तथा महामारियाँ आती हैं। इन्हीं के निराकरण के लिए वे तमाम धार्मिक कर्मकाण्डों का सहारा लेते हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु, भवन निर्माण आदि अनेक अवसरों पर पूजा-पाठ संपन्न किये जाते हैं। आदिवासी भूत-प्रेत और झाड़-फूँक पर भी अत्यधिक विश्वास करते हैं। यहां तक की बहुत सी बीमारियों का इलाज भी अंधविश्वास के चलते झाड़-फूँक से करते हैं। इसका दुश्परिणाम यह होता है कि उचित इलाज के अभाव में रोगी की स्थिति दिनों-दिन गंभीर होती जाती है। उत्तरी छत्तीसगढ़ में पीलिया का इलाज झाड़-फूँक से करने की प्रथा देखी जाती है। कई बार इसके कारण रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। देश के अन्य भागों में भी झाड़-फूँक से बीमारियों का ईलाज किया जाता है। गोंड जनजाति में यह समस्या काफी अधिक है। गोंडों में गाँव का 'सिरहा' अनिष्टों के निवारण के लिए तरह-तरह के अनुष्ठान करता है। राजस्थान की करनट जनजाति भी भूत-प्रेतों के निवारण के लिए तरह-तरह के उपाय करती है। इसके लिए वे मंत्रों को सिद्ध करते हैं और अपने देवताओं को जगाते हैं। इस तरह अशिक्षा और जागरूकता के अभाव में अधिकतर जनजातियाँ गहरे अंधविश्वास की शिकार हैं। टोना-टोटका के शक में टोनही की हत्या की खबरें आये दिन अखबारों में छपती रहती हैं। इसके कारण प्राय: आदिवासी और शेष समाज के बीच विवाद की स्थिति भी बनती है।

Keywords : ओझा, झाड़-फूँक, जादू-टोना, भूत-प्रेत, अशिक्षा, जागरूकता, बीमारी, बैगा, बलि, बुरी नजर, प्रेतात्मा।

भारतीय समाज में आदिवासी ऐसा वर्ग है जहां पर अंधविश्वास की समस्या आज भी गंभीर है। इन अंधविश्वासों का विस्तार उनके जीवन के लगभग हर क्षेत्र तक है। प्रकृति पर अत्यधिक निर्भरता और अशिक्षा तथा जागरूकता के अभाव में कई बार यह अंधविश्वास जानलेवा साबित होता है। आये दिन समाचार पत्रों में अंधविश्वास जनित दुर्घटनाओं की खबरें प्रकाशित होती रहती हैं। भारत की प्राय: सभी जनजातियों में अंधविश्वास की समस्या पायी जाती है। उनके दैनिक जीवन के बहुत से क्रियाकलाप अंधविश्वासों से संचालित होते हैं। आदिवासियों का विश्वास है कि उनकी छोटी-छोटी गलतियों से देवता नाराज होते हैं और प्राकृतिक प्रकोप तथा महामारियाँ आती हैं। इन्हीं के निराकरण के लिए वे तमाम धार्मिक कर्मकाण्डों का सहारा लेते हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु, भवन निर्माण आदि अनेक अवसरों पर पूजा-पाठ संपन्न किये जाते हैं। आदिवासी भूत-प्रेत और झाड़-फूँक पर भी अत्यधिक विश्वास करते हैं। यहां तक की बहुत सी बीमारियों का इलाज भी अंधविश्वास के चलते झाड़-फूँक से करते हैं। इसका दुश्परिणाम यह होता है कि उचित इलाज के अभाव में रोगी की स्थिति दिनों-दिन गंभीर होती जाती है। उत्तरी छत्तीसगढ़ में पीलिया का इलाज झाड़-फूँक से करने की प्रथा देखी जाती है। कई बार इसके कारण रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। देश के अन्य भागों में भी झाड़-फूँक से बीमारियों का ईलाज किया जाता है।

नागा और हो जनजाति के लोग शकुन विचारने पर विश्वास करते हैं। हो जनजाति के लोग शकुन-अपशकुन को विचारने के बाद ही विवाह करते हैं। विवाह के लिए जाते समय कुत्ते द्वारा जमीन खरोंचने तथा शिशु जन्म को ये लोग अपशकुन मानते हैं। इसी तरह नागा जनजाति के लोग बीमारियों के समय सुअर तथा मुर्गे की बलि देकर देवता को प्रसन्न करते हैं। शत्रु पक्ष को पराजित करने के लिए बिल्ली की बलि दी जाती है। जबकि सामान्यत: बिल्ली मारना निषिद्ध माना गया है। इसी तरह भारत की लगभग हर जनजाति भूत-प्रेत, जादू-टोने आदि में विश्वास करती है। गोंड जनजाति में यह समस्या काफी अधिक है। गोंडों में गाँव का 'सिरहा' अनिष्टों के निवारण के लिए तरह-तरह के अनुष्ठान करता है। राजस्थान की करनट जनजाति भी भूत-प्रेतों के निवारण के लिए तरह-तरह के उपाय करती है। इसके लिए वे मंत्रों को सिद्ध करते हैं और अपने देवताओं को जगाते हैं। अनेक जनजातियों में कष्टों के निवारण के लिए ताबीजों का सहारा लिया जाता है। इस तरह अशिक्षा और जागरूकता के अभाव में अधिकतर जनजातियाँ गहरे अंधविश्वास की शिकार हैं। टोना-टोटका के शक में टोनही की हत्या की खबरें आये दिन अखबारों में छपती रहती हैं। इसके कारण प्राय: आदिवासी और शेष समाज के बीच विवाद की स्थिति भी बनती है। मध्य भारत की कई जनजातियों में यह कुप्रथा पाई जाती है।

आदिवासी भूत-प्रेतों पर अत्यधिक विश्वास करते हैं और उनके दुश्प्रभावों के निराकरण के लिए तरह-तरह के उपाय करते हैं। वे झाड़-फूँक में भी विश्वास करते हैं और प्राय: उनके यहाँ यह कार्य ओझा के माध्यम से संपन्न होता है। आदिवासियों में अंधविश्वास की यह प्रथा प्राचीन काल से विद्यमान रही है। बाहरी समाज से कटे होने के कारण विकास का लाभ आदिवासियों तक नही पहुंच पाया, जिसके कारण उनकी सामाजिक गतिविधियां परंपरागत ढंग से चलती रहीं। शगुन-अपशगुन का विचार और अनेक अवसरों पर बलि देने की परंपरायें आदिवासी जीवन संस्कृति का हिस्सा रही हैं। बाद में चलकर इन परंपराओं

ने बुराई का रूप धारण कर लिया और आदिवासियों का रोजमर्रा का जीवन प्रभावित होने लगा। इससे विभिन्न प्रकार की विसंगतियां पैदा हुई। अंधविश्वास के कारण कई आदिवासी समुदाय अपने बच्चों को शिक्षित करने में भी रूचि नही दिखाते।

आदिवासी समाज में व्याप्त अंधविश्वास के प्रसंग प्राय: सभी जनजाति केन्द्रित उपन्यासों में आये हैं, क्योंकि ये चीजें अतार्किक होने के बावजूद परंपरागत रूप से आदिवासियों की संस्कृति का हिस्सा रही हैं। बस्तर के जनजातीय जीवन पर केन्द्रित उपन्यास 'सूरज किरन की छांव' में वहां के जनजातियों में व्याप्त अंधविश्वासों की चर्चा की गयी है। उपन्यास में एक ओझा अंग्रेज अफसर से एक घटना का वर्णन करते हुए कहता है-''हां, हुजूर। जब पटेल के घर लड़का हुआ, तो उसकी छाती पर एक उल्लू बैठा था। पटेल की बड़ी लड़की साल्हो ने उसे ढेला मारा तो वह ढेला उठाकर ले भागा। उसी के बाद लड़का दिन-दिन घुलने लगा।''[1]

आदिवासी ज्यादातर बीमारियों को भूत-प्रेतों का प्रभाव मानते हैं। उनको लगता है कि भूत-प्रेत शरीर के अंदर प्रवेश कर बीमारी पैदा करते हैं और धीरे-धीरे कर आदमी को मारते हैं। 'शैलूष' उपन्यास का गोवर्धन नट अपने बेटे सुरजीत के बीमार होने पर कहता है-''सुरजितवा जबसे बीमार है तब से जाने कितने ओझा-ओझहत चिल्लाकर कह चुके हैं कि यह मरी (चमाइन की प्रेतात्मा) है। मैंने कहा कि भाभी, कमालपुर के डॉक्टर-वैद से कुछ न होगा। हम जानते हैं कि पिछले बीस साल से जब जिरिया चमाइन को चोरी के जुलुम में हमारे बाप ने मार डाला, तभी से यह रोग हमारे घर आया। मेरे बाप को ऐसा ही सरेशाम हुआ, और वह दो महीने बुखार से तड़प-तड़पकर मरा। वैसा ही सरेशाम सुरजीत का भी हो गया है।''[2] आदिवासी समाज में प्रेतात्मा से बीमारियों को जोड़कर देखने का दुश्प्रभाव यह होता है कि वे बीमारियों का इलाज ओझा आदि से कराने के चक्कर में पड़े रहते हैं और डाक्टर के पास नहीं जाते, फलत: उनकी बीमारी धीरे-धीरे बढ़ती जाती है और कई बार मृत्यु हो जाती है। यह भी देखने में आता है कि वे डॉक्टर की बजाय ओझा की बातों में अधिक विश्वास करते हैं। जिसके कारण मरीज का सही ईलाज नही हो पाता। कई बार ओझा भी अपना हित साधने के लिए आदिवासियों की अज्ञानता का लाभ उठाते हैं। भूत-प्रेत उतारने के नाम पर वे आदिवासियों से धन ऐठते हैं। कई आदिवासी तो कर्ज लेकर भी इस धन की व्यवस्था करते हैं। इससे वे ऋणी भी बन जाते हैं जो कि नए तरह की समस्या को जन्म देता है।

'जंगल के फूल' उपन्यास में गोंड जनजाति के जीवन में व्याप्त अंधविश्वास की चर्चा की गयी है। दुर्गम इलाकों में निवास करने और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से दूर रहने के कारण गोंडों के जीवन में अभी भी परंपरागत मान्यतायें हावी हैं। उपन्यास में अंग्रेज अफसर और गांव के गायता के बीच संवाद से इस जाति में व्याप्त अंधविश्वास का पता चलता है-

गोरे ने पूछा - 'ये नारानदेव कौन डेव?'

गायता को जैसे अब गोरे की बात समझ में आ गयी थी। बोला-''सिरकार, यह बीमारियों का राजा है। सारी बीमारियां इसी के कहने पर चलती हैं। सारे भूत-प्रेतों का यह मालिक है। चुड़ैल इसके इशारे पर नाचती है।''[3] बहुत सारी विचित्र किस्म की मान्यताएँ इनके समाज में पायी जाती हैं जैसे, इन लोगों का विश्वास है कि झाड़-फूँक करने-कराने से संतान प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार शेर की आँख में जादू होना, शरीर पर गुदना गुदवाने से मरने के बाद नरक की यंत्रणा से मुक्ति मिलना और 'कोरी देवी' को सिर झुकाकर गाँव में प्रवेश करना भी इनके सहज विश्वास हैं। पराये गांव की मोटियारी का अपने गांव लौटते समय पलट कर देखना, नृत्य के समय किसी चेलिक के सिर में बंधे मोर पंख का गिर जाना और विशेष अवसर पर शिकार पर गये हुए चेलिकों का खाली हाथ लौट आना इनके यहां अशुभ संकेत माना जाता है। गोंड जीवन में व्याप्त इन अंधविश्वासों पर डॉ. बंसीधर लिखते हैं-''साधारणतया यह जाति अज्ञान और अंधविश्वासों से भरा-पूरा जीवन जीने की आदी है। प्रकृति के तत्वों से भय खाने वाली है। अनेक तरह के देवी-देवताओं की पूजा और बलि से प्रसन्न रखने में ही यह अपनी सुरक्षा समझती है। झाड़-फूँक और टोने-टोटके में इसका सहज विश्वास है।''[4] छत्तीसगढ़ के बस्तर अंचल में आज भी विकास की पहुंच धीमी है। शिक्षा और जागरूकता के अभाव में वहां की जनजातियां गहरे अंधविश्वास की शिकार हैं। गोंड़ जनजाति के विभिन्न वर्गो में यह समस्या अधिक देखने को मिलती है। कई बार इस अंधविश्वास के कारण लोगों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है।

'काला पादरी' उपन्यास में तेजिन्दर छत्तीसगढ़ के सरगुजा जिले की उरांव जनजाति में व्याप्त अंधविश्वास की चर्चा करते हैं। उरांवों में पारंपरिक ओझा के रूप में मान्यता प्राप्त बैगा के झाड़-फूँक का रोचक वर्णन करते हुए तेजिन्दर लिखते हैं-''बैगा के हाथ में झाड़ू है। उसने लाल रंग की लुंगी पहन रखी है। वह नंगे पांव है। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है। उसने अपने माथे पर राख मल रखी है। उसके कंधों पर मोर पंख लटक रहे हैं। वह चीख रहा है। उसकी चीख की भाषा समझ से बाहर है। वह बार-बार नीचे लिटाये गये आदमी के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है और चीखता है। शायद वह यह कहना चाह रहा है कि इस आदमी के शरीर में कोई प्रेतात्मा है, जिसे वह अपने मंत्रों के प्रभाव से बाहर निकाल देगा और यह व्यक्ति उसके प्रभाव से पूरी तरह मुक्त हो जाएगा।''[5] इस अंचल में टोना-टोटका का चलन अधिक दिखता है। कई बार टोना सामाजिक विवाद का कारण बनता है। बदले की भावना से प्रेरित लोग टोनही के शक में आदिवासी स्त्रियों की हत्या तक कर देते हैं। इस आशय की खबरें अक्सर स्थानीय अखबारों में छपती रहती हैं। अंधविश्वास के कारण निर्दोष आदिवासियों को अपनी जान गंवानी पड़ती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि शेष समाज के लोग भी कई बार उसी अंधविश्वास के शिकार होते हैं जिसके शिकार आदिवासी हैं।

'पठार पर कोहरा' उपन्यास में मुंडा जनजाति में व्याप्त अंधविश्वासों की चर्चा की गयी है। गजलीठोरी गाँव के लोग रंगेनी से इसलिए डरते हैं क्योंकि वह झाड़-फूँक और जादू-टोने में पारंगत है- ''लोग जानते हैं कि रंगेनी के घर के आसपास नासान बोंगाओं की दुष्ट आत्माएं बसेंड़ लिए बैठी हैं। आँधी, बाढ़, अकाल, जंगल की आग या मवेशियों के रोग सब नासान बोंगाओं की बुरी नजर से होती हैं। सारे नासान बोंगा रंगेनी के इष्ट हैं। कहीं भगतिनियाँ खिसिया गयी तो काली बिल्ली बनकर बैरी के घर में पेस (प्रविष्ट) जाती है। सोये आदमी का अंगूठा चाटकर उसकी उमर चुरा लेती है –– फिर तो मरना तय है।''[6] स्पष्ट है कि अंधविश्वास के शिकार लोग केवल बीमारियों को ही अनिष्ट का परिणाम नही मानते बल्कि प्राकृतिक प्रकोप का कारण भी वे बुरी आत्माओं के असर को मानते हैं। इससे बचने के लिए आदिवासी तरह-तरह के आडंबर और अनुष्ठान का सहारा लेते हैं। अक्सर उनके लिए ये मानसिक त्रासदी का कारण बनता है।

बुंदेलखंड की कबूतरा जनजाति में भी अंधविश्वासों की झलक दिखाई पड़ती है। कबूतरा समाज देश के अत्यंत पिछड़े समाजों में से एक है और आज भी उनके समूचे परिवेश में परंपरागत मान्यताएं हावी हैं। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में लेखिका कहीं-कहीं पर अंधविश्वासों की चर्चा करती हैं। राणा का भूत उतारने आये गुनिया के क्रियाकलाप का वर्णन करते हुए लेखिका लिखती हैं -

''गुनियाँ!

गुनिया जानता है वीर देवता उनका देव है। वीर देव की स्थापना की। लिपी हुई चबूतरी पर बेर के पत्ते, पान का पत्ता, गुड़ और बकरी का खून चढ़ाया। रोटी का चूरमा और लाल कपड़ा। मद और तेल पास में रखा। गुनियाँ आग लहकाता जाता, खून के छींटे देता जाता। कागजी आदमी, डेढ़ पसली की गुनियाँ। देवता आ गया उसके ऊपर। बलवान पहलवान की तरह पुख्तापन से तन गया।''[7] झाड़-फूँक करने वाले भूत-प्रेत उतारने के चक्कर में अजीबो-गरीब हरकते करते हैं। इससे रोगी ठीक तो नही ही होता, आस-पास के वातावरण में भी डर पैदा हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि वर्तमान समय में भी जागरूकता और शिक्षा के अभाव के कारण बहुत से अंधविश्वास आदिवासी समाज में प्रचलित हैं। आदिवासी संस्कृति का हिस्सा होते हुए भी कई बार ये अंधविश्वास उनके लिए आत्मघाती सिद्ध होते हैं। इन अंधविश्वासों के कारण आदिवासियों का स्वाभाविक विकास बाधित होता है। आज इस बुराई से मुक्ति के लिए शिक्षा का अधिकतम प्रसार, जन-जागरूकता में वृद्धि और आदिवासियों के मध्य वैज्ञानिक चेतना के प्रचार-प्रसार की नितांत आवश्यकता है। तभी इस बुराई से सही मायने में मुक्ति संभव है।

संदर्भ

1. अवस्थी, राजेन्द्र, सूरज किरन की छांव, पृष्ठ 92, संस्करण 1979
2. सिंह, शिवप्रसाद, शैलूष, पृष्ठ 86, प्रथम संस्करण 1989
3. अवस्थी, राजेन्द्र, जंगल के फूल, पृष्ठ 18, संस्करण 1976
4. डॉ. बंशीधर, हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा, पृष्ठ 159, प्रथम संस्करण 1983
5. तेजिन्दर, काला पादरी, पृष्ठ 71, प्रथम संस्करण 2005
6. सिंह, राकेश कुमार, पठार पर कोहरा, पृष्ठ 75, द्वितीय संस्करण 2005
7. पुष्पा, मैत्रेयी, अल्मा कबूतरी, पृष्ठ 51, प्रथम पेपरबैक संस्करण 2004

रसनिष्पत्ति प्रक्रिया की वैज्ञानिकता

डॉ० राजेश कुमार सिंह

एम.ए., पी-एच. डी., विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प.बं.)

रस निष्पत्ति की प्रक्रिया भरत कालीन समय की शास्त्रीय मांग थी। विष्मय होता है कि ऐसी कौन सी बात थी जिसके कारण आचार्य भरत ने इस निष्पत्ति की प्रक्रिया को जन्म और जीवन प्रदान किया। जबकि भरत के पहले प्रपितामह ब्रह्म की भांति रस के अनेक पितामहों ने रस की सृजन परम्परा में योगदान दिया था। भरत के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण में यह बात प्रमाणित है कि उनके पूर्व वासूकि, सदाशिव, अगस्त्य, व्यास, नन्दिकेश्वर, वृद्धभरत, आ्जनेय आदि प्रमुख है। जिसमें नन्दिकेश्वर ने ब्रह्म की भांति रस का सृजन किया था परन्तु उस सृजन में कहीं भी रसनिष्पत्ति प्रक्रिया का न तो कोई संकेत था और न सूत्र। ऐसी परिस्थिति में यह बात निश्चित रूप से मंथन करने का विषय है कि आखिर आचार्य भरतमुनि ने ही इस निस्पत्ति की प्रक्रिया का जन्म क्यों दी।

विभिन्न आचार्य के सिद्धातों उनकी मान्यताओं एवं रस संबंधि विविध अवधारणाओं का अध्ययनोपरान्त जो बात निकल कर आती है वह यह है कि भरत के समक्ष रस की विवेचना करने के समय समस्त तत्कालिन जनमानस की रूचियाँ और इच्छाएँ उपस्थित थी, जैसा की आचार्य भरत द्वारा दिये गये संकेत से ही स्पष्ट होता है कि लोक मांग को देखते हुए स्वयं ब्रह्मा ने भरत नाट्यशास्त्र लिखने की सलाह देते हुए कहा थाकि लोकरूचिका पालन करने हेतू नाट्यशास्त्र का प्रणयन करते हुए उसमें इसका उपस्थापना करो, क्योंकि यह नाट्य सभी प्रकार के रसों, भावों और धर्मों के अभिनय द्वारा लोक में यह सबको उपदेश देने वाला होगा -

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्म क्रियास्वथ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोकेभविष्यति।।[1]

इस तरह बड़ी सरलता से यह बात स्पष्ट होती है कि ब्रह्मा ने लोक रूचि में अभिनय कला के प्रति सद्भाव को देखते हुए उसे आबद्ध करने हेतू आचार्य भरत को प्रतिस्थापित किया था। तदन्तर आचार्य भरत ने लोकरूचि का ही समादर करते हुए नाट्यशास्त्र की प्रथमतः रचना की और अभिनय अभिनेयता, प्रेक्षण एवं सम्प्रेषणादि का विधान करते हुए शास्त्रीय परम्परा के रूप में सर्वप्रथम रस निष्पत्ति" की प्रक्रिया का सृजन किया जिसकी विवेचना समालोचना करते हुए उनके पश्चात्वर्ती समस्त आचार्यों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त किया।

आचार्य भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र के छठ्ठे अध्याय में नाटक में रस निष्पत्ति का वर्णन करते हुए आचार्य भरतमुनि ने कहा है कि– "विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"[2] अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि (भावों) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

प्रस्तुत सूत्र में "संयोग"तथा "निष्पत्ति"का अर्थ आचार्य ने अलग–अलग तरीके से किया है, जिनमें "निष्पत्ति की व्याख्या करते हुए भरतमुनि ने स्वयं कहा है कि - यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति .... अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवनतीति।[3]

अर्थात् जैसे नाना व्यंजन, औषधि और द्रव्य के संयोग से (रसना में) रसनिष्पत्ति होती है, वैसे ही नाना भावों के उपगम से नाट्य या कला में रसनिष्पत्ति होती है। जेसे गुड़ादि द्रव्यों व्यंजनों ओर औषधियों से पाड्वादि (कटु, अम्ल, तिक्त, कषाय, क्षार, मधुर) रस निष्पन्न होते है, वैसे ही नानाभावोपगत से संयुक्त होकर स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं।

"संयोग" शब्द का अर्थ और भी शब्द स्पष्ट करते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि– "यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुजना .... स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति।"[4]

अर्थात जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचि पुरूष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविधभावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित, वाचिक, आंगिक तथा सात्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं।

आचार्य भरतमुनि ने अपने प्रसिद्ध सूत्र में विभिन्न भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति की बात तो कही है लेकिन होती किस प्रकासर है; इसकी उत्पत्ति "प्रेक्षकों" में होती है या "अभिनेता" में होती है या "पात्रों" में होती है इसका कहीं उल्लेख नहीं किया है। इसके अतिरिक्त भरत रस का आधार "स्थायी भाव" को मानते हैं लेकिन रस सूत्र में इसका कहीं उल्लेख नहीं किया हैं। इसी अस्पष्टता के कारण भरत के परवर्ती विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने तर्कों से ओर दर्शन का सहारा लेकर इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इसे वैज्ञानिकता की कसौटी पर खड़ा करने का प्रयास किया है। रस निष्पत्ति की व्याख्या करने में चार विद्वानों का मत उल्लेखनीय माना जाता है - (भट्टलोल्लट, आचार्यशंकुक, आचार्यभट्टनायक एवं आचार्य अभिनवगुप्त) इनमें प्रथम व्याख्याकार भट्टलोल्लट थे

जिनका मत उत्पत्तिवाद या आरोपवाद के नाम से जाना जाता है। इस निष्पत्ति की प्रक्रिया में भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद–

भट्टलोल्लट ने अपने द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत उत्पत्तिवाद के अन्तर्गत आचार्य भरतमुनि के रस निष्पत्ति विषयक सूत्र की विवेचना करते हुए कहाहै कि –

"विभावादिभि: संयोगोऽर्थात्स्थायिनस्ततो इसनिस्वति।..................स चोभयोरपि मुख्ययावृत्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसंधान बलात् इति।।[5]

गोविन्द ठक्कुर ने लोल्लट मत की व्याख्याप्रस्तुत करते हुए कहा है कि – "नटे तु तुल्यरूपतानुसंधानवशादारोत्यमाण: समाजिकनां चमत्कार हेतु:।।"[6]

काव्यप्रकाश के टीकाकार झलकीकरकृत आरोप की व्याख्या –

"तदुपतानुसंधानात् रामस्येव वेषविशेषवाग्विधायिनी नर्तके तत्कालं.........रामत्वारोपादिति सारबोधिनीकारो द्योतकारादय:।"[7]

यथ असत्यपि सर्वे सर्पतयावलोकितात्.........चमत्कारपर्यन्त्येवरसपदवीमधिरोहतीति।।– 8

अर्थात् उपर्युक्त मतों के आधार पर उत्पत्तिवाद के आचार्य भट्टलोल्लट का मानना है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव के सम्बन्ध से रस की उत्पत्ति होती है। इसकी स्थिति अनुकार्य (मूलपात्र) में होती है। अनुकार्य वह होता है, अभिनेता जिसका अभिनय करता है। अभिनेता अपने अभिनय कौशल से प्रेक्षकों (दर्शकों) को मूलपात्र होने का विश्वास दिलाते हैं। तत्पश्चात् प्रेक्षप अभिनेता के अभिनय कौशल से चमत्कृत होकर उसे मूलपात्र (अनुकार्य) समझ बैठते हैं और आनन्दित होते हैं।

इस सिद्धांत में "निष्पत्ति" का अर्थ "उत्पत्ति" से लिया गया है इसलिए इसे उत्पत्तिवाद कहा जाता है। भट्टलोल्लट ने वेदान्त दर्शन से प्रभावित होकर ऐसी व्याख्या की है जिसमें संसार को मिथ्या माना गया है। अध्यासिक ज्ञान इसका आधार है। यह ज्ञान उसे कहते हैं, जिसमें वस्तु के नही होने पर भी उसका ज्ञान होता है। जैसे रस्सी को देखकर सांप का ज्ञान होना या फिर सीप के टुकड़े से चांदी का ज्ञान होना आदि इसका कारण है। किसी गुण के समानता के कारण हम एक वस्तु का आरोप दूसरे पर कर देते हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार अभिनय के कारण हम मूल पात्र का आरोप अभिनेता पर कर देते हैं और आनन्दित होते हैं, इस आरोप की बात करने के चलते ही इस सिद्धांत को आरोवाद भी कहा जाता है।

इस सिद्धांत से कई प्रश्न उठे लेकिन मुख्य प्रश्न यह था कि भावों का अनुभव किले बिना ही सिर्फ चमत्कार के कारण प्रेक्षक आनन्दित कैसे हो सकता है यह असंभव स्थिति है। उत्पत्तिवाद में प्रेक्षकों को भावों से अलग मानकर उपेक्षित रखा गया जबकि वास्तव में रस का असली भोक्ता प्रेक्षक (दर्शक) ही होता है, इसलिए इस सिद्धांत को वैज्ञानिकता की कसौटी पर सफलता नहीं मिली।

रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में आचार्य शंकुक का मत (अनुमीतिवाद)

आचार्य भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद के विरोध में आचार्य शंकुक ने अनुमितिवाद दिया। इन्होंने अनुमितिवाद के आधार पर भरतमुनि के प्राद्धि सूत्र "रस निष्पत्ति" की व्याख्या करते हुये कहा है कि – "तस्मात् हेतुभिर्विभावारवै:....................कृत्रिमैरपि तथनभिमन्यमानैरनुकर्तृ स्थत्वेन............ किन्तु सम्यंमिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विक्षण चित्रतुरगादिन्यायेन, य: सुखी राम: असावयमिति प्रतीतिरतीति"।

अर्थात् शंकुक के अनुसार सामाजिक (दर्शक) जब रंगमंच पर किसी कुशल अभिनेता को अभिनय करते देखता है तब उसको वह "राम" ही समझलेता है। नट में राम की यह प्रतीति सम्यक मिथ्या, संशय एवं सादृश्य ज्ञान से भिन्न एवं विलक्षण है। वस्तुत: यह प्रतीति चित्र तुरंग–न्याय से होती है। जिस प्रकार घोड़े की चित्र को देखकर उसमें घोड़े की तत्काल विलक्षण प्रतीति होती है उसी प्रकार राम के उपस्थित ना होने पर भी राम का अभिनय करने वाले अभिनेता में सामाजिक (दर्शक) को राम की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार नटगत् उन कृत्रिम विभावादि को सामाजिक कृत्रिम नहीं समझता एवं उस नट में उक्त विभावादि के द्वारा रति आदि स्थायी भावों का अनुमान कर लेता है एवं अपनी वासना से वशीभूत होकर उस अनुमीयमान इत्यादि का श्रृंगारदि रस के रूप में आस्वादन करता है।

शंकुक की व्याख्या अनुमीति प्रधान न्याय सिद्धांत से प्रभावित है। धुम से अग्नि का ज्ञान तो सही है कितु धुम सदृश धुलया कुहासे से अग्नि का अनुमान किया जाना स्वीकार नही किया जा सकता है। साधन सही रहने पर ही साध्य का अनुमान होता है किन्तु विभावादि साधन को कृत्रिम मानते हैं फिर साध्य रस का अनुमान कैसे हो सकता है। अत: आलोचकों ने शंकुक के विचारों को महत्व नहीं दिया है। प्रभाकर भट्ट द्वारा शंकुक के मत का खण्डन से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इन्होंने कहा है कि – "नन्वेवं कृत्रिमाणां तेषां..................धूमत्वेन ज्ञाताद् धूलीपटलाक्षन्यनुमानवत्"।[10]

शंकुक की व्याख्या की विशेषता यह है कि इसमें सामाजिक के रसास्वादन का विवेचन किया है; इसमें न्यूवता यह है कि सामाजिक से रस साक्षात्कार के विषय में यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि अनुमान से होने वाला ज्ञान 'परोक्ष' होता है "साक्षात्कार" नही। अत: शंकुक के सिद्धांत को भी वैज्ञानिक की कसौटी पर सफलता नहीं मिली क्योंकि इनके मत की वास्तविक त्रुटि कृत्रिम विभावादि के द्वारा रस का अनुमान स्वीकार करने के कारण उपस्थित हुई।

रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में आचार्य भट्नायक का मत (भुक्तिवाद) – दर्शन और मनोवैज्ञानिक को संयुक्त करके काव्य और नाटक में सम्बन्ध स्थापित करने वाले सूक्ष्म मनौवैज्ञानिकता और मौलिकता के परिचायक भट्टनायक, सहृदय रसानुभूति कैसे करता है? इस जटिल प्रश्न को अपने पूर्ववर्तियों के उत्पत्ति, प्रतीति, अनुमिति एवं अभिव्यक्तिवाद का पर्चालोचन करते हुए स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्नायक के मत को उल्लिखित करते हुए कहा है कि –

"भट्नायकस्त्वाह रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। .... त्समात्, काव्ये.........निबिडनिजमोहसंकटता निवारण कारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मनाभिधातो, द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भावव्यमानो..................... सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मस्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यतइति।। [11]

अर्थात् भट्टनायक के अनसुर रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है बल्कि दर्शक रस का उपभोग करता है यानि की भूक्ति होती है। इसके लिए उन्होंने तीन शक्तियों की बात की है – अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व।

अभिधा शब्द शक्ति है, इसके माध्यम से दर्शक शब्दों संवादों का अर्थ ग्रहण करता है। भावकत्व में दर्शकों का अहमलुप्त हो जाता है फिर मंच पर के विशिष्ट पात्र उसे उसी रूप में सामान्य लगने लगते हैं। ऐसा विभावों के साधारणीकरण के चलते होता है। भोजकत्व में अहम् के लुप्त होने से दर्शकों के रजोगुण और तमोगुण का नाश हो जाता है, चित्तवृत्तियां शान्त हो जाती है और वह युद्ध सतोगुण के प्रभाव में आकर रस का उपभोग करता है।

इस तरह भट्टनायक का तात्पर्य है कि रस अगर कार्य है तो विभाव कारणा रस अगर लक्ष्य है तो विभाव उसका साधन, रस अगर भोज्य है तो विभाव भोजक।

अब यहीं एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या रस एक भौतिक पदार्थ है जो उसका उपभोग किया जाता है? भट्टनायक ने रसकी स्थिति प्रेक्षकों में माना है लेकिन निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति देते हुए रस को भौतिक पदार्थ बना दिया जबकि रस भौतिक पदार्थ है ही नहीं। अतः यह सिद्धांत भी वैज्ञानिकता के बहुत नजदीक जाकर भी वैज्ञानिक साबित नहीं हो सका।

आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित अभिनवगुप्त का रस विषयक निष्पत्ति मत

"लोक प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण..................... शत्रोरेवैते, न ममैवेते न शत्रोरेवैते न तटस्थचस्यैवेते. .... पानक रस न्यायेन चर्व्यमाणः पूर ईव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन्......... अलौलिक चम्त्कारकारी श्रृंगारादिको रसः। [12]

अर्थात आचार्य अभिनवगुप्त ने रस निष्पत्ति की व्याख्या बहुत ही सुन्दर ढंग से की है, जिसे अभिव्यक्तिवाद के नाम से अभिहित करते हैं। इनके अनुसार– लोक में रति आदि स्थायी भावों के कारण, कार्य एवं सहकारी ही काव्य में क्रमशः अलौकिक विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। नट के द्वारा अभिनित रामादि के चरित्रों में सहृदय को इस प्रकार तारात्म्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि वे विभावादि शत्रु के मेरे अथवा तटस्थ्य रूप या शत्रु के नही; मेरे नहीं या तटस्थ्य रूप से नहीं इत्यादि अवस्थाओं को ध्वस्थ कर देता है, यही साधारणीकरण है। यह उस प्रकार की अवस्था है कि अनुकार्य रामादि, अनुकर्त्ता नटादि और दर्शक सहृदय इन सबों को अपने से भिन्न नहीं मानते। इसका अनुभव पानक रस न्याय से इस प्रकार होता है कि अन्य सारी वस्तुएँ नष्ट हो जाती है और "ब्रहमास्वाद" का आस्वादन होने लगता है। अतः यही रत्यादि जो समाज के हृदय में वासनात्मक रूप से अवस्थित है, श्रृंगारादि रस के नाम से जाना जाता है।

आचार्य भरत सूत्र के अर्थ को अभिनवगुपत ने आत्मसात करते हुए कहा है कि– "तत्र लोक व्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकर्लि्दर्शने स्थाय्यात्म-परिचितवृत्त्यनुमानाभ्यासं...........अतएवलौकिक विभावादिव्यदेशभाग्मिः...........चर्वणातिरिक्तकालावलम्बि स्थायि.....................स्थायिविलक्षण एव रसः।"[13]

अर्थात् लोक में जो भावादि के कारण कार्य सहकारी कारण कहलाते है; वे ही काव्य के अन्तर्गत विभावादि व्यापारों के कारण अलौकिकत्व को प्राप्त होते हैं और विभावादि के नाम से अभिहित किये जाते है।

आचार्य अभिनवगुपत विभाव का कार्य विभावना अनुभाव का अनुभावना तथा संचारीभावों "समुपरंजन" मानते हैं। विभावना के द्वारा बीज भाव अंकुरित होता है। अनुभावना उसी भाव को अनुभव योग्य बना देते है और समुपरंजन के द्वारा वे पूर्णतया प्रकट कर दिये जाते हैं। प्रेक्षक की मानसिक स्थिति इन तीनों से प्रभावित होती रहती है। इसके फलस्परूप ही वासना रूप से स्थित प्रेक्षक के स्थायी भाव रसरूप में प्रकट अथवा व्यक्त हो जाते हैं। रस अभिव्यक्त होता है। निष्पत्ति का अर्थअभिव्यक्ति ही है।

अभिनवगुप्त ने अलंकारकों द्वारा स्वीकृत व्यंजना-व्यापार से ही रत्यादि की अभिव्यक्ति बतायी है। अतः यह मत सभी प्राचीन मतों से बढ़कर प्रमाणिक सिद्ध हुआ है एवं वैज्ञानिकता की कसौटी पर खड़ा उत्तर पाया है। इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति और "संयोगाद्" का अर्थ व्यंग्य-व्यंजक भाव के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

अभिनवगुप्त के रस निष्पत्ति सिद्धांत को पं. राज जगन्नाथ ने "उपनिषद" का उदाहरण देते हुये लिखा है " रसौवेसः" अर्थात् रस आनन्द रूप है। जिस प्रकार ढक्कन से ढ़का दीपक अभिव्यक्त नहीं हो पाता उसी प्रकार सहृदय के हृदय में विद्यमान रस अज्ञान के आवरण के कारण प्रकाशित नहीं हो पाता है, किन्तु जब यही आवरण नटादि के विभावादियों के द्वारा अनावृत हो जाता है तो रस स्वयं प्रकाशित हो जाता है यही अभिव्यक्तिवाद है।

आचार्यरामचन्द्र शुक्ल – आधुनिक हिन्दी रसवादी आचार्य रामचन्द्रशुक्ल से पूर्व के सभी आचार्यो ने विभावादि के संयोग को रस निष्पत्ति के लिए आवश्यक ही नही अनिवार्य ठहराया है, लेकिन शुक्ल इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। वे यह स्वीकारते हैं कि केवल विभाव या केवल अनुभाव के वर्णन द्वारा भी रसोत्पत्ति हो जाती है। कभी-कभी अलाम्बन रूप में वर्णित प्रकृति वर्णन मात्र से रस निष्पत्ति हो जाती है। उन्होंने अपने रस मिमांसा में प्रकृति दृश्यों या वर्णन से प्राप्त लोगों के हर्ष का सुन्दर वर्णन करते हुए कहा है कि – प्राकृतिक वर्णन केवल अंगरूप से ही हमारे भावों के आलम्बन नहीं है; स्वतंत्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिमपूर्वज रहे और अब भी मुनष्यजाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेमभाव पूर्व साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी

भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है। वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का अश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता या ढिंढोरा पिटना है; जो प्राकृतिक दृश्यों को केवलकामोद्दीपन की सामग्री समझते है उनकी रूचि भ्रष्ट हो गयी है और संस्कार सापेक्ष है। मैंने पहाड़ों पर या जंगलों घूमते समय बहुत से ऐसे साधु देखे हैं जो लहराते हुए हरे भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चांदी से ढलते हुए झरणों, चौकड़ी भरते हुए हिरणों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख मुग्ध हो गये है। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकुट के पर्वतों को नीलवर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकंठों को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं की ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है।" हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिए यह मानना पड़ेगा की उसके मूल में रतिभाव वर्तमान है और वह रतिभाव उन दृश्यों के प्रति है। [14]

रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में एक नई दिशा प्रदान करते हुए रामचन्द्र शुक्ल स्पष्ट उद्घोषणा की है कि– विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव की गिनती गिनाकर किसी प्रकार 'रस' की शर्त्त पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरूषार्थ मानने लगे तब से यह बात कुछ भूल सी चली की कवियों का मुख्य कार्य ऐसे विषय को सामने रखना है जो श्रोता के विभिन्न भावों के आलम्बन हो सके। सच पूछिये तो काव्य में अंकित सारे दृश्य श्रोता के भिन्न-भिन्न भावों के आलम्बन स्वरूप होते है। किसी पात्र को इतिहास, शोक, क्रोध आदि प्रकट करता हुआ दिखाने में ही रसपिरपाक मानना और यह समझना की श्रोता को पूरी रसानुभूति होगई, बुरा हुआ। श्रोता या पाठक को भी हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता है या सुनता है सो केवल दूसरों का हंसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिए ही नही, बल्किऐसे विषयों को सामने पाने के लिए जो स्वयं उसे हसाने, रूलाने, कुछ करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हो। राजा हरीशचन्द्र को श्मशान में रानी शैव्या से कफन मांगते हुए, रामजानकी को वनगमन के लिए निकलते हुए पढ़कर ही क्या लोग करूणार्द्र नहींहो जाते? उनकी करूणा क्या इस बात की अपेक्षा करती है कि कोई पात्र उन पृथ्यों पर शोक या दुःख शब्दों और चेष्टा द्वारा प्रकट करे।

इस प्रकार कवि द्वारा अंकित सम्पूर्ण दृश्य को श्रोता के भावों का आलम्बन मान लेने पर पूर्ण रस वहीं मानना पड़ेगा जहाँ आश्रय श्रोता के रति भाव का आलम्बन होगा और आलम्बन श्रोता के भी उन्ही भावों का आलम्बन होगा आश्रय के जिन भावों का है।[15]

रस निष्पत्ति पर विचार करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने कहा है कि सम्पूर्ण भाव सम्पदा रस-परिधि में ही आ जाती है। इस सन्दर्भ में अपना विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि शास्त्र में रस की रस की परिधि के अन्तर्गत रस रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भाव-संधि, भाव-शबलता और भाव-शान्ति का निर्भ्रान्त रूप से समावेश किया गया है। यहां रस से अभिप्राय है विभाव, अनुभाव एवं अभिचारी द्वारा परिपुष्ट स्थायी की निर्विघ्न प्रतीति अर्थात "रस" शब्द परिपाक की अवस्था का वाचक है। कहीं-कहीं रस के किसी एक या एकाधिक अवयव का स्पष्ट उल्लेख नहीं करता-परन्तु यहां उसका अध्याहार कर लिया जाता है और सहृदय की कल्पना स्वयं ही उसका आक्षेप कर लेती है।[16]

इस प्रक्रिया के सन्दर्भ में अपना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते करते हुए कहा है कि-रस में सहृदय का मन अनेक अवस्थाओं से होकर गुजरता है। स्थायी भाव के स्वरूप के अनुसार वह सुख या दुःख का अनुभव करते है, कल्पना के जागृत होने से उसमें एक प्रकार की स्वच्छन्दता की भावना का उदय होता है, उधर कला-तत्वों की अनुभूति सामंजस्य, आहलाद विस्मय आदि को जन्म देती है और अन्त में इन सबकी परिणति एक विशेष प्रकार की मनोदशा में होती है। जो निश्चय परितोष कारी होती है। कलात्मक सर्जना की प्रक्रिया समंजन की प्रक्रिया है। करूण प्रसंगों के आस्वादन में सहृदय की चित्तवृत्ति शोक त्रास आदि के अनुभव से कुछ क्षणों के लिए विक्षुब्ध होकर भी अंततः समंजित हो जाती है और चितवृति का समंजन निश्चय ही एक सुखद स्थिति है। इस प्रकार करूण रस का आस्वाद शोक, त्रास, आदि का आस्वाद न होकर उनकी कलात्मक परिणति का आस्वाद है - आस्वाद की इस प्रक्रिया में सहृदय को थोड़ा बहुत कटु अनुभव भी होता है, परन्तु परिणति आत्म-परितोष या सुख में ही होती है।[17]

इस प्रकार रस निष्पत्ति के सन्दर्भ मं प्रमुख संस्कृत एवं आधुनिक हिन्दी रसवादी आचार्यो के द्वारा रस प्रक्रिया सम्बन्धी प्रस्तुतीकरण के उपरान्त यह स्पष्ट लक्षित हो रहा है कि भारत ने रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा व्यक्त स्थायी भाव से होती है, के रूपमें की थी। इन विभाव, अनुभाव, संचारी की प्रतीति कार्य कारणों एवं सहकारी के रूप में की जाती है अर्थात रस के आनन्दानुभाव के समय ये तीनों अपनी पृथकता को छोड़कर सामुहिक रूप से संयोग पाकर स्थायी भाव को परमानक रसकी तरह रस रूप में परिणत कर देते हैं।

यह विवेचना निश्चित रूप से भरत द्वारा प्रस्तुत रस निष्पत्ति विषयक सूत्र के प्रभाव एवं विकास को अभिव्यंजित करता है। वस्तुतः भरत के रस निष्पति विषय धारणा का सही विकास उनके परवर्ती आचार्यो के विवेचनाओं में ही सिद्ध हो सका है, जिसमें हिन्दी रसवादी आचार्य रामचन्द्रशुक्ल एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर्त्ता डॉ. नगेन्द्र का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिसने भरत के दृष्टिकोण का यथा अवसर यथेष्ट विकास किया है।

सन्दर्भ सूची

1. नाट्यशास्त्र - आ. भरतमुनि, चो. सु.ग्र.-32, पृष्ठ संख्या 56
2. नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, व्याख्याकार अभिनवगुप्त, अध्याय-6, पृष्ठसं 274
3. नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, व्याख्याकार अभिनवगुप्त, अध्याय-6, पृष्ठसं 288-90
4. नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, व्याख्याकार अभिनवगुप्त, अध्याय-6, पृष्ठसं 274
5. नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, व्याख्याकार अभिनवगुप्त, अध्याय-6, पृष्ठसं 274
6. काव्य प्रदीप - गोविन्द ठक्कुर, आन्दाश्रम, संस्कृत ग्रन्थालय, पृष्ठ संख्या 88
7. काव्य प्रकाश - आचार्य मम्मट, पृष्ठ सं. 67-68

8. काव्य प्रकाश - आचार्य मम्मट, पृष्ठ सं. 67-68
9. नाट्यशास्त्र - व्याखकार अभिनवगुप्त, अध्याय-6, पृष्ठ 274
10. रस प्रदीप - प्रभाकर भट्ट - पृष्ठ-23
11. नाट्यशास्त्रम -व्या. अभिनवगुप्त, अ-6, पृष्ठ 278-79
12. काव्यप्रकाश - आ. मम्मट-चतुर्थ उयोत, पृष्ठ 256
13. नाट्यशास्त्र- व्या. अभिनवगुप्त, अ.-6, पृष्ठ-281-82
14. रसमीमांसा- आ. रामचन्द्र शुक्ल, सं.-विश्वनाथ प्र.मिश्र, ना. प्र.सभा, काशी संख्या 6, पृष्ठ संख्या 78
15. रसमीमांसा- आ. रामचन्द्र शुक्ल, सं.-विश्वनाथ प्र.मिश्र, ना. प्र.सभा, काशी संख्या 6, पृष्ठ संख्या 110-11

16,17 -रस सिद्धांत - डॉ. नगेन्द्र ने. प. हा. सं. 1995, पृष्ठ 317-18, पृष्ठ 110-111

असहयोग आन्दोलन में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका: बिहार के विशेष संदर्भ में

डॉ० मुकुल कुमार शर्मा

पीएच. डी. (इतिहास), जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

असहयोग आन्दोलन के समय सक्रिय हुई देशव्यापी गतिविधियों के प्रति जनमत का निर्धारण और निर्माण का कार्य वस्तुत: भारतीय पत्र-पत्रिकाओं ने ही किया। यहाँ बिहार के साथ-साथ अन्य प्रदेशों में प्रेस की स्थिति पर नजर डालना उपयुक्त होगा। यहाँ आन्दोलन के प्रति जनचेतना के विकास की पृष्ठभूमि के साथ-साथ उन परिस्थितियों जिनमें किसी प्रान्त में कम या अधिक दमनात्मक उपाय लागू किये गये और देश भर में समाचार पत्रों और सम्पादकों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में गाँधीजी के असाधारण प्रभाव का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है। 1912 ई. में बिहार एक अलग प्रांत बन गया। उस समय साप्ताहिक बिहारी पत्रिका एक दैनिक अखबार के रूप में प्रकाशित होने लगी। सच्चिदानंद सिन्हा के समझाने-बुझाने पर महेश्वर प्रसाद सिन्हा ने प्राध्यापकीय पेशा त्यागकर अखबार के संपादक बन गए। दैनिक बिहारी का पहला संस्करण 13 अप्रैल, 1912 ई. को प्रकाशित हुआ। महेश्वर प्रसाद को नए प्रांत के नए अखबार का पहला संपादक बनने का गौरव प्राप्त हुआ।[1] उन्होंने अपने अखबार द्वारा पटना में एक उच्च न्यायालय और एक विश्वविद्यालय खोलने की आवाज उठाई।

शीघ्र ही महेश्वर प्रसाद बिहार के उप-गर्वनर के कोपभाजन बन गए, क्योंकि उन्होंने चंपारण के किसानों का नीलहे बागवानों के अत्याचार के विरूद्ध पक्ष लिया था। 'बागवान मालिक और रैयत' नामक शीर्षक से उनके नौ आलेख अखबार में प्रकाशित हुए थे। उप-गर्वनर ने बनौली राज के प्रबंधक तथा बिहार और उड़ीसा समाचार पत्र लिमिटेड के मालिक को बुलाया और महेश्वर प्रसाद को संपादक पद से हटाने का आदेश दिया। महेश्वर प्रसाद ने पद छोड़ दिया और उनकी जगह उप-गर्वनर द्वारा मनोनीत अल्फ्रेड कनिंघम को संपादक नियुक्त किया गया, जो 1916 ई. तक अपने पद पर बने रहे। कनिंघम के बाद गोकुलानंद प्रसाद वर्मा संपादक बने, लेकिन सितम्बर, 1917 ई. से अखबारों का प्रकाशन बंद हो गया।

'दि बिहारी' अखबार के बंद होने पर प्रदेश का सार्वजनिक जीवन बीरान पड़ गया। बिहार के प्रबुद्ध लोगों ने एक स्वतंत्र राष्ट्रीय प्रेस की आवश्यकता महसूस की। सच्चिदानंद सिन्हा और पी. आर. दास ने इसकी पहल की। फलत: पटना के प्रबुद्ध जनों का हसन इमाम के आवास पर एक बैठक हुई जहाँ 'सर्चलाइट' नामक पत्र का प्रकाशन का निर्णय लिया गया। इसके प्रथम निदेशक मंडल में हसन इमाम (अध्यक्ष), मजहरूल हक, राय बहादुर, पूर्णेन्दु नारायण सिन्हा, खान बहादुर सरफराज हुसैन खां, पी. के. सेन, ब्रजकिशोर प्रसाद, परमेश्वर लाल, विश्णु प्रसाद, कुलवंत सहाय, गणेश सिंह, भुवनेश्वर मिश्र, नीरसु नारायण सिन्हा, राजेन्द्र प्रसाद और सच्चिदानंद सिन्हा थे। 15 जुलाई 1918 ई. से बिहार टाइम्स (1903 ई.) और बिहार (1906 ई.) को एक में मिलाकर सर्चलाइट का सप्ताह में दो बार प्रकाशन शुरू हुआ।[2] 15 जुलाई 1920 ई. से यह सप्ताह में तीन बार प्रकाशित होने लगा।

सन् 1918 में सच्चिदानन्द सिन्हा द्वारा स्थापित 'सर्चलाईट' के प्रकाशन के साथ बिहार में साम्प्रदायिक पत्रकारिता के स्थान पर राष्ट्रवादी पत्रकारिता का प्रारम्भ हुआ। सच्चिदानन्द सिन्हा, जो आधुनिक बिहार के जनक के रूप में प्रसिद्ध हैं, उत्तर-प्रदेश में भी पत्रकारिता के आरंभ से जुड़े हुए थे। 'सर्चलाईट' भविश्य की ओर अग्रसर राष्ट्रीय नीतियों का समर्थक था। इसके थोड़े आत्मसंयम के साथ अपने प्रतिष्ठित संस्थापक की आलोचना के फलस्वरूप 1930 में दरभंगा के महाराजाधिराज ने 'इंडियन नेशन' का प्रारंभ किया। इस साहसिक कार्य को डॉ. सिन्हा और बिहार के दुसरे लोगों का समर्थन प्राप्त था। दोनो का एक साथ प्रकाशन जारी रहा, हालाकि आजादी प्राप्त होने तक दोनो की भूमिका (सरकारी और विपक्ष के रूप में) में बदलाव होता रहा। 'सर्चलाईट' ने अपने हिन्दी प्रतिरूप 'प्रदीप' का प्रकाशन शुरू किया जबकि 'इण्डियन नेशन' ने 'आर्यावर्त' शुरू किया।

गाँधीजी के द्वारा चलाये गये आन्दोलनों की विशिष्टता तथा उनकी महत्ता को स्पष्ट करने के लिए साप्ताहिक 'मतवाला' की सम्पादकीय टिप्पणीयाँ दृष्टव्य है- ...... यदि आप स्वतंत्रता के अभिलाशी हैं, अपने देश में स्वराज्य की प्रतिष्ठा चाहते हैं तो तन-मन-धन से अपने नेता महात्मा गाँधी के आदेशों का पालन करना आरम्भ कीजिए।[3] इसमें आगे टिप्पणी करते हुए मतवाला ने कहा कि - "हमें बिना विलम्ब सत्याग्रह की शरण लेकर लीडरों को अपना पिछलगू बनने के लिए बाध्य करना चाहिए, क्योंकि गाँधीविहीन स्वराज्य यदि स्वर्ग से भी सुंदर हो तो वह नरक के समान त्याज्य है। उस एक महात्मा पर ही सत-सत स्वराज्य न्योछावर कर देने योग्य है। उसके बिना स्वराज्य का स्वप्न भी कैसा? वही हमारा प्रत्यक्ष स्वराज्य है। यदि वह हमारी आँखों के सामने बना रहे तो स्वराज्य चरणों पर लोटता रहेगा। जिस एक के बिना हमारा सबकुछ लवण-हीन व्यंजन हो रहा है उसी एक को पाकर हम अनेक एक हो सकते हैं।"[4] इस सम्पादकीय टिप्पणी से सुस्पष्ट है कि महात्मा गाँधी भारतीय जनमानस पर किस प्रकार छाए हुए थे।

सत्य और न्याय के सिद्धान्तों पर अडिग रहते हुए स्वाधीनता संग्राम में लगे रहने की प्रेरणा देती हुई 'वलिवेदी की ओर से' शीर्षक प्रताप के अभिलेख का कुछ अंश द्रष्टव्य है - हमारे सिरों पर प्रहार होते हों तो हों। बिजुलिया गिरती हों तो गिरे परन्तु हमारे व्यवहार में न गरमी आए और न शिथिलता ही।

हम डटे रहे वहीं पर जहाँ पर हम डटे हुए हैं। हमारी दृष्टि रहे उसी लक्ष्य पर जिस पर वह लगी हुई है। प्रहारों की मार से इनमें कोई अन्तर न पड़े और अन्त में, प्रहारों के करने वाले हाथ में शिथिलता आयेगी और उसके साथ ही निश्चय रूप से आएगी हमारे अन्तिम विजय की सूचना।[5]

'अमन या दमन' शीर्षक अभिलेख में स्वदेश की पंतिया नौकरशाही अत्याचारों पर तीखा प्रहार करती हैं, "हम जानते हैं कि इनके जहुर का मकसद क्या है? अगर इनका मकसद देश में अमन करना है तो क्या हम यह मान लें कि भारत की नौकरशाही की बुद्धि का खात्मा, इसके हरवे और हथियारों का दिवाला निकल गया।"[6] राष्ट्रीय संघर्ष के काल में राष्ट्र का उद्‌बोधन करते हुए 22 दिसम्बर 1921 के 'आज' के 'राजनीतिक स्थिति' शीर्षक अभिलेख में लिखा गया, "................. इस समय देश की राजनीतिक स्थिति जैसी भयवाह है वैसे ही आशाप्रद भी है। हम अपने विचित्र युद्ध के अंतिम मोर्चे पर पहुँच गये हैं। सरकार को यह मालूम हो गया है कि देश सर्वथा दृढ़ है। उसके साहस की कोई सीमा नहीं है। स्वराज्य युद्ध के महायज्ञ में वह अपने उत्तमोत्तम पुत्र-रत्न की आहुति देने के लिए तैयार है।

असहयोग आन्दोलन के इस दौर में आन्दोलन के प्रति ब्रिटिश सरकार के दमनात्मक नीति का स्पष्ट परिचय 17 नवम्बर 1921 को मिला जिस दिन युवराज प्रिंस ऑफ वेल्थ का भारत आगमन हुआ। उस दिन के उत्सवों के प्रभावपूर्ण वहिश्कार एवं देशव्यापी हड़ताल हेतु काँग्रेस द्वारा पारित प्रस्ताव का पत्र-पत्रिकाओं ने समर्थन करते हुए युवराज के स्वागत के वहिश्कार करने की आवश्यकता पर बल दिया। पत्रिका 'प्रभा' ने इस अवसर पर लिखा कि "वर्तमान परिस्थितियों में भारतीयों के लिए उनका स्वागत करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने से कम नहीं है।" प्रमुख समाचार पत्र हिन्दी दैनिक 'आज' ने तो युवराज के आगमन के दिन के अपने अंक में 'आज की हड़ताल' शीर्षक से काँग्रेस की सूचना प्रकाशित की थी जिसमें देशवासियों से उस दिन हड़ताल करने एवं युवराज के स्वागत का वहिश्कार करने की देशवासियों से अपील की गई थी। पत्र-पत्रिकाओं द्वारा वहिश्कार हेतु जनमत निर्माण का वातावरण पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। 17 नवम्बर को देशव्यापी हड़ताल एवं वहिश्कार के साथ ही विभिन्न स्थानों पर विदेशी वस्तुओं की होली जलाई गयी। बम्बई में युवराज के पर्दापण के दिन अर्थात् 17 नवम्बर से 21 नवम्बर तक भीशण दंगे हुये जिसमें अनेक लोगों की मृत्यु हुई और अनेक लोग घायल हुए। सरकारी अत्याचार का बम्बई में पाँच दिनों तक तांडव नृत्य होता रहा। 'आज' सहित सभी राष्ट्रवादी पत्रों ने सरकारी दमन की तीव्र शब्दों में निंदा की और सम्बद्ध समाचारों को आकर्शक शीर्षकों के साथ प्रकाशित किया। उधर पंजाब में भी पत्र-पत्रिकाओं ने राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए अग्रसर थी। सन् 1920 में लाला लाजपत राय पंजाब के भयानक हत्याकाण्ड से क्षुब्ध हुए, राष्ट्रीय सप्ताह में उन्होंने लाहौर से उर्दू का दैनिक 'वन्दे मातरम्' निकाला।

माखनलाल चतुर्वेदी का 'कर्मवीर' (1920) तो निकला ही गौरांगशाही के विरोध में था। जब वे घोशण पत्र दाखिल करने के लिए जिला दण्डाधिकारी मिथाइस के पास गए तब मिथाइस ने सवाल किया कि एक अंग्रेजी वीकली के होते हुए आप हिन्दी साप्ताहिक क्यों निकालना चाहते हैं? माखनलाल जी का जवाब था - "आपका अंग्रेजी पत्र तो दब्बू है, मैं वैसा पत्र नहीं निकालना चाहता हूँ। मैं ऐसा पत्र निकालना चाहूँगा कि ब्रिटिश शासन चलते-चलते रूक जाए।" सागर के पास रतौना में जब कसाईखाना खोलने का लायसेंस सरकार ने दे दिया, तब 'कर्मवीर' के प्रबल विराध के कारण हुकूमत को अपना कदम वापस लेना पड़ा था। प्रेस एक्ट के विरूद्ध 'कर्मवीर' ने 13 मार्च 1920 को अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा - "जब से प्रेस एक्ट पास हुआ है तब से प्राय: 350 छापेखानों और 300 समाचार पत्रों से छह लाख की जमानतें मांगी गई हैं। 500 से अधिक पुस्तकें जब्त की गई हैं और प्राय: 200 छापेखाने और 130 समाचार पत्र जमानत मांगी जाने के कारण प्रारम्भ नहीं हो पाए। ....सच्चा सुधार तभी हो सकता है जबकि भारतवासियों के नागरिक अधिकारों की पूर्ण रक्षा की घोशणा की जावें जिसमें वह वचन भी रहे कि छापेखाने स्वाधीन रहेंगे और छापेखानों या समाचार पत्रों की रजिस्ट्री के समय "कोई लाइसेंस या जमानत नहीं मांगी जाएगी।" 'कर्मवीर' पर राजद्रोह का आरोप लगाया गया और उससे जमानत भी मांगी गई जिसके कारण दो बार उसका प्रकाशन स्थगित करना पड़ा। जमानत राशि जमा करने के वह खिलाफ था। इन्दौर राज्य में 'कर्मवीर' पर प्रतिबंध लगाया गया था।[7]

असहयोग आन्दोलन के प्रभाव से दक्षिण के प्रान्त भी अछुते नहीं थे। सन् 1920 में जब गांधीजी ने अपना प्रथम असहयोग आंदोलन छेड़ा था तो मद्रास प्रेसिडेंसी में काँग्रेस को अपने लिए एक पत्र की आवश्यकता महसूस हुई। सामूहिक सहमति तथा अपने रूझानों के साथ हिंदू को काँग्रेस पार्टी के प्रत्यक्ष प्रभाव में आए बिना एक प्रगतिशील राष्ट्रवादी समाचार पत्र के रूप में कार्य करने की अनुमति दी गई। यह पहल टी-प्रकाशम (जो बाद में आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री बने) ने की थी जिन्होंने 1922 में स्वराज्य को प्रारंभ किया, जिसमें जी. वी. करूणानिधि, खास सुब्बा राव, के. रामा कोटिश्वरा राव, के. श्रीनिवासन तथा एन. एम. वरदाचारी उनके उत्साही सहयोगी थे। कुछ ही हफ्ते में इस पत्र की लोकप्रियता बढ़ गई। खास सुब्बा राव ने साउथ इंडिया जर्नलिस्ट में प्रकाशित अपने एक लेख में स्वराज्य त्वरित विकास तथा उसके बाद उसके पतन का वर्णन किया है।

भारतीय प्रेस जहाँ राष्ट्रीय चेतना के जागरण के माध्यम से लोगों को असहयोग आन्दोलन से जोड़ रही थी। वहीं भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की गतिविधियाँ महात्मा गाँधी के नेतृत्व में इस आन्दोलन को सफल बनाने में अग्रसर थी। गुजरात प्रान्तीय सम्मेलन काँग्रेस के विशेष अधिवेशन के लगभग एक महीना पूर्व ही बुलाया गया था, जिसमें अब्बास तैयबजी की अध्यक्षता में गाँधी जी ने असहयोग का प्रस्ताव प्रस्तुत किया और भारी बहुमत से वह स्वीकृत हुआ। बिहार में प्रान्तीय काँग्रेस समिति की एक बैठक 31 जुलाई को 'सर्चलाइट' कार्यालय में हुई। हाई कोर्ट के एक वकील श्री एस. सी. मित्र की अध्यक्षता में कई प्रस्तावों के साथ यह भी स्वीकृत हुआ : (1) यह समिति राष्ट्रीय शिकायतों को दूर करने तथा खिलाफत समस्या के समाधान के हेतु देश की वर्तमान स्थिति में असहयोग के सिद्धान्त को एकमात्र प्रभावी साधन के रूप में स्वीकार करती है। 2. एक समिति की नियुक्ति की जाए, जो श्री गाँधी द्वारा बताये गए असहयोग कार्यक्रम पर इस प्रान्त की स्थिति के विशेष संदर्भ में रिर्पोट दे। इस समिति में निम्नलिखित व्यक्ति रहें : सर्वश्री मजहरूल हक, हसन इमाम, गणेशदत्त सिंह, राजेन्द्र प्रसाद और अयोध्या प्रसाद। समिति 8 अगस्त तक अपनी रिर्पोट समर्पित कर दे एवं इस समिति की बैठक उस पर विचार करने के लिए 10 तारीख को होगी।" इस सभा में श्री हक, हसन इमाम और राजेन्द्र प्रसाद उपस्थित नहीं थे।

संदर्भ सूची

1. भारतीय पत्रकारिता का इतिहास - जे. नटराजन, प्रकाश विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2006
2. अर्द्धसरकारी पत्र संख्या 11, 28 जनवरी 1922 तिरहुत के आयुक्त को जिला मजिस्ट्रेट से,
3. वही 3. मुजफ्फरपुर के मजिस्ट्रेट, टी. ब्रिज का तिरहुत के आयुक्त को 30 मार्च 1922 का पत्र
4. दत्त के. के. - फ्रीडम मूवमेंट इन बिहार, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी खण्ड - 1, पृष्ठ सं. - 150-151
5. नारायण, महेश तथा सिन्हा सच्चिदानन्द - पार्टिशन ऑफ बंगाल और सेपरेशन ऑफ बिहार, बाँकीपुर 1906 पृष्ठ सं. -2
6. गुरूमुख निहाल सिंह, लैंडमार्क, इन इंडियन कन्स्टिच्यूशनल ऐंड नेशनल डेबलपमेंट, खंड-1, पृष्ठ 256 में उद्धृत, और भी ध्यातव्य घोश, द प्रेस एण्ड प्रेस लॉज इन इंडिया, पृष्ठ 39-40.
7. बिहार में पत्रकारिता का विकास, शिवेन्द्र नारायण, काँग्रेस अभिज्ञान ग्रन्थ, 1962 पृष्ठ-176

नूर मोहम्मद के काव्य दर्शन का विश्लेषण

डॉ० प्रदीप कुमार सिंह

अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, साठये महाविद्यालय (मुंबई विद्यापीठ), मुंबई-महाराष्ट्र

ईश्वरानुभूति को सामूहिक स्तर पर नहीं समझा जा सकता। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के ज्ञान की पृथक-पृथक अपनी सीमाएं होती हैं जो उसे ईश्वरानुभूति को समझने की शक्ति देती है। अगम्य, अगोचर, ब्रह्म (ईश्वर) का ज्ञान, गुरुख्रपा एवं व्यक्तिगत अनुभूतियों के तहत ही पाया जा सकता है। जिस मनुष्य को सही दिशा निर्दिष्ट नहीं होती, तब तक वह भवसागर में भटकता रहता है। इस दशा में वह अल्पज्ञानी असत्य को सत्य मान लेता है। सूफी साधक अपनी बहुमुखी चेतना को अंतर्मुखी बनाकर मारफत के विशेष लक्ष्य की ओर केंद्रित कर देने को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। अत: यहां हम, सूफी कवि नूर मोहम्मद के इसी चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उनकी दार्शनिक भावभूमि को समझने का प्रयास करेंगे। नूर मोहम्मद की दार्शनिक भावभूमि को समझने के लिए निम्न बिंदुओं पर विचार करेंगे :

जगत

नूर मोहम्मद की ख्रष्टि में परमात्मा सकल सृष्टि (जगत) का एकमात्र निर्माता है। सूरज, चाँद, सितारे, आसमान, जमीन सभी उसी के बनाए हुए हैं। वह दोनों लोकों का स्वामी एवं शासक है। उसने मानव को नेत्र दिए, जिससे वह सद्पथ को पहचान ले। जिह्वा दी, जिससे वह उसका गुणगान कर सके। दो कान दिए, जिससे भली प्रकार सुन सके। बुद्धि और ज्ञान दिया, जिससे परमेश्वर को पहचान सके। गगन की सुंदरता के लिए जहाँ उसने नक्षत्र बनाए वहीं उसने पृथ्वी की सुंदरता के लिए मनुष्य को सजाया संवारा और उसे सुंदर सांचे में ढाला जो अन्य सृष्टियों में सर्वोत्तम है। ईश्वर का स्वरूप गुप्त भी है प्रकट भी है। वह आदि और अंत दोनों है। वह स्वयं देखता और सुनता है। उसके जैसा कोई और नहीं। जमीन आसमान के मध्य जो कुछ है सब उसी की उपासना में विलीन है। मनुष्य का प्रत्येक अंग और कण- कण यदि रसना (जीभ) बन जाए फिर भी उसका गुणगान नहीं कर सकते चूँकि वह है ही इतना सर्वगुण संपन्न एवं सर्वशक्तिमान। वह इतना सौंदर्यशील है कि उसके रूप के प्रकाश से संपूर्ण जगत आलोकिक होता है। इस प्रकार कवि नूर मोहम्मद की ख्रष्टि में सृष्टि या जगत अगम एवं अगोचर है।

परमसत्ता का पूर्ण स्वातंत्रय

कवि नूर मोहम्मद का भी अन्य सूफी साधकों की भांति विचार था कि परमात्मा प्रत्येक ख्रष्टि से पूर्णत: स्वतंत्र है। उसने जब इस सृष्टि की रचना करनी चाही तो कुन अर्थात हो जाके दो अक्षरों काफ और नून के उच्चारण मात्र से संपूर्ण जगत को रच डाला।

वचन एक करतार निसारा।
भा ते हि वचन हुते संसारा।[1]
है जेहि नाद जगत यह फेरो।
मम सरोत वह नादन परो।।[2]

उसने (ईश्वर) जो कुछ भी लिख दिया वही घटित हो गया-

जो किछ अलख लिखा, सोड़ होत।।[3]

सारा जगत उसी की इच्छा का परिणाम है। प्रसिद्ध है एक बार दाउद पैगंबर ने ईश प्रार्थना करते हुए एक प्रश्न किया -

हे ईश्वर तूने सृष्टि क्यों पैदा की?

निस्पृह ईश्वर का आदेश हुआ-मैं एक छिपी हुई निधि था और मेरी इच्छा हुई कि मैं पहचाना जाऊँ। अत: मैंने सृष्टि की रचना की जिससे मैं पहचाना जा सकूँ। इस बात को सभी भारतीय-अभारतीय सूफी अपने चिंतन का मूलाधार मानते हैं। नूर मोहम्मद ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है।

सिरजनहार छिपा न रहा,
आपुहिं फेर चिन्हावै चाहा।
तब यह जग करतार संवारा,
चीन्ह पड़ा वह सिरजनहारा।।[4]

एक अन्य स्थान पर नूर मोहम्मद लिखते हैं-

सिरजनहार एक है, काहू जना न सोई।
आपन काहूं सोजना, वह समान नहिं कोई।।[5]

प्रेम और वियोग

ईश्वर के दो गुण जमाल (सौंदर्य) और जलाल (प्रताप) स्वीकार किए गए हैं। सौंदर्य ईश्वर की दया एवं करूणा को प्रदर्शित करता है, यही सदाचार एवं धर्मपरायणता का स्रोत है। जलाल उसकी शक्ति एवं प्रताप को प्रतीकायित करता है। उसका सौंदर्य वं प्रताप संसार की समस्त वस्तुओं में आभासित होता है। नूर मोहम्मद का विश्वास है कि यह प्रेम उसी के मन में जागता है जो अत्यधिक भाग्यशाली है-

बड़ी नीयति सो उपजत, हिरदएं दोह।[6]

यह प्रेम जब तक व्याप्त नहीं होता जब तक मनुष्य निंद्रावस्था में पड़ा रहता है एवं जब इसका प्रवेश होता है तो निंद्रा समाप्त होकर मनुष्य ईश्वर के प्रेम में पणकर उसी के जाप, स्मरण में तल्लीन हो जाता है-

जब लगि प्रेम न व्यापै, तब लगि स्वाप।
स्वाप जात जब आबत, पाढल आप।।[7]

यह प्रेम ईश्वर की दया से ही संपन्न होता है। जब किसी गुरु के माध्यम से परम सत्ता के सौंदर्य का बखान सुनने का मनुष्य को अवसर प्राप्त होता है-

कहा प्रेम है जाकर नाउं।
सुनि बखान उपनत मन ठाउं।।[8]

और यह प्रेम ऐसा है कि मनुष्य का आपा समाप्त करा देता है-

गड् अब हाथ सों आपा मोरी।
प्रेम करई दुति लीन्हेउ छोरी।।[9]

जब मनुष्य का आपा समाप्त हो जाता है तभी उसे सच्चे प्रेम की अनुभूति होती है-

जब मैं आपन नाम भुलाववुं।
तब वह नाम जपत रस पाववुं।।[10]

वह ईश्वर जो स्वयं स्वरूपानंद एवं प्रेममय है वह जब तक जीवात्मा अर्थात साधक को प्रेम का प्याला जो मदिरा स्वरूप है उसे न पिला दे तब तक प्रेम स्वरूपानंद पुज ब्रह्म को नहीं पहचान सकता-

प्रेम प्रेम मद प्याला दीन्हा।
तब जिउ सुखदाता कह चीन्ह।।[11]

प्रेम का यह बीज भी अनोखा है जो मनुष्य के अंत:करण रूपी भू पटल पर पड़ते ही योग रूपी वृक्ष को जन्म देता है और जो इसका स्वाद चख लेता है वह वियोग में पूरी तरह से घिर जाता है। वह तन रूपी पिंजड़े में मन रूपी पक्षी की तरह फड़फड़ाता रहता है और उसकी इच्छा होती है कि वह उसे पिंजड़े को तोड़कर अपने गन्तव्य तक पहुँच जाए -

वो ही बीज मन धरती परा,
जोग बिछ तासों अवतरा।
रहा न वापस जो निर्खाबा,
आपुटहि प्रेम दून होड़ आवा।
की वह बीज रहा मति केरा,
जेहि खाए बिछुतन दु:ख घेरा।
यह सरीर पिंजर मों,
रहत दुखारी प्रान।
चाहत उडै तौरि कै,
जाइ पहिल अस्थान।।[12]

स्पष्ट है कि वियोग का प्रेम के साथ एक घनिष्ठ संबंध है। जहाँ सौंदर्य है वहाँ प्रेम होता है और जहाँ प्रेम होता है वहाँ वियोग का अनुभव होना स्वाभाविक है। प्रेमाभिलाषी अपने प्रेमी के दर्शन के लिए दिन रात बेचौन रहता है और उसकी दिन की शांति एवं रात की नींद उड़ जाती है उस समय चिंतारूपी घी जीवात्मा रूपी दूध के भीतर से प्रकट होता है तब वह साधक (प्रेमीभक्त) को रात दिन के आंसू रूलाने के लिए बेचौन बना देती है-

चौन कहां चिंता जेहि जीउ,
जीउ दुग्ध मां चिंता घीउ।
जब चिंता तब नींद न आवै,
आये तब जब चिंता जावै।
प्रेमी पर चिंता कहं मारै,
मारै मन चाहुत जिय वारे।
हेरे प्रीतम मुख नहिं फेरै,
कौरे मित्र मित कह हेरै।
रोवे रकत आंसू नहिं सोवै,
दरसन लाग रात दिन रोवै।।[13]

प्रेम के वियोग की दशा केवल पुरुष को ही होती है ऐसा नहीं, प्रत्युत स्त्री को भी इसकी अनुभूति होती है। वह भी पुरुष की तरह अपने प्रेमी के स्मरण में रात दिन विरह के थपेड़े खाती रहती है।

वस्तुत: सूफियों की वियोग कल्पना इस ओर संकेत करती है कि प्रेम वियोगी के हृदय को अस्तित्व विहीनता की दशा में ला देता है जहाँ आकर वह लोकिकता से ऊपर उठकर अपने अलौकिक प्रेमी के स्मरण में एक नवीन जीवन का आनंद अनुभव करने लगता है।उपर से देखने पर विरह की यह दशा स्थूल लग सकती है परंतु सच तो यह है कि इस स्थिति में प्रेमी और प्रेमपात्र के बीच की दूरी में रिक्तता की गुंजाइश नहीं रहती। दूसरे शब्दों में कहे तो कह सकते हैं कि यह स्थिति जीवन की स्थूलता को सूक्ष्मता की ओर ले जानेवाली होती है और जब ऐसा होता है तो एक मंजिल पर पहुँचकर प्रेमी प्रेम और प्रेमपात्र के मध्य का अंतर समाप्त हो जाता है। इसी स्थिति से नारी को भी अपने प्रेम पात्र के प्रेम में वियोग से गुजरना पढ़ता है।

नूर मोहम्मद की इंद्रावती प्रेम समुद्र के बीच से गुजरती है तो वियोग की स्थिति उसे इतना झकझोर देती है कि वह प्रेमपात्र को पाने के लिए ऐसी व्यग्र, बेचौन एवं आकुल हो उठती है कि उसे तुरंत मिलन की तीब्रानुभूति होने लगती है। वह उस समय समस्त सांसारिक व्यस्तताओं, चिंताओं को विस्मृत कर देती है। उसका समस्त तन पीत (पीला) वर्ण में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार हर क्षण उसे अपने प्रेमी के नाम का जाप स्मरण करते रहना सूक्ष्म संयोग का संकेत करता है जो एकत्व की मंजिल तक पहुँचने के लिए दैवीय व्यग्रता को उद्भासित करता है-

प्रेम समुद्र बीच घन परी,
लहरें खाय घरी ओ घरी।
हिरदे भीतर करह पुकारा,
कहां हमारो खेवन हारा।
दिन व्याकुल निस नींद न सोवै,
व्याकुल होड़ होड़ मन रोवे।
काम के बान को बेझा भई,
बैराताइ भई तरूनई।
रहलि एक तो अलप अहारी,
औरौ तजा अहार पियारी।
छुट गएउ प्यारी सों,
सुख सोड़ब और खाब।
चित्त झकोरा सों पियर,
भएउ सो ललनि गुलाब।।[14]

प्रेम मार्ग की बाधक स्थितियाँ एवं आनंदानुभूति

हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रारंभ से लेकर अंत तक जितने भी कवि या कववयित्री हैं यदि उनके काव्य में प्रेम का स्फुरण हुआ है तो प्रेम मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का विवेचन भी मिलता है। कबीर से लेकर कुतुबन, मंझन, जायसी, मीरा, बोधा, घनानंद, आलम, ठाकुर इत्यादि का काव्य इस दृष्टि से पूर्णत: आप्लावित है। नूर मोहम्मद ने भी उन्हीं मान्यताओं एवं परंपराओं के अनुरूप प्रेम मार्ग को तलवार की तेज धार की तरह बताया है-

प्रेम पंथ है कठिन पियारी,
चोखी खरग चाह अधिकारी।[15]

इस राह पर चलने के लिए प्रेम पिपासी सूली पर चढ़ने में भी आनंद की परमानुभूति करता है। वास्तव में यह प्रेम की पीड़ा होती ही कुछ इस प्रकार की कि प्रेम का मतवाला वह प्याला हंसते-हंसते पी जाता है। जिस प्रकार मधुमक्खी के डंक का दुःख शहद मिल जाने के सुख के जैसा नहीं होता उसी प्रकार प्रेम की पीड़ा में भी प्रेमी को मिलनावस्था की तीव्र रसानुभूति होती है-

जाको प्रीत मित्र की पूरी,
भा मनसूर चढ़ा वह सूरी।
प्रीतम जाको चीरा ही या,
दीन्हा जो छिपा भा दिया।
बिन दुःख सहे मिलत सुख नाही,
मधु सुख अहै डंक दुःख माही।[16]

भक्त के हृदय पर एक बार प्रेम रूपी शर लग जाता है और भक्त को दुःख के स्थान पर परमानंद की अनुभूति होती है उस समय उसका संपूर्ण दुःख विषाद समाप्त हो जाता है-

जब सो मोहि संसारा मझारा,
मनस लागा बान तुम्हारा
डपजो हिपें सहस आनंदू,
गयेउ जगत को सब सुख दुंख्र
है हिय प्रेम बानकर घाउ,
किछ नीहि औशए पर चाउं।।[17]

नूर मोहम्मद की ख्रष्टि से प्रेमी वही है जो प्रेम पात्र के प्रेम में पणकर अपने प्राणों की बलि दे दे और एक प्रकार का अमरत्व प्राप्त कर ले-

प्रेमी ताको जानिये,
देड़ मित्र पर जान।
मित्र पंथ पर जिउ दिहें,
जुग-जुग जिये निदान।।[18]

जीव विचार

सूफियों के विचारानुसार जीव या मानव जीव परमेश्वर की सर्वोत्ख्रष्ठ, सुंदर सजीव रचना है। ईएवर ने सर्वप्रथम सर्वश्रेष्ठ जीवात्मा के रूप में हजरत मुहम्मद को रचा। वस्तुतः सूफी विचारक एवं दार्शनिक हकीकते मुहम्मदिया अर्थात मुहम्मद का वास्तविक रूप और नूरे मुहम्मदिया अर्थात मुहम्मद को ज्योतिर्मय रूप दोनों को एक ही मानते हैं। उनका अटल विश्वास है कि परमेश्वर ने मुहम्मद को प्रकाशपुंज (नूर) के रूप में बनाया था और उस नूर पर परमेश्वर स्वयं मोहित हो बैठा। फलस्वरूप मुहम्मद के लिए ही उसने समस्त भूतल और समग्र सृष्टि को रचा, इस बात का पता हमें हजरत मुहम्मद के प्रवचन से पता चलता है। जैसा कि-

लौलाकलमां खलकतुल अखलाक-अर्थात यदि मैं तुम्हें पैदा न करता तो सृष्टि की रचना न करता।।19

इस प्रकार मुहम्मद की रचना परमेश्वर की जात के अंदर से हुई है और उसने अपनी सत्ता के पूर्ण प्रकाश को सृष्टि तक पहुँचाना चाहा इसलिए हकीकते मुहम्मदिया के रूप में संसार में मुहम्मद रूपी पूर्ण मानव ने जन्म लिया। यही पूर्ण मानव जीवात्मा है जो परमेश्वर या परमात्मा के साथ एकत्व की पूर्ण अनुभूति प्राप्त करता है। इन विचारों को सभी हिंदी सूफियों ने ख्रढ़ आस्था के साथ प्रकट किया है। नूर मोहम्मद ने हजरत मुहम्मद की वंदना में उसी विचार को अभिव्यक्त किया है-

सुमिरो चेत धरे मन ठाउं,
अरबी नबी मुहम्मद नाउं।
जा कहं करता दरस देखाएउ,
कै किरपा सब भेद बताएउ।
जैहिक बखान अहै बो लाकां,
ताहि बखानत दोउ जग थाका।

अहद हुतें अहमद भएउ,
एक जोत दुउ नाउं।
भएउ जगत के कारने,
परेउ मोहम्मद नाउं।[20]

उपर्युक्त पंक्तियों में पैगंबर हजरत मुहम्मद की अनेक हदीसें प्रतीत होती हैं। दरस दिखाएउ के द्वारा मैराज के मौके पर परमेश्वर के दिव्य दर्शन करने का आभास कराता है और हजरत मुहम्मद साहब की इस हदीस को व्याख्यायित किया गया है कि मैंने मैराज की रात्रि में रब को एक परम सोंदर्य के रूप में देखा।[21] अहै-लोलाका के माध्यम से ऊपर उद्धृत दूसरी हदीस की ओर संकेत है-भेद बताएठउ कहकर अहद और अहमद के अभेदत्व को प्रकट किया गया है और अंत में इसी अभेदत्व को एक प्रकाश (नूक) के दो नामों के रूप में स्वीख्रत किया गया है और हजरत मुहम्मद साहब के कारण ही जगत की सृष्टि को उत्पन्न माना गया है। इस संदर्भ में सूफियों के बीच हजरत मुहम्मद साहब की यह हदीस अत्यंत लोकप्रिय है-मैं अहमद हूं बिना मीम का [22] प्रसिद्ध सूफी दार्शनिक महमूद शाबिस्तरी (मृत्यु 132..) ने इस विचार को इन शब्दों में प्रकट किया है-

ज अहमद ता अहद यक मीम फर्क अस्त।
जहां ने अंदर आं यक मीम गर्क अस्त।म।[23]

अर्थात अहमद और अहद के बीच केवल एक मीम का अंतर है और उसी मीम में संसार डूबा हुआ है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर सूफियों (नूर मोहम्मद) ने इस मीम अर्थात संसार को साधना के द्वारा हृदय से निकाल देने पर विशेष जोर दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नूर मोहम्मद पूर्ण मानव के रूप में हजरत मुहम्मद साहब को मानते हैं। उन्हें सृष्टि के व्यक्त रूपों में सर्वोत्तम मानते हैं, ईश्वरी गुणों का द्योतक मानते हैं और मानव रूप में ईश्वर से अलग नहीं मानते। इस संदर्भ में पं. रामपूजन तिवारी की टिप्पणी अत्यंत विचारणीय जान पड़ती है। वे लिखते हैं-उनकी सृष्टि में परमात्मा ने सर्वप्रथम आदि ज्योति (मुहम्मद) की रचना की और उस ज्योति को देखते ही परमात्मा को पसीना आ गया। उसी पसीने के सूक्ष्म तत्त्व से प्रथम आत्मा आदम का निर्माण हुआ और बाद में अन्य निम्न स्तर के जीवों की रचना हुई। 24 सूफियों ने इसी आधार पर जीवात्मा को परमात्मा का प्रतिबिंब माना है।

नूर मोहम्मद ने मनुष्य को ईएवर की सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हुए बताया है कि मनुष्य की श्रेष्ठता ईश्वरीय प्रेम के कारण ही है अन्यथा यह मनुष्य एक मुठी धूल के अलावा कुछ और नहीं है-

रहेउ आप माही एक मुंठी
मेंएउ प्रेम बल सौ बैकुंठी।
करता हित माटी संग हेरा,
नासा गरब पाव किय केरा।
मांटी भीतर रतन छिपावा,
या नित आदर तेहिक बढ़ावा।
रब उपर उत्तम जनम,
अलख मानव हि दीन्ह।
आपन थाती ताहि है,
थाती हारा कीन्ह।।[25]
या
आदि मनुष माटी सों साजा,
बहुर बुंद सोकुल उपराजा।
चालीस बालक ताकह दीन्हा,
सकल सृष्टि पर उत्तम कीन्हा।[26]

जीवन मुक्ति दर्शन

हजरत मुहम्मद साहब का कथन है कि अल्लाह के दोस्त कदापि मरते नहीं है। अपितु एक स्थान से दूसरे स्थान अर्थात एक घर से दूसरे घर को स्थानांतरिति होते हैं।[27]

सूफी साधकों ने ईश्वरीय मार्ग में मौत को फना और बका के दर्शन के माध्यम से अमरत्व की कुंजी के रूप में स्वीकार किया है। कुरआन की एक आयत के अनुसार लायक तलू फीसबी लिललाही अमवातन वल अहिया उन अर्थात जो लोग अल्लाह के रास्ते में मर मिटे, उन्हें मरा हुआ मत कहो अपितु वे जीवित हैं के माध्यम से जीवन मुक्ति या मरजीया के दर्शन को प्रस्तुत किया गया है। हजरत मुहम्मद साहब ने भी इसी के प्रकाश में एक अन्य हदीस में कहा है-मर जाओ इससे पहले कि तुम्हें मौत आये।[28]

भारतीय सूफियों को चिंतन की यह परंपरा कुरआन, हदीस और पूर्ववर्ती फारसी सूफी कवियों से मिली थी। बाबा बख्तियार काकी इस दर्शन में इतना यकीन रखते थे कि कव्वाल के द्वारा समा की एक महफिल में एक शेर सुनकर वह मूर्छित हो गए और चार दिन तक यही दशा रही। तदुपरांत उन्होंने अपने प्राण त्याग दिए। वह शेर इस तरह था-

कुश्तगाने खंजरे तस्लीम रा,
हर जमां अज जाने दीगर अस्त।

अर्थात आत्मार्पण की छुरी के नीचे जो लोग मौत पा लेते हैं उन्हें प्रतिपल अलौकिक नव्य जीवन मिलता है। कबीर ने इसी विचार को इस तरह व्यक्त किया है-

जीवन ते मरवो भलो,
जो मर जाने कोई।
मरने पहले जे मरे तो,
कल यज आवर होई।[29]

मलिक मुहम्मद जायसी ने जीवित रहते हुए मृत्यु की अवस्था को प्राप्त कर लेनेवालों को श्रेयस्कर मानते हुए साधु पुरुष के रूप में मान्यता दी है-

मुहम्मद जिय तई जिय,
मुए तिन पुरखन ते साधु।[30]

नूर मुहम्मद ने उपर्युक्त सभी विचारों को इंद्रावती में अनेक स्थानों पर व्यक्त किया है-

मुवा न कहो जियत है सोई,
अलख पंथ जो जुझा होई।
मित्र जो है करतार के,
मरत नहीं है सोई।
एक मंदिर तजि दूसरे,
गवनत है वे लोई।[31]
जो मर जिया सोभा मर जीया।
राखई मार बरख सैताई,
आपहि फेरि जियावै राखे,
जो मरि जिओ सो दोउ चोखे।[32]
जो करतार पथ पर जूझा,
ताकह चिर जीत हम बूझा।[33]
डूबै प्रेम सिंधु जो कोई,
मिर्तु समुद्र न बूढ़े सोई।[34]

संदर्भ

- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, स्तुति खण्ड, पृष्ठ 5
- नूर मोहम्मद : अनुराग बाँसुरी, सं. रामचंद्र शुक्ल तथा चंद्रबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2007 वि. मनभावनी खण्ड, पृष्ठ 134
- नूर मोहम्मद : अनुराग बाँसुरी, सं. रामचंद्र शुक्ल तथा चंद्रबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2007 वि., बैरागी खण्ड, पृष्ठ 198, छंद 4
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, स्तुति खण्ड, पृष्ठ 6, छंद 18
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, फुलवारी खण्ड, पृष्ठ 56, छंद 16
- नूर मोहम्मद : अनुराग बाँसुरी, सं. रामचंद्र शुक्ल तथा चंद्रबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2007 वि., बैरागी खण्ड, पृष्ठ 106, छंद 36
- वही, पृष्ठ 107, छंद 38

- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, स्वप्न खण्ड, पृष्ठ 19, छंद 4-5
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, जोगी खण्ड, पृष्ठ 23, छंद 1-4
- वही, पृष्ठ 25, छंद 5-10
- वही, पृष्ठ 26, छंद 3-11
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, पाती खण्ड, पृष्ठ 73, छंद 14
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, दर्शन खण्ड, पृष्ठ 79, छंद 4-2
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, मोती खण्ड, पृष्ठ 161, छंद 12
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, फाग खण्ड, पृष्ठ 37, छंद 12
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, सुवा खण्ड, पृष्ठ 87, छंद 16
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, मोती खण्ड, पृष्ठ 158, छंद 3
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, पाती खण्ड, पृष्ठ 72, छंद 13
- इबके माजा इकामा, पृष्ठ 203
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, स्तुति खण्ड, पृष्ठ 2, छंद 4
- इबके माजा इकामा, पृष्ठ 203
- अलखबानी : सै"यद अतहर अब्बास रिजवी एवं शैलेश जैदी, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1971, पृष्ठ 75
- वही, पृष्ठ 75
- वही, पृष्ठ 72-73
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, जोगा खण्ड, पृष्ठ 32, छंद 34
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, मोती खण्ड, पृष्ठ 161, छंद 12
- कुरआन : सूर 11, आयत-53
- इबके माजा इकामा, पृष्ठ 205
- कबीर ग्रंथावली : सं. श्याम सुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, साखी 388
- जायसी ग्रंथावली (पद्मावत) : सं. रामचंद्र शुक्ल ना. प्र. सभा, काशी सं. 2017 वि., फुलवारी खण्ड, पृष्ठ 54, छंद 8
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, मालिन खण्ड, पृष्ठ 4, छंद 18
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, फाग खण्ड, पृष्ठ 41, छंद 25
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, युद्ध खण्ड, पृष्ठ 97, छंद 4
- नूर मोहम्मद : इंद्रावती, मोती खण्ड, पृष्ठ 163, छंद 18 वि., फुलवारी खण्ड, पृष्ठ 54, छंद 8

समकालीन हिंदी ग़ज़ल

रेशमा मोहन काम्बले

Research Scholar, Dept. Of Hindi, Sathaye college, Mumbai University

स्वातंत्रोत्तर परिवेश में साहित्य में साठोत्तरी कविता, समकालीन कविता, आधुनिक कविता यह प्रवाह किसी आंदोलन के बिना आम आदमी की पीड़ा, व्यवस्था विरोध और मोहभंग को लेकर चलें है। हिंदी गजल में दुष्यंतकुमार का आगमन एक नई दिशा और प्रवाह लेकर हुआ। हिंदी गजल ने उनके पश्चात अधिक मात्रा में लेखन किया।

समकालीनता और हिंदी गजल

समकालीन शब्द को पर्यायी शब्द के रूप में समसामायिकता, तत्कालीनता और समप्रवृत्ति यह शब्द प्रयोग किए जाते है। मानक हिंदी शब्दकोश के अनुसार समकालीन के दो अर्थ बताएं गए है। 1. जो उसी काल में जीवित या वर्तमान रहा है, जिसमें कुछ और विशिष्ट लोग भी रहे है।जो उत्पत्ति, स्थिति के विचार से एक ही समय में हुए हो।[1]

रविंद्र भ्रमरजी ने समकालीन हिंदी कविता इस ग्रंथ में समकालीन को व्याख्यायित करते हुए लिखा है कि हिंदी में समकालीन अंग्रेजी के काण्टेपोरेटी शब्द का प्रयोग के रूप में प्रचलित है। काण्टेपोरेटी का अभिप्राय तीन अर्थो में समाहित है। 1. काल विशेष के संबंध में, 2. व्यक्ति विशेष के कालमापन के संबंध में, 3. साहित्य, समाज एवं प्रवृत्ति विशेष से संश्लिष्ट कालखंड।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक विशेषकाल में विशिष्ट साहित्य एवं साहित्य प्रवृत्ति के चलनेवाले प्रवाह को समकालीन साहित्य कहा जा सकता है।

डॉ. कल्याणचंद्र ने समकालीन कविता और काव्य ग्रंथ में समकालीनता को व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार वास्तव में समकालीनता का सीधा आशय है अपने समय के प्रति ईमानदार होना है जब वह संकटों की परवाह किए बिना समय के क्रूर यथार्थ से अभेद संबंध स्थापित कर लेता है और उसे निर्मम यथार्थ की ज्वाला में जलता हुआ अद्‌भूत साहस के साथ समय को चुनौती भी देता है।[3]

डॉ. नरेंद्र मोहन कविता की वैचारिक भूमिका इस ग्रंथ में समकालीनता का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते है कि समकालीन कविता का अर्थ किसी कालखण्ड या दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं को चित्रण, निरूपण या बयां भर नहीं है। बल्कि उनको ऐतिहासिक अर्थ में समझना उनके मूलस्त्रोत तक पहुंचना और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना हैं।[4] आम आदमी का दु:ख, दर्द, समस्या, विद्रोह, व्यवस्था विरोध, शोषण विरोध, संघर्ष करने की तीव्रता, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में स्वयं की जांच पड़ताल आदि प्रवृत्तियों से युक्त साहित्य समकालीनता के दायरे में आता है और हिंदी गजल में यह सब प्रवृत्तियां दुष्यंतकुमार से लेकर आज तक विद्यमान है। इसलिए दुष्यंतकुमार के साये में धूप गजलसंग्रह से हम समकालीन हिंदी गजल की काल गणना करेंगे। इसी समय में अन्य कुछ गजलकारों ने इसी के समान गजलें कही है परंतु जो बात दुष्यंतकुमार के गजलों में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए समकालीन हिंदी गजल की शुरुआत हम यही से मानकर चलेंगे।

स्वातंत्रोत्तर समय के बाद कविताओं को विभिन्न नाम दिए गए हैं। उसमें अकविता, नई कविता, बीट कविता, साठोत्तरी कविता, समकालीन कविता एवं आज की कविता आदि नाम दिखाई देते हैं। सन साठ के बाद की कविता को कई नाम दिए गए है, लेकिन इनमें से साठोत्तरी हिंदी कविता, समकालीन कविता और आज की कविता ये तीन नाम अधिक सार्थक व विचारणीय है। इन तीनों नामों में एक पहलु अधिक विचार करने योग्य है कि ये नाम किसी भी आंदोलन अथवा नारे से संबंधित नहीं हैं। बल्कि अन्य सभी नामकरण किसी न किसी आंदोलन अथवा नारे से संबंधित है।[5] सत्यतरू आम आदमी की तकलीफ, पीड़ा, विवशता, अबोधता, सहिश्णुता व उसके कटु अनुभवों की समग्रता में सृजनात्मक संस्पर्श देने में समकालीन कविता का काव्यमर्म निहित है।[6]

उपर्युक्त सभी तत्वों एवं विचारों के साथ गजल दुष्यंतकुमार से निकलकर आज तक समान रूप से न रूकते, न थकते बल्कि अधिक ऊपर उठने की कोशिश में प्रयासरत है। यहां से समकालीन हिंदी गजल कहकर हम अध्द्रन करेंगे। शमशेर बहादूर सिंह महत्वपूर्ण गजलकार हैं। उनका संक्षेप में परिचय देखना मुझे आवश्यक लगता है।

शमशेर बहादूर सिंह

शमशेर बहादूर सिंह शम्स हिंदी के पहले गजलकार है जिन्होंने हिंदी पाठकों को गजल से परिचित कराया है। गजल को हिंदी भाषा में लाने का श्रेय शमशेर को ही जाता है। क्योंकि दुष्यंतकुमार ने गजल लेखन की प्रेरणा शमशेर से ही ली है। शमशेर जी के घर में और शिक्षा भी उर्दू भाषा के माध्यम से हुई है। इस कारण उर्दू गजलकारों का प्रभाव उन पर अधिक दिखाई देता है।

शमशेरजी के गजलों में सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थबोध, प्रेम, सौंदर्य, पीड़ा और गरीबी इस प्रकार व्यक्त हुई है कि वह पाठकों को स्वयं के दुःख की अभिव्यक्ति प्रतित होती है। शमशेर की शायरी, तलाश की शायरी है। जीवन में, स्वप में, मित्रों में, प्रेम में एक तलाश एक तजस्सुम महसूस होती है।9 शमशेर की गजलों में जो विशिष्ट तत्व है वह है विनम्रता का भाव। उपमा, रूपक, प्रतीक उनकी गजलों में बहुत कम है। लेकिन भाषाई

लोच, नाद और कथ्यगत गहराई गजलों में उस्तादाना ढंग से शामिल की गई है।8 इस तरह शमशेर सिंह गजल के विकासपुरुष के रूप में हिंदी गजल में अवतरित हुए। उन्होंने गजल की जगह कविता को मुख्य विधा के रूप में स्वीकार है। जिसके कारण गजल अधिक लिखने में वे कामयाब नहीं हुए। अगर हिंदी कवियों में निगला, शमशेर और त्रिलोचनजी गजल को अपनी मुख्य विधा मानकर लिखते तो आज हिंदी गजल का भविष्य कुछ और होता। परंतु इनके योगदान से हिंदी गजल जरूर आगे बढ़ी है। शमशेरजी के कारण ही हमें दुष्यंतकुमार जैसे गजलकार मिले और हिंदी गजल समृद्ध हुई। यह उनका सबसे बड़ा योगदान है।

वही उम्र का एक पल कोई लाए
तड़पती हुई सी गजल कोई लाए।
हकीकत को लाए तखैयुल से बाहर
मेरी मुश्किलों का जो हल कोई लाए।[9]

हिंदी गजल का आधुनिक युग शुरू होता है, हिंदी गजल के विकास पुरुष दुष्यंतकुमार के साये में धूप से जिसका प्रकाशन 1975 में हुआ था। दुष्यंतकुमार हिंदी गजल के युग पुरुष है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

दुष्यंतकुमार

दुष्यंतकुमार का जन्म 1 दिसंबर, 1933 को बिजनौर जिले के राजपूर नवादा गांव में हुआ था। हिंदी गजल के युगपुरुष एवं हस्ताक्षर दुष्यंतकुमार ने गजल लेखन की प्रेरणा शमशेर बहादूर सिंह से ली थी। दुष्यंत की गजलों में निस्संदेह उस आम आदमी की संघर्षगाथा, सपनों का टूटना-जूड़ना, उम्मीदे, निराशा, संशय, दुख की छायाएं, अपने समय से टकराने की जुस्तजू और फिर किसी नए सपने के बनने-टूटने की अनुगूंज शामिल है। कुल मिलाकर देखे तो एक हिंदुस्तान है अपनी पूरी कायनात के साथ, रागात्मकता के साथ, जीवन राग गाता हिंदुस्तान।[10] उस पर उनका एक शेर द्रष्टव्य है-

कल नुमाइश में मिला था वो चीथड़े पहने हुए
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिंदुस्तान है।[11]

दुष्यंतकुमार की गजलें मन में एक दूंद्र पैदा करती है। उन्होंने आम आदमी की चेतना जागृत की है। वे भाषा, मुहावरा, मिजाज के अतिरिक्त इस बात को भी सांकेतिक रूप में व्यक्त करते हैं कि गजल कहने के लिए शिद्दत की तड़प, बेचौनी और बेकली जरूरी है।[12] दुष्यंतकुमार की गजलें संवाद करते हुए प्रेरणा एवं संबोधन करती है। उसमें आम आदमी की पीड़ा को व्यवस्था के खिलाफ लड़कर व्यवस्था से प्रश्न करती है। दुष्यंतकुमार की गजलें आम आदमी का आवाज बनती है। दुष्यंत एक मानवतावादी कवि है। उन्होंने समाज के दुःख को अपने मन में भरा था और उसे व्यक्त करने के लिए गजल का सार्थक उपयोग किया-वे कहते भी गै कि-

मुझमें रहते है करोड़ों लोग चुप कैसे रहूं
हर गजल अब सल्तनत के नाम एक बया है।[13]

इस प्रकार दुष्यंतकुमार ने गजल को नयी दिशा दी है। उनकी गजलें आज भी अपनी प्रभावात्मकता बनाएं हुई है। आज पुरी हिंदी गजल दुष्यंतकुमार से प्रभावित और अनुग्रहित है। दुष्यंतकुमार की गजलें मुहावरों में परिवर्तित हुई है। उनकी भाषा हिंदी और उर्दू का मिला-जुला रूप है। उसमें उन्होंने बोलचाल की हिंदी और उर्दू भाषा को अपनाया है। जिसके कारण उनकी गजलें सौंदर्य प्राप्कर सकी। अपने गजलों की भाषा के बारे में वे स्वयं कहते है, मैं उर्दू नहीं जानता, लेकिन इन शब्दों का प्रयोग यहां अज्ञानतावश नहीं, जानबुझकर किया गया है। यह कोई मुश्किल नहीं था कि शहर की जगह नगर लिखकर इस दोष से मुक्ति पा लूं, किंतु मैंने उर्दू शब्दों को उस रूप में इस्तेमाल किया है, जिस रूप में वे हिंदी में घुल-मिल गए हैं।[14] इस प्रकार आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग करते हुए दुष्यंतकुमार हिंदी गजल के सिंहासन पर विराजमान हैं।

दुष्यंतकुमार की गजलें मनौवैज्ञानिक ख्रष्टिकोन से भी सफल है। आधुनिक युग की भय, क्रोध, घुटन, संत्रास और इच्छाओं की अभिव्यक्ति भी उनके गजलों में मौजूद है। राजनीतिक समस्याओं एवं विसंगतियों को व्यक्त करने के लिए वे सिद्धहस्त थे। यह बात सर्वविदित है।

इस तरह दुष्यंतकुमार हिंदुस्तानी भाषा के प्रयोग से हिंदी-उर्दू भाषा की दूरी मिटाते है। और आनेवाले पीढ़ी के लिए प्रेरणा प्रदान करते है। आज हिंदू में गजल जिवीत है तो दुष्यंतकुमार के कारण क्योंकि वह फक्कड़पन और सीधी बात कहने का ढंग हिंदी को मिला है, जो विसगतियों पर प्रहार करने की तकनीक हिंदी को दी गई है। उसे कभी भूलाया नहीं जा सकता।

आज हिंदी में हजारों गजलकार गजलें लिख रहे है। उसमें से कुछ गजलकारों का संक्षिप्त परिचय हम करेंगे-जिन गजलकारों को समकालीन गजलकारों के रूप में हम अध्ययन करनेवाले है उन्हीं गजलकारों का परिचय यहां देना उपयुक्त लगता है। सभी गजलकारों का परिचय देना अशक्य प्रायरू है। इसलिए अनुसंधान के लिए नियुक्त गजलकारों का परिचय देखेंगे।

दुष्यंतकुमार के बाद हिंदी में ग़ज़ल लिखनेवाले अनेक ग़ज़लकार सामने आये है। उनमें कुछ स्तरीय ग़ज़लें कहनेवाले और कुछ महत्वपूर्ण ग़ज़लकार है। लेकिन कुछ ग़ज़लकार ऐसे भी है जिन्होंने कहने भर को ग़ज़लें कहीं है। उसमें नकली-सी अधिक मिलती है। और साथ ही कथ्य की द्रष्टि से भी स्तरहीन ग़ज़लें दिखाई देती है। अनुसंधान कार्य के लिए नियुक्त ग़ज़लकारों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है।

ग़ज़लकार चंद्रसेन विराट के अब तक ग्यारह ग़ज़लसंग्रह प्रकाशित हुए है। वे प्रथम गीतकार थे परंतु बाद में ग़ज़ल की ओर आकर्षित हुए। उनके ग़ज़लें हिंदी ग़ज़ल में महत्वपूर्ण योगदान देती है। डॉ. कुंअर बेचौन ने भी अब तक तेरह ग़ज़लसंग्रह लिखे है। उनकी ग़ज़लों में आम आदमी का दुख एवं पीड़ा को वाणी मिली है और साथ ही शोषण का विरोध करने का प्रयास भी उन्होंने किया है।

ग़ज़लकार जहीर कुरैशी भी प्रमुख ग़ज़लकारों में माने जाते है। उनके अब तक छह ग़ज़लसंग्रह प्रकाशित हुए है। जहीर की ग़ज़लों में सामाजिक विसंगतियों, विद्रुपताएं, आम आदमी की जिंदगी आदि का चित्रण दिखाई देता है। नए प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से उन्होंने आम आदमी की जिंदगी को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। उनकी भाषा सहज किंतु तिखापन लिए है। शिल्प का निर्वाह भी उन्होंने प्रामाणिकता के साथ किया है।15

ग़ज़लकार राजेश रेढी हिंदी के प्रतिनिधि एवं प्रसिद्ध ग़ज़लकार है। उन्होंने ग़ज़ल के शिल्प को पूरी चुस्ती के साथ प्रस्तुत कर अध्यात्मिक ग़ज़लें कहकर, मनोवैज्ञानिकता का आधार ग़ज़लों को दिया है। साथ ही उन्होंने समाज की स्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है।

गिरिराजशरण अग्रवाल हिंदी के प्रसिद्ध ग़ज़लकार है। उन्होंने सादगी भरी ग़ज़लें कहते हुए ग़ज़ल को मिजाज एवं तगज्जूल के साथ प्रस्तुत किया है। उनके अब तक सात ग़ज़ल संग्रह प्रकाशित है और वे अभी भी ग़ज़ल लेखन कर रहे हैं। ग़ज़लकार माधव कौशिक के अब तक दस ग़ज़ल संग्रह प्रकाशित है। वे ग़ज़ल को अपनी प्रमुख विधा मानते है। परंतु उन्होंने अन्य विधाओं में भी लेखन किया है। माधव कौशिक की ग़ज़लों में कही आक्रमकता तो कही फक्कड़पन है। कहीं-कहीं सादगी भरी ग़ज़लें भी कहीं है। माधव कौशिक की ग़ज़लों में नाद है और भावनाओं का आवेग। इसलिए ये ग़ज़ले बेचेन करती है। अपनी मौलिक अभिव्यक्ति की द्रष्टि से माधव की ग़ज़लें, अपने समय के अंतर्विरोधों, बिड़म्बनाओं और मामूली आदमी के दुख का जरूरी हस्तक्षेप प्रतित होती है।[16]

अशोक अंजुम हिंदी के प्रसिद्ध ग़ज़लकार है। उनके अब तक पांच ग़ज़ल संग्रह प्रकाशितहुए है। और उन्होंने विभिन्न ग़ज़लसंग्रहों का संपादन भी किया है। उन्होंने वर्तमान युग में आधुनिकता, होड़ और पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा के कारण होनेवाले परिवर्तनों, उपभोक्तावाद, अलगाव, अकेलापन, असत्य, छल फरेब, अएलीलता, हिंसा, स्वार्थ आदि को अपनी ग़ज़लों में चिंद्वित किया है।[17]

डॉ. उर्मिलेश हिंदी के प्रमुख ग़ज़लकारों में से एक है। उनके चार ग़ज़लसंग्रह प्रकाशित है और नित्यानंद तुषार जी ने डॉ. उर्मिलेश की चुनिंदा ग़ज़लें के रूप में एक प्रतिनिधि ग़ज़लों का ग़ज़लसंग्रह संपादित किया है।

ज्ञानप्रकाश विवेक जी हिंदी के प्रमुख ग़ज़लकार एवं ग़ज़ल समीक्षक के रूप में जाने का जाते है। उनके अब तक चार ग़ज़लसंग्रह और दो समीक्षात्मक ग्रंथ प्रकाशित है। वे विभिन्न ग़ज़ल विशेषांकों संपादन कर चुके है। उनकी ग़ज़लें शिल्प की द्रष्टि से परिपूर्ण है। सुल्तान अहमद भी ग़ज़ल के शिल्प के प्रति सजग एवं परिपूर्ण ग़ज़लकार है। उनके तीन ग़ज़लसंग्रह और दो ग़ज़ल पर समीक्षा ग्रंथ प्रकाशित है जो हिंदी ग़ज़लकारों को नई दिशा देने में समर्थ है। ग़ज़लकार अदम गोंडवी के केवल दो ही ग़ज़लसंग्रह प्रकाशित है परंतु दुष्यंतकुमार के बाद के हिंदी में सबसे महत्वपूर्ण ग़ज़लकार के रूप में जाने जाते है। उनकी ग़ज़लों में शिल्प की त्रुटियां अनेक विद्वानों ने निकाली है परंतु कथ्य के सशक्त रूप में उनकी ख्याति हिंदी ग़ज़लकारों में दुष्यंतकुमार के बाद ही दिखाई देती है। अदम की ग़ज़लें सर्वहारा वर्ग की लड़ाई खुद लड़ती है, कभी विधायक निवास में, कभी ग्रामप्रधान के घर, कभी वंचितों, पीडितों की गली में, कभी खेतों के बीच पगडण्डी पर अन्याय के विरुद्ध।[16] शलभ श्रीराम सिंह, नित्यानंद तुषार, मनोज सोनकर आदि ग़ज़लकारों को भी महत्वपूर्ण ग़ज़लकारों के रूप में जाना जाता है।

उपर्युक्त के ग़ज़लकारों के अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण ग़ज़लकारों ने हिंदी ग़ज़ल के विकास में योगदान दिया है। वैसे आज हजारों ग़ज़लकार हिंदी ग़ज़लें लिख रहे है परंतु सबका उल्लेख यहां नहीं कर सकेंगे। इसलिए कुछ ग़ज़लकारों के योगदान का और ग़ज़ल विकास का हम अध्ययन करेंगे।

गोपालदास सक्सेना नीरज ने ग़ज़ल को गितिका नाम दिया है। नीरज की गीतिकाएं, नीरज की पाती और कारवां गुजर गया इन तीन संग्रहों में उनकी ग़ज़लें प्रकाशित है। उनकी ग़ज़लों में राजनीतिक विसंगतियां, आतंकवाद, अलगाववाद, सांप्रदायिक विसंगति और सामाजिक स्थितियों का चित्रण हुआ है। सूर्यभानू गुप्त ने लोकप्रिय ग़ज़लें नामक स्तंभ चलाकर ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाया। उनकी ग़ज़लों में हिंदी का मिला जुला रूप एवं अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। रामावतार त्यागी का लहु के चंद कतरे भी महत्वपूर्ण ग़ज़लसंग्रह है। कथ्य एवं शिल्प का सुंदर समन्वय उनकी ग़ज़लों में है। रामकुमार कृषक की नीम की पत्तियां 1984 में प्रकाशित हुआ। राजनीति पर व्यंग्य उनका मुख्य विषय है। साथ ही समाज का यथार्थ चित्रण भी हुआ है। नाचिकेता, बल्लिसिंह चीमा, रामनारायण स्वामी आदि की ग़ज़लें भी महत्वपूर्ण मानी जाती है।

बेकल उत्साही ने हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में ग़ज़लें स्त्री है। उन्हें उर्दू में अधिक लोकप्रियता मिली है। शेरगंज गर्ग ने ग़ज़लें लिखते समय समाज एवं मनुष्य का संवाद स्थापित किया है। रामदरश मिश्र ने साहित्य की बहुत सारी विधाओं के साथ-साथ ग़ज़लें लिखी है। उनके ग़ज़लों में आम आदमी की पीड़ा सादगी से अभिव्यक्त होती है। हनुमंत नायडू और भवानीशंकर भी ग़ज़ल के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। उनके अलावा आर. पी. शर्मा, निश्तर खानकाही, मोहन सिंह ठाकुर, नरेश, नीर शबनम, वेदप्रकाश अमिताभ, अखिलेश अंजुम, अदम गौडवी, रमेश रंजक, राजकुमारी रश्मि, विनिता गुप्ता, मधुर नज्मी, हिंगोरानी, मधुरिमा सिंह, किती काले आदि महत्वपूर्ण ग़ज़लकारों ने ग़ज़ल का विकास किया और कर रहे हैं। यह परंपरा आगे बढ़ती रहे इसी विश्वास के साथ हम यहां रूकते है। ग़ज़ल पर चर्चा हो और अपनी कमजोरियों को दूर करते हुए हिंदी ग़ज़ल ऊंचे शिखर पर पहुंचे। यही कामना एवं सदिच्छा है। सभी महत्वपूर्ण ग़ज़लकारों का नामोल्लेख यहां करना संभव नहीं है। उनके प्रति साभार मुआफी मांगता हूं।

निष्कर्ष

ग़ज़ल उर्दू से हिंदी में आया एक लोकप्रिय विधा है। ग़ज़ल मूलतः अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है प्रेमिका से वार्तालाप या औरत से बातचीत। ग़ज़ल मूलतः अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है प्रेमिका से वार्तालाप या औरत से बातचीत। ग़ज़ल के व्युत्पत्ति विषयक अनेक विद्वानों का अलग-अलग मत है परंतु अरबी में लिखे कसीदे से संबंधित तश्बीब के टुकड़े से ग़ज़ल निर्माण हुई है। इसी बात से अधिक विद्वान सहमत है। उसके शब्दगत अर्थ आज अपना अर्थ बदलकर उसने विस्तृत रूप प्राप्त किया है।

ग़ज़ल को विभिन्न ग़ज़लकारों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। उर्दू ग़ज़लकार एवं हिंदी ग़ज़लकारों ने भी उसे अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। ग़ज़ल में दर्दभरी वेदना, प्रेम, मिलन, विरह, चाहत, कामना, दार्शनिकता, प्रिय की प्रशंसा, समाज की विभिन्न स्थितियां, हृदय की अनुभूति, जीवन की अनुभूति, जिंदगी से रूबरी होनेवाली और अंधकार में टहलती हुई चिंगारी होती है। ग़ज़ल अपनी भाषा, भाव, उपमाएं, प्रतीक, बिम्ब के साथ ही रदीफ, काफिया, छंद, मतला, मकता को लिए हुए एक लयात्मक एवं गेयात्मक, मुक्तक काव्य की एक विधा है। उसका अपना एक अलग शिल्प विधान है। विषय एवं संरचना दोनों को समान महत्व देनेवाली सरस एवं प्रभावशाली काव्य विधा है। जिसमें छद की अनिवार्यता भी है। ग़ज़ल की सर्वमान्य व्याख्या इस तरह कह सकते है।

ग़ज़ल के छंद को समझने के लिए रूक्न, अर्कान, वज्न, तक्तीअ, सबब, बतद, फासला, अज्जा-ए-रूक्कन को समझना आवश्यक है।

ग़ज़ल के विभिन्न गुण होते है, जिनके कारण वह आज तक लोकप्रियता के शिखर पर विराजमान है। उसमें कल्पना, तीव्र भावप्रवणता, गहरा अनुभव, प्रेमाभिव्यक्ति, चित्रात्मकता, लोच, विषय विस्तार, सौंदर्यवर्णन, प्रेरणा, अध्यात्म एवं पाखंड का विरोध, स्वाभिमान, पुरुषार्थ, समाज दुख के साथ प्रिय का दुःख, संक्षिप्तता, सांकेतिकता एवं अर्थ की विभिन्नता आदि गुणों की आवश्यकता होती है। तभी कहीं जाकर ग़ज़ल अपना प्रभाव निर्माण करती है। साथ ही कुछ दोष ग़ज़ल में अक्सर आ जाते हैं। उनसे बचकर ही ग़ज़ल का लेखन होना आवश्यक है। रदीफ, काफिया और मतले के साथ-साथ, शुतुरगुरबा, लिंग, वचन, न्युनपदत्व, कर्ता, कर्म, क्रियापद का गलत प्रयोग, क्लिष्टत्व, अर्थहीनता आदि प्रकार के दोषों से ग़ज़लकारों को संभलकर रहना चाहिए। ग़ज़ल के मुकम्मिल ग़ज़ल, मुसलसल ग़ज़ल, कत्आबंद, बेमतला ग़ज़ल, बेमक्ता ग़ज़ल आदि प्रमुख प्रकार है। अक्सर मुकम्मिल ग़ज़ल लेखन अश्विक मात्रा में हुआ है। वहीं लोकप्रिय हुआ है।

ग़ज़ल का विकास मुख्यतः अरब में शुरू होते हुए ईरान में फारसी भाषा में हुआ है। फारसी ग़ज़ल ने अरबी ग़ज़ल से अधिक विकास किया है। जहां से वह उर्दू भाषा में कहीं जाने लगी। अमीर खुसरों को प्रथम ग़ज़लकार माना जाता है। जिन्होंने कुछ ग़ज़लें कही है। जिसमें फारसी, फारसी और हिंदी भाषा के मिले जुले रूप में कहीं है। कुली मोहम्मद कुतुबशाह का दीवान सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ इसीलिए उन्हें प्रथम दौर के प्रथम ग़ज़लकार माना जाता है। जिनका समय (1518-1611) का है। इनके समय में वजही, नुसरती, वली, सिराज आदि प्रमुख ग़ज़लकारों ने ग़ज़लें कही है। यह धारा विकसित होते हुए बहती रही उसमें तकी मीर और गालिब ने चार चांद लगा दिए। बाद में आधुनिक काल में इकबाल, फिराख गोरखपुरी, अहमद फैज ने ग़ज़ल को आम आदमी के साथ जोड़कर उसके विकास में योगदान दिया। आज भी उर्दू में ग़ज़ल कहनेवाले अनेक ग़ज़लकार है। जो ग़ज़ल की लोकप्रियता बढ़ाने में एवं विकास में योगदान दे रहे हैं। हिंदी ग़ज़ल के विकास में अमीर खुसरों के पश्चात कबीर की ग़ज़लों का उल्लेख किया जाता है। भक्तिकाल में कुछ संत कवियों ने इस शिल्प में रचनाएं लिखी है। भारतेंदु के पूर्व कुछ ग़ज़लें जरूर कही है परंतु वह बहुत ही कम मात्रा में मिलती है। भारतेंदु ने स्वयं रसा उपनाम से ग़ज़लें कही है। उनके समकालीन कवियों ने ग़ज़ल में जरूर हाथ मारा है। साथ ही छायावादी कवियों ने भी ग़ज़लें कहीं है परंतु निराला के बेला संग्रह की ग़ज़लों में जो कथ्य एवं विषय वैविध्य है उसने ग़ज़लियत एवं मिजाज का ध्यान रखा है। उनके पश्चात अन्य कवियों ने भी ग़ज़लें कहने का प्रयास किया है। परंतु त्रिलोचन, शमशेर बहादूर सिंह और बलवीर सिंह रंग इनकी ग़ज़लों ने हिंदी ग़ज़ल के लिए जो जमीन तैयार की है। उसी के बलबूते पर दुष्यंतकुमार जैसे

ग़ज़लकार निर्माण हुए है। वे शमशेर जी से ही प्रेरणा लेकर हिंदी में आये थे। वहीं से समकालीन हिंदी ग़ज़ल शुरू होती है। और यह हिंदी ग़ज़ल की परंपरा आज बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त कर रही है। ग़ज़ल उसमें जरूर सफल हो जाएगी ऐसा मुझे विश्वास है।

संदर्भ सूची

- मानक हिंदी कोश, रामचंद्र वर्मा, पृष्ठ क्र. 278
- समकालीन हिंदी कविता, रविद्र भ्रमर, पृष्ठ क्र. 19
- समकालीन कविता और काव्य, कल्याणचंद्र, पृष्ठ क्र. 12
- कविता की वैचारिक भूमिका, नरेंद्र मोहन, पृष्ठ क्र. 23
- समकालीन कविता में ग्रामीण बोध, डॉ. शर्मा, पृ. क्र. 15
- वही, पृष्ठ क्र. 19
- हिंदी गजल की विकास यात्रा, ज्ञानप्रकाश विवेक, पृष्ठ क्र. 65
- वही, पृष्ठ क्र. 66
- वही, पृष्ठ क्र. 64

- वही, पृष्ठ क्र. 74
- साये में धूप, दुष्यंतकुमार, पृष्ठ क्र. 57
- हिंदी गजल की विकास यात्रा, ज्ञानप्रकाश विवेक, पृष्ठ क्र. 74
- साये में धूप, दुष्यंतकुमार, पृष्ठ क्र. 37
- साये में धूप, दुष्यंतकुमार, भूमिका से उद्धृत
- साठोत्तरी हिंदी गजल, मधु खराटे, पृष्ठ क्र. 63
- हिंदी गजल की विकास यात्रा, ज्ञानप्रकाश विवेक, पृष्ठ क्र. 170
- रोशनी का घट, जितेंद्र जौहर, पृष्ठ क्र. 77

गोरखा शासन काल में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का ऐतिहासिक अध्ययन (1804-1815 ई०) : गढ़वाल के विशेष सन्दर्भ में

सत्येन्द्र धर्म्वाण

शोध छात्र, इतिहास विभाग, हे0न0ब0 गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढवाल। सत्येन्द्र धर्म्वाण बृव भुवनेष्वर प्रसाद पुरी,
निकट श्री गुरूरामराय पब्लिक स्कूल कमलेश्वर, श्रीनगर गढ़वाल, जिला पौड़ी गढ़वाल, पिन-246174, उत्तराखण्ड

देवेश सिंह गर्ब्याल

देवेश सिंह गर्ब्याल, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, सन्त नारायण स्वामी राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय नारायणनगर,
जिला पिथौरागढ़, पिन-242550, उत्तराखण्ड

सारांश

किसी भी राज्य की स्थापना का मूल उद्देश्य राज्य में न्याय एवं शान्ति व्यवस्था स्थापित करना होता है। इसके निमित्त शासक वर्ग राज्य में दण्ड का विधान करता है। गढ़वाल में 19वीं सदी के आरम्भिक दशक में गोरखा शासकों का शासन रहा। गोरखा शासकों ने न्याय को राज्य की आय के साधन रूप में प्रयोग किया तथा न्याय के नाम पर दोनों पक्षों (वादी तथा प्रतिवादी) से धन वसूलने का कार्य किया। ऐसी स्थिति में उचित न्याय की सम्भावना करना बेईमानी थी। गोरखा शासन आतंक का रूप था अधिकांश जनता इससे त्रस्त होकर गांव छोड़कर जंगलों में पलायन कर जाती थी। गोरखाओं की दण्ड व्यवस्था बहुत क्रूर और अमानवीय थी। दण्ड की सजा कठोर होने के कारण लोग न्यायलय कूच करने से डरते थे। दण्ड का तरीका अवैज्ञानिक था। सजाए बहुत कष्टप्रद होती थी साथ में जुर्माने की राशि भी चुकानी होती थी। जुर्माने की राशि चुकाने में असमर्थ होने पर उक्त व्यक्ति की निजी एवं पैतृक सम्पति के साथ-साथ अभियुक्त के बच्चों तथा महिलाओं को भी नीलाम कर जुर्माने की राशि प्राप्त की जाती थी।

इसी प्ररिपेक्ष्य में प्रस्तुत शोध-पत्र में गढ़वाल में गोरखा शासन के अर्न्तगत न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का विशिष्ट अध्ययन करने का प्रयास शोधार्थी द्वारा किया जाएगा।

मुख्य शब्द : गोरखा शासन, न्याय, दण्ड, अराजकता, गोरख्याणी, विचारी, दीप, भारादारों।

राज्य वह संगठित इकाई होती है जो किसी शासन के अधीन होकर मानव को समृद्धशाली बनाती है। भारतीय दर्शनान्तर्गत मनुस्मृति[1], महाभारत[2] व अग्निपुराण[3] में राज्य के सात अनिवार्य अंग बताए गए हैं। कौटिल्य ने भी अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र[4] में सप्तांग अर्थात् सात अनिवार्य अवयवों (तत्वों) स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र का उल्लेख किया है। राज्य की उत्पति के सिद्धान्त से स्पष्ट होता है कि न्याय की स्थापना के उद्देश्य से ही राज्य की उत्पति हुई है। इस अनुबंध सिद्धान्त का प्रथम स्पष्ट और विस्तृत प्रतिपादन बौद्ध ग्रंथ दीर्घनिकाय से प्राप्त होता है।[5] ऐसा ही विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है, जिसमें कहा गया है कि अराजक परिस्थितियों में लोगों ने अपना राजा चुना है और वचन दिया है कि वे अपने सोने के अंश में से कुछ अंश देने के अतिरिक्त अनाज का छठवां भाग और विक्रय वस्तुओं का दसवां भाग कर के रूप में चुकाएंगे। अर्थशास्त्र में राजा को छूट दी गई है कि वह कानून बना सकता है साथ ही यह बात कही गयी है कि राजा ऐसा कानून नहीं बना सकता जो धर्म के विरूद्ध हो और राजा को स्वेच्छाचारी बनाये। पुत्र तथा शत्रु को उनके अपराध के अनुसार राजा द्वारा समान रूप से दण्ड देने की बात कही गयी है।[6] मनु ने न्याय व्यवस्था की शरण में जाने या मुकदमों के 18 कारण बताये हैं[7] यथा: ऋण एवं धरोहर का भुगतान न करना, बिना स्वामित्व के विक्रय करना, साझीदारों के सम्बन्ध में गड़बड़ी हो जाना, दान दी गई वस्तु को पुन: वापिस लेना, पारिश्रमिक का भुगतान न करना, समझौतों को भंग करना, क्रय-विक्रय की व्यवस्था का उल्लंघन करना, स्वामी तथा भृत्य के बीच विवाद पैदा होना, सीमा सम्बन्धी अड़चन, किसी को मारना, किसी का अपमान करना, चोरी करना, हिंसा तथा व्यभिचार करना, वैयक्तिक कर्त्तव्यों को न निभाना, पैतृक सम्पति सम्बन्धी विवाद, जुआ तथा पासा खेलना।

अत: स्पष्ट है कि उचित न्याय व्यवस्था बनाए रखने के लिए ही राज्य और राजपद स्थापित हुए। प्राचीन काल से ही शासक तथा न्याय एक दूसरे के अभिन्न अंग तथा पूरक रहे हैं; बिना उचित न्याय के अराजकता दूर नहीं हो सकती थी। गढ़वाल में गोरखा शासकों के हाथों 14 मई 1804 ई0 को प्रद्युम्नशाह के पराजय के उपरांत गढ़नरेश अपना राज्य खो बैठे और गढ़वाल में गोरखा शासन स्थापित हुआ। इस क्रूर शासन को गढ़वाल में स्थानीय भाषा में 'गोरख्याणी'

कहा जाता है। 1815 ई0 में सिंगोली की संधि के उपरांत गोरखा शासन का अंत हुआ। इस अल्पकालीन शासन काल में गोरखा शासकों ने जो न्याय एवं दण्ड प्रक्रिया लागू की वह बहुत कठोर और धनलोलुपता पर आधारित थी। अत: प्रस्तुत शोध पत्र में गोरखा शासन काल के दौरान न्याय तथा दण्ड प्रणाली का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

गोरखा शासन काल में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था : मध्य हिमालय में स्थित गढ़वाल पर गोरखा शासन काल में न्याय की आड़ में प्रजा का आर्थिक शोशण किया गया तथा उनका न्याय, न्याय न होकर मात्र धन प्राप्ति का एक साधन बन गया। गोरखाओं के अत्याचारी शासन के कारण लोग गांवों से पलायन करके जंगलों अथवा अन्य स्थानों पर शरण लेते थे, जिसका राज्य की कृशि व्यवस्था पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा। प्राचीन काल से ही न्याय व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्यक्ष रूप से कुछ न कुछ आय राज्य को प्राप्त होती थी, चाहे वह दण्ड स्वरूप हो या भेंट। इस काल में न्याय व्यवस्था का दुरूपयोग हुआ। गोरखा शासकों ने गढ़वाल को तीन तहसीलों श्रीनगर, लंगूरगढ़ तथा चांदपुर में न्याय व्यवस्था हेतु तीन न्यायालयों की स्थापना की गई थी, जो कि 'विचारी अदालथ' (अदालत) कहलाती थी।[8] हौजसन के अनुसार अदालत में एक विचारी (न्यायधीश) रहता था, जिसकी सहायता के लिए निम्न सैन्याधिकारी और सैनिक हुआ करते थे[9]-

कारदार - 1
जमादार - 1
अमलदार - 2
मेहजर - 1
हवालदार - 2
सिपाही - 40

चितरंजक नेपाली के अनुसार कचहरी कार्य करने वाले 7 व्यक्ति थे जिन्हे निम्न राशियां वेतन के रूप में दी जाती थी।[10]

क्र0सं0	कर्मचारी	संख्या	वार्षिक व्यय (रूपये में)
1	विचारी	2	700/-
2	बहीदार (लेखक)	2	288/-
3	तहवीलदार	2	300/-
4	टहलुवा (चपरासी)	1	36/-

विचारी (न्यायधीश) : विचारी या न्यायधीश से निश्पक्ष न्याय 'जस्तों को तस्तो' (जैसा को तैसा), बिना लोभ-मोह के, मोलाहिजा (बिना किसी प्रभाव के) काम करने की अपेक्षा की जाती थी। मुख्य तीन अदालतों के अतिरिक्त फौजदार अपनी फौजदारी के प्रदेश में दीवानी तथा फौजदारी के विवादों का निर्णय स्वयं करता था।[11] विभिन्न फौजदार अपनी अनुपस्थिति में अपने सहायकों को न्याय करने का दायित्व सौंप देते थे, जो कि विचारी कहलाते थे।

अपराधें की जांच : वादी को अदालत में किसी प्रकार से लिखित आवेदन-पत्र देने की आवश्यकता नहीं थी। फौजदार या विचारी के पास मौखिक निवेदन के आधार पर ही जांच कार्य आरम्भ हो जाता था। वादी व प्रतिवादी दोनों को अदालत में उपस्थित होना पड़ता था। किसी भी पक्ष की ओर से वकील या मुख्तार को उपस्थित होने तथा बहस करने की अनुमति नही थी।[12] वादी, प्रतिवादी तथा साक्षियों से मौखिक पूछताछ की जाती थी। इतने से ही विवाद के तथ्यों का पता लग जाता था। यदि किसी तथ्य के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होती थी तो वादी, प्रतिवादी और साक्षियों के सिर पर 'हरिवंश' की पोथी रखकर सच्ची बात कहने का आदेश दिया जाता था। यदि अपराधी अपना अपराध स्वीकार नहीं करता तो उसे कोढ़े लगाकर या अन्य प्रकार की यातनाएं देकर तथ्यों को प्रकट करने हेतु बाध्य किया जाता था।[13]

समझौता : प्राय: विचारी, वादी और प्रतिवादी में समझौता कराने का प्रयास करती थी; कई जटिल विवादों के निर्णय ग्राम पंचायतों की सहायता से हल करवाए जाते थे। उदाहरण के लिए पारिवारिक सम्पति के बंटवारे में पंचायत निर्णय करती थी। पंचायत कभी-कभी पर्चियों के माध्यम से भी भाग्य का निर्णय करती थी।[14]

न्याय का तरीका : न्याय की विधियां सरल थी। प्रत्येक दिन विवादों को सुना जाता था। एक विवाद के निर्णय के बाद ही दूसरा सुना जाता था। साधारण विवादों को लिखने की आवश्यकता नहीं थी। केवल महत्वपूर्ण दीवानी विवादों में निर्णय को कागज पर लिखकर दिया जाता था, जिस पर विचारी की मुहर लगी होती थी। हारे हुए व्यक्ति से दण्ड की राशि वसूली जाती थी।[15]

दिप (दीप) : ऐसे विवाद जो अधिक जटिल होते थे, जिनमें मौखिक साक्ष्यों द्वारा वादी के सत्व की पुष्टि और प्रतिवादी के सत्व का हनन मान्य नहीं ठहराया जा सकता था। विभिन्न प्रकार के दीप की सहायता से निर्णय किया जाता था। उनमें वादी या प्रतिवादी जिसे हानि पहुंचती थी उसी को अपराधी मानकार दण्ड दिया जाता था। फौजदार, विचारियों और जनसाधारण का विश्वास था कि विभिन्न द्वीपों के द्वारा होने वाला निर्णय ईश्वर की प्रेरणा से होता है इसलिए उसे ही सही मानना चाहिए। गोरखा शासन से पूर्व भी सच्चाई जानने हेतु अनेक दीपों का प्रयोग किया जाता था। गोरखा काल में भी इन दीपों का प्रयोग किया गया जिनमें से कुछ निम्नवत् है[16]-

1. गोला दिप (गोला दीप) : इसमें गर्म लोहे की छड़ को वादी और प्रतिवादी को दिया जाता था। कुछ दूर तक छड़ को पकड़कर ले जाने में जिस व्यक्ति के हाथ जल जाते थे उसे अपराधी माना जाता था।

2. तराजू दिप (तराजू दीप) : जिस व्यक्ति की सत्य परीक्षा ली जानी होती थी उसे एक दिन पूर्व पत्थरों से तोला जाता था तथा उन पत्थरों को सुरक्षित रखा जाता था और दूसरे दिन पुन: उन्ही पत्थरों से व्यक्ति को तोला जाता था। अधिक वजन वाले को सच्चा तथा कम वजन वाले को झूठा कहा जाता था।

3. कढ़ाई दिप (कढ़ाई दीप) : कढ़ाई में उबलते हुऐ तेल में अपराधी का हाथ डालने पर यदि वह जलता नहीं था तो उसे निर्दोष घोषित किया जाता था तथा जलने पर उसे अपराधी माना जाता था। देहरादून के महंत गुरू के सेवक राम को भी इस दीप से गुजरना पड़ता था।[17]

4. तीर दीप : इसमें अभियुक्त को पानी के तालाब में तब तक सिर डुबाए रखना पड़ता था जब तक कि दूसरा व्यक्ति तीर तक पहुंचकर वापस न लौट आए। अपराधी को तब तक निर्दोष माना जाता था जब तक वह दूसरे व्यक्ति के लौटने तक जल में नहीं डूब जाता था।

5. जल दीप : इसमें वादी और प्रतिवादी के छोटे लड़को को तालाब में डाला जाता था। जिसका लड़का देर तक नहीं डूबता था उसे विजयी माना जाता था।

6. जहर दीप : वादी व प्रतिवादी को विषैली जड़ी खाने को दी जाती थी, जो मर गया वह तर गया और जो बच गया वह जीता माना जाता था।

7. मन्दिर दीप : धन और भूमि विवादों में किसी मन्दिर में वादी और प्रतिवादी देव-प्रतिमा के समक्ष धनराशि को या उस भूमि के मित्त्री के एक ढेले को रख देते थे। जिस व्यक्ति के परिवार में 6 मास के अन्दर किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती थी या दैवीय प्रकोप होता था तो उसे दोशी माना जाता था।[18] विवादों में प्राय: वादी-प्रतिवादी के नाम छोटे-छोटे कागज के टुकड़ों पर लिखकर मन्दिर में देव-प्रतिमा के सम्मुख रखे जाते थे। पुजारी जिस व्यक्ति के नाम वाले कागज को पहले उठाता था उसे सफल या सच्चा और दूसरे व्यक्ति को असफल या झूठा माना जाता था। कई विवादों में वादी को देव-प्रतिमा को साक्षी मानकर सौगन्ध लेनी पड़ती थी कि उसका आरोप सच्चा है।[19]

दण्ड : अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड दिए जाते थे। गम्भीर या बहुमूल्य वस्तुओं की चोरी करने वाले व्यक्तियों के अंग-भंग किए जाते थे, जिसमें हाथ और नाक काट दिए जाते थे। कभी अपराधी को निर्दयता से पीटा जाता था तथा घावों पर नमक-मिर्च लगाया जाता था।[20]

मृत्यु दण्ड : गोरखा शासन काल में फांसी या मृत्युदण्ड बहुत कम दिया जाता था। हत्या आरोपी व्यक्ति प्राय: भारी आर्थिक क्षतिपूर्ति देकर मृत्युदण्ड से बच सकता था जो गोरखा काल में न्याय के स्थान पर धन कमाने को रेखांकित करता है; फिर भी कुछ विशेष अपराधें के लिए प्राणदण्ड देने की प्रथा थी। प्राणदण्ड में प्राय: पेड़ से लटाकाकर फांसी दी जाती थी। राजद्रोह या विश्वास घात करने पर अथवा जानबूझकर गाय की हत्या करने पर प्राण दण्ड दिया जाता था। इसी प्रकार यदि हरिजन, ब्राह्मण और राजपूत को जाति भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। अपने से उच्च जाति की नारी से व्यभिचार करने वाले पुरूष को भी मृत्युदण्ड दिया जाता था और नारी की नाक काट दी जाती थी। जिस व्यक्ति की पत्नी से व्यभिचार किया जाता था वह अपनी पत्नी के 'जार' को तथा पत्नी को स्वयं ऐसा दण्ड दे सकता था। न्यायालय की दृष्टि से उसका यह कार्य सर्वथा वैद्य था।[21]

आर्थिक दण्ड : सामान्य अपराधें के लिए केवल आर्थिक दण्ड लिया जाता था। दण्ड की राशि के नकद भुगतान न करने की स्थिति में अपराधी की चल-अचल सम्पति को छीन लिया जाता था। साधारण चोरी पर भी आर्थिक दण्ड आरोपित किया जाता था। यदि किसी राजपूत व्यक्ति द्वारा किसी की हत्या कर दी जाती तो उससे दण्ड स्वरूप भारी राशि वसूली जाती थी, परन्तु उसे राज्य से निर्वासित नहीं किया जाता था। लेकिन यदि अपराधी ब्राह्मण हो तो उसे राज्य से निर्वासित कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या कर लेता था तो उसके सगे-सम्बन्धियों से दण्ड स्वरूप भारी राशि वसूली जाती थी।[22] आर्थिक दण्ड लेना गोरखा राज्य में फौजदार, विचारी एवं राज्य तीनों के लिए लाभदायक था। दण्ड की राशि अपराधी की आर्थिक स्थिति के अनुरूप निर्धारित की जाती थी। गोरखा शासक ऐसे अध्यादेश निकालते थे जो अव्यहारिक होने के साथ उनका पालन करना भी असम्भव था। उदाहरण के लिए गढ़वाल में एक ऐसा अध्यादेश निकाला गया था कि, 'कोई महिला मकान की छत पर ना चढ़े।' [23] जबकि पहाड़ के गांवो में महिलाओं के अधिकांश कार्य यथा: घास, लकड़ी, मंडुवा आदि गीले व धुले वस्त्रों को सुखाने हेतु छत पर जाना एक सामान्य बात थी। ऐसे कार्य प्राय: नारियों द्वारा ही सम्पादित किए जाते थे। ऐसे अध्यादेशों का एकमात्र उद्देश्य उनके उल्लंघन की आड़ में गरीब जनता से धन निचोड़ना था।[24] इसके अलावा झूठे आरोपों के द्वारा भी धन ऐंठा जाता था।

दण्ड की राशि आय के साधन रूप में : गोरखा शासकों ने न्याय प्रणाली को आय के साधन रूप में प्रयोग किया। अकेले गंगावार से 'असमानी-फरमानी' के नाम पर प्रतिवर्ष दो हजार रूपये प्रतिवर्ष राजकोष मे जमा होते थे। इसके अतिरिक्त इसमें कई गुना राशि भारादारों (राजस्व अधिकारी) के जेब में जाती थी। गोरखा न्याय प्रणाली अत्यंत चतुरतापूर्ण ढ़ंग से वादी और प्रतिवादी दोनों को लूट लेती थी।[25]

जिस न्याय व्यवस्था को स्थापित करने के उद्देश्य से राज्य तथा राजपद स्थापित हुए राजा को प्रजा से कर लेने का अधिकार प्राप्त हुआ उसी न्याय व्यवस्था का गोरखा शासन काल में धन के लिए दुरूपयोग किया गया। गोरखा शासन काल में न्याय का अर्थ धन संचय करना था। उन्होंने न्याय को धन कमाने का माध्यम बनाया। इसलिए गोरखा शासनकाल को 'गोरख्याणी' कहा जाता है। जनता इनके अत्याचारी शासन से तंग आकर जंगलो अथवा अन्य क्षेत्रों की ओर पलायन कर जाते थे।[26] क्योंकि गोरखा शासकों की दण्ड प्रणाली बहुत कठोर व अमानुशिक थी, जिसको आधुनिक समाज में उचित नहीं ठहराया जा सकता है। किसी भी शासनकाल में राज्य की न्याय एवं दण्ड प्रणाली उस शासन काल के अंतर्गत राज्य के सामाजिक पृष्ठभूमि को दर्शाता है कि उक्त शासन काल में प्रजा के प्रति शासकों का व्यवहार किस प्रकार था। गढ़वाल में गोरखाकालीन शासन में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि गोरखा शासन प्रजा हितैशी नहीं था।

सन्दर्भ

1. मनुस्मृति-9/293, स्वाम्त्यतात्यौ पुरे राष्ट्र कोशदण्डौ सुवत्तथा। सप्तप्रकृतयो वोता: सप्ताब राज्यमुच्यते।।
2. महाभारत-शान्तिपर्व-64/65/69, राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे। आत्मामात्य्र कोशाश्र दण्डो मित्राणि चैव कि।। तथा जनपद्यैव पुरं च कुरूनन्दन। एतत् सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नत:।।

3. अग्निपुराण-233/12, स्वाम्यमात्य्य तथा दुर्ग कोशो दण्डस्तथैव च। मित्रजनपद्रैव राज्यं सप्तामुच्यते।।
4. कौटिल्य, अर्थशास्त्र-6/96/1, स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।
5. शर्मा, रामशरण, 1995, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली, पृष्ठ 79।
6. कौटिल्य, अर्थशास्त्र-2/56-57/1/5, दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति। राजा पुत्रे च शत्रौ च यथादोशं समं धृत।।
7. मनुस्मृति-8/4-5-6-7, टीकाकार, शास्त्री, रामचन्द्र वर्मा, 2020, प्रभात पेपरबैक, नई दिल्ली।
8. डबराल, शिव प्रसाद, 1999, गोरख्याणी-1 पर्वतीय राज्यों का विध्वंस, वीरगाथा प्रकाशन, दुगड्डा गढवाल, पृष्ठ 209।
9. डबराल, शिव प्रसाद, 1999, गोरख्याणी-1, पूर्वोक्त, पृष्ठ 209।
10. रावत, शिवचंद सिंह, 2011, गढ़वाल की अर्थव्यवस्था एवं आर्थिक संस्थाओं के विकास का इतिहास, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 48।
11. एटकिंसन, ई0टी0, 1973, हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स, जि0 3 पृष्ठ 170।
12. डबराल, शिव प्रसाद, 1999, गोरख्याणी-1 पृष्ठ 211।
13. रावत, शिवचंद सिंह, पूर्वोक्त, पृष्ठ 48-49।
14. वही, पृष्ठ 49।
15. डबराल, शिव प्रसाद, 1999, गोरख्याणी-1, पूर्वोक्त, पृष्ठ 211।
16. वही, पृष्ठ 211।
17. पंकज, प्रियदर्शी, 2013, गोरखों की कर, न्याय एवं दंड व्यवस्था (1790-1815ई0) (कुमाऊँ और गढ़वाल के संदर्भ में), हिमालयी इतिहास के विविध आयाम (संपादक गिरिजा पाण्डे, हीरा सिंह भाकुनी), पृष्ठ 171।
18. रावत, शिवचंद सिंह, पूर्वोक्त, पृष्ठ 49।
19. डबराल, शिव प्रसाद, 1999, गोरख्याणी-1, पूर्वोक्त, पृष्ठ 211-12।
20. पांडे, बद्रीदत्त, 1997, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, पृष्ठ 404।
21. ट्रेल, जी0डब्ल्यू0, 1828, स्केच ऑफ कुमाऊँ, एशियाटिक रिर्सच जर्नल, कलकत्ता, जि0 16, पृष्ठ 102।
22. उपरोक्त, पृष्ठ 171।
23. एटकिंसन, ई0टी0, 1973, पूर्वोक्त, पृष्ठ 171।
24. वही, पृष्ठ 172।
25. डबराल, शिव प्रसाद, 1999, गोरख्याणी-1, पूर्वोक्त, पृष्ठ 213।
26. वही, पृष्ठ 40।

ईस्ट इंडियन रेलवे कंपनी और बिहार में रेलवे का आगमन (1845-1871)

नवीन कुमार

शोध छात्र, इतिहास विभाग, बी0 आर0 ए0 बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

बिहार में रेल लाने का श्रेय ईस्ट इंडियन रेलवे कंपनी को है. रॉलन्ड मैकडोनाल्ड स्टीफेन्सन इस कंपनी के जनक थे। रॉलेन्ड मैकडोनाल्ड स्टीफेन्सन का जन्म 1808 में इंग्लैण्ड में हुआ था, उन्होंने वहां रेलवे युग की शुरुआत तथा 1840 के दशक में रेलवे का प्रसार होते देखा था, इससे प्रभावित होकर स्टीफेन्सन रेलवे के प्रर्वतक बन गए। उन्होंने अपने रेलवे प्रोजेक्ट के लिए जिस देश को चुना वह भारत था, इसका कारण था कि उनका परिवार काफी पहले से भारत से जुड़ा था। स्टीफेन्सन के पूर्वज एडवर्ड स्टीफेन्सन 18वीं सदी में मुगल दरबार में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार के लिए कुछ व्यापारिक सुविधाएँ लेने गए थे। उनके दो सगे भाई ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में थे।

भारत में रेल लाइन बिछाने का विचार स्टीफेन्सन के दिमाग में 1841 में ही आया था। वह शुरु में कलकत्ता से वर्द्धमान तक रेल लाइन बिछाना चाहते थे, अत: वे भारत आकर यहां की परिस्थितियों का अवलोकन किये। भूमि, लकड़ी और पड़ोसी क्षेत्रों में कुशल मजदूरों की उपलब्ध्ता का पता लगाया। इस क्षेत्र में यात्रियों और समानों के आवागमन की जानकारी ली। उसने इस क्षेत्र के कोयला खान के मालिक जे0 ए0 रस्किन से भी यहां की स्थिति का जायजा लिया और इंग्लैण्ड के उस समय के गणमान्य इंजीनियर जोसेफ लाकसे भी विचार-विमर्श किया। औपचारिक रूप से स्टीफेन्सन ने अपने प्रस्ताव को कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के पास भेजा, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया।[2]

1844 में स्टीफेन्सन पुन: अपने रेलवे प्रोजेक्ट के संबंध में भारत आया, इस बार वह बंगाल सरकार से मिला, बंगाल की सरकार अपने बढ़ते हुए प्रशासनिक और सैनिक कार्यों के लिए आवागमन के साधनों की कमी के कारण काफी परेशानी झेल रही थी, अत. सरकार ने स्टीफेन्सन के रेलवे प्रोजेक्ट के प्रति रुचि दिखाई और इस संबंध में स्टीफेन्सन को सकारात्मक जबाब दिया।

भारत में उत्साहवर्द्धक सहमति के आधार पर स्टीफेन्सन 1844 के अंत में इग्लैण्ड लौटा और पुन कलकत्ता से बर्द्धमान के कोयला क्षेत्र में रेल लाइन बिछाने का प्रस्ताव कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को दिया।[3] कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने इंजीनियरिंग और व्यावसायिक दृष्टि से इस प्रोजेक्ट पर काफी विचार-विमर्श किया इंजीनियरों की टीम को भारत में स्थितियों का निरीक्षण करने के लिए भेजा और भारत सरकार की सहमति से इसे स्वीकार कर लिया।

1 जून 1845 को ईस्ट इंडियन रेलवे कंपनी की स्थापना हुई। पहला बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स का गठन हुआ, जिसमें 13 सदस्य थे। स्टीफेन्सन को इस कंपनी का मैनेजिंग डायरेक्टर चुना गया, सितम्बर 1845 में स्टीफेन्सन भारत पहुंचे। वह अपने साथ इंजीनियरों और सर्वेयरों को भारत लेते आए थे, इन लोगों ने कलकत्ता और दिल्ली के बीच की भौतिक स्थिति तथा व्यापार एवं वाणिज्य की संभावनाओं का व्यापक सर्वे किया।[4] इन लोगों ने अनुमान लगाया कि दोहरा लाइन बनाने में लगभग प्रति मील 15000 पौंड खर्च आएगा, अगर उन्हें भूमि नि:शुल्क मिल जाती है। गारंटी के प्रश्न को लेकर काम में देरी हुई। 17 अगस्त 1849 में पहला कांट्रेक्ट ईस्ट इंडिया कंपनी और ईस्ट इंडिया रेलवे के बीच हस्ताक्षर हुआ। जो एक प्रयोगात्मक लाइन हाबड़ा से बर्द्धमान होते हुए रानीगज तक बनाई जाए जो 121 मील की दूरी तय करेगी।[5]

7 मई 1850 को स्टीफेन्सन ईस्ट इंडियन रेलवे के मैनेजिंग डायरेक्टर, जार्ज टर्नबॉल कपनी के चीफ इंजीनियर और स्टेकटर इंजीनियर ने हावड़ा से वर्द्धमान तक रानीगंज के कोयला क्षेत्र के रुट का सर्वे किया। 24 जनवरी 1851 को ईस्ट इंडियन रेलवे को पहला भूमि का स्वामित्व मिला और रेल निर्माण कार्य शुरु हुआ। एक्सपेरीमेंटल लाइन 1851 में शुरु हुआ और फरवरी 1855 में यह पूरा होकर यात्रियों तथा जनता के लिए खोला गया।[6] योजना हावड़ा भाया राजमहल और इलाहाबाद से दिल्ली तक रेल लाइन बनाने की थी, साथ ही एक ब्रांच लाइन मिर्जापुर से ग्रेट इंडिया पेनिनसुला लाइन में जबलपुर तक थी। रेल लाइन बनाने का काम धीमा था, जिसके कई कारण थे। अधिकांश रेल निर्माण की सामग्रिया इंग्लैण्ड से आती थी, जिसका भाडा 1854 में पांच पौंड प्रत्येक टन का था। जब भाडा और बढ़ गया तो भारत में समान आने में और भी विलम्ब होता था।

इंग्लैण्ड से जो समान कलकत्ता आता था, उसे नावों के द्वारा गंतव्य स्थान पर भेजा जाता था। यह काम प्राय: यूरोपियन ठेकेदारों के द्वारा होता था। शुरु में पर्याप्त मजदूर मिलने में दिक्कत होती थी और कुछ ठीकेदार समय पर काम पूरा नहीं कर पाते थे। बंगाल, बिहार में रेलवे का निर्माण बहुत खर्चीला था। बहुत सी नदियों पर पुल बनाना पड़ता था। वैसी जगहें जहां प्रत्येक वर्ष बाढ आती थी, सडके ऊँची थी, वहां पानी निकलने के लिए नाले की जरूरत थी। पुल जैसे सोन नदी पर बनाया जाना था, वह बहुत महंगा था।[7]

उसी समय 1856 में अधिकांश भाग पर काम शुरू हो गया था। इस प्रांत में रेलवे का सेक्शन इस प्रकार था।

1. राजमहल के नजदीक कहलगांव से भागलपुर और मुंगेर से पीरपैती - 80 मील
2. पीरपैंती से कियूल, हरोहर और पुनपुन नदियों को पार करते हुए पटना सिटी होते हुए फुलवारी - 85 मील
3. फुलवारी से पश्चिम भाग कर्मनाशा नदी तक[8]

राजमहल रेल सेक्शन की तरह ही इस सेक्शन में भी सामग्रियों की समस्या थी। इस लाइन में सबसे बड़ी समस्या नदियों की थी, उनमें मुख्य सोन और दिल्ली में यमुना नदी की थी। अन्य दूसरी नदिया अदजई. मूर, क्यूल. हरोहर और टोम्से थी।[9] इन नदियों पर पुल बनाने के लिए आयरन गर्डर इंग्लैण्ड से आती थी, इसके अतिरिक्त ईट का भी काम होता था। सोन नदी पर पुल बनाने के लिए 18, 46, 324 क्यूबिक फीट ईट कार्य की जरूरत थी। दूसरा ईट का काम कर्मनाशा नदियों पर पुल बनाने के लिए था।[10]

इन सभी कार्यों के लिए ईंटो की जरूरत थी लेकिन ईट बनाने वाले का नितांत अभाव था। रेलवे में ईंटों की बढ़ती मांग के कारण इस पेशे में लगे लोगों का अभाव हो गया।[11] इसके अतिरिक्त कही ईट पकाने के लिए ईंधन का अभाव तो कहीं ईट बनाने के लिए मिट्टी की अनुपलब्ध्ता थी। उदाहरण के लिए सोन जिला में बर्न एण्ड कंपनी (ठनतद दक ब्वण्द्ध के ठीकेदारों ने तुरंत ही बड़े पैमाने पर ईंट बनाने का काम शुरू किया, लेकिन उनके अत्यधिक प्रयास के बावजूद भी कर्मनाशा तथा अन्य जगहों में ईंट बनाने की बहुत बड़ी असफलता हाथ लगी क्योंकि वहां की मिट्टी इसके लिए उपयुक्त नहीं थी। ईटों की प्रचुर मात्रा 1856 के वर्षा के मौसम शुरू होने के पहले नहीं थी, जिससे रेल निर्माण कार्य शुरू हो सके। कर्मनाशा नदी के पास मिट्टी तथा ईंट बनाने की मशीन मंगवाया गया, इससे 1856-57 के सर्दी के मौसम तक कुछ सफलता हासिल हुई।[12] सोन के बाद पटना जिले में हलोहर, क्यूल और पुनपुन नदियों पर पुल था तथा इसके अतिरिक्त बाढ़ नियंत्रित करने के लिए पुल थे। हरोहर नदी पर अनेक पुल बनने थे जिसके लिए ईंटों की जरूरत थी। 1858 के अंत से ईट पकाने के लिए इस क्षेत्र में ईंधन की बहुत कमी हो गई। जलाने वाली लकड़ियां कम थी और कोयला क्षेत्र 50 मील दूर था। जहां कोयले की खुदाई भी सीमित मात्रा में होती थी, अत वहां से मदद की कोई उम्मीद नहीं थी। बिहार के दूसरे जिलों पीरपैंती, कहलगांव, मुंगेर में सुरंग बनाने के लिए भी ईट की बहुत जरूरत थी। इस लाइन के ठेकेदार मेसर्स मेकिनतोश एण्ड कंपनी रेलवे कार्यो में नया था, और जो ईंटे उनके देख-रेख में बना था।[13] वह निम्न किस्म का था, उन सब को लौटा दिया गया। इस समस्या का हल वर्द्धवान और राजमहल के तरह निकाला गया। 1858 में टर्नबॉल के सलाह पर इंग्लैण्ड से आयरन गर्डर का आयात किया गया, यहां तक की छोटे पुलों में भी उसे ही लगाना था।[14] राजमहल सेक्शन में भी इसी तरह का निर्णय लिया गया था। इसके लिए अतिरिक्त पूँजी इस विचार से स्वीकृत किया गया कि इससे रेल निर्माण कार्य जल्द होगा। 1863 में यह लाइन हावड़ा से बनारस तक खोला गया।[15]

15 अगस्त 1854 को ईस्ट इडियन रेलवे की पहली रेल 24 मील की दूरी तय कर हावडा से हुगली तक चली। यहाँ नियमित सेवाएं शुरू की गई, जिसके लिए बैली, सेरामपुर और चंदरनगर में उसका स्टॉप बनाया गया। यह रेल लाइन पद्रह दिन बाद पंडुआ तक बन गई। पहले 16 सप्ताह में कम से कम 109,634 पैसेंजर इस रेलगाड़ी से ढोया गया और इससे कुल आमदनी + 6792155.9 का हुआ था औसतन प्रति सप्ताह आमदनी। 124 105. 11 13616 की हुई इस छोटे से रेल लाइन के भाग को खुलने पर बोर्ड ने रिपोर्ट किया कि रेलगाडी से यात्रा करने वाले ट्रैफिक आशा से अधिक है, जबकि एक सामान्य धारणा थी कि भारतीय रेलगाड़ी में सफर नही करेंगे, अधिकांश यात्री तृतीय श्रेणी में यात्रा करते थे।

ट्रैफिक का विश्लेषण नीचे है-

प्रथम श्रेणी -5,511

द्वितीय श्रेणी - 21,005

तृतीय श्रेणी - 83,118

यह निश्चित रूप से असाधरण कार्य साबित हुआ, सबसे गरीब भारतीय भी रेलगाड़ी में सफर करने लगे। तृतीय श्रेणी में एक मील का 3/8 क किराया लगता था और केवल रेल में तीन श्रेणियों थी, वास्तविकता तो यह थी कि न तो जाति का पूर्वाग्रह और न ही कोई अन्य भावना देशी लोगों का आवागमन के नए साधान को प्रयोग करने से रोक सकी।[17] 3 फरवरी 1855 को रेलगाड़ी रानीगंज से चली। इस लाइन के खुलने के पंद्रह सप्ताह के दौरान 179,404 यात्री इससे सफर किए जो 12,000 प्रति सप्ताह के लगभग था और आमदनी 900 पौंड प्रति सप्ताह था।[16]

1857 के भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के कारण बगाल और बिहार में रेल लाइन बिछाने का कार्य बाधित हुआ। विद्रोहियों ने रेलवे को अपने आक्रमण का निशाना बनाया गया यद्यपि बिहार में इस समय रेलगाड़ी की शुरूआत तो नहीं हुई थी लेकिन रेल लाइन बिछाने का कार्य चल रहा था। बिहार में जो भाग विद्रोह के कारण सबसे अधिक प्रभावित हुआ वह सोन जिला था। रेल निर्माण का सभी प्राथमिक कार्य पुरा हो चूका था, सोन पुल बनाने के लिए जो सामग्रियां रखी हुई थी, उसे दानापुर के विद्रोहियों ने नष्ट कर डाला।[19] इस क्षति ने बिहार में रेल निर्माण कार्य को एक साल पीछे धकेल दिया। दानापुर के ही विद्रोहियों ने आरा जिला में भी जो सोन नदी के पश्चिम में था, वहां कीमती रेलवे सपत्ति को क्षति पहुंचाया। इस कारण अस्थायी रूप से राजमहल से सोन नदी तक कार्य रूक गया।[20] बहुत सी नावे जो गंगा नदी में रेलवे का समान ले जा रही थी, उसे डूबा दिया गया, बहुत सी सामग्रियों को विद्रोहियों के द्वारा जला डाला गया। इस तरह विद्रोह ने रेलवे निर्माण कार्य को एक तरह से रोक दिया, फिर भी ईस्ट इडियन रेलवे का जो भाग ट्रैफिक के लिए खुल चुका था, वहां दिन प्रति दिन यात्रियों की संख्या और आमदनी बढ़ती गई।

4 जुलाई 1860 को कलकत्ता से राजमहल पहली रेल चली और बिहार का प्रवेश रेलवे युग में हुआ। 15 अक्टूबर 1860 को यह जनता के लिए खुला। बाद में यह लाइन साहेबगंज लूप कहलाया। वर्षा के कारण रेल लाइन को व्यवस्थित होने में थोडा वक्त लगा।[21] लाड केनिग तत्कालीन वायसराय ने औपचारिक रूप से 15 अक्तटूबर 1860 को इस लाइन को खोला। राजमहल के इस लाइन के उद्घाटन के अवसर पर स्पेशल मेडल्स बनवाए गए। सर आर0 एम0 स्टीफेन्सन, कर्नल बेकर, कन्सल्टिंग इंजीनियर और मिस्टर टर्नबॉल सी0 ई0 को गोल्ड मेडल दिया गया तथा अन्य दूसरे अफसरों को चांदी और कांस्य के मेडल दिए गए।[22] यह उस पत्र की कॉपी है, जो इस कार्य में लगे हुए डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर्स को भेजा गया था -

THE SECRETARY TO GOVT. OF INDIA

Public Works Department
TO,
GRAHAM PEDDIE, ESQ,
DISTRICT ENGINEER
East Indian Railway
Sir,

I am commanded by His Excellency the Vicceroy and Governor - General of India to transmit, for your aceeptance, the medal struck by order of Government on the occasion of opening the East Indian Railway to the Ganges at Rajmahal, as being a memorable point attained in the construction of that great work, on which you have been employeda

I have the honour to be
SIR,
Your most obedient servent
H, YULE, LIEUT. —COL—,
Secretary of the Govt. of India[23]

राजमहल से ईस्ट इंडियन रेलवे पश्चिम की ओर गंगा नदी के साथ 1861 में भागलपुर, 1862 में मुंगेर और सितम्बर 1862 में वाराणसी के सामने तक पहुंच गई। इसी के साथ जमालपुर में पहला सुरंग और आरा के नजदीक सोन नदी पर पहला बड़ा पुल बनाया गया। बिहार में इस प्रकार रेलवे की शुरूआत हुई वाराणसी से मिरजापुर को 1 जनवरी 1864 को रेल लाइन से जोडा गया।[24] इन्ही दिनों कॉर्ड लाइन तथा अनेक वैकल्पिक रेल मार्ग बनाने का सर्वेक्षण किया गया। बंगाल सरकार कार्ड लाइन के प्रस्ताव को मानने पर दबाब डाल रही थी। यातायात के दूसरे साधनों को बढ़ाने के लिए दूसरी योजनाओं पर भी विचार-विमर्श चल रहा था। रानीगंज से लखीसराय तक गंगा नदी पर कोई लाइन बनाने पर विचार चल रहा था।

इस योजना पर मिस्टर रेनडल के द्वारा दृढ़ समर्थन मिला। इस कारण से कि इससे खाना और लखीसराय के बीच डबल लूप लाइन का निर्माण नहीं करना पड़ेगा जिसकी दूरी 252 मील थी साथ ही इससे कोयला क्षेत्र कंपनी के केन्द्र से 200 मील नजदीक हो जाएगा। जिससे न सिर्फ कंपनी को फायदा होगा, वरन् पैसेंजर को भी होगा। इससे कलकत्ता और उत्तर पश्चिम प्रांत की दूरी बहुत कम हो जाएगी।[25]

1 जनवरी, 1871 को कॉर्ड लाइन को लोगों के आवागमन के लिए खोला गया। इस लाइन के खुलने से रेलवे 1280 मील तक विस्तृत हो गई, जिसमें 400 मील डबल था और 880 मील सिगल। लेकिन शीध्र ही इस लाइन पर ट्रैफिक बहुत कम हो गया। 1871 के पूर्वाई में समान और खनिजोकी दुलाई 680, 378 टन हुई, जबकि 1870 के पूर्वाद्ध में 700,804 रन हुई। थी। ट्रैफिक में इस कमी कि जांच के लिए भारत सरकार ने कमिटी बनाई। कपनी का माल भंडारण क्षेत्र खाली पड़ा था, रेल के कई इंजन और वै एगन ऐसे ही सुस्त पड़े थे। भारत सरकार ने ट्रैफिक में इस कमी भी जोंच-पड़ताल के लिए एक कमिटी बनाई, इस कमिटी का एक कारण 1870 में उत्तर-पश्चिम प्रात में अकाल के कारण माल की दुलाई 1871 की तुलना में अधिक हुई थी। 1871 में कलकत्ता के बाजार में मंदी थी, ऐसी परिस्थिति में सौदागरों ने अपेक्षाकृत सस्ता परिवहन विकल्प चुना जो नदी मार्ग द्वारा था। इस वर्ष भारी वर्षा के कारण सालों भर नदियों में नाव चलते रहे। इस तरह कमिटी सरकार के समक्ष यातायात में कमी पर बहुत प्रकाश नहीं डाल पाई, लेकिन इतना जरुर पता लग गया कि नदी मार्ग इस समय रेल मार्ग से सस्ता था।

संदर्भ सूची

1. हिना मुखर्जी : द *अली हिस्ट्री ऑफ ईस्ट इंडियन रेलवे (1845-1879)* फर्मा के0 एल0 एम0 प्राइवेट लिमिटेड कलकत्ता, 1944, पृष्ठ- 1.
2. मिनट्स ऑफ एवीडेंस टेकेन बीफोर सेलेक्ट कमिटी ऑन ईस्ट इंडिया (रेलवेज) 141 आमामेंटरी पेपर्स, हाउस ऑफ कॉमन्स 1857-1858 ग्प्ट (416), पृष्ठ 51, प्रश्न 3829 और दिना मुखर्जी 'पूर्वोद्दत में उद्दत पृष्ठ-2
3. स्टीफेन्सन टू जे0 सी0 मेल विल सेक्रेटरी, कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स, 13 दिसम्बर 1844, *रेलवे होम कोरेसपोन्डेन्स* 'ए' भाग-1, हिना मुखर्जी पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-3.
4. वही पृष्ठ-6 - 7.
5. वही पृष्ठ-13.
6. के0 ई0 वरगीज - द *डेवलपमेंट एण्ड सिग्नीफिकेन्स ऑफ ट्रांसपोर्ट इन इंडिया*, एन0 वी0 पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृष्ठ-198.
7. वही, पृष्ठ 199
8. टर्नबॉल रिपोर्ट, 6 मार्च 1856, पैरा - 29, 14 और 2 रेलवे लेटर्स, टव्स्प्ट, हिना मुखर्जी, पूर्वोद्धृत पृष्ठ-133.

9. वही, पृष्ठ 134.
10. टर्नबॉल रिपोर्ट, 6 मार्च 1856, पैरा - 2, रेलवे टव्ऋ ग्प्ट हिना मुखर्जी,पूर्वोद्धृत, पृष्ठ–134.
11. वही, पृष्ठ 135.
12. वही, पृष्ठ 135.
13. वही, पृष्ठ 136.
14. *रिपोर्ट टू द सेकेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया इन काउन्सिल ऑन रेलवेज इन इंडिया,* 1862–63, ग्स्प्प्ए पृष्ठ–11, हिना मुखर्जी, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ–134.
15. वही
16. जी0 हेडलेस्टन, सी0 आई0 ई0, हिस्ट्री ऑफ ईस्ट इंडियन रेलवे, थेकर,रचाइन एण्ड कंपनी कलकत्ता, 1906 पृष्ठ–15.
17. वही.
18. वही.
19. एस पावर, इंजीनियर, ईस्ट इंडियन रेलवे टर्नबुल को लिखे पत्र में, 7 अगस्त, 1857, रेलवे लेटर्स, भाग ग्टप्प् हिना मुखर्जी - द *अर्ली हिस्ट्रीऑफ* द *ईस्ट इंडियन रेलवे (1845–1879)* में उद्धृत, पृष्ठ–139.
20. हिना मुखर्जी, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ–139.
21. जी0 हेडेलसन - पूर्वोद्धृत, पृष्ठ–28.
22. आर0 आर0 भंडारी : *इंडियन रेलवेज, ग्लोरियस 150 वर्ष* पब्लिकेशन डिविजन, भारत सरकार, 2005, पृष्ठ 13.
23. जी0 हेडेलेस्ठन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ–29.
24. आर0 आर0 भंडारी, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ–13.
25. जी0 हडलेस्टन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ–40.
26. वही, पृष्ठ 64.

गुरू नानक एवं मनमोहन सहगल की दार्शनिक चेतना में समानता

ब्रह्मलता

शोधार्थी, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

गुरूनानक देव एवं मनमोहन सहगल के कार्यकाल में लगभग 500 वर्षो का अन्तर होने के पश्चात् भी उनके विचारों में अनेक समानताएं पाई जाती हैं। नानक उच्च कोटि के संत थे। उन्होंने समकालीन सामाजिक व्यवस्थाओं, कुरीतियां, कुप्रथाओं एवं सामाजिक तंत्र पर अपनी सरल वाणी द्वारा कुठारघात किया। यह बड़ा साहसिक एवं बौद्धिक कार्य था, क्योंकि राजनैतिक परिस्थितियों की उस काल में विपरीत थी। मनमोहन सहगल स्वतंत्र वातावरण में उत्पन्न, पले-बढ़े व्यक्ति हैं, इससे ऐसा लगता है कि उनके विचारों पर गुरूनानक का अत्यधिक प्रभाव है। इस शोध पत्र का उद्देश्य दोनों की दार्शनिक चेतना में समानताएं लक्षित करना है।

गुरूनानक का व्यक्तित्व

गुरूनानक का व्यक्तित्व असाधारण था। उनमें पैगम्बर, गृहस्थ, त्यागी, धर्म-सुधारक, समाज-सुधारक, कवि, संगीतज्ञ, देश भक्त, विश्व बंधु सभी गुण इनमें विद्यमान थे। उनमें विचारशक्ति तथा क्रिया शक्ति का सामंजस्य था। उन्होंने अपने जीवन काल में पूरे देश का भ्रमण किया। लोगों पर उनके विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। इनमें एक धर्म-सुधारक और समाज सुधारक के सभी गुण विद्यमान थे। उनकी रचना, जपुजी का सिक्खों के लिए वही महत्त्व है जो हिन्दुओं के लिए गीता का है।

रचनाएँ

श्री गुरू ग्रन्थ साहब में उनकी रचनाएं 'महला' के नाम से संकलित है। गुरू नानक की शिक्षा का मूल निष्कर्ष यह है कि परमात्मा एक अनन्त, सर्वशक्तिमान, सत्यकर्त्ता, निर्भय, अयोनि, स्वयं भू है। वह सर्वत्र व्याप्त है। मूर्ति-पूजा निरर्थक है। बाह्य साधनों से भगवान की प्राप्ति असम्भव है।

गुरूनानक की दार्शनिक चेतना

दर्शन: किसी विशेष अध्ययन को परिभाशा की सीमा में बांधना प्राय: असम्भव-सा होता है, न जाने उसका संश्लेषण या विश्लेषण करते समय उक्त परिभाशा की सीमा-रेखाओं का उल्लंघन कहाँ-कहाँ और कितनी बार करना पड़े। इसके पश्चात् मानव की अनन्त एवं सतत् विचार शक्ति के सामने विश्व की चमत्कारपूर्ण दैनिक नवलता किस रूप में मुखरित हो, यह भी कल्पनानीत बात है। दर्शन सरीखे गम्भीर विषय का स्वरूप ज्ञान कुछ ऐसी ही समस्याओं का अखाड़ा है। सम्पूर्ण मानवता अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा विचारधारा के आश्रय उत्थान-पतन की झीनी झिल्लियों में लिपटी जीवन की वास्तविकता खोज रही है। सबके प्रयत्न भिन्न-भिन्न हैं, शक्तियां जुदा हैं और वातावरण प्रादेशिक है।

ऐसे में 'अंधे और हाथी' की कहावत चरितार्थ हो रही हैं। जो अंग जिसके हाथ लगा, वही उसकी यथार्थता बन गया। समन्वय से कोसों दूर ये आंशिक जीवन की वास्तविकताएँ दर्शन को परिभाशा में बांधने के स्वप्न लेती रही, लेकिन पूर्ण व अपूर्ण की परिधि में बांधना दुष्कर ही नहीं असम्भव व प्रमाणित हुआ। अन्तत: मानव-मस्तिष्क निजी असमर्थता को छिपा के संवरण न कर सका। परिभाषा ऐसी बनी जिसमें जीवन और लोक की सम्पूर्णता को स्थान था तथा प्रत्येक एकांगी प्रयत्न उसमें हीन कहीं अवस्थित किया जा सकता था। दर्शन को सम्पूर्ण जीवन तथा विश्व-प्रकृति की व्याख्या और मूल्यांकन का सदप्रयास कहा जाने लगा।

दार्शनिक-तत्व अभिप्राय

मनुष्य में केवल दो ही मुख्य भाव रहते हैं - स्वत्व और परत्व। इन्हीं से प्रेरित होकर उसको सम्मुख आज तक दो दार्शनिक समस्याएँ विश्व का आधार-तत्व क्या है? आदि जानना चाहता है। उसकी सत्यता की पराभौतिक व्याख्या करना चाहता है और अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ वहीं केन्द्रित कर आयु भर किसी रहस्यात्मक सत्य की खोज करता रह जाता है। दूसरी और स्वतंत्रता का सहारा ले वह अपने लिए भी उलझा रहता है। वह स्वयं क्या है? उसके अन्तर में मन क्यों हैं? मन और शरीर का आपस में क्या सम्बन्ध हैं। आत्मा कौन है? उसका स्वरूप क्या है? आदि प्रश्न दूसरी समस्या की जटिलताएँ हैं। श्री रॉस

ने इन्हें मानव स्वरूप सम्बन्धी मानवीय समस्याएँ कहा है। ये सभी समस्याएँ किसी विशिष्ट विचारधारा की आधार बनती हैं इन्हीं से प्रेरित होकर पश्चिम में आज तक पदार्थ और ईश्वर के अस्तितत्व-अनस्तित्व का संघर्श चलता रहा है और पूर्व में जीव, ब्रह्म और सृष्टि पर मिलने वाली धारणाओं का प्रसव स्थान भी यही स्वत्व और परत्व की टकराहट है।

मध्ययुग में मुसलमानों द्वारा निजी शक्ति के विनाश से अपने को बौना न देखने के अभिलाशी हिन्दुओं ने 'अंह' को उच्चतम शक्ति ब्रह्म को सुकिरण प्रदीप्त करने वाले इन सिद्धान्तों पर धीरे-धीरे आध्यात्मिकता का रंग चढ़ता गया और परवर्ती विचारकों ने इनमें रहस्य का पुट लेकर नित्य नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की 'ये ही व्याख्याएँ भारतीय दर्शन कहलाती हैं। मध्ययुग की परिस्थितियों में एक निरालापन था। उस समय का आन्तरिक समाज मुख्यत: दो भागों में बँटा हुआ था - उच्च जातियां और निम्न जातियां। ये मुसलमानों से पराजित हुई और हतोत्साहित-सी जीवन संघर्श करने लगी। निम्न जातियां अपेक्षित समझी जाती थी, अपने सम्मुख एक सुव्यवस्थित समाज (मुस्लिम समाज) को अपना हार्दिक स्वागत करता देख रही थी। आकर्शण सम्भावित था। ऐसे समय में जरूरत थी किसी शक्तिशाली लोकनायक की जो हिन्दू-मुसलमानों के संघर्श का कठोरतापूर्वक सामना करता हुआ, दोनों के नियम-सिद्धान्तों में समन्वय प्रस्तुत कर, उनका एक छात्र नेतृत्व कर सके।

उत्तर प्रदेश में कबीर रूप में ऐसी शक्ति का उदय हुआ। पंजाब की जनता की दशा और भी शोचनीय थी। पंजाब सीमान्त प्रान्त होने के कारण सब प्रकार से उसका पतन हो रहा था। वहाँ भी कबीर जैसे लौह-पृरुष की अपेक्षा थी, गुरू नानक के अवतरित होने से वह पूरी होगी। परिस्थिति नर्म देखकर जन-धैर्य का आह्वान नानक के भक्ति आवरण में अद्वैत स्थापना के माध्यम से किया। जनता की विवशता को, किसी रहस्यमयी संकेतों में, धीरज बांधने के लिए ही सम्भवत: नानक के 'हुकुम' के दर्शन को जन्म दिया।"[1] ओं सतिनाम करता, पुरख निरभउ, निरभउ, निखैर, अकाल मूरति, अजूनि सैभ, गुरू प्रसाद के महामंत्र में जनता की श्रद्धा प्राप्त कर उसे व्यवस्थित मानसिक शांति का वरदान दिया।

गुरू नानक का दार्शनिक लक्ष्य और उसकी सिद्धि

सिद्धि हेतु गुरूनानक कर्म, ज्ञान साधना आदि किसी एक साधन को मन्त्रवत् अपनाने के समर्थक नहीं थे। उनके मतानुसार मनुष्य के अन्तर से जब तक अहं का भाव नष्ट नहीं हो जाता तब तक उसे किसी साधन को अपनाने सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए गुरू नानक पथ पर अग्रसर होने के लिए जीव को सबसे पहले मन को मारना या अहं का नाश करना होगा। वास्तव में अहं माया के प्रभाव दूसरा नाम है और निश्चय ही मनुष्य को अपने को पहचानने से पूर्व हमें जो भी पहचाना है वही उसका प्रकाशित रूप है। वही हमारे अन्दर हैं परन्तु अहं ने इस पर पर्दा डाल रखा है।[2] इसी संदर्भ में जोध सिंह लिखते हैं कि अहं के नाश के लिए गुरू के हुक्म में चलना और निरंकार के गुण-गाना ही मुख्य साधन है। अन्तर के प्रकाश के पश्चात् जीवन को ज्ञान हो जाता है कि वह क्या है? अहं के त्याग के पश्चात् ही साधना संवत हुए मन को 'नाम' की प्रेरित करती है।[3] गुरू के शब्दों को सुनकर जीव का मन शाँत हो जाता है और वह अवगुणों से हट जाता है। जीव में ब्रह्म व्याप्त है जो दोनों में अभेद प्रस्तुत करता है। नानक के दृष्टिकोण में जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों में भेद और अभेद दोनों का आधार प्रकट होता है जिसमें अभेद मुख्य है। व्याप्ति इतनी पूर्ण हो जाती है कि व्यापक व्याप्य से समरूप हो जाता है।[4]

नानक के अनुसार पढ़ लिखकर, वेद - वेदांगों के शास्त्रीय ज्ञान को भी अपेक्षा नहीं यहाँ तो 'हरि को भजे जो हरि का होय।' परिवार में रहते दुनियादारों के कर्म - कर्ताओं को पूरा करते हुए जो जीव अपने सत्कर्मों की वृद्धि और दुरवृतियों के त्याग द्वारा आत्मा को शुद्ध करता है, जो भौतिक जगत के स्थायीत्व का भ्रम तथा मन के अह के भीतर से दूर कर देता हैं। जो गुरू की अज्ञानुसार जपता है वह प्रभु कृपा का अधिकारी होता है। ऐसा जीव ही परम पृरुष स्थापित करता है और पहले जीवन-मुक्ति तद्पश्चात् ब्रह्म में चिर विलीनता का भागी होता है।"[5]

मनमोहन सहगल की दार्शनिक चेतना

गुरू नानक देव की तरह सहगल जी भी पंजाब में ही पैदा हुए हैं। इनकी दार्शनिक चेतना तथा गुरू नानक की दार्शनिक चेतना में काफी समानता है। यों कहा जाए कि सहगल जी ने गुरू नानक के दार्शनिक विचारों का ही अनुसरण किया तो इसमें कोई विसंगति न होगी। गुरू नानक व सहगल दोनों ही पंजाब की संस्कृति, राजनीति, धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित थे। मनमोहन सहगल कहते हैं कि 'सोना कोइ न लगे, लोहा धुन न खाएं। भला-बुरा गुरू-भक्त कबहू नरक न जाएं।[6] जिसके गुरू द्वारा बताए गए नाम-रहस्य हो हृद्य में बिठा लिया, उसका अहित तो कभी हो ही नहीं सकता। गुरू नानक की तरह सहगल भी प्रभु प्राप्ति के लिए नाम-स्मरण को सबसे आवश्यक मानते हैं। इनका कहना है कि 'शब्द' ही 'ब्रह्म' है और उसकी एक-एक तहके खुलने से सृष्टि आकार लेती है। यदि जीवात्म का शब्द-ध्वनि को पकड़ कर अपनी आध्यात्मिक यात्रा को आरम्भ करे तो निश्चय ही एक दिन वह ध्वनि के मूल उत्स तक पहुँचने में सफल रहेगी। अभिप्राय है कि जीवात्म का परब्रह्म (शब्द) के साथ ऐक्य प्राप्त कर लेगा और ध्वनि-पथ की उसकी यात्रा का अभेद अन्त होगा।

इन दोनों विचारकों का विचार है कि साधारण जीव सम्भवत: इस मार्ग पर मंजिल की खोज न भी कर पाए। दया का महावरदान यहाँ उसका सहायक होता है और जीव ब्रह्म में लीन होने में समर्थ होता है। दोनों ने मुक्ति के लिए गुरू के महत्त्व को स्वीकार किया है।

निष्कर्ष

अन्त में कहा जा सकता है कि गुरू नानक व सहगल के दार्शनिक विचारों में पर्याप्त साम्य है। सहगल गुरूनानक की परम्परा को ही आगे बढ़ाते दिखाई दे रहे हैं। अन्तर बस इतना है कि गुरू नानक भूतकाल में जनसाधारण का मार्गदर्शन कर रहे थे और मनमोहन सहगल वर्तमान युग में अपनी साहित्य रचना द्वारा मानव का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

सन्दर्भ

1. किव सचिआरा होरएं किव कूड़े तुटै पालि।
   हुकुम रजाई चलना नानक लिखिआं नालि। - जपुजी
2. सुनु सखि जिउ महि जिउ बसै, जिउ महि बसै कि पिव
3. मित का चित्रु अनूप मरम न जातीए। ग्राहक गुनी अपार सुततु पछानीह
   चितहिं चितु समाइ त हौवे रंगुधना। हरिहां चंचल चोराहि तथा वहि सचु धना।
   12, फुनहे म0 5 पृ0 136
4. डॉ0 उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ0 375
5. इहु जनमु तुमारे लेखे (औपन्यासिक आत्मकथा, मनमोहन सहगल), पृ0 7

मृदुला सिन्हा के निबंध साहित्य में सामाजिक व पारिवारिक संबंध

अंजुलता सारस्वत

शोधार्थी, कला कन्या महाविद्यालय, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

समाज की स्थिति परिवर्तनशील होती है। यहां रोज नए परिवर्तन देखे जा सकते है। इन परिवर्तनों में से पारिवारिक संबंधों से आया बदलाव भी है। बदलते दौर में कई चीजें, बातें, आदतें व जीवनशैली बनती है और घटती भी हैं। साथ ही इन संबंधों में छीजन यानी अपनेपन में घटाव भी आ जाता है। इन हालातों में सहज ही मन में यह सवाल उठता है कि यह परिवर्तन आने वाली पीढी के लिए लाभदायक सिद्ध होगा? निश्चित तौर पर ऐसा तो नही हो सकता है। इसे ठीक करने की जिम्मेदारी आज हमारे ऊपर है ताकि भविष्य में भारतीय संस्कृति की मशाल देश-दुनिया में उजाला करती रहे। मृदुला सिन्हा ऐसी ही रचनाकार है जिनके निबंधों में भारतीय संस्कृति को बरकरार रखते हुए कुछ बदलाव जो कि स्वस्थ हो, वे सामने प्रस्तुत करती है।

बिटिया है विशेष, यायावरी आंखों से, उस आकाश का आँगन, कखग इत्यादि कई निबंधों में संबंधों की चर्चा की है। इस स्वस्थ चर्चा में बदलाव को स्वीकारते हुए पुरातन चोले को उतार कर लडका-लडकी में भेद, स्त्री की भूमिका, दादा-दादी की महत्ता, पुत्री का पिता के प्रति प्रेम व दायित्व, ससुराल में बहू की भूमिका के विषय में लिखती है। आँगन की महत्ता, रीतिरिवाजों पर काफी स्वस्थ चर्चा हुई है।

हिन्दी साहित्य में कई निबंधकार है जिन्होंने इन संबंधों की गहराई से जाँच पड़ताल की है पर कुछ रचना सिर्फ टकराव, चुभन की लपटो में भस्म हो जाती है और कुछ रचनाएं आत्मविश्वास,सहयोग की भावना, संस्कृति पर बल, रिश्ते में मजबूती बढ़ाता है। यही गूंज मृदुला सिन्हा के लेखन में मिलता है।

पारिवारिक व सामाजिक संबंध

मृदुला सिन्हा संयुक्त परिवार को सर्वोच्च स्थान पर रखती है। इनके जितने भी निबंध है उनमें अगर कुछ कॉमन चीज है तो वो परिवार का संयुक्त होना, घर में दादी-नानी का होना। वह पारिवारिक संबंधों को मजबूत रखने में नर व नारी के बीच स्वस्थ सोच को बढ़ाने में विश्वास रखती है। वे राजनीतिक पद पर सुशोभित होकर कई नये नवाचार लाए है। उन्होंने वृद्धाश्रम के साथ-साथ पालनाघर बनाने की मुहिम चलाई।

'बिटिया है विशेष' पुस्तक में 'पिता की संबल है पुत्री' में लेखिका की बेटी मिली की उपलब्धि पर गर्वाते हुए उनके पिता हर्षोल्लास से भर उठते है। वे सभी लोगों को बार-बार मिली की उपलब्धि का बखान करते अघाते नहीं है। ''पहले सारी अपेक्षाएं बेटों से होती थी। बेटे ही बुढ़ापे की लाठी समझे जाते थे। सहायक भी और रक्षक भी। बेटियाँ तो पराए घर जाने वाली होती थी। उनका लालन पालन भी ऐसा होता था। साथ ही उनसे बदले में कुछ पाने की माता-पिता की अपेक्षा नहीं रहती थी। अब स्थितियां बदली है। बेटियाँ भी माँ-बाप का ख्याल रखती है और माँ-बाप बेटियों को भी अपने बुढ़ापे की लाठी मानने को तैयार हो रहे है। समाज में इतने से बदलाव से बहुत कुछ बदल जाएगा।''[1]

'संयुक्त परिवार का सुख' निबंध में लेखिका दो लड़कियों का जिक्र करती है शिवानी और शालिनी का। शिवानी भरे पूरे परिवार से थी। उसका विवाह भी भरे-पूरे परिवार में हुआ था। उसने वहां जाकर अपनापन व समरसता से सबको अपना बनाकर सुख से रहती थी। वहीं शालिनी एकल परिवार में गई। वहां वह सुखी थी पर अपना सुख किसे प्रदर्शित करें। भिन्न परिवेश में शिवानी और शालिनी की अपनी-अपनी सुविधाएं व समस्याएँ है। "संग-साथ रहने का अपना सुख तो है ही। बिन पढ़े बिन शोध किए पारिवारिक सामाजिक जीवन की जानकारियाँ मिल जाती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी में जीवनानुभव सहजगति से हस्तातंरित होते रहे है। पर बदले हुए परिवेश में एकल परिवार व्यवस्था ही विस्तार ले रही है। संयुक्त परिवार व्यवस्था में आसानी से लौटा नहीं जा सकता पर जितना संभव हो निभाना चाहिए। लड़कियों में यह खूबी है कि सब स्थितियों को संभाल लेती है।''[2]

'संवेदना : हृदय का भूषण' पत्र में लेखिका अपनी बेटी को पत्र लिखती है। उसमें मिली के व्यवहार का वर्णन है। मिली मिलनसार, संवेदनशील लड़की थी। उनके घर में कार्य करने वाली रेखा को जब टीबी हो गई थी और लेखिका उसे बहाल करने से घबरा रही थी तब मिली कहती है। मुझे भी टीबी होती तो आप मुझे हॉस्पीटल से घर नहीं लाती। यह बात सुनकर अगले ही दिन काम करने वाली (रेखा) को घर ले आ गई। मनुष्य इन्हीं छोटी-छोटी बातों से एक दूसरे से जुड़ता चला जाता है। ये व्यवहार स्वयं का जीवन भी आनंदित व सुखमय बना देते है।

"यायावरी आंखों से' निबंध संग्रह में 'ऋण कृत्वा घृत पीवेत' निबंध में इसी सूक्ति पर लिखा 'वही घी, यही भात', में पहले व अब के जीवनशैली में आए परिवर्तन को बताया है। एक व्यक्ति थे रामभरोसे जी उन्होंने जीते जी कभी कुछ खर्च नहीं किया और न ही उधार लिया। पर बाद की पीढ़ी ने सब उधार लेकर अपनी जीवनशैली को पाश्चात्य रंग में रंग दिया। ढेर सारे क्रेडिट कार्ड है उनसे चीज़े खरीदी जाती है जिनका कोई खास कार्य नहीं है पर फिर भी खरीदा जा रहा है।

'वृद्धों का स्थान घर में ही' नामक निबंध में वृद्धाश्रमों की आवश्यकता या जीवन मूल्यों को भूलकर बड़ो की सेवा न करना इसका प्रतिपादन किया है। दरअसल वृद्धाश्रम, पालनाघर बना तो दिए है पर ये मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृति से मेल नहीं खाते है इसलिए अब समय आ गया है कि हम घर से बाहर वृद्धाश्रम के औचित्य पर विचार विमर्श अवश्य करें। सरकार और समाज की ओर से अयोध्या, हरिद्धार, बनारस, नासिक जैसे स्थानों पर अच्छी धर्मशालाऐं बनाये ताकि उनके मन में आत्मउन्नति के भाव रहेंगे और वे बच्चों द्वारा उपेक्षित होने के हीनभाव से त्रस्त नहीं रहेंगें। वृद्धाश्रम या पालनाघर इसलिए बनते है क्योंकि समय व स्थान की कमी से एकल परिवार बनते जा रहे। शहरों में दो कमरों के ही मकान है तो माता-पिता कहाँ रहे। इनके कई हल हो सकते है जैसे बच्चों को वैज्ञानिक बनाते हुए बच्चों को मनुष्य बनाने की भी शिक्षा दी जाए। वे अपने माता-पिता की जिम्मेदारी कैसे उठाएँ? उनके अंदर भाव भरने की आवश्यकता है। तमाम औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा, पाठयक्रम में बुजुर्गो की सेवा-शुश्रुषा का पाठ आवश्यक है।

'उस आँगन का आकाश' निबंध संग्रह में बहरूपिया है आँगन का आनन, गांव की बेटी, बुआ-भतीजी एक वंश, रिश्तों के रंग रस्मों के संग, बंधन जो चुभता नहीं इत्यादि कई निबंध है जो पारिवारिक व सामाजिक संबंध दर्शाता है। 'बहरूपिया है आँगन का आनन' में आँगन की विशेषता बताई है। गाँवों में आज भी नए-पुराने घर में आँगन बना रहता है परंतु शहरों में समाप्त से हो रहे है। बिहार में एक गाली है 'तुम्हारा आँगन लिपा रहे' इसका अभिप्राय बच्चे न होना से है। सच बात है कि पारिवारिक सुख में आँगन, आँगन में बिछाने वाल चटाई, उस चटाई पर कई लोग और धमाचौकड़ी मचाता मुन्ना/ मुन्नी चाहिए ही। यह परिवार की प्रथम चाहत मानी जाती है।

पारिवारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन को अक्षुण्ण रखने वाला आंगन का ही अस्तित्व खोता जा रहा है। तभी तो घर-परिवार और समाज अब बदलने लग गया है। नाते-रिश्ते और संबंधों की तासीर बदलती जा रही है। बड़े-बड़े शहरों में स्थान की कमी से अपने लिए बने कमरों में दादा-दादी के लिए कमरे बनते ही नहीं है। जब कमरे नहीं तो आंगन भी नदारद फिर इनकी खाट कहाँ डाली जाए। खाट नहीं डले तो संस्कार भी कैसे आए। 'दादा-दादी' निबंध में इनकी बहुत ही आवश्यकता बताई है। जिन घरों में ये लोग रहते है वहाँ के बच्चे अधिक व्यवहारिक और परिपक्व होते है जिनके घर में दादा-दादी नहीं रहते वहाँ के बच्चों की स्थिति भिन्न होती है। वर्तमान में बहुत सारी पारिवारिक समस्याओं का कारण घरों में दादा-दादी का न होना है। बच्चों की जरूरत दादा-दादी होते है। इनकी संगति से बच्चे सुखी व संस्कारी बनते है। समाज में वृद्धाश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और बच्चों के लिए पालनाघरों की। दादा-दादी के पास रहने से बच्चों में दया, प्रेम, स्नेह, सहनशीलता का बीजारोपण होता है। दादा-दादी के पास बच्चों को धैर्य और प्यार से समझाने का समय होता है इसलिए दोनों का साथ होना दोनों के लिए आवश्यक हो जाता है।

"संग चलें जब तीन पीढ़ियाँ, चढ़े विकास की सभी सीढ़ियाँ।"[3]

'पैकेट में कहां मिले झुग्गा' निबंध में लेखिका ने एक वाक्या या सूत्र बताया है जो ग्राहक व दुकानदार के बीच के व्यवहार को दर्शाता है। 'लबा दुआ' इस व्यवहार से ग्राहक और दुकानदार का चरित्र समझ में आता था। समाज में इन छोटे-छोटे व्यापार-व्यवहार भी रिश्ते-नातों की तरह ही प्रचलित है। इसके ताने-बाने से समाज एक माला में गुंथित है। इसके बिखरने या लुप्त होने से रिश्तों में छेद हो जाते है। पर इतने भी छेद न हो कि कपड़ा रूपी समाज ही समाप्त हो जाए। हम समाज में रहकर भी आनंद नहीं ले पाये तो इन रिश्ते नातों रूपी व्यापार व्यवहार का क्या फायदा। आनंद देने वाली में छोटी बाते आज वर्तमान में नहीं दिखाई देती। ग्राहक व व्यापारी का रिश्ता बस आर्थिक व्यवस्था तक ही सीमित रह गया है।

'पगड़ी की लाज' निबंध में एक लोकोक्ति का वर्णन है। 'राग, रसोई, पगड़ी कभी-कभी बन जाए अर्थात राग-रागिनी, भोजन पकाना और पगड़ी बांधना सभी के बूते की बात नहीं है। और यह भी सत्य है कि इन तीनों कार्यो में सिद्धहस्त व्यक्ति के हाथों में भी ये तीनों काम कभी-कभी ही सफल होते है।"[4] पगड़ी प्रतीकात्मक है। वह सिर पर दिखे या नहीं पर हर पुरूष के सिर पर अदृश्य होती जा रही है। समाप्त प्राय: हो गई है। परिवार-खानदान गांव से लेकर राष्ट्र की पगड़ी की चिंता भी समाप्त हो रही है।

कहावत है माँ-बेटी दो वंश, बुआ-भतीजी एक वंश।"[5] 'बुआ-भतीजी एक वंश' निबंध में इसको चरितार्थ किया है। वर्तमान में सभी रिश्तों के लिए आंटी शब्द प्रचलित हो गया है। जबकि हमारे भारतीय संस्कृति में सभी रिश्तों के नाम है, पाश्चात्य संस्कृति में नहीं। पाश्चात्य संस्कृति के पारिवारिक व सामाजिक संबंधों की अलग ही रूपरेखा है। समाज में रिश्ते बनाते समय आज महिलाओं के वस्तुओं की तरह ऑल-इन-वन एक रिश्ता आंटी के रूप में निकाला है। बुआ, मौसी, चाची यहाँ तक कि नानी की उम्र की महिलाओं को भी आंटी कहकर ही पुकारा जाता है। आज हमारे शहरी जीवन की आपाधापी और भीड़ के अकेलेपन में बुआ भी खोती जा रही है। जिन घरों में एक ही बच्चा है, बुआ और चाचा कहाँ मिलेंगे? जीवन की खुशहाली लाने के लिए सुख-दुख: और कठिनाईयों का बहुत सामना करना पड़ता है पर परिवार में सब मिलकर बाँट लेते है और सह लेते है।

'धोबिनिया चिड़िया की सास' निबंध में हमारे सामाजिक जीवन में पशु-पक्षी प्रेम का बहुत ही सुंदर नजारा देखने को मिलता है। कई कहावते, मुहावरे, लोकगीत व लोककथाओं का आधार पशु पक्षी होते है। बच्चे बचपन से ही इन पक्षी व पशु जैसे कौआ, खरगोश, कुत्ता, बिल्ली, गाय भैंस के साथ रहते थे। आज शहरीकरण ने सब बदल कर रख दिया है जिससे इनसे संबंधित लोकगीतों से वे बच्चे लोरियों से वंचित हो गए। दादा-दादी, नाना-नानी भी साथ नहीं रहते जिसकी वजह से प्रकृति के इन अदभूत पात्रों से हमारा जीवन कटता जा रहा है। तभी सारी सुख सुविधाओं के होने के बावजूद जीवन नीरस होता जा रहा है। बच्चों के लिए नर्सरी राइम्स लिखी जा रही है जो कि जीवन से जुड़ी हुई नहीं है। बच्चे रट तो लेते है पर उनसे जीवन जीना नहीं सीखते।

'अल्पायु मेला की स्मृति दीर्घायु होती है' निबंध में मेले का वर्णन करती लेखिका कई प्रसंगों का वर्णन करती है। वहाँ की मस्ती से सराबोर होकर मदमस्त वर्णन करती है पर वर्तमान में मेले मॉल में तब्दील हो गए है। नए जमाने के शहरी मेले अर्थात् मॉल में उपभोक्ता सामग्री, ठंडी हवा, भोजन सब मिलता है पर मेले की स्वच्छंदता, स्वतंत्रता, मेल-मिलाप, आकर्षण नहीं मिलता। मेले से मॉल, गांव से शहर तेजी से पलायन हो रहा है। शहर में सब मिल जाता है

अब तो ऑनलाइन ही मिल जाता है बाहर जाना ही नहीं पड़ता जिससे मिट्टी की सोंधी खुशबू नहीं मिल पाती। समाज से पर्यावरण से कट जाते है। लेखिका का सुझाव है कि मेला तो मेला है। जिस रूप में बचा हो घूमना सुखकर ही लगता है। बड़ा महाकुंभ हो या गंगा के तट पर कार्तिक पूर्णिमा पर लगे मेले शहरी उबाऊ जीवन को जी रहे हम सबको इन मेलों में जाना चाहिए। स्वाद तो बदलेगा ही शहर और देहात जीवन का फासला भी घटेगा।

राष्ट्र प्रेम तभी संभव है जब यह परिवार में भी हो। आपस में प्रेम-भाईचारे से रहना समरसता की पहली सीढ़ी है। 'हमारे बुजुर्ग' निबंध में परिवार का संस्कार और व्यवस्था डंडे के जोर पर नहीं चलता। बदली हुई पारिवारिक और सामाजिक परिस्थिति में भी पारिवारिक जीवनमूल्यों की सीख सिखानी ही है जिसे उन्होंने स्वयं बनाया। उन्हें उखाड़कर दूसरे घर रूपी वृद्धाश्रम में रोपा नहीं जा सकता।

'नारी न कठपुतली न उड़नपरी' पुस्तक में 'दांपत्य की दरारों में फंसते बच्चे' में लेखिका ने दांपत्य जीवन में आई दरारों से उनके बच्चे समस्याग्रस्त बन जाते है जिससे सभी प्रभावित होते है। लेखिका का सुझाव है - "प्रेम में पगे दांपत्य और विवादों से घिरे दांपत्य के बच्चे के व्यक्तित्व विकास का तुलनात्मक अध्ययन कर उनके सामने वस्तुस्थिति प्रस्तुत करना परिवार, पाठशाला महाविद्यालयों से लेकर परिवार परामर्श केन्द्रों पर इस महत्वपूर्ण विषय पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। वरना दांपत्य के बिखरने से अनेक समस्याऐं खड़ी होती ही है। बच्चे तो समस्याग्रस्त बच्चे बन ही जाते है।"[6]

'क्यों पीटता है पति-पत्नी को' निबंध में पति-पत्नी के बीच अंहभाव की वजह से पुरूषसतात्मक वृत्ति के कारण पुरूषों का हाथ उठ जाता है। लेखिका का मानना है कि "हार स्वीकारना पुरूष की प्रकृति में नहीं है वह भी पत्नी से हारना। वह अपनी हार मानने की जगह हाथ उठा लेता है। यह उसकी कमजोरी है। दरअसल जिस व्यक्ति में अधिक आत्मिक शक्ति होती है वह अपने क्रोध पर विजय प्राप्त करता है। शक्तिहीन व्यक्ति ही हाथ उठाता है। इसलिए आवश्यकता संस्कार की है। प्रशिक्षण की। सबसे बड़ी आवश्कता है व्यक्ति द्वारा अपनी भूल का अहसास करना।"[7]

'यह कैसा सहजीवन है' निबंध में स्त्री विमर्श पर चर्चा हुई है। लेखिका का पिछले दिनांक एक गोष्ठी में जाना हुआ। वहां स्त्री विमर्श पर विचार विमर्श हो रहा था। कुछ समय बाद लेखिका के घर के सामने वाले पार्क में एक विवाह कार्यक्रम के आयोजन में जाना था। बहू ने बताया कि ये दोनों कई वर्षो से साथ रहते थे। विवाह नहीं किया था। विदेश जाने की वजह से कानूनी विवाह करना पड़ा। दरअसल स्त्री पुरूष का साथ रहना एक प्राकृतिक आवश्यकता होती है। समाज में अपनी सुविधा के अनुसार विवाह संस्कार की व्यवस्था है। समय-समय पर इसके स्वरूप में संशोधन होता रहा है।

संदर्भ सूची

1. मृदुला सिन्हा, बिटिया है विशेष पेज 87
2. वही, पेज 44
3. मृदुला सिन्हा, उस आकाश का आँगन पेज 17
4. वही पेज 34
5. वही पेज 61
6. मृदुला सिन्हा नारी न कठपुतली न उडनपरी पेज 67
7. वही पेज 80

बिहार में मानवीय विकास की संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ : एक दार्शनिक अवलोकन

डॉ० पुनम कुमारी

छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्व विद्यालय, बोध गया

सारांश

प्रस्तावित अध्ययन बिहार में मानवीय विकास की संभावनाएँ एवं चुनौतियों का दार्शनिक अवलोकन पर लक्षित है। यद्यपि कि बिहार में मानवीय विकास की संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ जटिल रूप में विद्यमान है, इनको प्रभावित करने वाले कारकों में, ऐतिहासिक परिवेश में क्रान्ति, विद्रोह, धर्म एवं ज्ञान, विकास एवं विषमताएँ, जाति संरचना एवं आर्थिक पिछड़ेपन द्रष्टव्य है। अर्थात् बिहार को विरोधाभासों का प्रदेश कहते है, तथापि यहाँ कि 42 प्रतिशत आबादी ऐसी है जिसे यह भी मालूम नहीं कि अगली सुबह उन्हें भोजन मिलेगा भी या नहीं? फिर भी यहाँ के लाग दृढ़ संकल्प के साथ जीते है। बिहार से आत्म हत्या की खबरें न के बराबर है। वे अभाव में भी जीना जानते हैं इस प्रदेश में जीते जी मरने वालें भी मौत के सामने आत्मसमर्पण नहीं करते। यह कहना अनुचित न होगा कि बिहार के विकास व चुनौतियों के दर्शन को समझना उनके बूते की बात नहीं, जिन्होंने बिहार को देखा ही नहीं हैं।

संकेत शब्दः मानवीय विकास विषमताएँ चुनौतियाँ, जातिय संरचना।

भूमिका

बिहार भारत की एक भू-आवेशित (Land-Locked) प्रान्त है, जिसके उत्तर में नेपाल, दक्षिण में झारखण्ड, पूर्व में पश्चिम बंगाल और पश्चिम में उत्तर प्रदेश स्थित है। यह प्रान्त गंगा के मध्यवर्ती मैदान में स्थित लगभग आयतकार है। यह क्षेत्रफल में भारत का 12 वाँ बड़ा राज्य है किन्तु जनसंख्या के दृष्टि से उत्तर प्रदेश एवं महाराष्ट्र के बाद तीसरा स्थान है, जनसंख्या घनत्व की दृष्टि से भारत में प्रथम स्थान है।

दृष्टिव्य है कि बिहार प्रदेश के विश्लेषण की प्रक्रिया में इसकी विरासत को समझना भी आवश्यक है। बिहार लम्बे समय तक भारतीय राष्ट्र के ऐतिहासिक अभ्युदय के केन्द्र में रहा है। अनेक क्रान्तियों और विद्रोहों का उद्‌गम यहाँ से हुआ। ये क्रान्ति और विद्रोह कल्याणकारी एवं मानवीय समाज की स्थापना के लिए हुए। यह गौतम बुद्ध और तीर्थंकर महावीर का क्षेत्र रहा है।चक्रवर्ती राजाओं का भी क्षेत्र रहा हैं। चक्रवर्ती सम्राटों में चन्द्रगुप्त मौर्य (शुद्र) के दरबार में चाणक्य जैसे विद्वान हुआ करते थे। चन्द्रगुप्त के पौत्र सम्राट अशोक की कीर्तिगाथा भी कम नहीं है। राजसी जीवन के चरम पर पहूँच कर अशोक ने बौद्ध होकर 'धम्म' के प्रचार के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। इसी प्रदेश में कौटिल्य नाम के महान अर्थषास्त्री भी हुए ये ब्राहाण थे। चन्द्रगुप्त ने कौटिल्य के साथ मिलकर न केवल बिहार के विकास का निर्माण किया, बल्कि दुनिया के लिए मिशाल बने।

ध्यातव्य है कि अंग्रेजो से भारत की स्वंतंत्रता के दौर में महात्मा गाँधी ने बिहार को सत्याग्रह का प्रथम प्रयोग क्षेत्र बनाया था। सत्याग्रह एक आदर्श है, कर्मयोग का एक व्यावहारिक दर्शन है। उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता आंदोलन के नेतृत्व और भागीदारी में बिहार का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ब्रिटिष हुकुमत के खिलाफ बिहारियों का चम्पारण सत्याग्रह इतिहास का अहम् दस्तावेज है। जयप्रकाष नारायण का सम्पूर्ण क्रान्ति भी बिहार की अव्वल भागीदारी से अविस्मरणीय बन गया है। ध्यातव्य है कि यहाँ समाजवादी नेता डॉ0 राममनोहर लोहिया के राजनीति का भी प्रयोग क्षेत्र रहा है। बिहार की प्रतिभा महज निर्माण में ही प्रकट नहीं होती। बिहार की खासियत है कि यह सार्थक विद्रोह को विस्तार देता है। महात्मा गाँधी हो या महात्मा बुद्ध बिहार ने उनके विद्रोह का जितना सार्थक बनाया उतना और किसी प्रदेश ने नहीं। ज्ञातव्य है कि बिहार विद्राह के प्रति संवेदनशील है। बिहारी का एक गुण और है कि यह गैर-बिहारियों की बड़ी कद्र करता है। बिहार की संगीत, कला, ज्ञान, विज्ञान, आयुर्वेद (स्वास्थ्य), अर्थ, राजनीति, पत्रकारिता आदि द्वारा अनेक गैर बिहारी विद्वान प्रतिष्ठित हुए इन विद्वानों में कई तो बिहार में ही बस गए और बिहारी बन गए।

अतएव बिहार का यह विद्रोही और सहयोगी गुण अब कुशल नेतृत्व और उचित मार्ग - दर्शन के अभाव में दिग्भ्रमित है। यह विद्रोही पहलू अब बिहार विकास की संभावनाएँ के बजाय समस्यात्मक कार्य के प्रिति लूट-हिंसा और अपराध की ओर प्रवृत्त हो रहे है। इसे विकाश की संभावनाओं की तरफ संभालने की चुनौतियाँ वर्तमान परिवेश में विधमान है।

शोध प्रपत्र की समीक्षा

बिहार में उन्नति और विकाश के सही रास्ते क्या है, यह समीक्षा करना जरूरी है। विकास के अबतक के मॉडल यही दर्शाता है कि तकनीकी एवं आर्थिक विकास से विशमता बढ़ रही है, पर्यावरण नष्ट हो रहा है और मानवीय एवं समाज तथा राष्ट्र के अन्तर्सबंध छिन्न भिन्न हो रहे है। यह सच है कि बिहार समस्याओं से ज्यादा संभवनाओं एवं चुनौतियों का प्रदेश रहा है। ऐतिहासिक काल से लेकर आज तक बिहार की संभावनाओं पर किसी भी आलोचक एवं

चिंतक ने संदेह नहीं किया। इन दिनों हम जिस दौर से गुजर रहें है उसमें, वैश्वीकरण, निजीकरण तथा उदारीकरण का प्रभाव ज्यादा है। विकास के नाम पर तेजी से अमानवीय प्रभाव है। विकास के नाम पर तेजी से अमानवीय अप्राकृतिक जीवन शैली एवं तकनीकी का प्रचार प्रसार आज के अनिवार्य तत्व हो गए है। इसलिए टिकाऊ विकास की बात करना तो असान है किन्तुचुनौतिपूर्ण है।

अतएव सौ वर्ष पहले महात्मा गाँधी ने आधुनिक सभ्यता को 'शैतानी' सभ्यता कहकर यह बताने की कोशिश की थी कि भारत के सम्यक विकास के लिए पारंपरिक रास्ता ही ठीक है। मेरा मानना है कि बिहार यदि गाँव आधारित वैकल्पिक विकास की पद्धति को स्वीकार करता है तथा प्राकृतिक आधारित विकास की रूप रेखा बनाता है तो ज्यादा बिहार में विकास की संभावनाएँ होगी तथा चुनौतियों का भी साकारात्मक फलाफल प्रस्फूटित होगा।

शोध पत्र का विवरण

प्रस्तुत शोध प्रपत्र का प्रमुख विवरण निम्नलिखित है -

1. बिहार में विकास एवं विशमता का विवरण।
2. बिहार में जातीय व्यवस्था का विवरण।
3. बिहार की आर्थिक पिछड़ेपन का विवरण।

1. विकास एवं विशमताः बिहार में विकास एवं विशमता दोनों विमर्श के मुख्य मुद्दे रहे है। देश आजादी की लड़ाई के दौरान और बाद में भी नेतृत्व के बीच विचारधारा का मतभेद रहा है। इसी का नतीजा था प्रथम पंचवर्शीय योजना का लचर वैचारिक आधार। यह विडम्बना ही है कि जब देश में आर्थिक विकास की योजनाओं को अमलीजामा पहनाया जाने लगा तो गाँधी नहीं रहे और योजनाओं को लेकर हम चका चौंध में फंस गए। राजनितिक विकल्प कमजोर था और कोई दूसरा सैद्धान्तिक समूह भी इतना सक्रिय नहीं था किवह भविश्य की योजनाओं को नये सिरे से देखे और उसके ठोस स्वरूप को राष्ट्र के समग्र विकास के लिए प्रस्तुत करें। देश में विकास के लिए अपनाई गई नीतियों में विशमताएँ बढ़ती चली गई। विकास की दोशपूर्ण नीतियों ने विशमता इतनी बढ़ा दी कि बाद में गरीबी हटाओं, समाजिक न्याय आदि नारे जोर जाने लगे।

यद्यपि विकास की अवधारण पिछड़ेपन की अवधारण से जुड़ी है। यदि विकास की चर्चा करे तो आपको पिछड़ेपन की चर्चा स्वतः करनी होगी।पिछड़ापन एक ऐसा अवधारणा है जिसके संकल्पनात्मक एवं व्यावहारिक दोनों पक्ष महत्वपूर्ण है। यदि हम पिछड़ेपन के वैचारिक नीतिगत अवधारणा से परिचित हो जाते है तब इसके उन्मूलन का उपाय भी आसानी से ढूँढ सकते है। बिहार में पिछड़ेपन का सवाल आम लोगों की आर्थिक और समाजिक स्थिति से जुड़ा है। आर्थिक विपन्नता और सामाजिक गैर-बराबरी का यह कारण है कि बिहार में सामाजिक उत्पीड़न गरीबी उन्मूलन के सवाल से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है, अतः पिछड़ेपन का अवलोकन और उसे दूर करने का प्रयास के लिए यह आवश्यक है कि हम इन दोनों कारकों का विशेष ध्यान रखें।

द्रष्टव्य है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देश में विकास की प्रक्रिया की प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों पर समान रूप से नहीं पड़ा। बिहार राज्य की बात करें तो यह प्रदेश सामंती समाज रचना का एक स्पष्ट उदाहरण है। इसका मूल आधार जाति एवं खेतिहर समाजिक व्यवस्था है। अतः बिहार के विकास की संभावनाओं को समझने के लिए यह जरूरी है कि समाज में व्याप्त जातिय विशमता का अध्ययन करना महत्वपूर्ण होगा।

2. जातीय व्यवस्थाः यद्यपि कि बिहार की जातीय संरचना का स्वरूप भारतीय परम्परा से हटकर विकसित नहीं हुआ है। यहाँ की परिस्थिति जन्य संरचना व्यावसायिक संरचना, भाषायी - विभिन्नता तथा ऐतहासिक अनुभवों ने इसे स्थानीय एवं क्षेत्रीय रूप प्रदान किया है। समाजिक पद स्थिति एवं आर्थिक विशमता बिहार में जाति व्यवस्था को और उन्नत करती है। यहाँ जब सामाजिक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विकास का विश्लेशण करें तो जाति की सीमा को लांघनी होगी। बिहार में जाति असमानता, दमन, शोशण तथा उत्पीड़न का हथियार बना हुआ है। बिहार में जातियों के बीच की समाजिक दूरी को बिहारी समाज में आज भी देखा जा सकता है।

ज्ञातव्य है कि बिहार में जातियों को चार श्रेणी में बांटा जा सकता है- (i) जातियों का यह क्रम विभाजन मात्र संरचनात्मक स्वरूप को समझने के लिए है। यहाँ जातियों की स्थिति मुख्यतः कृषि की अवस्था तथा ऐतिहासिक परिवर्तनों में निहित रही है।

ध्यातव्य है कि भू स्वामित्व के संदर्भ में भी बिहार के लोगों को चार समूहों में बांटा जा सकता है- (i) किसान (भू-स्वामी), जमींदार (ii) मध्य किसान, (iii) गरीब किसान (बटाईदार, खेतिहर मजूदर) तथा (iV) बटाईदार एवं भूमिहीन खेतिहर मजदूर। इन्हें बंधुआ मजूदर भी कह सकते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उच्च जाति एव बड़े किसान तथा मध्य जाति एवं मध्य किसानें की आर्थिक स्थिति तो निश्चित ही बेहतर हुई है किन्तु निम्न एवं दलित जाति तथा भूमिहीन खेतिहर मजूदर की सामाजिक आर्थिक अवस्था में कोई बदलाव नहीं आया। अतः बिहार के विकास की संभावनाओं एवं चुनौतियाँ के तौर पर जातीय व्यवस्था का भी अह्म भूमिका विद्यमान है।

3. आर्थिक पिछड़ेपनः बिहार के आर्थिक पिछड़ेपन का अंदाजा यहाँ के नागरिकों के जीवन स्तर से लगाया जा सकता है। अर्थशास्त्र की भाषा में जीवन की गुणवत्ता के लिए प्रति व्यक्ति आय को महत्वपूर्ण माना जाता है। सन् 2007-2008 के आँकड़े बताते है कि प्रति व्यक्ति आय 12,648 रूपये थी। जबकि इसी वर्ष देश की औसत आय 50,558 रूपये थी। इसप्रकार बिहार के आर्थिक स्थिति का आकलन यहाँ के लोगों की गरीबी के स्तर से भी लग सकता है।[7] यहाँ गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगें का अनुपात 55% है, 5 जबकि देश का अनुपात 36 प्रतिशत है।

यद्यपि बिहार की गरीबी मूलतः देहाती है। जहाँ तक शहरी गरीबी की बात है तो यह देहाती गरीबी का ही विस्तृत रूप है। बिहार के गाँवों में 60% लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर करते है। वर्गीय नजरिये से देखें तो यहाँ भूमिहीनों की 50% तथा महागरीबों की 80% आबादी गाँव में रहती है। ये सारे आकड़ें राष्ट्रीय औसत से ज्यादा है।

यह प्रदेश आर्थिक गरीबी के साथ-साथ भीशण हिंसा की भी चपेट में है। नक्सली हिंसा, लूट-मार, अपहरण बिहार का पर्याय एवं कलंक बन गए है। कानून वयवस्था की स्थिति चौपट है। यहाँ राजनीति भी अधिकांश माफियाओं के कब्जे में है।

अंततः बिहार के लिए एक नए एवं टिकाऊ विकास मॉडल की जरूरत है। यह भी सत्य है कि बिहार केवल औद्योगिक कारखानों के बल पर तरक्की नहीं कर सकता। बिहार में खेत और पानी से जुड़े उद्यमों के विकास के लिए कभी ठीक से सोचा भी नहीं गया है। सरकारी आँकड़ा देखें तो बिहार का गैर-विकास मद में खर्चे दूसरे राज्यों की तुलना में ज्यादा है। भ्रष्टाचार भी बिहार के विकास में एक बड़ी बाधा है। पढाई, परीक्षा, नौकरी, व्यवसाय, शादी-ब्याह लगभग जीवन के सभी क्षेत्रों में जोर-जबरदस्ती की घटना को सामान्य रूप से देखा जा सकता है।

शोध पत्र का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का मुख्य्र उद्देश्य निम्नांकित हैं-

1. बिहार में मानवीय समाज की स्थापना के ऐतिहासिक परिवेश में क्रान्ति, विद्रोह, धर्म, राजनीति, संस्कृति एवं विज्ञान का अध्ययन।
2. स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु, सत्याग्रह आंदोलन का बिहार में प्रयोगकेन्द्र व समाजवादी नेता लोहिया, जयप्रकाश नारायण आदि राजनीतिज्ञों का बिहार निमार्ण में योगदान।
3. बिहार में विकास एवं विषमता के परिप्रेक्ष्य में व्याप्त समस्याओं का विश्लेशण करना।
4. बिहार में जाति-व्यवस्था का वर्तमान परिवेश में व्याप्त समस्याओं का विश्लेशण करना।
5. बिहार में आर्थिक पिछड़ेपन से मानवीय मूल्य में ह्रास का आकलन कर वर्णन करना।

निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि बिहार गाँवों का प्रदेश है। खेती इसका प्रमुख आधार है। पानी की बिहार में कोई कमी नहीं, बल्कि पानी यहाँ जरूरत से ज्यादा है। कृषि आधारित विकास की अनेक संभावनाएँ बिहार में है, यहाँ की प्रतिभाओं, राजनितिक व सांस्कृतिक चेतनाओं को कमत्तर नहीं आँका जा सकता है, इसलिए जरूरी है कि बिहार पुनर्निर्माण पर बहस चलें। चिंतन प्रक्रिया से कई और पहलू सामने आएगें और हमे विश्वास है कि सामूहिक सोच-विचार बिहार के नवनिर्माण के साथ-साथ राष्ट्रनिर्माण हेतु कारगार प्रयास साबित होगा।

संदर्भ सूची

1. अताउल्लाह, मो0, 2020 : बिहार का आधुनिक भूगोल, ब्रिलिएन्ट प्रकाशन पटना, प्र0 - 1-9
2. प्रताप सिंह, 2010 : गाँधीजी का दर्शन, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, प्र0-79
3. प्रसाद, राजेन्द्र, 1968 :सत्याग्रह इन चम्पारण, प्र0- 18-19
4. योजना, 2010, मानव संसाधन विकास शीर्षक, जून प्र0-5-51
5. प्रताप सिंह, 2010 : गाँधीजी का दर्शन, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, प्र0-230
6. योजना, 2010, मानव संसाधन विकास शीर्षक, जून प्र0-5-51
7. शर्मा, गणेश कु0 2017:घाघरा-गंडक दोआब में अनुसूचित जातियों का मानव संसाधन विकास, अ0 प0 पी0 एच0 डी0, थेसिस, जे0 पी0 यू0 प्र0 - 1-20
8. आर्थिक, सर्वेक्षण बिहार 2009-2010

वैदिकवाङ्मये औषधिचिन्तनम्

डॉ० राजीव कुमार

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, एम.जे.के. कॉलेज, बेतिया

वैदिक चिन्तन समग्र मानवता का वह आध्यात्मिक ज्ञान है, जो प्रत्येक मानवीय सीमा से परे अखण्ड सृष्टि के कल्याण का संकल्प लेता है। जब सृष्टि के प्रारंभ में जगत् स्रष्टा ने पंचमहाभूत तथा उनसे उत्पन्न पदार्थो का निर्माण किया, तभी से प्राणियों के दीर्घायुष्य के साधनों का भी ज्ञान कराया । सूर्य की ऊर्जा, चन्द्रमा की भेषजाधायक गुणवत्ता, वायु का संचरण तथा जल की आप्यायनता ने चिकित्सा- शास्त्र के मौलिक सिद्वान्तों की नींव डाली। समग्र संवत्सर मे होने वाली ऋतु की विविधता ने वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक विकारों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत की और उनके नियंत्रण के लिए वस्ति, विरेचन एवं वमन के उपचार का सूत्रपात किया गया। व्यक्ति जब तक दुग्धाहार पर रहा उसे विकार अतिन्यून मात्र में आक्रान्त कर सके। अन्न के प्रयोग एवंजनसंख्या की वृद्धि ने शारीरिक एवं मानसिक रागों की वृद्धि प्रारम्भ कर दी । परिणामवश तत्कालीन ऋषियो को इनके नियंत्रण एवं उपशमन के लिए एक प्रक्रिया विकसित करनी पड़ी और वही कालान्तर में चिकित्सा-पद्धति कहलायी।

औषधिशास्त्र के क्षेत्र में आयुर्वेद भारतीय योगदान है। अथर्ववेद संभवतः मानव सभ्यता के इतिहास में चिकित्सा - सिद्वान्तों के उल्लेख से युक्त प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसमें लगभग सात सौ मन्त्र आयुर्वेद से संबंधित है।

आयुर्वेद का अर्थ है-आयुरस्मिन् विधते। आयुर्वेदयति । अर्थात् आयुर्वेद आयु का ज्ञान कराती है । आयु को बढाती है। निरूक्त में औषधि को परिभाषित करते हुए कहा गया है-ओषधय

ओषद्धयन्तीति वा । ओषत्येना धयन्तीति वा। दोषं धयन्तीति वा तासान्मेषा भवति (निरूक्त, दैवतकाण्डम्, 9/27) चरकसंहिता में उल्लेख है -फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्य फलैरपि । ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरूधः स्मृताः।।'' (चरक संहिता- 1/72)

अर्थात् जिनमें केवल फल दृष्टिगोचर हों उन्हें वनस्पति जिनमें फूल और फल दोनों हों उन्हें वानस्पत्य, जिनका फल पक जाने पर अन्त हो जाये उन्हें औषधि और जो लता के रूप में फैले उन्हें वीरूध कहा जाता है।

वेदों में दीर्धायु-प्राप्ति के लिए प्रार्थना है। ऋग्वेद के शान्त्यध्याय में कहा गया है-

'देवा न आयु : प्रतिरन्तु जीवसे।' (1/89/2)

अर्थात् देवता दीर्घकाल तक जीवन के लिए हमारी आयु को बढ़ावें।

''शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा, यत्र नृचक्रा जरसं तनुनाम्।
पुत्रसो यत्र पितरो भवन्ति, मा नो मधया रीरिषतायुर्गन्तोः।।'' (1/89/9)

अर्थात हे देवताओं! आप निश्चय ही सौ वर्षो तक हमारे समीप रहें, क्योंकि इन सौ वर्षो में हमारे शरीर वृद्ध हो जाएंगे। अतः हमारे पुत्र (अपने पुत्र के) पिता हो जाएं या मुझे पौत्र की प्राप्ति हो जाये । बीच में हमारे जीवन नष्ट न होवे । हम पूर्ण आयु और पुत्र पौत्रों का सुख भोगें। और फिर इन सबके लिए औषधि-प्रदान करने की प्रार्थना की गई-

''तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं, तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद्ग्रावाण : सोमसुतो मयोभुव - स्तदश्विना श्रृणुतं धिष्णया युवम्।।'' (1/89/4)

अर्थात् वायु हमारे लिए सुखकारक औषधियों को प्रदान करें। सब जगत् की निर्मात्री पृथिवी और वर्षा द्वारा सबका पालन करने वाला द्युलोक भी उन औषधियों को हमें प्रदान करे। सोम रस को निचोड़ने वाले सुखद पत्थर भी हमें औषधि दें। इन औषधियों को धारण करने वाले हे अश्विनी कुमारों! तुम दोनों हमारी प्रार्थना को सुनो।

आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र के दृष्टिकोण से अश्विनी कुमारों के चमत्कारी गुणों का वेदों में विस्तृत वर्णन है। इनकी ख्याति देवताओं के वैद्य के रूप में है। ऋग्वेद के लगभग पचास सूक्तों में इनका वर्णन है। अश्विनी कुमारों के चिकित्सा -कार्य का वर्णन करते हुए ऋग्वेद का कथन है कि -''अश्विनी कुमारों ने वृद्वावस्था से जीर्ण हुए च्यवन तथा वन्दन ऋषि को रसायन का प्रयोग करा कर पुनः युवा बना दिया ।'' -(1/116/ 10, 1/117/13, 1/119/7)

रूद्र को पहला दैवीय चिकित्सक कहा गया है। अग्नि, वरूण, इन्द्र, मरूत् आदि दैव्य भिषक् कहे गये है । परन्तु अश्विनी कुमारों को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए 'देवानां भिषजौ' के रूप में स्वीकृत किया है। इन्द्र द्वारा अपाला के चर्मरोग तथा उसके पिता के खालित्अ रोग का निवारण, अंध परावृज को दृष्टिदान,

पंगु श्रोण को गतिदान आदि का वर्णन ऋग्वेद में है। इसमें सूर्य चिकित्सा, जल चिकित्सा, अग्नि चिकित्सा तथा वायु चिकित्सा के उल्लेख के साथ ही आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त त्रिदोषवाद का भी संकेत प्राप्त है-

'त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती' *(ऋ. 1/34/6)*
'इन्द्र त्रिधातु शरणं' *(ऋ. 4/7/28)*

शक्लयजुर्वेदसंहिता के बारहवें अध्याय के दो मन्त्रों (12/75/89) तथा (12/90/101) में औषधियों का रोगनाशकत्व, औषधियों को खोदने वाले तथा जिनके जिनके लिए औषधियां खोदी गई है उन दोनों के लिए उपकारी होना, श्लेष्मा रोग, यक्ष्मा, मुखपाक, क्षत आदि रोगों का नाश करना, स्थान-स्थान पर घोड़े तथा मनुष्यों के शरीर के अंगों, का उल्लेख, कफ रोग, चर्मरोग, कुष्ठ रोग, अंग, भेद आदि रोगों का उल्लेख मिलता है।

तैतिरीय सहिता में दृष्टिपात तथा यक्ष्मा, उन्माद के निवारण के मन्त्र आये है। आयुर्वेद का सीधा सम्बन्ध अथर्ववेद से है। सश्रुत ने लिखा है कि-''इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्मुपाङ्मथर्ववेदस्य।'' (सुश्रुतसंहिता)

चरकसंहिता में आयुर्वेद का सम्बन्ध चारो वेदों के साथ वर्णित है परन्तु ''अथर्ववेद भद्रिरादेशया'' अर्थात् भक्ति शब्द से अथर्ववेद के साथ धनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होना सिद्व होता है अथर्ववेद में तो स्थान-स्थान पर रोग, रोग अवयव, रोग प्रतीकार, अमुक-अमुक औषधियों का अमुक-अमुक रोग में उपयोग आदि बहुत से विषय भरे पड़े है। जैसे-रोग के विषय में तक्म (ज्वर) का वर्णन तथा उसके भेदों (6-21-1-3) सतत, शारद ग्रैष्म, शीत, वार्षिक, तृतीयक आदि का निदेश (1,25,4/5,2,1-4) सन्धि-स्थान तथा ह्रदय की पीडादेना (6-14,1-3) ग्रीवा की गण्डमाला (ळवपजतम) के 77 भेद (6-25), परिनंश (कटि या जधन प्रदेश) उनूक (रीढ की हड्डी), उष्णिहा (ग्रीवानाड़ी) तथा शीर्षवेदना अनेक रोगों का वर्णन है। रोग के साथ शारीरिक अवयवों का वर्णन (2,33,1,-7) जैसे-अस्थि, मज्जा, उरू, जिह्वा, कीकस (लोम) आदि । अस्थियों की संख्या 360 बताई गई है।

चरकसंहिता आयुर्वेद का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसके रचनाकार अग्निवेश हैं, जिनका अपर नाम चरक है। इस ग्रन्थ के प्रवक्ता पुनर्वसु आत्रेय है। आयुर्वेद के अनुसार 'रोगस्तु दोषवैषम्यम्' अर्थात् वात,पित्त एवं कफ की मात्रा का शरीर में वैषम्य ही रोगों की उत्पति का कारण है। इन दोषों में कुछ लोगों ने 'रक्त' एक चौथा दोष और सम्मिलित कर दिया। तीन प्रारम्भिक दोष त्रिगुण व्यवस्था से गुड़े हुए थे और सदाचार, वासना तथा जडय से उनका सम्बन्ध था। त्रिदोष में सर्वप्रथम वायु पर विचार हुआ। उसमे भी प्राणवायु, जो जीवन से साक्षात् संबद्व है, मनीषियों का धयान जाना स्वाभाविक था। उसके बाद अपान और व्यान का निर्धारण हुआ-

''अयं प्राणत्रेधा विहित: प्राणोश्प्पानो व्यान इति। (ऐ. ब्रा. -2/4/29)

बाद में क्रमश: समान और उदान को सम्मिलित किया गया।

इस प्रकार भारतीय चिकित्सा शास्त्र में शारीरिक क्रियाओं की व्यवस्था' पंचवायु द्वारा होती थी-

(1) प्राण - यह ह्रदय में था। श्वास क्रिया तथा भोजन ग्रहण करना इसका कार्य था।
(2) अपान -जिसका निवास उदर में था और यह मल सृजन तथा स्खलन का कारण था।
(3) व्यान -यह एक विच्छिन्न वायु थी जो रक्त एवं सारे शरीर को गति प्रदान करती थी।
(4) समान-यह पेट की अग्नि को तीव्र करती जिससे भोजन पकता और पचता तथा पचनीय और अपचनीय भागों में उसका विभाजन होता था ।
(5) उदान - जिसका उद्गम कण्ठ से होता और जो वाक् शक्ति को जन्म देती थी।

समान वायु द्वारा पचाया हुआ भोजन रस रूप ग्रहण करता था । वह ह्रदय तक जाता, वहाँ से यकृत तक पहुँचता, जो उसका सार पदार्थ रक्त बन जाता था। क्रम से रक्त आंशिक रूप में मांस में परिवर्तित होता और यह प्रक्रिया वसा, अस्थि, मज्जा और वीर्य की क्रम श्रृंखलाओं द्वारा निरन्तर चलती रहती थी। वीर्य यदि उसका स्खलन न किया जाये तो ओज की सृष्टि करता था, जो ह्रदय में प्रत्यावर्तित होकर सम्पूर्ण शरीर में वितरित होता था। भोजन से रक्त, वीर्यादि बनने की यह प्रक्रिया तीस दिनों में पूर्ण होती थी, ऐसा विश्वास किया जाता था।

संस्कृत भाषा में जो वनस्पतियों के नाम होते है वे उनकी रोगनाशक शक्तियों की भी सूचना देते है। 'लिसोड़ा' का नाम है 'कफध्न:'। अर्थात् लिसोड़ा कफ का नाश करता है। 'चकबड़' का संस्कृत नाम है -'चक्रमर्दक:'! अर्थात् इसके उपयोग से चक्र या गोल-गोल दाद का नाश होता है। सम्प्रति मधुमेह रोग असाध्य माना जा रहा है। पर आपको जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक मन्त्रों के पाठ और श्रवण से इन्सुलिन नियंत्रित होता है। इसकी औषध भी भारत में मौजूद है जिसका नाम है- 'जलजमनी'। इसकी विशेषता है कि इस लता के पत्तों का रस जल में डालने पर घी की तरह जम जाता है। इसके सेवन से मधुमेह निर्मूल हो जाता है।

ऋग्वेद 4/40/5 में सूर्य के विभिन्न नाम कहे गये हैं। अथर्ववेद में सूर्य के दो अन्य नाम हैं-रोहित और काल। रोहित का अर्थ है प्रात: कालीन उदित सूर्य। इसी के माधयम से सूर्यचिकित्सा (Sun Therapy) होती है जो चर्मरोग और अर्धसिरोवेदना (Migrain) में विशेष रूप से लाभदायी है। ऋषि लोग नदी में डुबकी लगाने के बाद शरीर को बिना पोछे सूर्य को जल देते थे। इसका क्या प्रभाव होता हैं?

The ray of the sun radiates the pore of human body and activates the nervous system. इसीलिए सूर्य को बुद्दि का प्रेरक देवता माना गया है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्वति पर हमारे ऋषियों और आचार्यो ने अपने अनुभव -प्रयोगों के आधार पर विविध ग्रन्थों की रचना की थी। दुर्देवात् अनेक ग्रन्थ या तो काल के थपेड़ों ने नष्ट कर दिये अथवा अज्ञात स्थानों में और पुस्तकालयों के पेष्टनों में बँधे पड़े है। ऐसे ग्रन्थों के अस्तित्व का परिचय हमें उपलब्ध-ग्रन्थों या उनकी व्याख्याओं में उनके नामोल्लेख अथवा उद्धरणों से मिलता है। ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों के हस्तलेखों का अन्वेषण करके आधुनिक

सम्पादन-प्रक्रिया का आश्रय लेकर प्रकाशन करना इस दिशा का प्रथम कार्य होगा । पूर्ववर्ती ग्रन्थों में अप्राप्त उन द्रव्यगुणों, चिकित्सा-विधियों एवं रोगनिदानों पर प्रयोग कराने होगें, जिनका उल्लेख इन ग्रन्थों में हुआ है। दीर्घायुष्य एवं उत्तम जीवन के लिए शारीरिक दुःखो एवं ऐहिक दुःखों को दूर किया जाना आवश्यक है। क्योंकि-

‘‘धर्मार्थकाममोझाणामारोग्यं मूलसाधनम्।’’ (चरक-सूत्रस्थान, प्रथम अध्याय)

कालिदास भी कहते है-‘‘ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।’’ (कुमारसम्भवम्) अतः हमारे ऋषियों ने उद्गार व्यक्त किये-

‘‘सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।।’’ (पुराण, महाभारततात्पर्यनिर्णय,1, 69. 70)

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद संहिता-अजमेर
2. ऋक् संहिता-सायणभाष्य, पूना
3. चरक संहिता-विद्योतनी टीका, पं. काशीनाथ शास्त्री, वाराणसी
4- The wonder that was India – A.L. Basham
5. आयुर्वेद का प्रामाणिक इतिहास - डॉ. भागवतराम गुप्त, वाराणसी
6. आयुर्वेद का परिचयात्मक इतिहास - वैद्य ताराचन्द्र शर्मा
7. भारत में संस्कृत की अनिवार्यता क्यों?-डॉ. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी